म० प्र० शासन साहित्य परिषद् व्याख्यानमाला १९६०

भारतीय संस्कृति
में
जैन धर्म का योगदान

डा० हीरालाल जैन, एम.ए., डी.लिट्., एल.एल.बी.,
अध्यक्ष
संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय;
भूतपूर्व डायरेक्टर
शासकीय प्राकृत जैन अहिंसा शोध संस्थान, मुजफ्फरपुर.

प्रकाशक
मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल
१९६२

मूल्य १०)

मुद्रक
अमृतलाल परवार
सिंघई प्रिंटिंग प्रेस, मढ़ाताल, जबलपुर

प्रकाशकीय

राज्य की साहित्यिक प्रवृत्तियों को गति देने, भाषाओं के विकास के लिए उच्च कोटि के साहित्य के निर्माण के लिए साहित्यिक प्रतिभाओं को प्रोत्साहित करने और साहित्यकारों को सम्मानित करने के उद्देश्य से शासन द्वारा "मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्" की स्थापना सन् १९५४ में पुराने मध्यप्रदेश में की गई थी। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परिषद् की ओर से प्रति वर्ष निर्दिष्ट विषयों पर उत्कृष्ट मौलिक रचनाओं, प्राचीन पाण्डुलिपियों के सम्पादन तथा अनूदित ग्रंथो के लिए पुरस्कार दिए जाते रहे हैं, निबन्ध-प्रतियोगिताएं की जाती रही हैं तथा विभिन्न साहित्यिक एवं शास्त्रीय विषयों पर देश के विख्यात साहित्यकारो के व्याख्यानों का भी आयोजन किया जाता रहा है। परिषद् इन व्याख्यानमालाओं, पुरस्कृत पुस्तकों तथा अन्य उपयोगी साहित्य को प्रकाशित भी करती रही है।

राज्यपुनर्गठन के फलस्वरूप यह परिषद् ३१ अक्टूबर १९५६ को विघटित कर दी गई और १ नवम्बर १९५६ से नवीन मध्यप्रदेश में इसकी पुनः स्थापना की गई। अब इसका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण नवीन मध्यप्रदेश बन गया है। राज्यपुनर्गठन के बाद से विन्ध्य प्रदेश पुरस्कार योजना भी उक्त परिषद् के अन्तर्गत आ गई है और इसका कार्य पूर्ववत् चल रहा है।

"भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान" परिषद् के उक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत ९वी पुस्तक है। इसमें संस्कृत, पालि व प्राकृत साहित्य के सुप्रसिद्ध अधिकारी विद्वान् डा० हीरालाल जैन के शोधपूर्ण चार भाषणों का संग्रह है, जिनमें जैन धर्म से संबंधित संस्कृति, इतिहास, साहित्य, दर्शन तथा वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला पर प्रकाश डाला गया है। इन व्याख्यानों का आयोजन दिनांक ७ मार्च १९६० से १० मार्च १९६० तक

नवीन मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में किया गया था। डा० जैन ने भाषणों को पुस्तक का रूप देने के लिए अपने मूल भाषणों में यथास्थान आवश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन कर दिए हैं और उसे क्रमबद्ध बनाकर पुस्तक को उपयोगी और रोचक बना दिया है, जिसमें सामान्य पाठक के अतिरिक्त, इस विषय के शोधकर्ता को भी पर्याप्त नवीन सामग्री उपलब्ध होगी। इस पुस्तक के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में भी डा० जैन ने अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी अत्यधिक सहायता प्रदान की है। उन्होंने सुविस्तृत ग्रंथ-सूची और शब्द-सूची जोड़कर सोने में सुगन्ध का समावेश कर दिया है। इन सब के लिए हम डा० जैन के आभारी हैं।

आशा है कि हिन्दी-जगत् में इस पुस्तक का समुचित समादर होगा और शोध-साहित्य की श्रीवृद्धि करनेवाले विद्वानों को इससे प्रेरणा मिलेगी।

अनन्त मराल शास्त्री,
सचिव,
मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्,
भोपाल.

आमुख

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के आमंत्रण को स्वीकार कर मैंने भोपाल में दिनक ७, ८, ९ और १० मार्च, १९६० को क्रमशः चार व्याख्यान 'भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान' विषय पर दिये। चारों व्याख्यानों के उपविषय थे जैन इतिहास, जैन साहित्य, जैन दर्शन और जैन कला। इन व्याख्यानों की अध्यक्षता क्रमशः मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री डा० कैलासनाथ काटजू, म०प्र० विधान सभा के अध्यक्ष पं० कुंजीलाल दुबे, म० प्र० के वित्त मन्त्री श्री मिश्रीलाल गंगवाल और म० प्र० के शिक्षा मन्त्री डा० शंकर दयाल शर्मा द्वारा की गई थी। ये चार व्याख्यान प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित हो रहे हैं।

पाठक देखेंगे कि उक्त चारों विषयों के व्याख्यान अपने उस रूप में नहीं है, जिनमें वे औसतन एक-एक घंटे में मंच पर पढ़े या बोले जा सके हों। विषय की रोचकता और उसके महत्व को देखते हुए उक्त परिषद् के अधिकारियों, और विशेषतः मध्यप्रदेश के शिक्षा मन्त्री डा० शंकरदयाल शर्मा, जिन्होंने अन्तिम व्याख्यान की अध्यक्षता की थी, का अनुरोध हुआ कि विषय को और अधिक पल्लवित करके ऐसे एक ग्रन्थ के प्रकाशन योग्य बना दिया जाय, जो विद्यार्थियों व जनसाधारण एवं विद्वानों को यथोचित मात्रा में पर्याप्त जानकारी दे सके। तदनुसार यह ग्रन्थ उन व्याख्यानों का विस्तृत रूप है। जैन इतिहास और दर्शन पर अनेक ग्रन्थ व लेख निकल चुके हैं। किन्तु जैन साहित्य और कला पर अभी भी बहुत कुछ कहे जाने का अवकाश है। इसलिये इन दो विषयों का अपेक्षाकृत विशेष विस्तार किया गया है। ग्रन्थ-सूची और शब्द-सूची विशेष अध्येताओं के लिये लाभदायक होगी। आशा है, यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

अंत में मैं मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् का बहुत कृतज्ञ हूं, जिसकी प्रेरणा से मैं यह साहित्य-सेवा करने के लिये उद्यत हुआ।

हीरालाल जैन

विषय सूची

३. जैन दर्शन

४. जैन-कला

व्याख्यान-१

जैन धर्म का उद्गम और विकास

व्याख्यान–१

जैन धर्म का उद्गम और विकास

जैन धर्म की राष्ट्रीय भूमिका—

इस शासन साहित्य परिषद् की ओर से जब मुझे इन व्याख्यानों के लिये आमंत्रण मिला और तत्संबंधी विषय के चुनाव का भार भी मुझही पर डाला गया तब मैं कुछ असमंजस में पड़ा। आपको विदित ही होगा कि अभी कुछ वर्ष पूर्व बिहार राज्य शासन की ओर से एक विद्यापीठ की स्थापना की गई है जिसका उद्देश्य है प्राकृत जैन तत्वज्ञान तथा अहिंसा विषयक स्नातकोत्तर अध्ययन व अनुसंधान। इस विद्यापीठ के संचालक का पद मुझे प्रदान किया गया है। इस बात पर मुझ से अनेक ओर से प्रश्न किया गया है कि बिहार सरकार ने यह कार्य क्यों और कैसे किया ? उनके इस प्रश्न की पृष्ठभूमि यह है कि स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय नीति सर्वथा धर्म-निरपेक्ष निश्चित हो चुकी है, और तद्नुसार संविधान में सब प्रकार के धार्मिक, साम्प्रदायिक, जातीय आदि पक्षपातों का निषेध किया गया है। अतएव इस पृष्ठभूमि पर उक्त प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है। इस प्रश्न का सरल उत्तर मेरी ओर से यही दिया जाता है कि बिहार सरकार ने केवल इस जैन विद्यापीठ की ही स्थापना नहीं की है, किंतु उसके द्वारा संस्कृत व वैदिक संस्कृति के अध्ययन व अनुसंधान के लिये मिथिला विद्यापीठ, एवं पालि व बौद्ध तत्वज्ञान के लिये नव नालंदा महाविहार की भी स्थापना की गई है। इस प्रकार का एक संस्थान पटना में अरबी-फारसी भाषा साहित्य व संस्कृति के लिये भी स्थापित किया गया है। भारत की प्राचीन संस्कृतियों के उच्च अध्ययन, अध्यापन व अनुसंधान हेतु इन तीन चार विद्यापीठों की स्थापना द्वारा शासन ने अपना धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। धर्मनिरपेक्षता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि शासन द्वारा किसी भी धर्म, तत्वज्ञान व तत्संबंधी साहित्य

के अध्ययन आदि का निषेध किया जाय, किंतु उस का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि किसी धर्म-विशेष के लिये सब सुविधायें देना और दूसरे धर्मों की उपेक्षा करना, ऐसी राष्ट्र-नीति कदापि नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत शासन का कर्तव्य होगा कि वह देश के प्राचीन इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त व दर्शन आदि संबंधी सभी विषयों के अध्ययन व अनुसंधान के लिये जितनी हो सके उतनी सुविधायें समान दृष्टि से, निष्पक्षता के साथ, उपस्थित करे। इस उदात्त व श्रेयस्कर दृष्टिकोण से कभी किसी को कोई विरोध नहीं हो सकता। म समझता हूं इसी धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण से प्रेरित होकर इस शासन परिषद् ने मुझे इन व्याख्यानों के लिये आमंत्रित किया है, और उसी दृष्टि से मुझे जैनधर्म का भारतीय संस्कृति को योगदान विषयक यहां विवेचन करने में कोई संकोच नहीं। ध्यान मुझे केवल यह रखना है कि इस विषय की यहां जो समीक्षा की जाय, उसमें आत्म-प्रशंसा व परनिंदा की भावना न हो, किंतु प्रयत्न यह रहे कि प्रस्तुत संस्कृति की धारा ने भारतीय जीवन व विचार एवं व्यवस्थाओं को कब कैसा पुष्ट और परिष्कृत किया, इसका यथार्थ मूल्यांकन होकर उसकी वास्तविक रूपरेखा उपस्थित हो जाय। मुझे इस विषय में विशेष सतर्क रहने की इसलिये भी आवश्यकता है क्योंकि मैं स्वयं अपने जन्म व संस्कारों से जैन होने के कारण सरलता से उक्त दोष का भागी ठहराया जा सकता हूं। किन्तु इस विषय में मेरा उक्त उत्तर-दायित्व इस कारण विशेषरूप से हलका हो जाता है, कि जैनधर्म अपनी विचार व जीवन संबंधी व्यवस्थाओं के विकास में कभी किसी संकुचित दृष्टि का शिकार नहीं बना। उसकी भूमिका राष्ट्रीय दृष्टि से सदैव उदार और उदात्त रही है। उसका यदि कभी कहीं अन्य धर्मों से विरोध व संघर्ष हुआ है तो केवल इसी उदार नीति की रक्षा के लिये। जैनियों ने अपने देश के किसी एक भाग मात्र को कभी अपनी भक्ति का विषय नहीं बनने दिया। यदि उनके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर विदेह (उत्तर बिहार) में उत्पन्न हुए थे, तो उनका उपदेश व निर्वाण हुआ मगध (दक्षिण बिहार) में। उनसे पूर्व के तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ उत्तरप्रदेश की बनारस नगरी में; तो वे तपस्या करने गये मगध के सम्मेदशिखर पर्वत पर। उनसे भी पूर्व के तीर्थंकर नेमिनाथ ने अपने तपश्चरण, उपदेश व निर्वाण का क्षेत्र बनाया भारत के पश्चिमी प्रदेश काठियावाड़ को। सब से प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का जन्म हुआ अयोध्या में और वे तपस्या करने गये कैलाश पर्वत पर। इस प्रकार जैनियों की पवित्र भूमि का विस्तार उत्तर में हिमालय, पूर्व में मगध, और पश्चिम में काठियावाड़ तक हो गया। इन सीमाओं के भीतर अनेक मुनियों व आचार्यों आदि महापुरुषों के जन्म, तपश्चरण,

निर्वाण आदि के निमित्त से उन्होंने देश की पद पद भूमि को अपनी श्रद्धा व भक्ति का विषय बना डाला है। चाहे धर्मप्रचार के लिये हो और चाहे आत्मरक्षा के लिये, जैनी कभी देश के बाहर नहीं भागे। यदि दुर्भिक्ष आदि विपत्तियों के समय वे कहीं गये तो देश के भीतर ही, जैसे पूर्व से पश्चिम को या उत्तर से दक्षिण को। और इस प्रकार उन्होंने दक्षिण भारत को भी अपनी इस श्रद्धांजलि से वंचित नहीं रखा। वहां तामिल के सुदूरवर्ती प्रदेश में भी उनके अनेक बड़े बड़े आचार्य व ग्रंथकार हुए हैं, और अनेक स्थान उनके प्राचीन मंदिरों आदि के ध्वंसो से आज भी अलंकृत हैं। कर्नाटक प्रांत में श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानों पर बाहुबलि की विशाल कलापूर्ण मूर्त्तियां आज भी इस देश की प्राचीन कला को गौरवान्वित कर रही हैं। तात्पर्य यह कि समस्त भारत देश, आजकी राजनैतिक दृष्टिमात्र से ही नहीं, किंतु अपनी प्राचीनतम धार्मिक परम्परानुसार भी, जैनियो के लिये एक इकाई और श्रद्धाभक्ति का भाजन बना है। जैनी इस बात का भी कोई दावा नहीं करते कि ऐतिहासिक काल के भीतर उनका कोई साधुओं या गृहस्थों का समुदाय बड़े पैमाने पर कहीं देश के बाहर गया हो और वहां उसने कोई ऐसे मंदिर आदि अपनी धार्मिक संस्थायें स्थापित की हों, जिनकी भक्ति के कारण उनके देशप्रेम में लेशमात्र भी शिथिलता या विभाजन उत्पन्न हो सके। इसप्रकार प्रान्तीयता की संकुचित भावना एवं देशबाह्य अनुचित अनुराग के दोषों से निष्कलंक रहते हुए जैनियों की देशभक्ति सदैव विशुद्ध, अचल और स्थिर कही जा सकती है।

देशभक्ति केवल भूमिगत ही हो सो बात नही है। जैनियों ने लोक-भावनाओं के संबंध में भी अपनी वही उदार नीति रखी है। भाषा के प्रश्न को ले लीजिये। वैदिक परम्परा मे संस्कृत भाषा का बड़ा आदर रहा है, और उसे ही 'दैवी वाक्' मानकर सदैव उसी में साहित्य-रचना की है। इस मान्यता का यह परिणाम तो अच्छा हुआ कि उसके द्वारा प्राचीनतम साहित्य वेदों आदि की भले प्रकार रक्षा हो गई तथा भाषा भी उत्तरोत्तर खूब मंजती गई। किन्तु इससे एक बड़ी हानि यह हुई कि उस परम्परा के कोई दो तीन हजार वर्षों में उत्पन्न विशाल साहित्य के भीतर तत्तत्का-लिक भिन्न प्रदेशीय लोक-भाषाओं का कोई प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश का माध्यम उस समय की एक लोक-भाषा मागधी को बनाया और अपने शिष्यों को यह आदेश भी दिया कि धर्म उपदेश के लिये लोकभाषाओं का ही उपयोग किया जाय। किन्तु बौद्ध परम्परा के साहित्यिक उस आदेश का पूर्ण-तया पालन न कर सके। उन्हें एक पालि भाषा से ही मोह हो गया और वह इतना

कि लंका, स्याम, वर्मा आदि दूर देशों में जाकर भी उनके साहित्य का माध्यम वही पालि भाषा बनी रही, और वहां की लोक भाषायें जीती मरती हुई उस साहित्य में कोई स्थान प्राप्त न कर सकी। जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने लोकोपकार की भावना से उस समय की सुबोध वाणी अर्द्धमागधी का उपयोग किया, तथा उनके गणधरों ने उसी भाषा में उनके उपदेशों का संकलन किया। उस भाषा और उस साहित्य की ओर जैनियों का सदैव आदर भाव रहा है; तथापि उनकी यह भावना कभी भी लोक भाषाओं के साथ न्याय करने में बाधक नहीं हुई। जैनाचार्य जब जब धर्म प्रचारार्थ जहां जहां गये, तबतब उन्होंने उन्हीं प्रदेशों में प्रचलित लोक-भाषाओं को अपनी साहित्य-रचना का माध्यम बनाया। यही कारण है कि जैन साहित्य में ही भिन्न भिन्न प्रदेशों की भिन्न भिन्न कालीन शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि प्राकृत भाषाओं का पूरा पूरा प्रतिनिधित्व पाया जाता है। हिंदी, गुजराती आदि आधुनिक भाषाओं का प्राचीनतम साहित्य जैनियों का ही मिलता है। यही नहीं, किन्तु दक्षिण की सुदूरवर्ती तामिल व कन्नड भाषाओं को प्राचीनकाल में साहित्य में उतारने का श्रेय संभवतः जैनियों को ही दिया जा सकता है। इसप्रकार जैनियों ने कभी भी किसी एक प्रांतीय भाषा का पक्षपात नहीं किया, किंतु सदैव देश भर की भाषाओं को समान आदरभाव से अपनाया है, और इस बात के लिये उनका विशाल साहित्य साक्षी है।

धार्मिक लोक मान्यताओं की भी जैनधर्म में उपेक्षा नहीं की गई, किंतु उनका सम्मान करते हुए उन्हें विधिवत् अपनी परम्परा में यथास्थान सम्मिलित कर लिया गया है। राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण और बलदेव के प्रति जनता का पूज्य भाव रहा है व उन्हें अवतार-पुरुष माना गया है। जैनियों ने तीर्थंकरों के साथ साथ इन्हें भी श्रेष्ठ शलाका पुरुषों में आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणों में विस्तार से उनके जीवन-चरित्र का वर्णन किया है। जो लोग जैनपुराणों को इनकी ओर उथली दृष्टि से देखते हैं, वे इस बात पर हंसते हैं कि इन पुराणों में महापुरुषों को जैनमतावलम्बी माना गया है, व कथाओं में व्यर्थ हेर फेर किये गये हैं। उनकी दृष्टि इस बात पर नहीं जाती कि कितनी आत्मीयता से जैनियों ने उन्हें अपने भी पूज्य बना लिया है, और इस प्रकार अपने तथा अन्यधर्मी देश भाइयों की भावना की रक्षा की है। इतना ही नहीं, किंतु रावण व जरासंध जैसे जिन अनार्य राजाओं को वैदिक परम्परा के पुराणों में कुछ घृणित भाव से चित्रित किया गया है, उनको भी जैन पुराणों में उच्चता और सम्मान का स्थान देकर अनार्य जातियों की भावनाओं को भी ठेस नहीं पहुंचने दी। इन नारायण के शत्रुओं को भी उन्होंने प्रतिनारायण का उच्चपद प्रदान किया

है। रावरण को दशमुखी राक्षस न मान कर उसे विद्याधर वंशी माना है, जिसके स्वाभाविक एक मुख के अतिरिक्त गले के हार के नौ मरिणयों मे मुख का प्रतिबिम्ब पड़ने से लोग उसे दशानन भी कहते थे। अग्निपरीक्षा हो जाने पर भी जिस सीता के सतीत्व के संबंध में लोग निःशंक नही हो सके, उस प्रसंग को जैन रामायरण में बड़ी चतुराई से निवाहा गया है। सीता किसीप्रकार भी रावरण से प्रेम करने के लिये राजी नहीं है। इस कारण रावरण के दुख को दूर करने के लिये उसे यह सलाह दी जाती है कि वह सीता के साथ बलात्कार करे। किंतु रावरण इसके लिये कदापि तैयार नही होता। वह कहता है कि मैने व्रत लिया है कि किसी स्त्री को राजी किये विना मैं कभी उसे अपने भोग का साधन नहीं बनाऊंगा। इसप्रकार जैन पुराणों में रावरण को राक्षसी वृत्ति से ऊपर उठाया गया है, और साथ ही सीता के अक्षुण्ण सतीत्व का ऐसा प्रमाण उपस्थित कर दिया गया है, जो शंका से परे और अकाट्य हो। इन पुराणों में हनुमान, सुग्रीव आदि को बंदर नहीं, किंतु विद्याधर वंशी राजा माना गया है, जिनका ध्वज चिन्ह वानर था। इसप्रकार जैनपुराणों में जो कथाओं का वैशिष्ट्य पाया जाता है, वह निरर्थक अथवा धार्मिक पक्षपात की संकुंचित भावना से प्रेरित नहीं है। उसका एक महान् प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा लोक में औचित्य की हानि न हो, और साथ ही आर्य अनार्य किसी भी वर्ग की जनता को उससे किसी प्रकार की ठेस न पहुंचकर उनकी भावनाओं की भलेप्रकार रक्षा हो।

देश में कभी यक्षों और नागों की भी पूजा होती थी, और इसके लिये उनकी मूर्तियां व मन्दिर भी बनाये जाते थे। प्राचीन ग्रंथों में इस बात के प्रमाण हैं। इनके उपासकों को इतिहासवेत्ता मूलतः अनार्य मानते हैं। जैनियों ने उनकी हिंसात्मक पूजा-विधियों का तो निषेध किया, किन्तु प्रमुख यक्ष नागादि देवी देवताओं को अपने तीर्थंकरों के रक्षक रूप से स्वीकार कर, उन्हें अपने देवालयों में भी स्थान दिया है। राक्षस, भूत, पिशाच आदि चाहे मनुष्य रहे हों, अथवा और किसी प्रकार के प्राणी, किन्तु देश के किन्ही वर्गों में इनकी कुछ न कुछ मान्यता थी, जिसका आदर करते हुए जैनियों ने इन्हें एक जाति के देव स्वीकार किया है।

उदार नीति का सैद्धान्तिक आधार—

जैनियों की उक्त संग्राहक प्रवृत्तियों पर से सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म अवसरवादी रहा है, जिसके कारण उसमें अनेक विरोधी बातों का समावेश कर लिया गया है। किन्तु गम्भीर विचार करने से यह अनुमान निर्मूल सिद्ध हो

जायगा, क्योंकि उक्त सभी बातें किसी व्यावहारिक सुविधा मात्र के विचार से नहीं लाई गई हैं, किन्तु वे जैनधर्म के आधारभूत दार्शनिक व सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि से स्वभावतः ही उत्पन्न हुई हैं। इस बात को स्पष्टतः समझने के लिये जैनदर्शन पर यहां एक विहंगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

वेदान्त दर्शन में केवल एक चिदात्मक तत्व ही स्वीकार किया गया है, जिसे ब्रह्म कहा है और शेष दृश्यमान जगत् के पदार्थों को असत् व माया-जाल रूप से बतलाया गया है। एक अन्य दर्शन में केवल भौतिक तत्वों की ही सत्ता स्वीकार की गई है, और उन्हीं के मेल-जोल से चैतन्य गुण की उत्पत्ति मानी गई है। इस मत को चार्वाक् दर्शन कहा गया है। जैन दर्शन जीव और अजीवरूप से दोनों तत्वों को स्वीकार करता है। उसमें मौलिक तत्व एक नहीं, किन्तु छह द्रव्यों को माना है। द्रव्य वह है जिसमें सत्ता गुण हो, और सत्ता स्वयं त्रिगुणात्मक है। इसके ये तीन गुण हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। तात्पर्य यह कि न तो वेदान्त में द्रव्यों की पूरी सत्ता का निरूपण पाया जाता है, और न चार्वाक् दर्शन में। द्रव्यों में वेदान्त-सम्मत कूटस्थ नित्यता भी सिद्ध नहीं होती, और न बौद्ध सिद्धान्त की क्षण-ध्वंसता मात्र। संसार में चैतन्य-गुण-युक्त आत्म-तत्व भी है, और चैतन्यहीन मूर्तिमान, भौतिक पदार्थ तथा, अमूर्तिक काल, आकाश आदि तत्व भी। ये सभी द्रव्य गुण-पर्यायात्मक हैं। अपनी गुणात्मक अवस्था के कारण उनमें ध्रुवता है, तथा पर्यायात्मकता के कारण उनमें उत्पत्ति-विनाश रूप अवस्थाएं भी विद्यमान हैं। जैनधर्म के इस दार्शनिक तत्व-ज्ञान में ही उसकी व्यापक दृष्टि पाई जाती है, और इसी व्यापक दृष्टि से वस्तु-विचार के लिए उसने अपना स्याद्वाद व अनेकान्त रूप न्याय स्थापित किया है। इस न्याय को समझने के लिए हम अपने सामने रखी हुई इस टेबिल को ही ले लेते हैं। इसे हम चैतन्यहीन पाते हैं, इसीलिए इसे मात्र जड़ तत्व ही कह सकते हैं। जड़ तत्वों में यह अमूर्त्त नहीं, किन्तु मूर्तिमान है, इसीलिए इसे पुद्गल कह सकते हैं। पुद्गलों के नाना भेदों में से यह केवल काष्ठ की बनी है, इसीलिये इसे काठ कह सकते हैं, और काठ के बने आलमारी, कुर्सी, बेंच, दरवाजे आदि नाना रूपों में से इसके अपने विशेष रूप के कारण हम इसे टेबिल कहते हैं। इस टेबिल में ऊंचाई, लम्बाई, चौड़ाई तथा रंग आदि की दृष्टि से अनेक ही नहीं, अनन्त गुण हैं। आपेक्षिक दृष्टि से देखने पर यही टेबिल हमें कभी छोटी और कभी बड़ी, कभी ऊंची और कभी नीची दिखाई देने लगती है। इस प्रकार जब कोई इसे उक्त द्रव्यात्मक, गुणात्मक या पर्यायात्मक नाम से कहता है, तब उसमें वास्तविकता की दृष्टि से हमें एकांश सत्य की झलक मिलती है, और उससे हमारा

तात्कालिक कार्य भी चल जाता है। किन्तु यदि हम उसी आंशिक सत्य को परिपूर्ण सत्य मान लें, तो यह हमारी भूल होगी। नाना कालों में, नाना देशों में, नाना मनुष्यों में वस्तुओं को नाना प्रकार से देखा, समझा व वर्णन किया जाता है। अतएव हमें उन सब कथनों व वर्णनों का ठीक-ठीक दृष्टिकोण समझकर, उन्हें अपने ज्ञान में यथास्थान समाविष्ट करना आवश्यक है। यदि हम ऐसा नहीं कर पाते, तो पद पद पर हमें विरोध दिखाई देता है। किन्तु यदि हम भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को समझकर उनको सामंजस्य रूप से स्थापित कर सकें, तो हमें उस विशाल सत्य के दर्शन होने लगते हैं जो इस जगत् की वास्तविकता है। इसी उद्देश्य से जैन आचार्यों ने देश और काल, तथा द्रव्य और भाव के अनुसार भी वस्तु-वैचित्र्य का विचार करने पर जोर दिया है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने समस्त एकान्तरूप मिथ्या दृष्टियों के समन्वय से सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति मानी है।

जैनधर्म में जो अहिंसा पर जोर दिया गया है, वह भी उक्त तत्व-चिन्तन का ही परिणाम है। संसार मे एक नही, अनेक, अनन्त प्राणी हैं, और उनमें से प्रत्येक में जीवात्मा विद्यमान है। ये आत्माएं अपने अपने कर्मबन्ध के बल से जीवन की नाना दशाओं, नाना योनियों, नाना प्रकार के शरीरों तथा नाना ज्ञानात्मक अवस्थाओं में ,दिखाई देती है। किन्तु उन सभी में ज्ञानात्मक विकास के द्वारा परमात्मपद प्राप्त करने की योग्यता है। इस प्रकार शक्तिरूप से सभी जीवात्मा समान है। अतएव उनमें परस्पर सम्मान, सद्भाव और सहयोग का व्यवहार होना चाहिये। यही जैनधर्म की जनतंत्रात्मकता है। यदि आज की जनतंत्रात्मक विचारधारा से उसे पृथग् निर्दिष्ट करना चाहें, तो उसे प्राणि-तन्त्रात्मक कहना उचित होगा; क्योंकि जनतंत्रात्मक जो दृष्टिकोण मनुष्य समाज तक सीमित है, उसे और अधिक विस्तृत व विशाल बनाकर जैनधर्म प्राणिमात्र को उसकी सदस्यता का पात्र स्वीकार करता है। इस वस्तु-विचार से यह स्वभावतः ही फलित होता है कि समस्त प्राणियों में परस्पर अपनी व पराई दोनों की रक्षा की भावना होनी चाहिये। जब सभी को एक उद्दिष्ट स्थान पर पहुंचना है, और वे एक ही पथ के पथिक हैं, तब उनमें परस्पर साहाय्य की भावना होनी ही चाहिये। इस विवेक का मनुष्य पर सबसे अधिक भार है, क्योंकि मनुष्य में अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धि और ज्ञान का विकास हुआ है। यदि एक के पास मोटरकार है, और दूसरा पैदल चल रहा है, तो होना तो यह चाहिये कि मोटरवाला पैदल चलनेवाले को भी अपनी गाड़ी में बिठा ले। किन्तु यदि किसी कारणवश यह सम्भव न हो, तो यह तो कदापि होना ही न चाहिये कि मोटरवाला अपने उन्माद में

जायगा, क्योंकि उक्त सभी बातें किसी व्यावहारिक सुविधा मात्र के विचार से नहीं लाई गई हैं, किन्तु ये जैनधर्म के आधारभूत दार्शनिक व सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि से स्वभावतः ही उत्पन्न हुई हैं। इस बात को स्पष्टतः समझने के लिये जैनदर्शन पर यहां एक विहंगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

वेदान्त दर्शन में केवल एक चिदात्मक तत्व ही स्वीकार किया गया है, जिसे ब्रह्म कहा है और शेष दृश्यमान जगत् के पदार्थों को असत् व माया-जाल रूप से बतलाया गया है। एक अन्य दर्शन में केवल भौतिक तत्वों की ही सत्ता स्वीकार की गई है, और उन्हीं के मेल-जोल से चैतन्य गुण की उत्पत्ति मानी गई है। इस मत को चार्वाक् दर्शन कहा गया है। जैन दर्शन जीव और अजीवरूप से दोनों तत्वों को स्वीकार करता है। उसमें मौलिक तत्व एक नहीं, किन्तु छह द्रव्यों को माना है। द्रव्य वह है जिसमें सत्ता गुण हो, और सत्ता स्वयं त्रिगुणात्मक है। इसके ये तीन गुण हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। तात्पर्य यह कि न तो वेदान्त में द्रव्यों की पूरी सत्ता का निरूपण पाया जाता है, और न चार्वाक् दर्शन में। द्रव्यों में वेदान्त-सम्मत कूटस्थ नित्यता भी सिद्ध नहीं होती, और न बौद्ध सिद्धान्त की क्षण-ध्वंसता मात्र। संसार में चैतन्य-गुण-युक्त आत्म-तत्व भी है, और चैतन्यहीन मूर्तिमान, भौतिक पदार्थ तथा, अमूर्तिक काल, आकाश आदि तत्व भी। ये सभी द्रव्य गुण-पर्यायात्मक हैं। अपनी गुणात्मक अवस्था के कारण उनमें ध्रुवता है, तथा पर्यायात्मकता के कारण उनमें उत्पत्ति-विनाश रूप अवस्थाएं भी विद्यमान हैं। जैनधर्म के इस दार्शनिक तत्व-ज्ञान में ही उसकी व्यापक दृष्टि पाई जाती है, और इसी व्यापक दृष्टि से वस्तु-विचार के लिए उसने अपना स्याद्वाद व अनेकान्त रूप न्याय स्थापित किया है। इस न्याय को समझने के लिए हम अपने सामने रखी हुई इस टेबिल को ही ले लेते हैं। इसे हम चैतन्यहीन पाते हैं, इसीलिए इसे मात्र जड़ तत्व ही कह सकते हैं। जड़ तत्वों में यह अमूर्त्त नहीं, किन्तु मूर्तिमान है, इसीलिए इसे पुद्गल कह सकते हैं। पुद्गलों के नाना भेदों में से यह केवल काष्ठ की बनी है, इसीलिये इसे काठ कह सकते हैं, और काठ के बने आलमारी, कुर्सी, बेंच, दरवाजे आदि नाना रूपों में से इसके अपने विशेष रूप के कारण हम इसे टेबिल कहते हैं। इस टेबिल में ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई तथा रंग आदि की दृष्टि से अनेक ही नहीं, अनन्त गुण हैं। आपेक्षिक दृष्टि से देखने पर यही टेबिल हमें कभी छोटी और कभी बड़ी, कभी ऊंची और कभी नीची दिखाई देने लगती है। इस प्रकार जब कोई इसे उक्त द्रव्यात्मक, गुणात्मक या पर्यायात्मक नाम से कहता है, तब उसमें वास्तविकता की दृष्टि से हमें एकांश सत्य की झलक मिलती है, और उससे हमारा

तात्कालिक कार्य भी चल जाता है। किन्तु यदि हम उसी आंशिक तथ्य को परिपूर्ण सत्य मान लें, तो यह हमारी भूल होगी। नाना कालों में, नाना देशों में, नाना मनुष्यों में वस्तुओं को नाना प्रकार से देखा, समझा व वर्णन किया जाता है। अतएव हमें उन सब कथनों व वर्णनों का ठीक-ठीक दृष्टिकोण समझकर, उन्हे अपने ज्ञान में यथास्थान समाविष्ट करना आवश्यक है। यदि हम ऐसा नहीं कर पाते, तो पद पद पर हमें विरोध दिखाई देता है। किन्तु यदि हम भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को समझकर उनको सामंजस्य रूप से स्थापित कर सकें, तो हमें उस विशाल सत्य के दर्शन होने लगते हैं जो इस जगत् की वास्तविकता है। इसी उद्देश्य से जैन आचार्यों ने देश और काल, तथा द्रव्य और भाव के अनुसार भी वस्तु-वैचित्र्य का विचार करने पर जोर दिया है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने समस्त एकान्तरूप मिथ्या दृष्टियो के समन्वय से सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति मानी है।

जैनधर्म में जो अहिंसा पर जोर दिया गया है, वह भी उक्त तत्व-चिन्तन का ही परिणाम है। संसार में एक नही, अनेक, अनन्त प्राणी हैं, और उनमें से प्रत्येक में जीवात्मा विद्यमान है। ये आत्माएं अपने अपने कर्मबन्ध के बल से जीवन की नाना दशाओं, नाना योनियों, नाना प्रकार के शरीरों तथा नाना ज्ञानात्मक अवस्थाओं में दिखाई देती हैं। किन्तु उन सभी मे ज्ञानात्मक विकास के द्वारा परमात्मपद प्राप्त करने की योग्यता है। इस प्रकार शक्तिरूप से सभी जीवात्मा समान है। अतएव उनमें परस्पर सम्मान, सद्भाव और सहयोग का व्यवहार होना चाहिये। यही जैनधर्म की जनतंत्रात्मकता है। यदि आज की जनतंत्रात्मक विचारधारा से उसे पृथग् निर्दिष्ट करना चाहें, तो उसे प्राणि-तन्त्रात्मक कहना उचित होगा; क्योंकि जनतंत्रात्मक जो दृष्टिकोण मनुष्य समाज तक सीमित है, उसे और अधिक विस्तृत व विशाल बनाकर जैनधर्म प्राणिमात्र को उसकी सदस्यता का पात्र स्वीकार करता है। इस वस्तु-विचार से यह स्वभावतः ही फलित होता है कि समस्त प्राणियों में परस्पर अपनी व पराई दोनों की रक्षा की भावना होनी चाहिये। जब सभी को एक उद्दिष्ट स्थान पर पहुंचना है, और वे एक ही पथ के पथिक हैं, तब उनमें परस्पर साहाय्य की भावना होनी ही चाहिये। इस विवेक का मनुष्य पर सबसे अधिक भार है, क्योंकि मनुष्य में अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धि और ज्ञान का विकास हुआ है। यदि एक के पास मोटरकार है, और दूसरा पैदल चल रहा है, तो होना तो यह चाहिये कि मोटरवाला पैदल चलनेवाले को भी अपनी गाड़ी में बिठा ले। किन्तु यदि किसी कारणवश यह सम्भव न हो, तो यह तो कदापि होना ही न चाहिये कि मोटरवाला अपने उन्माद में

उस पैदल चलनेवाले को अपनी गाड़ी के पहियों के नीचे कुचल दे। अहिंसा सिद्धान्त का यही तत्व और मर्म है।

किन्तु जीवन की जितनी विषम परिस्थितियां हैं और प्राणियों में जितनी विरोधात्मक वृत्तियां हैं, उनमें अहिंसा सिद्धान्त के पूर्णरूप से पालन किये जाने में बड़ी कठिनाइयां हैं। जैनधर्म मनुष्य की इन विषम परिस्थितियों को स्वीकार करके चलता है, और इसीलिये अहिंसापालन में तरतम प्रणाली को स्थापित करता है। गृहस्थ एक सीमा तक ही अहिंसा का पालन कर सकता है, अतएव उसके लिये अणुव्रतों का विधान किया गया है। उसके आगे महाव्रतों का परिपालन मुनियों के लिये विहित है। गृहस्थ-मार्ग भी बड़ा विशाल है, और उसकी भी अपनी नाना परिस्थितियां हैं। अतएव उसमें भी गृहस्थों के ग्यारह दर्जे स्थापित किये गये हैं। अहिंसा भी अपने रूप में एकप्रकार नहीं, भावना और क्रियारूप से वह भी दो प्रकार की है। क्रिया रूप में भी प्रयोजनानुसार यह अनेक प्रकार की है। मनुष्य से चलने-फिरने, घर-द्वार की सफाई करने में भी हिंसा हो सकती है। कृषि, वाणिज्य आदि व्यवसायों में भी जीव-हिंसा बचाई नहीं जा सकती। हो सकता है स्वयं अपनी, अपने बंधु-बान्धवों अथवा अपने घरद्वार व देश की रक्षा के लिये उसे आक्रमणकारी मनुष्यों का सामना करना पड़े। गृहस्थों के लिये इसप्रकार की हिंसा का निषेध नहीं किया गया। उसे बचने का आदेश दिया गया है उस हिंसा से, जो बिना उक्त प्रयोजनों के, अथवा क्रोध, वैर आदि दुष्ट भावनाओं से प्रेरित होकर संकल्पपूर्वक की गई हो। जैसे शिकार खेलने, वैर चुकाने या धनहरण करने आदि के लिये किसी का वध करना, इत्यादि। मुनि उक्त विविध उत्तरदायित्वों से मुक्त होते हैं, अतएव उन पर अधिक सूक्ष्मता से अहिंसा के परिपालन का भार डाला गया है।

जैनधर्म के इस अहिंसा के स्वरूप पर विचार करने से, जो उस पर यह कलंक लगाया जाता है कि उसके कारण देश में शक्तिहीनता उत्पन्न हो गई व उसी कारण विदेशी आक्रामकों द्वारा देश की पराजय हुई, वह निर्मूल सिद्ध हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि प्राचीनतम काल से अनेक जैनधर्मावलम्बी वीर पुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपना धर्म भी निबाहा है, और योद्धा व सेनापति का कर्तव्य भी। जैन अनेकान्त दृष्टि ने इन विरोधाभासों का परिहार करके अपने कर्तव्यों में सामंजस्य स्थापित करने की उसके अनुयायियों को अद्भुत शक्ति दी है। अब जबकि हमारा देश वैयक्तिक व्यवहार में ही नहीं, किन्तु राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में भी अहिंसा तत्त्व को मौलिक रूप से स्वीकार कर चुका है, तब जैनधर्म का यह सिद्धांत अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण

सिद्ध होता है, और उसके सूक्ष्म अध्ययन व विचार की बड़ी आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी समन्वयात्मक अनेकांत सिद्धांत के आधार पर आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व हुए समंतभद्राचार्य ने अपने युक्त्यनुशासन नामक ग्रंथ में महावीर के जैन शासन को सब आपदाओं का निवारक शाश्वत सर्वोदय तीर्थ कहा है—

सर्वापदां अन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ (यु. ६१)

प्राचीन इतिहास—

जैन पुराणों में भारतवर्ष का इतिहास उसके भौगोलिक वर्णन के साथ किया गया पाया जाता है। भारत जम्बूदीप के दक्षिणी भाग में स्थित है। इसके उत्तर में हिमवान् पर्वत है और मध्य में विजयार्द्ध पर्वत। पश्चिम में हिमवान् से निकली हुई सिन्ध नदी बहती है और पूर्व में गंगानदी, जिससे उत्तरभारत के तीन विभाग हो जाते है। दक्षिण भारत के भी पूर्व, मध्य और पश्चिम दिशाओं में तीन विभाग हैं। ये ही भारत के छह खंड हैं, जिन्हें विजय करके कोई सम्राट् चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त करता है।

भारत का इतिहास देश की उस काल की अवस्था के वर्णन से प्रारम्भ होता है, जब आधुनिक नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। उस समय भूमि घास और सघन वृक्षों से भरी हुई थी। सिंह, व्याघ्र, हाथी, गाय, भैंस, आदि सभी पशु वनों में पाये जाते थे। मनुष्य ग्राम व नगरों में नही बसते थे, और कौटुम्बिक व्यवस्था भी कुछ नहीं थी। उस समय न लोग खेती करना जानते थे, न पशुपालन, न अन्य कोई उद्योग-धन्धे। वे अपने खान, पान, शरीराच्छादन आदि की आवश्यकताएं वृक्षों से ही पूरी कर लेते थे। इसीलिए उस काल के वृक्षों को कल्पवृक्ष कहा गया है। कल्पवृक्ष अर्थात् ऐसे वृक्ष जो मनुष्यों की सब इच्छाओं की पूर्ति कर सकें। भाई-बहन ही पति-पत्नी रूप से रहने लगते थे, और माता-पिता अपने ऊपर सन्तान का कोई उत्तरदायित्व अनुभव नहीं करते थे। इस काल में धर्म-साधना, पुण्य-पाप की भावना आदि कोई विचार विवेक नहीं थे। इस परिस्थिति को पुराणकारों ने भोगभूमि-व्यवस्था कहा है, क्योंकि उसमें आगे आनेवाली कर्मभूमि सम्बन्धी कृषि और उद्योग आदि की व्यवस्थाओं का अभाव था।

क्रमशः उक्त अवस्था में परिवर्तन हुआ, और उस युग का प्रारम्भ हुआ जिसे पुराणकारों ने कर्म-भूमि का युग कहा है व जिसे हम आधुनिक सभ्यता का प्रारम्भ कह सकते हैं। इस युग को विकास में लाने वाले चौदह महापुरुष माने गये हैं, जिन्हें कुल-

कर या मनु कहा है। इन्होंने क्रमशः अपने अपने काल में लोगों को हिंस्र पशुओं से अपनी रक्षा करने के उपाय बताये। भूमि व वृक्षों के वैयक्तिक स्वामित्व की सीमाएं निर्धारित की। हाथी आदि वन्य पशुओं का पालन कर, उन्हें वाहन के उपयोग में लाना सिखाया। बाल बच्चों के लालन-पालन व उनके नामकरण आदि का उपदेश दिया। शीत तुषार आदि से अपनी रक्षा करना सिखाया। नदियों को नौकाओं द्वारा पार करना, पहाड़ों पर सीढ़ियां बनाकर चढ़ना, वर्षा से छत्रादिक धारण कर अपनी रक्षा करना आदि सिखाया। और अन्त में कृषि द्वारा अन्न उत्पन्न करने की कला सिखाई, जिसके पश्चात् वाणिज्य, शिल्प आदि वे सब कलाएं व उद्योगधन्धे उत्पन्न हुए जिनके कारण यह भूमि कर्मभूमि कहलाने लगी।

चौदह कुलकरों के पश्चात् जिन महापुरुषों ने कर्मभूमि की सभ्यता के युग में धर्मोपदेश व अपने चारित्र द्वारा अच्छे बुरे का भेद सिखाया, ऐसे त्रैसठ महापुरुष हुए, जो शलाका पुरुष अर्थात् विशेष गणनीय पुरुष माने गये हैं, और उन्हीं का चरित्र जैन पुराणों में विशेष रूप से वर्णित पाया जाता है। इन त्रेसठ शलाका पुरुषों में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रति-नारायण सम्मिलित हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं :—

२४ तीर्थंकर :—१–ऋषभ, २–अजित, ३–संभव, ४–अभिनंदन, ५–सुमति, ६–पद्मप्रभ, ७–सुपार्श्व, ८–चन्द्रप्रभ, ९–पुष्पदंत, १०–शीतल, ११–श्रेयांस, १२–वासुपूज्य, १३–विमल, १४–अनन्त, १५–धर्म, १६–शान्ति, १७–कुन्थु, १८–अरह, १९–मल्लि, २०–मुनिसुव्रत, २१–नमि, २२–नेमि, २३–पार्श्वनाथ, २४–वर्धमान अथवा महावीर।

१२ चक्रवर्ती :—२५–भरत, २६–सगर, २७–मघवा, २८–सनत्कुमार, २९–शान्ति, ३०–कुन्थु, ३१–अरह, ३२–सुभौम, ३३–पद्म, ३४–हरिषेण, ३५–जयसेन, ३६–ब्रह्मदत्त।

९ बलभद्र :—३७–अचल, ३८–विजय, ३९–भद्र, ४०–सुप्रभ, ४१–सुदर्शन, ४२–आनन्द, ४३–नन्दन, ४४–पद्म, ४५–राम।

९ वासुदेव :—४६–त्रिपृष्ठ, ४७–द्विपृष्ठ, ४८–स्वयम्भू, ४९–पुरुषोत्तम, ५०–पुरुषसिंह, ५१–पुरुषपुण्डरीक, ५२–दत्त, ५३–नारायण, ५४–कृष्ण।

९ प्रति-वासुदेव :—५५–अश्वग्रीव, ५६–तारक, ५७–मेरक, ५८–मधु, ५९–निशुम्भ, ६०–बलि, ६१–प्रहलाद, ६२–रावण, ६३–जरासंघ।

आदि तीर्थंकर और वातरशना मुनि—

इन त्रेसठ शलाका पुरुषों में सबसे प्रथम जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ हैं, जिनसे जैनधर्म का प्रारम्भ माना जाता है। उनका जन्म उक्त चौदह कुलकरों मे से अन्तिम कुलकर नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी से हुआ था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे राजसिंहासन पर बैठे और उन्होंने कृषि, असि, मसि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छह आजीविका के साधनों की विशेष रूप से व्यवस्था की, तथा देश व नगरों एवं वर्ण व जातियों आदि का सुविभाजन किया। इनके दो पुत्र भरत और बाहुबलि, तथा दो पुत्रियां ब्राह्मी और सुन्दरी थी, जिन्हे उन्होंने समस्त कलाएं व विद्याएं सिखलाई। एक दिन राज्य सभा में नीलांजना नाम की नर्तकी की नृत्य करते करते ही मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना से ऋषभदेव को संसार से वैराग्य हो गया, और वे राज्य का परित्याग कर तपस्या करने वन को चले गये। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत राजा हुए, और उन्होंने अपने दिग्विजय द्वारा सर्वप्रथम चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। उनके लघु भ्राता बाहुबलि भी विरक्त होकर तपस्या में प्रवृत्त हो गये।

जैन पुराणों में ऋषभदेव के जीवन व तपस्या का तथा केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। जैनी इसी काल से अपने धर्म की उत्पत्ति मानते है। ऋषभदेव के काल का अनुमान लगाना कठिन है। उनके काल की दूरी का वर्णन जैन पुराण सागरों के प्रमाण से करते हैं। सौभाग्य से ऋषभदेव का जीवन चरित्र जैन साहित्य में ही नही, किन्तु वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। भागवत पुराण के पांचवें स्कंध के प्रथम छह अध्यायों में ऋषभदेव के वंश, जीवन व तपश्चरण का वृतान्त वर्णित है, जो सभी मुख्य मुख्य बातों में जैन पुराणों से मिलता है। उनके माता पिता के नाम नाभि और मरुदेवी पाये जाते हैं, तथा उन्हें स्वयंभू मनु से पांचवी पीढ़ी में इस क्रम से हुए कहा गया है—स्वयंभू मनु, प्रियव्रत, अग्नीध्र, नाभि और ऋषभ। उन्होने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य देकर सन्यास ग्रहण किया। वे नग्न रहने लगे और केवल शरीर मात्र ही उनके पास था। लोगों द्वारा तिरस्कार किये जाने, गाली-गलौज किये जाने व मारे जाने पर भी वे मौन ही रहते थे। अपने कठोर तपश्चरण द्वारा उन्होंने कैवल्य की प्राप्ति की, तथा दक्षिण कर्नाटक तक नाना प्रदेशों में परिभ्रमण किया। वे कुटकाचल पर्वत के वन में उन्मत्त की नाई नग्नरूप में विचरने लगे। बांसों की रगड़ से वन में आग लग गई और उसी में उन्होंने अपने को भस्म कर डाला।

भागवत पुराण में यह भी कहा गया है कि ऋषभदेव के इस चरित को सुनकर कोंक, वेंक व कुटक का राजा अर्हन् कलयुग में अपनी इच्छा से उसी धर्म का संप्रवर्त्तन करेगा, इत्यादि। इस वर्णन से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भागवत पुराण का तात्पर्य जैन पुराणों के ऋषभ तीर्थंकर से ही है, और अर्हन् राजा द्वारा प्रवर्तित धर्म का अभिप्राय जैनधर्म से। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि भागवत पुराण तथा वैदिक परम्परा के अन्य प्राचीन ग्रंथों में ऋषभदेव के संबंध की बातों की कुछ गहराई से जांच पड़ताल की जाय।

भागवतपुराण में कहा गया है कि—

"बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानाम् ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावततार।" (भा. पु. ५, ३, २०)

"यज्ञ में परम ऋषियों द्वारा प्रसन्न किए जाने पर, हे विष्णुदत्त, पारीक्षित, स्वयं श्री भगवान् (विष्णु) महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।"

भागवत पुराण के इस कथन में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनका भगवान् ऋषभदेव के भारतीय संस्कृति में स्थान तथा उनकी प्राचीनता और साहित्यिक परंपरा से बड़ा घनिष्ठ और महत्वपूर्ण संबंध है। एक तो यह कि ऋषभ देव की मान्यता और पूज्यता के संबंध में जैन और हिन्दुओं के बीच कोई मतभेद नहीं है। जैसे वे जैनियों के आदि तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार वे हिन्दुओं के लिए साक्षात् भगवान विष्णु के अवतार हैं। उनके ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल में इतनी बद्धमूल हो गई थी कि शिवमहापुराण में भी उन्हें शिव के अट्ठाइस योगावतारों में गिनाया गया है (शिवमहापुराण, ७, २, ९)। दूसरी बात यह कि प्राचीनता में यह अवतार राम और कृष्ण के अवतारों से भी पूर्व का माना गया है। इस अवतार का जो हेतु भागवत पुराण में बतलाया गया है उससे श्रमण धर्म की परम्परा भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से निःसन्देह रूप से जुड़ जाती है। ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करना बतलाया गया है। भागवत पुराण में यह भी कहा गया कि—

'अयमवतारो रजसोपप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थः' (भा. पु. ५, ६, १२)

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को कैवल्य की

शिक्षा देने के लिए हुआ। किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी संभव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण (मल धारण) वृत्ति द्वारा कैवल्य प्राप्ति की शिक्षा देने के लिए हुआ था'। जैन मुनियों के आचार में अस्नान, अदन्तधावन, मल परीषह आदि द्वारा रजोधारण संयम का आवश्यक अंग माना गया है। बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे। बुद्ध भगवान् ने श्रमणों की आचार-प्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था—

"नाहं भिक्खवे संघाटिकस्य संघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि, अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्य रजोजल्लिकमत्तेन...जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि। " (मज्झिमनिकाय ४०)

अर्थात्–हे भिक्षुओ, मैं संघाटिक के संघाटी धारणमात्र से श्रामण्य नहीं कहता, अचेलक के अचेलकत्वमात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिकत्व मात्र से और जटिलक के जटाधारण-मात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता।

अब प्रश्न यह होता है कि जिन वातरशना मुनियों के धर्मों की स्थापना करने तथा रजोजल्लिक वृत्ति द्वारा कैवल्य की प्राप्ति सिखलाने के लिये भगवान् ऋषभदेव का अवतार हुआ था, वे कब से भारतीय साहित्य में उल्लिखित पाये जाते है। इसके लिये जब हम भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदो को देखते हैं, तो हमें यहाँ भी वातरशना मुनियों का उल्लेख अनेक स्थलों में दिखाई देता है।

ऋग्वेद की वातरशना मुनियो के संबंध की ऋचाओं में उन मुनियों की साधनायें ध्यान देने योग्य है। एक सूक्त की कुछ ऋचायें देखिये–

मुनियो वातरशना: पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मदिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ॥

(ऋग्वेद १०,१३६,२-३)

विद्वानों के नाना प्रयत्न होने पर भी अभी तक वेदों का निस्सन्देह रूप से अर्थ बैठाना संभव नही हो सका है। तथापि सायण भाष्य की सहायता से मैं उक्त ऋचाओं का अर्थ इसप्रकार करता हूं:–अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम

मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (उत्कृष्ट आनन्द सहित) वायु भाव को (अशरीरी ध्यानवृत्ति) को प्राप्त होते हैं, और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यंतर स्वरूप को नहीं (ऐसा वे वातरशना मुनि प्रकट करते हैं)।

ऋग्वेद में उक्त ऋचाओं के साथ 'केशी' की स्तुति की गई है—

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥
(ऋग्वेद १०,१३६,१)

केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्वों का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान (ज्ञान-) ज्योति (केवलज्ञानी) कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनियों के वर्णन आदि में की गई है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियों के वर्णन के प्रधान थे।

ऋग्वेद के इन केशी व वातरशना मुनियों की साधनाओं का भागवत पुराण में उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि, उनके अधिनायक ऋषभ और उनकी साधनाओं की तुलना करने योग्य है। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के 'वातरशना श्रमण ऋषि' एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं, इसमें तो किसी को किसी प्रकार के सन्देह होने का अवकाश नहीं दिखाई देता। केशी का अर्थ केशधारी होता है, जिसका अर्थ सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियों को धारण करनेवाले' किया है, और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है। किन्तु उसकी कोई सार्थकता व संगति वातरशना मुनियों के साथ नहीं बैठती, जिनकी साधनाओं का उस सूक्त में वर्णन है। केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं, जिनकी साधना में मलधारण, मौन वृत्ति और उन्माद भाव का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें ही 'मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः' (ऋ. १०, १३६, ४) अर्थात् देव देवों के मुनि व उपकारी और हितकारी सखा कहा है। वातरशना शब्द में और मल रूपी वसन धारण करने में उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी संकेत है। इसकी भागवत पुराण में ऋषभ के वर्णन से तुलना कीजिये।

'उर्वरित- शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगन-परिधानः प्रकीर्णकेशः आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज। जडान्ध-मूक-बधिर पिशाचोन्मादकवद् अवधूतवेषो अभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतः तूष्णीं बभूव। ......परागवलम्बमानकुटिल-जटिल-कपिश-केशभूरि-भारः अवधूत-मलिन-निजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत। (भा. पु ५, ६, २८-३१)

अर्थात् ऋषभ भगवान के शरीर मात्र परिग्रह बच रहा था। वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी, बिखरे हुए केशों सहित आह्वनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए। वे जड़, अन्ध, मूक, वधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष में लोगों के बुलाने पर भी मौन वृत्ति धारण किए हुए चुप रहते थे।......सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भार सहित अवधूत और मलिन शरीर सहित वे ऐसे दिखाई देते थे, जैसे मानों उन्हें भूत लगा हो।

यथार्थतः यदि ऋग्वेद के उक्त केशी संबंधी सूक्त को, तथा भागवतपुराण में वर्णित ऋषभदेव के चरित्र को सन्मुख रखकर पढ़ा जाय, तो पुराण में वेद के सूक्त का विस्तृत भाष्य किया गया सा प्रतीत होता है। वही वातरशना या गगनपरिधान वृत्ति, केश-धारण, कपिश वर्ण, मलधारण, मौन, और उन्माद-भाव समान रूप से दोनों में वर्णित हैं। ऋषभ भगवान् के कुटिल केशों की परम्परा जैन मूर्ति कला में प्राचीनतम काल से आज तक अक्षुण्ण पाई जाती है। यथार्थतः समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभ की ही मूर्त्तियों के सिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है, और वही उनका प्रचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। इस संबंध में मुझे केसरिया नाथ का स्मरण आता है, जो ऋषभनाथ का ही नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं 'सटा जटा केसरयोः'। सिंह भी अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है। इस प्रकार केशी और केसरी एक ही केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं। केशरियानाथ पर जो केशर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है, वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। जैन पुराणों में भी ऋषभ की जटाओं का सदैव उल्लेख किया गया है। पद्मपुराण (३,२८८) में वर्णन है, 'वातोद्धता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः' और हरिवंशपुराण (९,२०४) में उन्हें कहा है—'स प्रलम्बजटाभार-भ्राजिष्णुः'। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि, तथा भागवत पुराण के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि एवं केसरिया नाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।

केशी और ऋषभ के एक ही पुरुषवाची होने के उक्त प्रकार अनुमान करने के पश्चात् हठात् मेरी दृष्टि ऋग्वेद की एक ऐसी ऋचा पर पड़ गई जिसमें वृषभ और केशी का साथ साथ उल्लेख आया है। वह ऋचा इसप्रकार है:—

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्
अवावचीत् सारथिरस्य केशी

कुपर्युवतस्य द्रवतः सहानस
ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥
(ऋग्वेद १०, १०२, ६)

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो 'मुद्गलस्य हृता गावः' आदि श्लोक उद्धृत किए गए हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गौवों को चोर चुरा ले गए थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गौएं आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ीं। प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ और केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है। किंतु फिर प्रकारान्तर से उन्होंने कहा है:—

'अथवा, अस्य सारथिः सहायभूत केशी प्रकृष्टकेशो वृषभः अवाशयीत् अशब्दयत्' इत्यादि।

सायण के इसी अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथा-प्रसंग को भारतीय दार्शनिक परम्परानुसार ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का मुझे यह अर्थ प्रतीत होता है—

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फल स्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

तात्पर्य यह कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियां पराङ्मुखी थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं।

इसप्रकार केशी और वृषभ या ऋषभ के एकत्व का स्वयं ऋग्वेद से ही पूर्णतः समर्थन हो जाता है। विद्वान् इस एकीकरण पर विचार करें। मैं पहले ही कह चुका हूं कि वेदों का अर्थ करने में विद्वान् अभी पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। विशेषतः वेदों की जैसी भारतीय संस्कृति में पदप्रतिष्ठा है, उसकी दृष्टि से तो अभी उनके समझने समझाने में बहुत सुधार की आवश्यकता है। मुझे आशा है कि केशी, वृषभ या ऋषभ तथा वातरशना मुनियों के वेदान्तर्गत समस्त उल्लेखों के सूक्ष्म अध्ययन से इस विषय के रहस्य का पूर्णतः उद्घाटन हो सकेगा। क्या ऋग्वेद (४, ५८, ३) के 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश' का यह अर्थ नहीं हो सकता कि त्रिधा (ज्ञान, दर्शन और चारित्र से) अनुबद्ध वृषभ ने धर्म-घोषणा की और वे एक महान देव के रूप में मर्त्यों में प्रविष्ट हुए? इसी संबंध में ऋग्वेद के शिश्नदेवों (नग्न देवों),

वाले उल्लेख भी ध्यान देने योग्य हैं (ऋ. वे ७, २१, ५; १०, ९९, ३)। इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों के निर्ग्रंथ साधुओं तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभ-देव के साथ एकीकरण हो जाने से जैनधर्म की प्राचीन परंपरा पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच बहुत मतभेद है। कितने ही विद्वानों ने उन्हें ई० सन् से ५००० वर्ष व उससे भी अधिक पूर्व रचा गया माना है। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य भारतीय विद्वानो का बहुमत यह है कि वेदों की रचना उसके वर्तमान रूप में ई० पूर्व सन् १५०० के लगभग हुई होगी। चारों वेदों मे ऋग्वेद सब से प्राचीन माना जाता है। अतएव ऋग्वेद की ऋचाओं में ही वातरशना मुनियो तथा 'केशी ऋषभदेव' का उल्लेख होने से जैन धर्म अपने प्राचीन रूप में ई० पूर्व सन् १५०० में प्रचलित मानना अनुचित न होगा। केशी नाम जैन परम्परा में प्रचलित रहा, इसका प्रमाण यह है कि महावीर के समय में पार्श्व सम्प्रदाय के नेता का नाम केशीकुमार था (उत्तरा. २३)।

उक्त वातरशना मुनियों की जो मान्यता व साधनाएं वैदिक ऋचा मे भी उल्लिखित हैं, उन पर से हम इस परम्परा को वैदिक परम्परा से स्पष्टतः पृथक् रूप से समझ सकते हैं। वैदिक ऋषि वैसे त्यागी और तपस्वी नही, जैसे ये वातरशना मुनि। वे ऋषि स्वयं गृहस्थ हैं, यज्ञ सम्बन्धी विधि-विधान में आस्था रखते हैं और अपनी इहलौकिक इच्छाओं, जैसे पुत्र, धन, धान्य, आदि सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए इन्द्रादि देवी-देवताओं का आह्वान करते कराते हैं, तथा इसके उपलक्ष में यजमानों से धन-सम्पत्ति का दान स्वीकार करते हैं। किन्तु इसके विपरीत ये वातरशना मुनि उक्त क्रियाओं में रत नही होते। समस्त गृह द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि परिग्रह, यहाँ तक कि वस्त्र का भी परित्याग कर, भिक्षावृत्ति से रहते हैं। शरीर का स्नानादि संस्कार न कर मल धारण किये रहते हैं। मौन वृत्ति से रहते हैं, तथा अन्य देवी-देवताओं के आराधन से मुक्त आत्मध्यान में ही अपना कल्याण समझते हैं। स्पष्टतः यह उस श्रमण परम्परा का प्राचीन रूप है, जो आगे चलकर अनेक अवैदिक सम्प्रदायों के रूप में प्रगट हुई और जिनमें से दो अर्थात् जैन और बौद्ध सम्प्रदाय आज तक भी विद्यमान हैं। प्राचीन समस्त भारतीय साहित्य, वैदिक, बौद्ध व जैन तथा शिलालेखों में भी ब्राह्मण और श्रमण सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। जैन एवं बौद्ध साधु आजतक भी श्रमण कहलाते हैं। वैदिक परम्परा के धार्मिक गुरु कहलाते थे ऋषि, जिनका वर्णन ऋग्वेद में बारंबार आया है। किन्तु श्रमणपरम्परा के साधुओं की संज्ञा मुनि थी, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में केवल उन वातरशना मुनियों के संबंध को छोड़,

अन्यत्र कहीं नहीं आया। ऋषि-मुनि कहने से दोनों सम्प्रदायों का ग्रहण समझना चाहिये। पीछे परस्पर इन सम्प्रदायों का खूब आदान-प्रदान हुआ और दोनों शब्दों को प्रायः एक दूसरे का पर्यायवाची माना जाने लगा।

वैदिक साहित्य के यति और व्रात्य—

ऋग्वेद में मुनियों के अतिरिक्त यतियों का भी उल्लेख बहुतायत से आया है। ये यति भी ब्राह्मण परम्परा के न होकर श्रमण-परम्परा के ही साधु सिद्ध होते है, जिनके लिये यह संज्ञा समस्त जैन साहित्य में उपयुक्त होते हुए आजतक भी प्रचलित है। यद्यपि आदि में ऋषियों, मुनियों और यतियों के बीच सारमेल पाया जाता है, और वे समानरूप से पूज्य माने जाते थे। किन्तु कुछ ही पश्चात् यतियों के प्रति वैदिक परम्परा में महान् रोष उत्पन्न होने के प्रमाण हमें ब्राह्मण ग्रंथों में मिलते हैं, जहां इन्द्र द्वारा यतियों को शालावृकों (शृगालों व कुत्तों) द्वारा नुचवाये जाने का उल्लेख मिलता है (तैत्तरीय संहिता २, ४, ६, २; ६, २, ७, ५, ताण्ड्य ब्राह्मण १४, २, २८,—१८, १, ६) किन्तु इन्द्र के इस कार्य को देवों ने उचित नहीं समझा और उन्होंने इसके लिये इन्द्र का बहिष्कार भी किया (ऐतरेय ब्राह्मण ७,२८)। ताण्ड्य ब्राह्मण के टीकाकारों ने यतियों का अर्थ किया है 'वेदविरुद्धनियमोपेत, कर्मविरोधिजन, ज्योतिष्टोमादि अकृत्वा प्रकारान्तरेण वर्तमान' आदि, इन विशेषणों से उनकी श्रमण-परम्परा स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है। भगवद्गीता में ऋषियों मुनियों और यतियों का स्वरूप भी बतलाया है, और उन्हें समान रूप से योग साधना में प्रवृत्त माना है। यहां मुनि को इन्द्रिय और मन का संयम करने वाला, इच्छा, भय व क्रोध रहित मोक्षपरायण व सदा मुक्त के समान माना है (भ० गी० ५, २८) और यति को काम-क्रोध-रहित, संयत-चित्त व वीतराग कहा है (भ० गी० ५, २६; ८, ११ आदि) अथर्ववेद के १५ वें अध्याय में व्रात्यों का वर्णन आया है। सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण व लाट्यायन, कात्यायन व आपस्तंबीय श्रौतसूत्रों में व्रात्यस्तोमविधि द्वारा उन्हें शुद्ध कर वैदिक परम्परा में सम्मिलित करने का भी वर्णन है। ये व्रात्य वैदिक विधि से 'अदीक्षित व संस्कारहीन' थे, वे अदुरुक्त वाक्य को दुरुक्त रीति से, (वैदिक व संस्कृत नहीं, किन्तु अपने समय की प्राकृत भाषा) बोलते थे,' वे 'ज्याहृद' (प्रत्यंचा रहित धनुष) धारण करते थे। मनुस्मृति (१० अध्याय) में लिच्छवि, नाथ, मल्ल आदि क्षत्रिय जातियों को व्रात्यों में गिनाया है। इन सब उल्लेखों पर सूक्ष्मता से विचार करने से इसमें सन्देह नहीं रहता कि ये व्रात्य भी श्रमण परम्परा के साधु व गृहस्थ थे, जो वेद-विरोधी होने से वैदिक

अनुयायियों के कोप-भाजन हुए हैं। जैन धर्म के मुख्य पांच अहिंसादि नियमों को व्रत कहा है। उन्हें ग्रहण करने वाले श्रावक देश विरत या अणुव्रती और मुनि महाव्रती कहलाते हैं। जो विधिवत् व्रत ग्रहण नहीं करते, तथापि धर्म में श्रद्धा रखते हैं, वे अविरत सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं। इसीप्रकार के व्रतधारी व्रात्य कहे गये प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे हिंसात्मक यज्ञविधियों के नियम से त्यागी होते हैं। इसीलिये उपनिषदों में कहीं कहीं उनकी बड़ी-प्रशंसा भी पाई जाती है, जैसे प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है– व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः' (२, ११)। शांकर भाष्य में व्रात्य का अर्थ 'स्वभावत एक शुद्ध इत्यभिप्रायः' किया गया है। इस प्रकार श्रमण साधनाओं की परम्परा हमें नाना प्रकार के स्पष्ट व अस्पष्ट उल्लेखों द्वारा ऋग्वेद आदि समस्त वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होती है।

तीर्थंकर नमि—

वेदकालीन आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ के पश्चात् जैन पुराण परम्परा में जो अन्य तेईस तीर्थंकरों के नाम या जीवन-वृत्त मिलते हैं, उनमें बहुतों के तुलनात्मक अध्ययन के साधनों का अभाव है। तथापि अंतिम चार तीर्थंकरों की ऐतिहासिक सत्ता के थोड़े बहुत प्रमाण यहां उल्लेखनीय हैं। इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ थे। नमि मिथिला के राजा थे, और उन्हें हिन्दू पुराण में भी जनक के पूर्वज माना गया है। नमि की प्रव्रज्या का एक सुंदर वर्णन हमें उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्याय में मिलता है, और यहां उन्हीं के द्वारा वे वाक्य कहे गये हैं, जो वैदिक व बौद्ध परम्परा के संस्कृत व पालि साहित्य में गूंजते हुए पाये जाते हैं, तथा जो भारतीय अध्यात्म संबंधी निष्काम कर्म व अनासक्ति भावना के प्रकाशन के लिये सर्वोत्कृष्ट वचन रूप से जहां तहां उद्धृत किये जाते हैं। वे वचन हैं–

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मों णत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए ण मे डज्झइ किंचण॥

(उत्त० ९–१४)

सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किंचनं।
मिथिलाये दहमानाय न मे किंचि अदय्हथ॥

(पालि–महाजनक जातक)

मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते॥

(म० भा० शांतिपर्व)

नमि की यही अनासक्त वृत्ति मिथिला राजवंश में जनक तक पाई जाती है। प्रतीत होता है कि जनक के कुल की इसी आध्यात्मिक परम्परा के कारण वह वंश तथा उनका समस्त प्रदेश ही विदेह (देह से निर्मोह, जीवन्मुक्त) कहलाया और उनकी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण ही उनका धनुष प्रत्यंचा-हीन रूप में उनके क्षत्रियत्व का प्रतीकमात्र सुरक्षित रहा। सम्भवतः यही वह जीर्ण धनुष था, जिसे राम ने चढ़ाया और तोड़ डाला। इस प्रसंग में जो व्रात्यों के 'ज्याहृद' शब्द के संबंध में ऊपर कह आये हैं, वह बात भी ध्यान देने योग्य है।

तीर्थंकर नेमिनाथ—

तत्पश्चात् महाभारत काल में बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ हुए। इनकी वंश-परम्परा इस प्रकार बतलाई गई है—शौरीपुर के यादव वंशी राजा अंधकवृष्णी के ज्येष्ठ पुत्र हुए समुद्रविजय, जिनसे नेमिनाथ उत्पन्न हुए। तथा सबसे छोटे पुत्र थे वसुदेव, जिनसे उत्पन्न हुए वासुदेव कृष्ण। इस प्रकार नेमिनाथ और कृष्ण आपस में चचेरे भाई थे। जरासंध के आतंक से त्रस्त होकर यादव शौरीपुर को छोड़कर द्वारका में जा बसे। नेमिनाथ का विवाह-सम्बन्ध गिरिनगर (जूनागढ़) के राजा उग्रसेन की कन्या राजुलमती से निश्चित हुआ। किन्तु जब नेमिनाथ की बारात कन्या के घर पहुंची और वहां उन्होंने उन पशुओं को घिरे देखा, जो अतिथियों के भोजन के लिए मारे जाने वाले थे, तब उनका हृदय करुणा से व्याकुल हो उठा और वे इस हिंसामयी गार्हस्थ प्रवृत्ति से विरक्त होकर, विवाह का विचार छोड़, गिरनार पर्वत पर जा चढ़े और तपस्या में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त कर उसी श्रमण परम्परा को पुष्ट किया। नेमिनाथ की इस परम्परा को विशेष देन प्रतीत होती है—'अहिंसा को धार्मिक वृत्ति का मूल मानकर उसे सैद्धान्तिक रूप देना।' महाभारत का काल ई० पूर्व १००० के लगभग माना जाता है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से यही काल नेमिनाथ तीर्थंकर का मानना उचित प्रतीत होता है। यहां प्रसंगवश यह भी ध्यान देने योग्य है कि महाभारत के शान्तिपर्व में जो भगवान् तीर्थवित् और उनके द्वारा दिये गये उपदेश का वृत्तान्त मिलता है, वह जैन तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म के समरूप है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ—

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म बनारस के राजा अश्वसेन और उनकी रानी वर्मला (वामा) देवी से हुआ था। उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में गृह त्याग

कर सम्मेदशिखर पर्वत पर तपस्या की। यह पर्वत आजतक भी पारसनाथ पर्वत नाम से सुविख्यात है। उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर सत्तर वर्ष तक श्रमण धर्म का उपदेश और प्रचार किया। जैन पुराणानुसार उनका निर्वाण भगवान महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व और तदनुसार ई० पूर्व ५२७+२५०=७७७ वर्ष में हुआ था। पार्श्वनाथ का श्रमण-परम्परा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप आज तक भी जैन समाज प्रायः पारसनाथ के अनुयाइयों की मानी जाती है। ऋषभनाथ की सर्वस्व-त्याग रूप आकिञ्चन मुनिवृत्ति, नमि की निरीहता व नेमिनाथ की अहिंसा को उन्होंने अपने चातुर्याम रूप सामायिक धर्म मे व्यवस्थित किया। चातुर्याम का उल्लेख निर्ग्रन्थो के सम्बन्ध में पालि ग्रन्थों मे भी मिलता है और जैन आगमों में भी। किन्तु इनमें चार याम क्या थे, इसके संबंध में मतभेद पाया जाता है। जैन आगमानुसार पार्श्वनाथ के चार याम इस प्रकार थे - (१) सर्वप्राणातिक्रम से विरमण, (२) सर्व मृषावाद से विरमण, (३) सर्व अदत्तादान से विरमण, (४) सर्व बहिस्थादान से विरमण। पार्श्वनाथ का चातुर्यामरूप सामायिक धर्म महावीर से पूर्व ही सुप्रचलित था, यह दिग०, श्वे० परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध पालि साहित्य गत उल्लेखो से भलीभांति सिद्ध हो जाता है। मूलाचार (७, ३६–३८) में स्पष्ट उल्लेख है कि महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया था, तथा केवल अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करना आवश्यक बतलाया था। किन्तु महावीर ने सामायिक धर्म के स्थान पर छेदोपस्थापना संयम निर्धारित किया और प्रतिक्रमण नियम से करने का उपदेश दिया (मू० १२९–१३३)। ठीक यही बात भगवती (२०, ८, ६७५; २५, ७, ७८५), उत्तराध्ययन आदि आगमों में तथा तत्वार्थ सूत्र (६, १८) की सिद्धसेनीय टीका में पाई जाती है। बौद्ध ग्रंथ अंगु० निकाय चतुक्कनिपात (वग्ग ५) और उसकी अट्ठकथा में उल्लेख है कि गौतम बुद्ध का चाचा 'वप्प शाक्य' निर्ग्रन्थ श्रावक था। पार्श्वापत्यों तथा निर्ग्रन्थ श्रावकों के इसी प्रकार के और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे निर्ग्रन्थ धर्म की सत्ता बुद्ध से पूर्व भलीभांति सिद्ध हो जाती है।

एक समय था जब पार्श्वनाथ तथा उनसे पूर्व के जैन तीर्थंकरों व जैन धर्म की उस काल में सत्ता को पाश्चात्य विद्वान् स्वीकार नहीं करते थे। किन्तु जब जर्मन विद्वान् हर्मन याकोबी ने जैन व बौद्ध प्राचीन साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा महावीर से पूर्व निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के अस्तित्व को सिद्ध किया, तबसे विद्वान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने लगे हैं, और उनके महावीर निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्ति की जैन परम्परा को भी मान देने लगे हैं। बौद्ध ग्रन्थों में जो

निर्ग्रन्थों के चातुर्याम का उल्लेख मिलता है और उसे निर्ग्रन्थ नातपुत्त (महावीर) का धर्म कहा है, उसका सम्बन्ध अवश्य ही पार्श्वनाथ की परम्परा से होना चाहिये, क्योंकि जैन सम्प्रदाय में उनके साथ ही चातुर्याम का उल्लेख पाया है, महावीर के साथ कदापि नहीं। महावीर, पांच व्रतों के संस्थापक कहे गये हैं। बौद्ध धर्म में जो कुछ व्यवस्थाएं निर्ग्रन्थों से लेकर स्वीकार की गई हैं, जैसे उपोसथ, (महावग्ग २, १, १); वर्षावास (म० ३, १, १) वे भी पार्श्वनाथ की ही परम्परा की होनी चाहिये, तथा बुद्ध को जिन श्रमण साधुओं का समकालीन पालि ग्रन्थों में बतलाया गया है, वे भी पार्श्वनाथ परम्परा के ही माने जा सकते हैं।

तीर्थंकर वर्धमान महावीर—

अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान महावीर के माता-पिता तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की सम्प्रदाय के अनुयायी थे-ऐसा जैन आगम (आचारांग २, भावचूलिका ३, सूत्र ४०१) में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह भी कहा गया है कि उन्होंने प्रव्रजित होने पर सामायिक धर्म ग्रहण किया था और पश्चात् केवलज्ञानी होने पर छेदोपस्थापना संयम का विधान किया (आचारांग २,१५,१०१३)। उनके पिता सिद्धार्थ, कुंडपुर के राजा थे, और उनकी माता त्रिशला देवी लिच्छवि वंशी राजा चेटक की पुत्री, अथवा एक अन्य परम्परानुसार बहन, थीं। उनका पैतृक गोत्र नाय, णाय, नात (संस्कृत ज्ञातृ) था। इसी से वे बौद्ध पालि ग्रन्थों में नातपुत्त के नाम से उल्लिखित किये गये हैं। भगवान् का जन्मस्थान कुंडपुर कहां था, इसके संबंध में पश्चात्-कालीन जैन परंपरा में भ्रान्ति उत्पन्न हुई पाई जाती है। दिगम्बर सम्प्रदाय में उनका जन्मस्थान नालंदा के समीप कुण्डलपुर को माना है, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने मुंगेर जिले के लछुआड़ के समीप क्षत्रियकुंड को उनकी जन्मभूमि होने का सम्मान दिया है। किन्तु जैन आगमों व पुराणों में उनकी जन्मभूमि के संबंध में जो बातें कही गई हैं, वे उक्त दोनों स्थानों में घटित होती नहीं पाई जातीं। दोनों परम्पराओं के अनुसार भगवान् की जन्मभूमि कुंडपुर विदेह देश में स्थित माना गया है, (ह.पु. २, ४; उ.पु. ७४, २५१) और इसी से महावीर भगवान को विदेहपुत्र, विदेह-सुकुमार आदि उपनाम दिये गये हैं और यह भी स्पष्ट कहा गया है कि उनके कुमारकाल के तीस वर्ष विदेह में ही व्यतीत हुए थे। विदेह की सीमा प्राचीनतम काल से प्रायः निश्चित रही पाई जाती है। अर्थात् उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पूर्व में कोशिकी और पश्चिम में गंडकी। किन्तु उपर्युक्त वर्तमान में जन्मभूमि माने जाने वाले दोनों ही स्थान कुंडपुर

व क्षत्रियकुंड, गंगा के उत्तर में नहीं, किन्तु दक्षिण में पड़ते हैं, और वे विदेह में नहीं, किन्तु मगधदेश की सीमा के भीतर आते हैं। महावीर की जन्मभूमि के समीप गंडकी नदी प्रवाहित होने का भी उल्लेख है। गंडकी, उत्तर बिहार की ही नदी है, जो हिमालय से निकल कर गंगा में सोनपुर के समीप मिली है। उसकी गंगा से दक्षिण में होने की संभावना ही नहीं। महावीर को आगमों में अनेक स्थलों पर वेसालिय (वैशालीय) की उपाधि सहित उल्लिखित किया गया है, (सू.कृ. १, २; उत्तरा. ६) जिससे स्पष्ट होता कि वे वैशाली के नागरिक थे, जिसप्रकार कि कौशल देश के होने के कारण भगवान ऋषभ-देव को अनेक स्थलों पर कोसलीय (कौशलीय) कहा गया है। इन्हीं कारणों से डा० हार्नले, जैकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानों को उपर्युक्त परम्परा-मान्य दोनों स्थानों में से किसी को भी महावीर की यथार्थ जन्मभूमि स्वीकार करने में संदेह हुआ है, और वे वैशाली को ही भगवान् की सच्ची जन्मभूमि मानने की ओर झुके हैं। पुरातत्व की शोधों से यह सिद्ध हो चुका है कि प्राचीन वैशाली आधुनिक तिरहुत मंडल के मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत बसाढ़ नामक ग्राम के आसपास ही बसी हुई थी, जहां राजा विशाल का गढ़ कहलानेवाला स्थल अब भी विद्यमान है। इस स्थान के आसपास के क्षेत्र में वे सब बातें उचितरूप से घटित हो जाती हैं, जिनका उल्लेख महावीर जन्मभूमि से संबद्ध पाया जाता है। यहां से समीप ही अब भी गंडक नदी बहती है, और वह प्राचीन काल में बसाढ़ के अधिक समीप बहती रही हो, यह भी संभव प्रतीत होता है। भगवान् ने प्रव्रजित होने के पश्चात् जो प्रथमरात्रि कर्मार ग्राम में व्यतीत की थी, वह ग्राम अब कम्मन-छपरा के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् ने प्रथम पारणा कोल्लाग संनिवेश में की थी, वही स्थान आजका कोल्हुआ ग्राम हो तो आश्चर्य नहीं। जिस वाणिज्यग्राम में भगवान ने अपना प्रथम व आगे भी अनेक वर्षावास व्यतीत किये थे, वही अब बनिया ग्राम कहलाता है। इतिहास इस बात को स्वीकार कर चुका है कि लिच्छिविगण के अधिनायक, राजा चेटक, इसी वैशाली में अपनी राजधानी रखते थे। भगवान् का पैत्रिकगोत्र काश्यप और उनकी माता का गोत्र वशिष्ठ था। ये दोनों गोत्र यहां बसनेवाली जथरिया नामक जाति में अब भी पाये जाते हैं। इस पर से कुछ विद्वानों का यह भी अनुमान है कि यही जाति ज्ञातृवंश की आधुनिक प्रतिनिधि हो तो आश्चर्य नहीं। प्राचीन वैशाली के समीप ही एक वासुकुंड नामक ग्राम है, जहां के निवासी परंपरा से एक स्थल को भगवान् की जन्मभूमि मानते आए हैं, और उसी पूज्य भाव से उस पर कभी हल नही चलाया गया। समीप ही एक विशाल कुंड है जो अब भर गया है और जोता-बोया जाता है। वैशाली की खुदाई में एक ऐसी प्राचीन मुद्रा

भी मिली है, जिसमें 'वैशाली नाम कुंडे' ऐसा उल्लेख है। इन सब प्रमाणों के आधार पर बहुसंख्यक विद्वानों ने इसी वासु-कुंड को प्राचीन कुंडपुर व महावीर की सच्ची जन्मभूमि स्वीकार कर लिया है, व इसी आधार पर वहां के उक्त क्षेत्र को अपने अधिकार में लेकर, बिहार राज्य ने वहाँ महावीर स्मारक स्थापित कर दिया है, और वहाँ एक अर्द्धमागधी पद्यों में रचित शिलालेख में यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि यही वह स्थल है, जहाँ भगवान महावीर का जन्म हुआ था। इसी स्थल के समीप बिहार राज्य ने प्राकृत जैन विद्यापीठ को स्थापित करने का भी निश्चय किया है।

महावीर के जीवन संबंधी कुछ घटनाओं के विषय पर दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में थोड़ा मतभेद है। दिगम्बर परम्परानुसार वे तीस वर्ष की अवस्था तक कुमार व अविवाहित रहे और फिर प्रव्रजित हुए। किन्तु श्वेताम्बर परम्परानुसार उनका विवाह भी हुआ था और उनके एक पुत्री भी उत्पन्न हुई थी, तथा इसका जामाता जामाली भी कुछ काल तक उनका शिष्य रहा था। प्रव्रजित होते समय दिगम्बर परम्परानुसार उन्होंने समस्त वस्त्रों का परित्याग कर अचेल दिगम्बर रूप धारण किया था, किन्तु श्वेताम्बर परम्परानुसार उन्होंने प्रव्रजित होने से डेढ़ वर्ष तक वस्त्र सर्वथा नहीं छोड़ा था। डेढ़ वर्ष के पश्चात् ही वे अचेलक हुए। बारह वर्ष की तपस्या के पश्चात् उन्हें ऋजुकूला नदी के तट पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ और फिर तीस वर्ष तक नाना प्रदेशोंमें विहार करतेहुए, व उपदेश देतेहुए, उन्होंने अपने तीर्थ की स्थापना की, यह दोनों सम्प्रदायों को मान्य है। किन्तु उनका प्रथम उपदेश दिगम्बर मान्यतानुसार राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर हुआ था तथा श्वेताम्बर मान्यतानुसार पावा के समीप एक स्थल पर, जहां हाल ही में एक विशालमंदिर बनवाया गया है। दोनों परम्पराओं के अनुसार भगवान् का निर्वाण बहत्तर वर्ष की आयु में पावापुरी में हुआ। यह स्थान पटना जिले में बिहारशरीफ के समीप लगभग सात मील की दूरी पर माना जाता है, जहा सरोवर के बीच एक भव्य मंदिर बना हुआ है।

महावीर की संघ-व्यवस्था और उपदेश—

महावीर भगवान् ने अपने अनुयायियों को चार भागों में विभाजित किया— मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। प्रथम दो वर्ग गृहत्यागी परिव्राजकों के थे और अन्तिम दो गृहस्थों के। यही उनका चतुर्विध-संघ कहलाया। उन्होंने मुनि और गृहस्थ धर्म की अलग अलग व्यवस्थाएं बांधी। उन्होंने धर्म का मूलाधार अहिंसा को बतलाया और उसी के विस्तार रूप पांच व्रतों को स्थापित किया-अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन

और अपरिग्रह। इन व्रतों व यमों का पालन मुनियों के लिए पूर्णरूप से महाव्रतरूप बतलाया तथा गृहस्थों के लिए स्थूलरूप-अणुव्रत रूप। गृहस्थों के भी उन्होंने श्रद्धान् मात्र से लेकर, कोपीनमात्र धारी होने तक के ग्यारह दर्जे नियत किये। दोषों और अपराधों के निवारणार्थ उन्होंने नियमित प्रतिक्रमण पर जोर दिया।

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट तत्वज्ञान को संक्षेप में इसप्रकार व्यक्त किया जा सकता है:—जीव और अजीव अर्थात् चेतन और जड़, ये दो विश्व के मूल तत्व हैं, जो आदितः परस्पर संबद्ध पाए जाते हैं, और चेतन की मन-वचन व कायात्मक क्रियाओं द्वारा इस जड़-चेतन संबन्ध की परम्परा प्रचलित रहती है। इसे ही कर्माश्रव व कर्मबंध कहते हैं। यमों, नियमो आदि के पालन द्वारा इस कर्माश्रव की परम्परा को रोका जा सकता है, एवं संयम व तप द्वारा प्राचीन कर्मबंध को नष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार चेतन का जड़ से सर्वथा मुक्त होकर, अपना अनन्तज्ञान-दर्शनात्मक स्वरूप प्राप्त कर लेना ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिये, जिससे इस जन्म-मृत्यु की परम्परा का विच्छेद होकर मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति हो सके।

महावीर ने अपने उपदेश का माध्यम उस समय उनके प्रचार क्षेत्र में सुप्रचलित लोकभाषा अर्द्धमागधी को बनाया। इसी भाषा में उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को आचारांगादि बारह अंगों में संकलित किया जो द्वादशांग आगम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

महावीर निर्वाण काल—

जैन परम्परानुसार महावीर का निर्वाण विक्रम काल से ४७० वर्ष पूर्व तथा शक काल से ६०५ वर्ष पाच मास पूर्व हुआ था, जो सन् ईसवी से ५२७ वर्ष पूर्व पड़ता है। यह महावीर निर्वाण संवत् आज भी प्रचलित है और उसके ग्रंथों व शिलालेखों में उपयोग की परम्परा, कोई पांचवी छठवी शताब्दी से लगातार पाई जाती है। इसमें सन्देह उत्पन्न करनेवाला केवल एक हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व का उल्लेख है जिसके अनुसार महावीर निर्वाण से १५५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त (मौर्य) राजा हुआ। और चूंकि चन्द्रगुप्त से विक्रमादित्य का काल सर्वत्र २५५ वर्ष पाया जाता है, अतः वीर निर्वाण का समय विक्रम से २५५+१५५=४१० वर्ष पूर्व (ई०पू० ४६७) ठहरा। याकोबी, चार्पेंटियर आदि पाश्चात्य विद्वानों का यही मत है। इसके विपरीत डा० जायसवाल का मत है कि चूंकि निर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम का जन्म हुआ और १८ वर्ष के होने पर उनके राज्याभिषेक से उनका संवत् चला, अतएव

विक्रम संवत् के ४७०+१८=४८८ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण काल मानना चाहिये। वस्तुतः ये दोनों ही मत भ्रांत हैं। अधिकांश जैन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि विक्रम जन्म से १८ वर्ष पश्चात् अभिषिक्त हुए और ६० वर्ष तक राज्यारूढ़ रहे, एवं उनका संवत् उनकी मृत्यु से प्रारंभ हुआ और उसी से ४७० वर्ष पूर्व वीर निर्वाण का काल है।

वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ माह पश्चात् जो शक सं० का प्रारम्भ कहा गया है, उसका कारण यह है कि महावीर का निर्वाण कार्तिक की अमावस्या को हुआ और इसीलिये प्रचलित वीर निर्वाण का संवत् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से बदलता है। इसके ठीक ५ माह पश्चात् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से शक संवत् प्रारम्भ होता है। शक संवत् ७०५ में रचित जिनसेन कृत सं० हरिवंश पुराण में वर्णन है कि महावीर के निर्वाण होने पर उनकी निर्वाणभूमि पावानगरी में दीपमालिका उत्सव मनाया गया और उसी समय से भारत में उक्त तिथि पर प्रतिवर्ष इस उत्सव के मनाने की प्रथा चली। इस दिन जैन लोग निर्वाणोत्सव दीपमालिका द्वारा मनाते हैं और महावीर की पूजा का विशेष आयोजन करते हैं। जहां तक पता चलता है दीपमालिका उत्सव जो भारतवर्ष का सर्वव्यापी महोत्सव बन गया है, उसका इससे प्राचीन अन्य कोई साहित्यिक उल्लेख नहीं है।

गौतम-केशी-संवाद—

महावीर निर्वाण के पश्चात् जैन संघ के नायकत्व का भार क्रमशः उनके तीन शिष्यों—गौतम, सुधर्म और जंबू ने संभाला। इनका काल क्रमशः १२, १२, व ३८ वर्ष =६२ वर्ष पाया जाता है। यहांतक आचार्य परंपरा में कोई भेद नहीं पाया जाता। इससे भी इन तीनों गणधरों की केवली संज्ञा सार्थक सिद्ध होती है। किन्तु इनके पश्चात्कालीन आचार्य परम्पराएं, दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायों में पृथक् पृथक् पाई जाती हैं, जिससे प्रतीत होता है कि सम्प्रदाय भेद के बीज यहीं से प्रारम्भ हो गये। इस सम्प्रदाय-भेद के कारणों की एक झलक हमें उत्तराध्ययन सूत्र में 'केशी-गौतम संवाद' नामक २३वें अध्ययन में मिलती है। इसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् महावीर ने अपना अचेलक या निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्थापित किया, उस समय पार्श्वनाथ का प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित था। हम ऊपर कह आए हैं कि स्वयं भगवान् महावीर के माता-पिता उसी पार्श्व सम्प्रदाय के अनुयायी माने गये हैं, और इसी से स्वयं भगवान् महावीर भी प्रभावित हुए थे। उत्तराध्ययन के उक्त प्रकरण के अनुसार, जब महावीर के सम्प्रदाय के अधिनायक गौतम थे, तब पार्श्व सम्प्रदाय

के नायक थे केशी कुमार श्रमण। इन दोनों गणधरों की भेंट श्रावस्तीपुर में हुई और उन दोनों में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सम्प्रदाय एक होते हुए भी क्या कारण है कि पार्श्व-सम्प्रदाय चाउज्जाम धर्म तथा वर्द्धमान का सम्प्रदाय 'पंचसिक्खिय' कहा गया है। उसीप्रकार पार्श्व का धर्म 'संतरोत्तर' तथा वर्द्धमान का 'अचेलक' धर्म है। इस-प्रकार एक-कार्य-प्रवृत्त होने पर भी दोनों में विशेषता का कारण क्या है? केशी कुमार के इस संबंध में प्रश्न करने पर, गौतम गणधर ने बतलाया कि पूर्वकाल में मनुष्य सरल किन्तु जड़ (ऋजु जड़) होते थे और पश्चिमकाल में वक्र और जड़, किन्तु मध्यमकाल के लोग सरल और समझदार (ऋजु प्राज्ञ) थे। अतएव पुरातन लोगों के लिए धर्म की शोध कठिन थी और पश्चात्कालीन लोगों को उसका अनुपालन कठिन था। किन्तु मध्यकाल के लोगों के लिए धर्म शोधने और पालने में सरल प्रतीत हुआ। इसीकारण एक ओर आदि व अन्तिम तीर्थंकरों ने पंचव्रत रूप तथा मध्य के तीर्थंकरों ने उसे चातुर्याम रूप से स्थापित किया। उसीप्रकार उन्होंने बतलाया कि अचेलक या संस्तर युक्त वेष तो केवल लोगों में पहचान आदि के लिए नियत किये जाते हैं, किन्तु यथार्थतः मोक्ष के कारणभूत तो ज्ञान, दर्शन और चरित्र हैं। गौतम और केशी के बीच इस वार्तालाप का परिणाम यह बतलाया गया है कि केशी ने महावीर का पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर लिया। किन्तु उनके बीच वेष के संबंध में क्या निर्णय हुआ, यह स्पष्ट नहीं बतलाया गया। अनुमानतः इस संबंध में अचेलकत्व और अल्पवस्त्रत्व का कल्प अर्थात् इच्छानुसार ग्रहण की बात स्वीकार कर ली गई, जिसके अनुसार हमें स्थविर कल्प और जिनकल्प के उल्लेख मिलते हैं। स्थविर कल्प पार्श्व-परम्परा का अल्प-वस्त्र-धारण रूप मान लिया गया और जिनकल्प सर्वथा अचेलक रूप महावीर की परम्परा का। किन्तु स्वभावतः एक सम्प्रदाय में ऐसा द्विविध कल्प बहुत समय तक चल सकना संभव नहीं था। बहुत काल तक इस प्रश्न का उठना नहीं रुक सकता था कि यदि वस्त्रधारण करके भी महाव्रती बना जा सकता है और निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है, तब अचेलकता की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इसी संघर्ष के फलस्वरूप महावीर निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् जंबू स्वामी का नायकत्व समाप्त होते ही संघभेद हुआ प्रतीत होता है। दिगम्बर परम्परा मे महावीर निर्वाण के पश्चात् पूर्वोक्त तीन केवली; विष्णु आदि पाच श्रुतकेवली, विशाखाचार्य आदि ग्यारह दशपूर्वी, नक्षत्र आदि पांच एकादश अंगधारी, तथा सुभद्र आदि लोहार्य पर्यन्त चार एकांगधारी आचार्यों की वंशावली मिलती है। इन समस्त अट्ठाइस आचार्यों का काल ६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३ वर्ष निर्दिष्ट पाया जाता है।

विक्रम संवत् के ४७०+१८=४८८ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण काल मानना चाहिये। वस्तुतः ये दोनों ही मत भ्रांत हैं। अधिकांश जैन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि विक्रम जन्म से १८ वर्ष पश्चात् अभिषिक्त हुए और ६० वर्ष तक राज्यारूढ़ रहे, एवं उनका संवत् उनकी मृत्यु से प्रारंभ हुआ और उसी से ४७० वर्ष पूर्व वीर निर्वाण का काल है।

वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ माह पश्चात् जो शक सं० का प्रारम्भ कहा गया है, उसका कारण यह है कि महावीर का निर्वाण कार्तिक की अमावस्या को हुआ और इसीलिये प्रचलित वीर निर्वाण का संवत् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से बदलता है। इससे ठीक ५ माह पश्चात् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से शक संवत् प्रारम्भ होता है। शक संवत् ७०५ में रचित जिनसेन कृत सं० हरिवंश पुराण में वर्णन है कि महावीर के निर्वाण होने पर उनकी निर्वाणभूमि पावानगरी में दीपमालिका उत्सव मनाया गया और उसी समय से भारत में उक्त तिथि पर प्रतिवर्ष इस उत्सव के मनाने की प्रथा चली। इस दिन जैन लोग निर्वाणोत्सव दीपमालिका द्वारा मनाते हैं और महावीर की पूजा का विशेष आयोजन करते हैं। जहां तक पता चलता है दीपमालिका उत्सव जो भारतवर्ष का सर्वव्यापी महोत्सव बन गया है, उसका इससे प्राचीन अन्य कोई साहित्यिक उल्लेख नहीं है।

गौतम-केशी-संवाद—

महावीर निर्वाण के पश्चात् जैन संघ के नायकत्व का भार क्रमशः उनके तीन शिष्यों—गौतम, सुधर्म और जंबू ने संभाला। इनका काल क्रमशः १२, १२, व ३८ वर्ष =६२ वर्ष पाया जाता है। यहांतक आचार्य परंपरा में कोई भेद नहीं पाया जाता। इससे भी इन तीनों गणधरों की केवली संज्ञा सार्थक सिद्ध होती है। किन्तु इनके पश्चात्कालीन आचार्य परम्पराएं, दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायों में पृथक् पृथक् पाई जाती है, जिससे प्रतीत होता है कि सम्प्रदाय भेद के बीज यहीं से प्रारम्भ हो गये। इस सम्प्रदाय-भेद के कारणों की एक झलक हमे उत्तराध्ययन सूत्र के 'केशी-गोयम संवाद' नामक २३वें अध्ययन में मिलती है। इसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् महावीर ने अपना अचेलक या निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्थापित किया, उस समय पार्श्वनाथ का प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित था। हम ऊपर कह आए हैं कि स्वयं भगवान् महावीर के माता-पिता उसी पार्श्व सम्प्रदाय के अनुयायी माने गये हैं, और उसी से स्वयं भगवान् महावीर भी प्रभावित हुए थे। उत्तराध्ययन के उक्त प्रकरण के अनुसार, जब महावीर के सम्प्रदाय के अधिनायक गौतम थे, उससमय पार्श्व सम्प्रदाय

के नायक थे केशी कुमार श्रमण। इन दोनों गणधरों की भेंट श्रावस्तीपुर में हुई और उन दोनों में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सम्प्रदाय एक होते हुए भी क्या कारण है कि पार्श्व-सम्प्रदाय चाउज्जाम धर्म तथा वर्द्धमान का सम्प्रदाय 'पंचसिक्खिय' कहा गया है। उसीप्रकार पार्श्व का धर्म 'संतरोत्तर' तथा वर्द्धमान का 'अचेलक' धर्म है। इस-प्रकार एक-कार्य-प्रवृत्त होने पर भी दोनों में विशेषता का कारण क्या है? केशी कुमार के इस संबंध में प्रश्न करने पर, गौतम गणधर ने बतलाया कि पूर्वकाल में मनुष्य सरल किन्तु जड़ (ऋजु जड़) होते थे और पश्चिमकाल में वक्र और जड़, किन्तु मध्यमकाल के लोग सरल और समझदार (ऋजु प्राज्ञ) थे। अतएव पुरातन लोगों के लिए धर्म की शोध कठिन थी और पश्चात्कालीन लोगों को उसका अनुपालन कठिन था। किन्तु मध्यकाल के लोगों के लिए धर्म शोधने और पालने में सरल प्रतीत हुआ। इसीकारण एक ओर आदि व अन्तिम तीर्थंकरों ने पंचव्रत रूप तथा मध्य के तीर्थंकरों ने उसे चातुर्याम रूप से स्थापित किया। उसीप्रकार उन्होंने बतलाया कि अचेलक या संस्तर युक्त वेष तो केवल लोगों में पहचान आदि के लिए नियत किये जाते हैं, किन्तु यथार्थतः मोक्ष के कारणभूत तो ज्ञान, दर्शन और चरित्र हैं। गौतम और केशी के बीच इस वार्तालाप का परिणाम यह बतलाया गया है कि केशी ने महावीर का पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर लिया। किन्तु उनके बीच वेष के संबंध में क्या निर्णय हुआ, यह स्पष्ट नहीं बतलाया गया। अनुमानतः इस संबंध में अचेलकत्व और अल्पवस्त्रत्व का कल्प अर्थात् इच्छानुसार ग्रहण की बात स्वीकार कर ली गई, जिसके अनुसार इमें स्थविर कल्प और जिनकल्प के उल्लेख मिलते हैं। स्थविर कल्प पार्श्व-परम्परा का अल्प-वस्त्र-धारण रूप मान लिया गया और जिनकल्प सर्वथा अचेलक रूप महावीर की परम्परा का। किन्तु स्वभावतः एक सम्प्रदाय में ऐसा द्विविध कल्प बहुत समय तक चल सकना संभव नही था। बहुत काल तक इस प्रश्न का उठना नहीं रुक सकता था कि यदि वस्त्रधारण करके भी महाव्रती बना जा सकता है और निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है, तब अचेलकता की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इसी संघर्ष के फलस्वरूप महावीर निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् जंबू स्वामी का नायकत्व समाप्त होते ही संघभेद हुआ प्रतीत होता है। दिगम्बर परम्परा में महावीर निर्वाण के पश्चात् पूर्वोक्त तीन केवली; विष्णु आदि पांच श्रुतकेवली, विशाखाचार्य आदि ग्यारह दशपूर्वी, नक्षत्र आदि पांच एकादश अंगधारी, तथा सुभद्र आदि लोहार्य पर्यन्त चार एकांगधारी आचार्यों की वंशावली मिलती है। इन समस्त अट्ठाइस आचार्यों का काल ६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३ वर्ष निर्दिष्ट पाया जाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गणभेद—

जैन संघ संबंधी श्वेताम्बर परंपरा का प्राचीनतम उल्लेख कल्पसूत्र अन्तर्गत स्थविरावली में पाया जाताहै। इसके अनुसार श्रमण भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारहों गणधरों द्वारा पढ़ाए गए श्रमणों की संख्या का भी उल्लेख है। ये ग्यारहों गणधर १२ अंग और १४ पूर्व, इस समस्त गणिपिटक के धारक थे, *जिसके अनुसार उनके कुल श्रमण शिष्यों की संख्या* ४२०० पाई जाती है। इन ग्यारहो गणधरों में से नौ का निर्वाण महावीर के जीवन काल में ही हो गया था। केवल दो अर्थात् इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्म ही महावीर के पश्चात् जीवित रहे। यह भी कहा गया है कि 'आज, जो भी श्रमण निर्ग्रन्थ विहार करते हुए पाए जाते हैं, वे सब आर्य सुधर्म मुनि के ही अपत्य है। शेष गणधरों की कोई सन्तान नहीं चली।' आगे स्थविरावली में आर्य सुधर्म से लगाकर आर्य शाण्डिल्य तक तेतीस आचार्यों की गुरु-शिष्य परम्परा दी गई है। छठे आचार्य आर्य यशोभद्र के दो शिष्य *संभूतिविजय और भद्रबाहु द्वारा दो भिन्न-भिन्न शिष्य-परंपराएं* चल पड़ीं। आर्य संभूतविजय की शाखा में नौवें स्थविर आर्य वज्रसेन के चार शिष्यों द्वारा चार भिन्न-भिन्न शाखाएं स्थापित हुईं, जिनके नाम उनके स्थापकों के नामानुसार नाइल, पोमिल, जयन्त और तावस पड़े। उसी प्रकार आर्य भद्रबाहु के चार शिष्यों द्वारा ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पौन्ड्रवर्द्धनिका और दासीखब्बडिका, ये चार शाखाएं स्थापित हुईं। उसीप्रकार सातवें स्थविर आर्य स्थूलभद्र के रोहगुप्त नामक शिष्य द्वारा 'तेरासिय' शाखा एवं उत्तर बलिस्सह द्वारा उत्तर वलिस्सह नामक गण निकले, जिसकी पुनः कौशाम्बिक, सौर्वतिका, कोडंबाणी और चंद्रनागरी, ये चार शाखाएं फूटीं। स्थूलभद्र के दूसरे शिष्य आर्य सुहस्ति के शिष्य रोहण द्वारा उद्देह गण की स्थापना हुई, जिससे पुनः उदुंबरिज्जिका आदि चार-उपशाखाएं और नागभूत आदि छह कुल निकले। आर्य सुहस्ति के श्रीगुप्त नामक शिष्य द्वारा चारण गण और उसकी हार्यमालाकारी आदि चार शाखाएं एवं वर्थलीय आदि सात कुल उत्पन्न हुए। आर्य सुहस्ति के यशोभद्र नामक शिष्य द्वारा उडुवाडिय गण की स्थापना हुई, जिसकी पुनः चंपिज्जिया आदि चार शाखाएं और भद्रयशीय आदि तीन कुल उत्पन्न हुए। उसी प्रकार आर्य सुहस्ति के कामर्द्धि नामक शिष्य द्वारा वेसवाडिया गण उत्पन्न हुआ, जिसकी श्रावस्तिका आदि चार शाखाएं और गणिक आदि चार कुल स्थपित हुए। उन्हीं के अन्य शिष्य ऋषिगुप्त द्वारा माणव गण स्थापित हुआ, जिसकी कासवार्यिका, गौतमार्यिका, वासिष्ठिका और सौराष्ट्रिका, ये चार शाखाएं तथा ऋषिगुप्ति आदि चार कुल

स्थापित हुए। शाखाओं के नामों पर ध्यान देने से अनुमान होता है कि कहीं-कहीं स्थान भेद के अतिरिक्त गोत्र-भेदानुसार भी शाखाओं के भेद प्रभेद हुए। स्थविर सुस्थित द्वारा कोटिकगण की स्थापना हुई, जिससे उच्चानागरी, विद्याधरी, वज्री एवं माध्यमिका ये चार शाखाएं तथा बम्हलीय, वत्थालीय वाणिज्य और पण्हवाहणक, ये चार कुल उत्पन्न हुए। इस प्रकार आर्य सुहस्ति के शिष्यों द्वारा बहुत अधिक शाखाओं और कुलों के भेद प्रभेद उत्पन्न हुए। आर्य सुस्थित के अर्हद्दत्त द्वारा मध्यमा शाखा स्थापित हुई और विद्याधार गोपाल द्वारा विद्याधरी शाखा। आर्यदत्त के शिष्य शांतिसेन ने एक अन्य उच्चानागरी शाखा की स्थापना की। आर्य शान्तिसेन के श्रेणिक तापस, कुबेर और ऋषिपालिका ये चार शिष्य हुए, जिनके द्वारा क्रमशः आर्यसेनिका, तापसी कुबेर और ऋषिपालिका ये चार शाखाएं निकलीं। आर्य-सिंहगिरि के शिष्य आर्य-शमित द्वारा ब्रह्मदीपिका तथा आर्य वज्र द्वारा आर्य वज्री शाखा स्थापित हुई। आर्य-वज्र के शिष्य वज्रसेन, पद्म और रथ द्वारा क्रमशः आर्य-नाइली पद्मा और जयन्ती नामक शाखाएं निकलीं। इन विविध शाखाओं व कुलों की स्थान व गोत्र आदि भेदों के अतिरिक्त अपनी अपनी क्या विशेषता थी, इसका पूर्णतः पता लगाना संभव नहीं है। इनमें से किसी किसी शाखा व कुल के नाम मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त मूर्तियों आदि परके लेखों में पाए गये हैं, जिनसे उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध होती है।

प्राचीन ऐतिहासिक कालगणना —

कल्पसूत्र स्थविरावली में उक्त आचार्य परम्परा के संबंध में काल का निर्देश नहीं पाया जाता। किन्तु धर्मघोषसूरि कृत दुषमकाल-श्रमणसंघ-स्तव नामक प्राकृत पट्टावली की अवचूरि में कुछ महत्वपूर्ण कालसंबंधी निर्देश पाये जाते हैं। यहां कहा गया है कि जिस रात्रि भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात्रि को उज्जैनी में चंडप्रद्योत नरेश की मृत्यु व पालक राजा का अभिषेक हुआ। इस पालक राजा ने उदायी के निःसंतान मरने पर कुणिक के राज्य पर पाटलिपुत्र में अधिकार कर लिया और ६० वर्ष तक राज्य किया। इसी काल में गौतम ने १२, सुधर्म ने ८, और जंबू ने ४४ वर्ष तक युगप्रधान रूप से संघ का नायकत्व किया। पालक के राज्य के साठ वर्ष व्यतीत होने पर पाटलिपुत्र में नव नन्दों ने १५५ वर्ष राज्य किया और इसी काल में जैन संघ का नायकत्व प्रभव ने ११ वर्ष, स्वयंभू ने २३, यशोभद्र ने ५०, संभूतिविजय ने ८, भद्रबाहु ने १४ और स्थूलभद्र ने ४५ वर्ष तक किया। इस प्रकार यहां तक वीर निर्वाण के २१५ वर्ष व्यतीत हुए। इसके पश्चात् मौर्य वंश का राज्य

१०८ वर्ष रहा, जिसके भीतर महागिरि ने ३० वर्ष, सुहस्ति ने ४६ और गुणसुंदर ने ३२ वर्ष जैन संघ का नायकत्व किया। मौर्यों के पश्चात् राजा पुष्यमित्र ने ३० वर्ष तथा बलमित्र और भानुमित्र ने ६० वर्ष राज्य किया। इस बीच गुणसुंदर ने अपनी आयु के शेष १२ वर्ष, कालिक ने ४० वर्ष और स्कंदिल ने ३८ वर्ष जैन संघ का नायकत्व किया। इस प्रकार महावीर निर्वाण से ४१३ वर्ष व्यतीत हुए। भानुमित्र के पश्चात् राजा नरवाहन ने ४०, गर्दभिल्ल ने १३ और शक ने ४ वर्ष पर्यन्त राज्य किया और इसी बीच रेवतीमित्र द्वारा ३६ वर्ष तथा आर्य-मंगु द्वारा २० वर्ष जैन संघ का नायकत्व चला। इस प्रकार महावीर निर्वाण से लेकर ४७० वर्ष समाप्त हुए। गर्दभिल्ल के राज्य की समाप्ति कालकाचार्य द्वारा कराई गई और उसके पुत्र विक्रमादित्य ने राज्यारूढ़ होकर, ६० वर्ष तक राज्य किया। इसी बीच जैन संघ में बहुल, श्रीव्रत, स्वाति, हारि, श्यामार्य एवं शाण्डिल्य आदि हुए, प्रत्येक-बुद्ध एवं स्वयंबुद्ध परम्परा का विच्छेद हुआ, बुद्धबोधितों की अल्पता, तथा भद्रगुप्त, श्रीगुप्त और वज्रस्वामी, ये आचार्य हुए। विक्रमादित्य के पश्चात् धर्मादित्य ने ४० और माइल्ल ने ११ वर्ष राज्य किया, और इस प्रकार वीर निर्वाण के ५८१ वर्ष व्यतीत हुए। तत्पश्चात् दुर्बलिका पुष्पमित्र के २० वर्ष तथा राजा नाहड के ४ (?) वर्ष समाप्त होने पर वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष पश्चात् शक संवत् प्रारम्भ हुआ। वीर निर्वाण के ९९३ वर्ष व्यतीत होने पर कालकसूरि ने पर्यूषणाचतुर्थी की स्थापना की, तथा निर्वाण के ९८० वर्ष समाप्त होने पर आर्य-महागिरि की संतान में उत्पन्न श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्र की रचना की, एवं इसी वर्ष आनंदपुर में ध्रुवसेन राजा के पुत्र-मरण से शोकार्त होने पर, उनके समाधान हेतु कल्पसूत्र सभा के समक्ष कल्पसूत्र की वाचना हुई। यह बहुश्रुतों की परम्परा से ज्ञात हुआ। इतनी वार्ता के पश्चात् यह 'दुषमकाल श्रमणसंघस्तव की अवचूरि' इस समाचार के साथ समाप्त होती है कि वीर निर्वाण के १३०० वर्ष समाप्त होने पर विद्वानों के शिरोमणि श्री बप्पभट्टि सूरि हुए।

सात निन्हव व दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय—

ऊपर जिन गणों कुलों व शाखाओं का उल्लेख हुआ है, उनमें कोई विशेष सिद्धान्त-भेद नहीं पाया जाता। सिद्धान्त-भेद की अपेक्षा से हुए सात निन्हवों का उल्लेख पाया जाता है। पहला निन्हव महावीर के जीवन काल में ही उनकी ज्ञानोत्पत्ति के चौदह वर्ष पश्चात् उनके एक शिष्य जमालि द्वारा श्रावस्ती में उत्पन्न

हुआ। इस निन्हव का नाम बहुरत कहा गया, क्योंकि यहां मूल सिद्धान्त यह था कि कोई वस्तु एक समय की क्रिया से उत्पन्न नहीं होती, अनेक समयों में उत्पन्न होती है। दूसरा निन्हव इसके दो वर्ष पश्चात् तिष्यगुप्त द्वारा ऋषभपुर में उत्पन्न हुआ कहा गया है। इसके अनुयायी जीवप्रदेशक कहलाए, क्योंकि वे जीव के अंतिम प्रदेश को ही जीव की संज्ञा प्रदान करते थे। अव्यक्त नामक तीसरा निन्हव, निर्वाण से २१४ वर्ष पश्चात् आपाढ़-आचार्य द्वारा श्वेतविका नगरी में स्थापित हुआ। इस मत में वस्तु का स्वरूप अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट व अज्ञेय माना गया है। चौथा समुच्छेद नामक निन्हव, निर्वाण से २२० वर्ष पश्चात् अश्वमित्र-आचार्य द्वारा मिथिला नगरी में उत्पन्न हुआ। इसके अनुसार प्रत्येक कार्य अपने उत्पन्न होने के अनन्तर समय में समस्त रूप से व्युच्छिन्न हो जाता है, अर्थात् प्रत्येक उत्पादित वस्तु क्षणस्थायी है। यह मत बौद्ध दर्शन के क्षणिकत्ववाद से मेल खाता प्रतीत होता है। पांचवां निन्हव निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात् गंग-आचार्य द्वारा उल्लुकातीर पर उत्पन्न हुआ। इसका नाम द्विक्रिया कहा गया है। इस मत का मर्म यह प्रतीत होता है कि एक समय में केवल एक ही नहीं, दो क्रियाओं का अनुभवन संभव है। छठवां त्रैराशिक नामक निन्हव, छल्लुक मुनिद्वारा पुरमंतरंजिका नगरी में उत्पन्न हुआ। इस मत के अनुयायी वस्तु-विभाग तीन राशियों में करते थे; जैसे जीव, अजीव, और जीवाजीव। सातवां निन्हव अबद्ध कहलाता है, जिसकी स्थापना वी० निर्वाण से ५८४ वर्ष पश्चात् गोष्ठा माहिल द्वारा दशपुर में हुई। इस मत का मर्म यह प्रतीत होता है कि कर्म का जीव से स्पर्श-मात्र होता है, बंधन नहीं होता। इन सात निन्हवों के अनन्तर, वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात्, बोटिक निन्हव अर्थात् दिगम्बर संघ की उत्पत्ति कही गई है (स्था ७, वि० आवश्यक व तपा० पट्टा०)। दिगम्बर परम्परा में उपर्युक्त सात निन्हवों का तो कोई उल्लेख नहीं पाया जाता, किन्तु वि० सं० के १३६ वर्ष उपरान्त श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति होने का स्पष्ट उल्लेख (दर्शनसार गा० ११) पाया जाता है। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के काल में, व दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बर संप्रदाय के उत्पत्तिकाल–निर्देश में केवल ३ वर्षों का अन्तर पाया जाता है। इन उल्लेखों पर से यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि महावीर के संघ में दिगम्बर-श्वेताम्बर संप्रदायों का स्पष्ट रूप से भेद निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर आम्नाय में गणभेद —

दिगम्बर मान्यतानुसार महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष की आचार्य

परम्परा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कहा गया है कि तत्पश्चात् किसी समय अर्हद्वलि आचार्य हुए। उन्होंने पंचवर्षीय युगप्रतिक्रमण के समय एक विशाल मुनि-सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें सौ योजन के यति एकत्र हुए। उनकी भावनाओं पर से उन्होंने जान लिया कि अब पक्षपात का युग आ गया। अतएव, उन्होंने नंदि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामों से भिन्न भिन्न संघ स्थापित किये, जिनसे कि निकट अपनत्व की भावना द्वारा धर्म-वात्सल्य और प्रभावना बढ़ सके। दर्शनसार के अनुसार, विक्रम के ५२६ वर्ष पश्चात् दक्षिण मथुरा अर्थात् मदुरा नगर में पूज्यपाद के शिष्य वज्रनंदि द्वारा द्राविडसंघ की उत्पत्ति हुई। इस संघ के मतानुसार बीजों में जीव नहीं होता, तथा प्रासुक-अप्रासुक का कोई भेद नहीं माना जाता; एवं बसति में रहने, वाणिज्य करने व शीतल नीर से स्नान करने में भी मुनि के लिये कोई पाप नहीं होता। वि० के २०५ वर्ष पश्चात् कल्याणनगर में श्वेताम्बर मुनि श्रीकलश द्वारा यापनीय संघ की स्थापना हुई कही गई है। वि० की पांचवी-छठी शताब्दी के ताम्रपटों आदि में भी यापनीय संघ के आचार्यों का उल्लेख मिलता है। काष्ठासंघ की उत्पत्ति वि० सं० के ७५३ वर्ष पश्चात् नंदीतट ग्राम में कुमारसेन मुनि द्वारा हुई। इस संघ में स्त्रियों को दीक्षा देने, तथा पीछी के स्थान में मुनियों द्वारा चौरी रखने का विधान पाया जाता है। माथुरसंघ की स्थापना, काष्ठासंघ की स्थापना से २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० के ९५३ वर्ष व्यतीत होने पर मथुरा में रामसेन मुनि द्वारा हुई कही गई है। इस संघ की विशेषता यह बतलाई गई है कि इसमें मुनियों द्वारा पीछी रखना छोड़ दिया गया। काष्ठासंघ की उत्पत्ति से १८ वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० ९७१ में दक्षिणदेश के विन्ध्यपर्वत के पुष्कल नामक स्थान पर वीरचन्द्र मुनि द्वारा भिल्लक संघ की स्थापना हुई। उन्होंने अपना एक अलग गच्छ बनाया, प्रतिक्रमण तथा मुनिचर्या की भिन्न व्यवस्था की, तथा वर्णाचार को कोई स्थान नहीं दिया। इस संघ का दर्शनसार के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु इस एक उल्लेख पर से भी प्रमाणित होता है कि नौंवी दसवीं शताब्दी में एक जैन मुनि ने विन्ध्यपर्वत के भीलों में भी धर्म प्रचार किया और उनकी क्षमता के विचारानुसार धर्मपालन की कुछ विशेष व्यवस्थाएं बनाई।

श्रवणबेलगोला में प्राप्त हुए ५०० से भी अधिक शिलालेखों द्वारा हमें अनेक शताब्दियों की विविध आम्नायों तथा आचार्य-परम्पराओं का विवरण मिलता है। सिद्धरबस्ति के एक शिलालेख में कहा गया है कि अर्हद्वलि ने अपने दो शिष्यों, पुष्पदंत और भूतबलि, द्वारा बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की और उन्होंने मूल संघ को चार शाखाओं में

विभाजित किया – सेन, नंदि, देव और सिंह। अनेक लेखों में जो संघों, गणों, गच्छो आदि के उल्लेख मिलते हैं उनमें से कुछ इसप्रकार हैं :–मूलसंघ, नंदिसंघ, नमिलूरसंघ, मयूरसंघ, किट्टूरसंघ, कोल्लतूरसंघ, नंदिगण, देशीगण, द्रमिल (तमिल) गण, काणूर गण, पुस्तक या सरस्वती गच्छ, वक्रगच्छ, तगरिलगच्छ, मंडितटगच्छ, इंगुलेश्वरबलि, पनसोगे बलि, आदि।

पूर्व व उत्तर भारत में धार्मिक प्रसार का इतिहास—

महावीर ने स्वयं विहार करके तो अपना उपदेश विशेष रूप से मगध, विदेह अंग, बंग, आदि पूर्व के देशों, तथा पश्चिम की ओर कोशल व काशी प्रदेश में ही फैलाया था, एवं तत्कालीन मगधराज श्रेणिक बिंबसार व उनके पुत्र कुणिक अजातशत्रु को अपना अनुयायी बनाया था। इसका भी प्रमाण मिलता है कि नंदराजा भी जैन धर्मानुयायी थे। ई० पू० १५० के लगभग के खारवेल के शिलालेख में स्पष्ट उल्लेख है कि जिस जैन प्रतिमा को नंदराज कलिंग से मगध में ले गए थे, उसे खारवेल पुनः अपने देश में वापस लाए। यह लेख अरहंतो और सिद्धों को नमस्कार से प्रारम्भ होता है, और फिर उसमें खारवेल के कुमारकाल के शिक्षण के पश्चात् राज्याभिषिक्त होकर उनके द्वारा नाना-प्रदेशों की विजय तथा स्वदेश मे विविध लोकोपकारी कार्यो का विवरण पाया जाता है। कलिंग (उड़ीसा) में जैनधर्म विहार से ही गया है, इसमें तो सन्देह ही नहीं; और बिहार का जैनधर्म से संबंध इतिहासातीत काल से रहा है। भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार बिहार मे उड़ीसा जाने का मार्ग मानभूम और सिंहभूम जिलों में से था। मानभूम के ब्राह्मणों में एक वर्ग अब भी ऐसा विद्यमान है जो अपने को 'पच्छिम ब्राह्मण' कहते हैं, और वे वर्धमान महावीर के वंशज रूप से वर्णन किये जाते हैं। वे यह भी कहते हैं कि वे उस प्राचीनतम आर्यवंश की शाखा के हैं जिसने अति प्राचीन काल में इस भूमि पर पैर रखा। आदितम श्रमण-परम्परा आर्यों की ही थी, किन्तु ये आर्य वैदिक आर्यों के पूर्व भारत की ओर बढ़ने से पहले ही मगध-विदेह में रहते थे, इसमें अब कोई सन्देह रहा नही प्रतीत होता। इस दृष्टि से उक्त 'पच्छिम ब्राह्मणो' की बात बड़े ऐतिहासिक महत्व की जान पड़ती है। यों तो समस्त मगध प्रदेश में जैन पुरातत्व के प्रतीक बिखरे हुए हैं, जिनमें पटना जिले के राजगिर और पावा, तथा हजारीबाग जिले का पार्श्वनाथ पर्वत सुप्रसिद्ध ही हैं। किन्तु इन स्थानों में वर्तमान में जो अधिकांश मूर्तिया आदि पाई जाती हैं, उनकी अपेक्षा मानभूम और सिंहभूम जिलों के नाना स्थानों में बिखरे हुए जैन मन्दिर व मूर्तियां अधिक प्राचीन

सिद्ध होते हैं। इनमे से अनेक आजकल हिन्दुओं द्वारा अपने धर्मायतन मान कर पूजे जाते हैं। कहीं जैन मूर्तियाँ भैरोंनाथ के नाम से पुजती हैं और कहीं वे पांडवों की मूर्तियाँ मानी जा रही हैं। यत्र तत्र से एकत्र कर जो अनेक जैन मूर्तियाँ पटना के संग्रहालय में सुरक्षित हैं, वे ग्यारहवी शताब्दि से पूर्व की प्रमाणित होती हैं। (देखिये राय चौधरी कृत जैनिजिम इन बिहार)। चीनी यात्री हुएनत्सांग (सातवी शताब्दी) ने अपने वैशाली के वर्णन में वहाँ निर्ग्रन्थों की बड़ी संख्या का उल्लेख किया है। उसने सामान्यतः यह भी कहा है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के जैन मुनि पश्चिम मे तक्षशिला और गृद्धकूट तक फैले हुए थे, तथा पूर्व में दिगम्बर निर्ग्रन्थ पुण्ड्रवर्धन और समतट तक भारी संख्या में पाये जाते थे। चीनी यात्री के इन उल्लेखों से सातवीं शती में समस्त उत्तर में जैन धर्म के सुप्रचार का अच्छा पता चलता है।

मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से एक अति प्राचीन स्तूप और एक दो जैन मंदिरों के ध्वंसावशेष मिले हैं। यहाँ पाई गई पुरातत्वसामग्री पर से ज्ञात होता है कि ई० पूर्व की कुछ शताब्दियों से लेकर, लगभग दसवीं शताब्दी तक यहाँ जैनधर्म का एक महान् केन्द्र रहा है। मूर्तियों के सिंहासनों, आयाग-पट्टों आदि पर जो लेख मिले हैं, उनमे से कुछ में कुषाण राजाओं, जैसे कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि नामों और उनके राज्यकाल के अंकों का स्पष्ट उल्लेख पाया गया है, जिससे वे ई० सन् के प्रारम्भिक काल के सिद्ध होते हैं। प्राचीन जैन ग्रन्थों में इस स्तूप का उल्लेख मिलता है, और कहा गया है कि यह स्तूप सुपार्श्वनाथ की स्मृति में निर्माण कराया गया था, तथा पार्श्वनाथ के काल मे इसका उद्धार कराया गया था। उसे देव निर्मित भी कहा गया है। आश्चर्य नहीं जो वह प्राचीन स्तूप महावीर से भी पूर्वकालीन रहा हो। हरिषेण कथाकोश के 'वैरकुमार कथानक' (श्लोक १३२) में मथुरा के पाँच स्तूपों का उल्लेख आया है। यहाँ से ही संभवतः जैन मुनियों के पंचस्तूपान्वय का प्रारंभ हुआ। इस अन्वय का एक उल्लेख गुप्त संवत् १५६ (सन् ४७८) का पहाड़पुर (बंगाल) के ताम्रपट से मिला है जिसके अनुसार उस समय वट गोहाली में एक जैन विहार था, जिसमें अरहंतों की पूजा के लिये निर्ग्रन्थ आचार्य को एक दान दिया गया। ये आचार्य बनारस की पंचस्तूप निकाय के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य कहे गये हैं। धवला टीका के रचयिता वीरसेन और जिनसेन (८-९वीं शती) भी इसी शाखा के थे। इसी अन्वय का उल्लेख जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण मे सेनान्वय के नाम से किया है। [illegible] इस अन्वय की सेनगण के नाम से ही प्रसिद्धि लगातार आज तक अविच्छिन्न [illegible] से उसकी अनेक शाखाओं व उपशाखाओं के रूप में पाई जाती है। मथुरा के

स्तूपों की परम्परा मुगल सम्राट् अकबर के काल तक पाई जाती है, क्योंकि उस समय के जैन पंडित राजमल्ल ने अपने जम्बूस्वामी-चरित में लिखा है कि मथुरा में ५१५ जीर्ण स्तूप थे जिनका उद्धार टोडर सेठ ने अपरिमित व्यय से कराया था। ई० पू० प्रथम शताब्दी में जैन मुनिसंघ के उज्जैनी में अस्तित्व का प्रमाण कालकाचार्य कथानक में मिलता है। इस कथानक के अनुसार उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल ने अपनी कामुक प्रवृत्ति से एक जैन अर्जिका के साथ अत्याचार किया, जिसके प्रतिशोध के लिए कालकसूरि ने शाही राजाओं से संबंध स्थापित किया। इन्होंने गर्दभिल्ल को युद्ध में परास्त कर, उज्जैन में शक राज्य स्थापित किया। इसी वंश का विनाश पीछे विक्रमादित्य ने किया। इस प्रकार यह घटना-चक्र विक्रम संवत् से कुछ पूर्व का सिद्ध होता है। उससे यह भी पता चलता है कि प्रसंगवश अतिशान्त-स्वभावी और सहनशील जैन-मुनियों का भी कभी-कभी राजशक्तियों से संघर्ष उपस्थित हो जाया करता था।

मथुरा से प्राप्त एक लेख में उल्लेख मिलता है कि गुप्त संवत् ११३ (ई० सन् ४३२) में श्री कुमारगुप्त के राज्यकाल में विधाधरी शाखा के दंतिलाचार्य की आज्ञा से श्यामाढ्य ने एक प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई। कुमारगुप्त के काल (सन् ४२६) का एक और लेख उदयगिरि (विदिशा-मालवा) से मिला है, जिसमें वहाँ पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। गुप्तकाल के सं० १४१ (ई० सन् ४६०) में स्कंदगुप्त राजा के उल्लेख सहित जो शिलालेख कहायूं (संस्कृत ककुभः) से प्राप्त हुआ है उसमें उल्लेख है कि पांच अरहंतों की स्थापना मन्द्र नामके धर्म पुरुष ने कराई थी और शैल-स्तम्भ खड़ा किया था।

दक्षिण भारत व लंका में जैन धर्म तथा राजवंशों से संबंध—

एक जैन परम्परानुसार मौर्यकाल में जैनमुनि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त सम्राट् को प्रभावित किया था और वे राज्य त्याग कर, उन मुनिराज के साथ दक्षिण को गए थे। मैसूर प्रान्त के अन्तर्गत श्रवणबेलगोला में अब भी उन्ही के नाम से एक पहाड़ी चन्द्रगिरि कहलाती है, और उस पर वह गुफा भी बतलाई जाती है, जिसमें भद्रबाहु ने तपस्या की थी, तथा राजा चन्द्रगुप्त उनके साथ अन्त तक रहे थे। इस प्रकार मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल में जैनधर्म का दक्षिणभारत में प्रवेश हुआ माना जाता है। किन्तु बौद्धों के पालि साहित्यान्तर्गत महावंश में जो लंका के राजवंशों का विवरण पाया जाता है, उसके अनुसार बुद्धनिर्वाण से १०६ वर्ष पश्चात् पांडुकाभय राजा का अभिषेक हुआ और उन्होंने अपने राज्य के प्रारंभ में ही अनुराधपुर की स्थापना की,

जिसमें उन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए अनेक निवासस्थान बनवाए। इस उल्लेख पर से स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि बुद्ध निर्वाण सं० के १०६ वें वर्ष में भी लंका में निर्ग्रन्थों का अस्तित्व था। लंका में बौद्ध धर्म का प्रवेश अशोक के पुत्र महेन्द्र द्वारा बुद्धनिर्वाण से २३६ वर्ष पश्चात् हुआ कहा गया है। इस पर से लंका में जैन धर्म का प्रचार, बौद्ध धर्म से कम से कम १३० वर्ष पूर्व हो चुका था, ऐसा सिद्ध होता है। संभवतः सिंहल में जैनधर्म दक्षिणभारत में से ही होता हुआ पहुँचा होगा। जिस समय उत्तर-भारत में १२ वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु ने सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा विशाल मुनि संघ के साथ दक्षिणापथ की ओर विहार किया, तब वहाँ की जनता में जैनधर्म का प्रचार रहा होगा और इसी कारण भद्रबाहु को अपने संघ का निर्वाह होने का विश्वास हुआ होगा, ऐसा भी विद्वानों का अनुमान है। चन्द्रगुप्त के प्रपौत्र सम्प्रति, एक जैन परम्परानुसार, आचार्य सुहस्ति के शिष्य थे, और उन्होंने जैनधर्म का स्तूप, मंदिर आदि निर्माण कराकर, देशभर में उसी प्रकार प्रचार किया जिसप्रकार कि अशोक ने बौद्धधर्म का किया था। रामनद और टिन्नावली की गुफाओं में ब्राह्मीलिपि के शिलालेख यद्यपि अस्पष्ट हैं, तथापि उनसे एवं प्राचीनतम तामिल ग्रंथों से उस प्रदेश में अति प्राचीनकाल में जैनधर्म का प्रचार सिद्ध होता है। तामिल काव्य कुरल व ठोलकप्पियम पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

मणिमेकलइ यद्यपि एक बौद्ध काव्य है, तथापि उसमें दिगम्बर मुनियों और उनके उपदेशों के अनेक उल्लेख आये हैं। जीवक चिन्तामणि, सिलप्पडिकारं, नीलकेशी, यशोधर काव्य आदि तो स्पष्टतः जैन कृतियाँ ही हैं। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र के कांची से सम्बंध का उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य का सम्बंध, उनके एक टीकाकार, शिवकुमार महाराज से बतलाते हैं। प्राकृत लोक-विभाग के कर्ता सर्वनन्दि (सन् ४५८) कांची नरेश सिंहवर्मा के समकालीन कहे गये हैं। दर्शनसार के अनुसार द्राविड़ संघ की स्थापना पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि द्वारा मदुरा में सन् ४७० में की गई थी। इस प्रकार के अनेक उल्लेखों और नाना घटनाओं से सुप्रमाणित होता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में तामिल प्रदेश में जैन धर्म का अच्छा प्रचार हो चुका था।

कदम्ब राजवंश —

कदम्बवंशी अविनीत महाराज के दानपत्र में उल्लेख है कि उन्होंने देशीगण, कुन्दकुन्दान्वय के चन्द्रनंदि भट्टारक को जैनमंदिर के लिये एक गांव का दान दिया। यह दानपत्र शक सं० ३८८ (ई० सं० ४६६) का है और मर्करा नामक स्थान से मिला

है। इसी वंश के युवराज काकुत्स्थ, द्वारा भगवान् अर्हन्त के निमित्त श्रुतकीर्ति सेनापति को भूमि का दान दिये जाने का उल्लेख है। इसी राजवंश के एक दो अन्य दानपत्र बड़े महत्वपूर्ण हैं। इनमें से एक में श्रीविजय शिवमृगेश वर्मा द्वारा अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष में एक ग्राम का दान उसे तीन भागों में बांटकर दिये जाने का उल्लेख है। एक भाग 'भगवत् अर्हद् महाजिनेन्द्र देवता' को दिया गया, दूसरा 'श्वेतपट महाश्रमण संघ' के उपभोग के लिए, और तीसरा 'निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ' के उपयोग के लिए। दूसरे लेख में शान्ति वर्मा के पुत्र श्री मृगेश द्वारा अपने राज्य के आठवें वर्ष में यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक मुनियों के हेतु भूमि-दान दिये जाने का उल्लेख है। एक अन्य लेख में शान्तिवर्मा द्वारा यापनीय तपस्वियों के लिये एक ग्राम के दान का उल्लेख है। एक अन्य लेख में हरिवर्मा द्वारा सिंह सेनापति के पुत्र मृगेश द्वारा निर्मापित जैनमंदिर की अष्टान्हिका पूजा के लिये, तथा सर्वसंघ के भोजन के लिए एक गांव कूर्चकों के वारिषेणाचार्य संघ के हाथ में दिये जाने का उल्लेख है। इस वंश के और भी अनेक लेख हैं जिनमें जिनालयों के रक्षणार्थ व नाना जैन संघों के निमित्त ग्रामो और भूमियों के दान का उल्लेख है। उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पांचवी छठी शताब्दी में जैन संघ के निर्ग्रन्थ (दिगम्बर), श्वेतपट, यापनीय वा कूर्चक शाखाएं सुप्रतिष्ठित सुविख्यात, लोकप्रिय और राज्य-सम्मान्य हो चुकी थीं। इनमेंके प्रथम तीन मुनि-सम्प्रदायों का उल्लेख तो पट्टावलियों व जैन साहित्य मे बहुत आया है, किन्तु कूर्चक सम्प्रदाय का कही अन्यत्र विशेष परिचय नही मिलता।

गंग राजवंश—

श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों तथा अभयचन्द्रकृत गोम्मटसार वृत्ति की उत्थानिका में उल्लेख मिलता है कि गंगराज की नीव डालने में जैनाचार्य सिंहनंदि ने बड़ी सहायता की थी। इस वंश के अविनीत नाम के राजा के प्रतिपालक जैनाचार्य विजयकीर्ति कहे गये हैं। सुप्रसिद्ध तत्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका के कर्त्ता आचार्य पूज्यपाद देवनंदि इसी वंश के सातवें नरेश दुर्विनीत के राजगुरू थे, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। इनके तथा शिवमार और श्रीपुरुष नामक नरेशों के अनेक लेखों में जैन मन्दिर निर्माण व जैन मुनियों को दान के उल्लेख भी मिलते हैं। गंगनरेश मारसिंह के विषय में कहा गया है कि उन्होंने अनेक भारी युद्धो में विजय प्राप्त करके नाना दुर्ग और किले जीतकर एवं अनेक जैन मंदिर और स्तम्भ निर्माण करा कर अन्त मे अजितसेन भट्टारक के समीप बंकापुर में संल्लेखना विधि से मरण किया, जिसका काल शक सं० ८९६ (ई०–

सं० ९७४) निर्दिष्ट है। मारसिंह के उत्तराधिकारी राचमल्ल (चतुर्थ) थे, जिनके मंत्री चामुण्डराज ने श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय बस्ति निर्माण कराई और गोमटेश्वर की उस विशाल मूर्त्ति का उद्‌घाटन कराया जो प्राचीन भारतीय मूर्त्तिकला का एक गौरवशाली प्रतीक है। चामुण्डराय का बनाया हुआ एक पुराण ग्रन्थ भी मिलता है जो कन्नड भाषा में है। इसे उन्होंने शक सं० ९०० में समाप्त किया था। उसमें भी उन्होंने अपने ब्रह्मक्षत्र कुल तथा अजितसेन गुरु का परिचय दिया है। अनेक शिलालेखों में विविध गंगवंशी राजाओं, सामन्तों, मंत्रियों व सेनापतियों आदि के नामों, उनके द्वारा दिये गये दानों आदि धर्मकार्यों, तथा उनके संल्लेखना पूर्वक मरण के उल्लेख पाये जाते हैं। कन्नड कवि पोन्न द्वारा सन् ९३३ में लिखे गये शान्तिपुराणकी सन् ९७३ के लगभग एक धर्मिष्ट महिला आतिमब्बे ने एक सहस्र प्रतियाँ लिखाकर दान में बटवा दीं।

राष्ट्रकूट राजवंश —

सातवीं शताब्दी से दक्षिण-भारत में जिस राजवंश का बल व राज्य-विस्तार बढ़ा, उस राष्ट्रकूट वंश से तो जैनधर्म का बड़ा घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम ने स्वयं प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका की रचना की थी, जिसका तिब्बती भाषा में उसकी रचना के कुछ ही पश्चात् अनुवाद हो गया था और जिस परसे यह भी सिद्ध होता है कि राजा अमोघवर्ष राज्य छोड़कर स्वयं दीक्षित हो गये थे। उनके विषय में यह भी कहा पाया जाता है कि वे आदिपुराण के कर्ता जिनसेन के चरणों की पूजा करते थे। शाकटायन व्याकरण पर की अमोघवृत्ति नामक टीका उनके नाम से संबद्ध पाई जाती है, और उन्ही के समय में महावीराचार्य ने अपने गणितसार नामक ग्रंथ की रचना की थी। वे कन्नड अलंकारशास्त्र 'कविराजमार्ग' के कर्ता भी माने जाते हैं। उनके उत्तराधिकारी कृष्ण-द्वितीय के काल में गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण को पूरा किया, इन्द्रनन्दि ने ज्वाला-मालिनी-कल्प की रचना की; सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू नामक काव्य रचा तथा पुष्पदंत ने अपनी विशाल, श्रेष्ठ अपभ्रंश रचनाएँ प्रस्तुत की। उन्होंने ही कन्नड के सुप्रसिद्ध जैन कवि पोन्न को उभय-भाषा चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किया। उनके पश्चात् राष्ट्रकूट नरेश इन्द्रराज-चतुर्थ ने शिलालेखानुसार अपने पूर्वज अमोघवर्ष के समान राज्यपाट त्याग कर जैन मुनि दीक्षा धारण की थी, और श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर समाधिपूर्वक मरण किया था। श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों में राष्ट्रकूट नरेशों की जैनधर्म के प्रति

आस्था, सम्मान-वृद्धि और दानशीलता के उल्लेख पाये जाते हैं। राष्ट्रकूटों के संरक्षण में उनकी राजधानी मान्यखेट एक अच्छा जैन केन्द्र बन गया था, और यही कारण है कि संवत् १०२९ के लगभग जब धारा के परमारवंशी राजा हर्षदेव के द्वारा मान्यखेट नगरी लूटी और जलाई गई, तब महाकवि पुष्पदंत के मुख से हठात् निकल पड़ा कि "जो मान्यखेट नगर दीनों और अनाथों का धन था, सदैव बहुजन पूर्ण और पुष्पित उद्यानवनों से सुशोभित होते हुए ऐसा सुन्दर था कि वह इन्द्रपुरी की शोभा को भी फीका कर देता था, वह जब धारानाथ की कोपाग्नि से दग्ध हो गया तब, अब पुष्पदंत कवि कहाँ निवास करें"। (अप. महापुराण-संधि ५०)

चालुक्य और होयसल राजवंश—

चालुक्यनरेश पुलकेशी (द्वि०) के समय में जैन कवि रविकीर्ति ने ऐहोल में मेघुति मन्दिर बनवाया और वह शिलालेख लिखा जो अपनी ऐतिहासिकता तथा संस्कृत काव्यकला की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। उसमें कहा गया है कि रविकीर्ति की काव्यकीर्ति कालिदास और भारवि के समान थी। लेख में शक सं०५५६ (ई० सन् ६३४) का उल्लेख है और इसी आधार पर संस्कृत के उक्त दोनों महाकवियों के काल की यही उत्तरावधि मानी जाती है। लक्ष्मेश्वर से प्राप्त अनेक दानपत्रों में चालुक्य नरेश विनयादित्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वारा जैन आचार्यों को दान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं। बादामी और ऐहोल की जैन गुफायें और उनमें की तीर्थंकरों की प्रतिमायें भी इसी काल की सिद्ध होती हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से दक्षिण में पुनः चालुक्य राजवंश का बल बढ़ा। यह राजवंश जैनधर्म का बड़ा संरक्षक रहा, तथा उसके साहाय्य से दक्षिण में जैनधर्म का बहुत प्रचार हुआ और उसकी ख्याति बढ़ी। पश्चिमी चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप ने जैन कन्नड़ कवि रन्न को आश्रय दिया। तैलप के उत्तराधिकारी सत्याश्रय ने जैनमुनि विमलचन्द्र पंडित देव को अपना गुरु बनाया। इस वंश के अन्य राजाओं, जैसे जयसिंह द्वितीय, सोमेश्वर प्रथम और द्वितीय, तथा विक्रमादित्य पष्ठम ने कितने ही जैन कवियों को प्रोत्साहित कर साहित्य-सृजन कराया, तथा जैन मन्दिरों व अन्य जैन संस्थाओं को भूमि आदि का दान देकर उन्हें सबल बनाया। होयसल राजवंश की तो स्थापना ही एक जैनमुनि के निमित्त से हुई कही जाती है। विनयादित्य नरेश के राज्यकाल में जैनमुनि वर्द्धमानदेव का शासन के प्रबन्ध में भी हाथ रहा कहा जाता है। इस वंश के दो अन्य राजाओं के गुरु भी जैनमुनि रहे। इस वंश के प्राय

सभी राजाओं ने जैन मंदिरों और आश्रमों को दान दिये थे। इस वंश के सबसे अधिक प्रतापी नरेश विष्णुवर्द्धन के विषय में कहा जाता है कि उसने रामानुजाचार्य के प्रभाव में पड़कर वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिया था। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि वह अपने राज्य के अन्त तक जैनधर्म के प्रति उपकारी और दानशील बना रहा। ई० सन् ११२५ में भी उसने जैनमुनि श्रीपाल त्रैविद्यदेव की आराधना की, शल्य नामक स्थान पर जैन विहार बनवाया तथा जैन मंदिरों व मुनियों के आहार के लिए दान दिया। एक अन्य ई० सन् ११२९ के लेखानुसार उसने मल्लिजिनालय के लिए एक दान किया। ई० सन् ११३३ में उसने अपनी राजधानी द्वारासमुद्र में ही पार्श्वनाथ जिनालय के लिए एक ग्राम का दान किया, तथा अपनी तत्कालीन विजय की स्मृति में वहाँ के मूलनायक को विजय-पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध किया और अपने पुत्र का नाम विजयसिंह रक्खा, और इस प्रकार उसने अपने परम्परागत धर्म तथा नये धारण किये हुए धर्म के बीच संतुलन बनाये रखा। उसकी रानी शांतलदेवी आजन्म जैनधर्म की उपासिका रही और जैन मंदिरों को अनेक दान देती रही। उसके गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव थे, और उसने सन् ११२१ में जैन समाधि-मरण की सल्लेखना विधि से देह त्याग किया। विष्णुवर्द्धन के अनेक प्रभावशाली मंत्री और सेनापति भी जैन धर्मानुयायी थे। उसके गंगराज सेनापति ने अनेक जैनमंदिर बनवाये, अनेकों का जीर्णोद्धार किया तथा अनेकों जैन संस्थाओं को विपुल दान दिये। उसकी पत्नी लक्ष्मीमति ने भी जैन सल्लेखना विधि से मरण किया, जिसकी स्मृति में उसके पति ने श्रवणबेलगोला के पर्वत पर एक लेख खुदवाया। उसके अन्य अनेक सेनापति, जैसे बोप्प, पुनिस, मरियाने व भरतेश्वर, जैन मुनियों के उपासक थे और जैन धर्म के प्रति बड़े दानशील थे, इसके प्रमाण श्रवणबेलगोला व अन्य स्थानों के बहुत से शिलालेखों में मिलते हैं। विष्णुवर्द्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम ने श्रवणबेलगोला की वंदना की तथा अपने महान् सेनापति हुल्ल द्वारा बनवाये हुए चतुर्विंशति जिनालय को एक ग्राम का दान दिया। होयसल नरेश वीर-बल्लाल द्वितीय व नरसिंह तृतीय के गुरु जैन मुनि थे। इन नरेशों ने तथा इस वंश के अन्य अनेक राजाओं ने जैन मंदिर बनवाये और उन्हें बड़े-बड़े दानों से पुष्ट किया। इस प्रकार यह पूर्णतः सिद्ध है कि होयसल वंश के प्रायः सभी नरेश जैन धर्मानुयायी थे और उनके साहाय्य एवं संरक्षण द्वारा जैन मंदिर तथा अन्य धार्मिक संस्थाएँ दक्षिण प्रदेश में खूब फैलीं और समृद्ध हुईं।

अन्य राजवंश—

उक्त राजवंशों के अतिरिक्त दक्षिण के अनेक छोटे-मोटे राजघरानो द्वारा भी जैनधर्म को खूब बल मिला। उदाहरणार्थ, कर्नाटक के तीर्थहल्लि तालुका व उसके आसपास के प्रदेश पर राज्य करनेवाले सान्तर नरेशों ने प्रारम्भ से ही जैन धर्म को खूब अपनाया। भुजबल सान्तर ने अपनी राजधानी पोम्बुर्चा में एक जैनमंदिर बनवाया व अपने गुरू कनकनंदिदेव को उस मंदिर के संरक्षणार्थ एक ग्राम का दान दिया। वीर सान्तर के मंत्री नगुलरस को ई० सन् १०८१ के एक शिलालेख में जैनधर्म का गढ़ कहा गया है। स्वयं वीर सान्तर को एक लेख में जिनभगवान् के चरणों का भृंग कहा गया है। तेरहवी शताब्दी में सान्तरनरेशों के वीरशैव धर्म स्वीकार कर लेने पर उनके राज्य में जैनधर्म की प्रगति व प्रभाव कुछ कम अवश्य हो गया, तथापि सान्तर वंशी नरेश शैवधर्मावलंबी होते हुए भी जैनधर्म के प्रति श्रद्धालु और दानशील बने रहे। उसी प्रकार मैसूर प्रदेशान्तर्गत कुर्ग व उसके आसपास राज्य करनेवाले कागल्व नरेशों ने ग्यारहवी व बारहवीं शताब्दियों में अनेक जैनमंदिर बनवाये और उन्हें दान दिये। चांगल्व नरेश शैवधर्मावलंबी होते हुए भी जैनधर्म के बड़े उपकारी थे, यह उनके कुछ शिलालेखों से सिद्ध होता है जिनमे उनके द्वारा जैनमंदिर बनवाने व दान देने के उल्लेख मिलते हैं। इन राजाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसे वैयक्तिक सामन्तों, मंत्रियों, सेनापतियों तथा सेठ साहूकारों के नाम शिलालेखों में मिलते है, जिन्होंने नाना स्थानों पर जिनमंदिर बनवाये, जैनमूर्तियां प्रतिष्ठित कराई, पूजा अर्चा की; तथा धर्म की बहुविध प्रभावना के लिये विविध प्रकार के दान दिये। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने अपने जीवन के अन्त में वैराग्य धारण कर जैनविधि से समाधिमरण किया। दक्षिण प्रदेश भर में जो आजतक भी अनेक जैनमंदिर व मूर्त्तियां अथवा उनके ध्वंसावशेष बिखरे पड़े हैं, उनसे भलेप्रकार सिद्ध होता है कि यह धर्म वहां कितना सुप्रचलित और लोकप्रिय रहा, एवं राजगृहों से लगाकर जनसाधारण तक के गृहों में प्रविष्ट हो, उनके जीवन को नैतिक, दानशील तथा लोकोपकारोन्मुख बनाता रहा।

गुजरात-काठियावाड़ में जैनधर्म—

ई० सन् की प्रथम शताब्दी के लगभग काठियावाड़ में भी एक जैन केन्द्र सुप्रतिष्ठित हुआ पाया जाता है। षट्खंडागम सूत्रों की रचना का जो इतिहास उसके टीकाकार वीरसेनाचार्य ने दिया है, उसके अनुसार वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष की श्रुतज्ञानी आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा के कुछ काल पश्चात् धरसेनाचार्य हुए, जो

गिरिनगर (गिरिनार, काठियावाड़) की चन्द्रगुफा में रहते थे। वहीं उन्होंने पुष्पदंत और भूतवलि नामक आचार्यों को बुलवाकर उन्हें वह ज्ञान प्रदान किया, जिसके आधार पर उन्होंने पश्चात् द्रविड़ देश में जाकर षट्खंडागम की सूत्र-रूप रचना की। जूनागढ़ के समीप अत्यन्त प्राचीन कुछ गुफाओं का पता चला है जो अब बावा-प्यारा का मठ कहलाती हैं। उनके समीप की एक गुफा में दो खंडित शिलालेख भी मिले हैं जो उनमें निर्दिष्ट क्षत्रपवंशी राजाओं के नामों के आधार से तथा अपनी लिपि पर से ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के सिद्ध होते हैं। मैंने अपने एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्भवतः यही गुफा धरसेनाचार्य की निवासभूमि थी और सम्भवतः वहीं उनका समाधिमरण हुआ, जिसकी ही स्मृति में वह लेख लिखा गया हो तो आश्चर्य नहीं। लेख जयदामन् के पौत्र रुद्रसिंह (प्र०) का प्रतीत होता है। खंडित होने से लेख का पूरा अर्थ तो नहीं लगाया जा सकता, तथापि उसमें जो केवलज्ञान, जरामरण से मुक्ति आदि शब्द स्पष्ट पढ़े जाते हैं, उनसे उसका किसी महान् जैनाचार्य की तपस्या व समाधिमरण से संबंध स्पष्ट है। उस गुफा में अंकित स्वस्तिक, भद्रासन, मीनयुगल आदि चिह्न भी उसके जैनत्व को सिद्ध करते हैं। ढंक नामक स्थान पर की गुफाएं और उनमें की ऋषभ, पार्श्व, महावीर व अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएं भी उसी काल की प्रतीत होती हैं। गिरनार में धरसेनाचार्य का उपदेश ग्रहण कर पुष्पदंत और भूतवलि आचार्यों के द्रविड़ देश को जाने और वहीं आगम की सूत्र-रूप रचना करने के वृत्तान्त से यह भी सिद्ध होता है कि उक्त काल में काठियावाड़—गुजरात से लेकर सुदूर तामिल प्रदेश तक जैन मुनियों का निर्बाध गमनागमन हुआ करता था।

आगामी शताब्दियों में गुजरात में जैनधर्म का उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़ता हुआ पाया जाता है। यहाँ वीर निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् वलभीनगर में क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता में जैन मुनियों का एक विशाल सम्मेलन हुआ जिसमें जैन आगम के अंगोपांग आदि वे ४५-५० ग्रंथ संकलित किये गये जो श्वेताम्बर परम्परा में सर्वोपरि प्रमाणभूत माने जाते हैं, और जो अर्द्धमागधी प्राकृत की अद्वितीय उपलब्ध रचनाएं हैं। सातवीं शती के दो गुर्जरनरेशों, जयभट (प्र०) और दद्द (द्वि०) के दान पत्रों में जो उनके वीतराग और प्रशान्तराग विशेषण पाये जाते हैं, वे उनके जैनधर्मावलम्बित्व को नहीं तो जैनानुराग को अवश्य प्रकट करते हैं। इस प्रदेश के चावड़ा (चापोत्कट) राजवंश के संस्थापक वनराज के जैनधर्म के साथ सम्बन्ध और उसके विशेष प्रोत्साहन के प्रमाण मिलते हैं। इस वंश के प्रतापी नरेन्द्र मूलराज ने अपनी राजधानी अनहिलवाड़ा में मूलवसतिका नामक जैन मंदिर बनवाया, जो अब भी

विद्यमान है। श्रीचन्द्र कवि ने अपनी कथाकोष नामक अपभ्रंश रचना की प्रशस्ति में कहा है कि मूलराज का धर्मस्थानीय गोष्ठिक प्राग्वाटवंशी सज्जन नामक विद्वान् था, और उसी के पुत्र कृष्ण के कुटुंब के धर्मोपदेश निमित्त कुंदकुंदान्वयी मुनि सहस्रकीर्ति के शिष्य श्रीचन्द्र ने उक्त ग्रंथ लिखा। मुनि सहस्रकीर्ति के संबंध में यह भी कहा गया है कि उनके चरणों की वंदना गांगेय, भोजदेव आदि नरेश करते थे। अनुमानतः गांगेय से चेदि के कलचुरि नरेश का, तथा भोजदेव से उस नाम के परमारवंशी मालवा के राजा से अभिप्राय है। उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला (ई०सं० ७७८) के अनुसार गुप्तवंशी आचार्य हरिगुप्त यवन राज तोरमाण (हूणवंशीय) के गुरू थे और चन्द्रभागा नदी के समीप स्थित राजधानी पवैया (पंजाब) में ही रहते थे। हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त की भी बड़ी पद-प्रतिष्ठा थी। देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र पवैया से विहार करते हुए भिन्नमाल (श्रीमाल, गुजरात की प्राचीन राजधानी) में आये। उनके शिष्य यक्षदत्त व अनेक अन्य गुणवान शिष्यों ने गुर्जर देश में जैनधर्म का खूब प्रचार किया, और उसे बहुत से जैन मन्दिरों के निर्माण द्वारा अलंकृत कराया। उनके एक शिष्य वटेश्वर ने आकाश वप्र नगर में विशाल मन्दिर बनवाया। वटेश्वर के शिष्य तत्वाचार्य कुवलयमालाकार क्षत्रिय वंशी उद्योतनसूरि के गुरू थे। उद्योतन सूरि ने वीरभद्र आचार्य से सिद्धान्त की तथा हरिभद्र आचार्य से न्याय की शिक्षा पाकर शक संवत् ७०० में जावालिपुर (जालोर-राजपुताना) में वीरभद्र द्वारा बनवाये हुए ऋषभदेव के मन्दिर में अपनी कुवलयमाला पूर्ण की। तोरमाण उस हूण आक्रमणकारी मिहिरकुल का उत्तराधिकारी था जिसकी क्रूरता इतिहास-प्रसिद्ध है। उस पर इतने शीघ्र जैन मुनियो का उक्त प्रभाव पड़ जाना जैनधर्म की तत्कालीन सजीवता और उदात्त धर्म-प्रचार-सरणि का एक अच्छा प्रमाण है।

चालुक्य नरेश भीम प्रथम में जैनधर्म का विशेष प्रसार हुआ। उसके मंत्री प्राग्वाट वंशी विमलशाह ने आबू पर आदिनाथ का वह जैनमंदिर बनवाया जिसमे भारतीय स्थापत्यकला का अति उत्कृष्ट प्रदर्शन हुआ है, और जिसकी सूक्ष्म चित्रकारी, बनावट की चतुराई तथा सुन्दरता जगद्विख्यात मानी गई है। यह मंदिर ई० सन् १०३१ अर्थात् महमूद गजनी द्वारा सोमनाथ को ध्वस्त करने के सात वर्ष के भीतर बनकर तैयार हुआ था। खरतरगच्छ पट्टावली में उल्लेख मिलता है कि विमल मंत्री ने तेरह सुलतानों के छत्रों का अपहरण किया था; चन्द्रावती नगरी की नींव डाली थी, तथा अर्बुदाचल पर ऋषभदेव का मंदिर निर्माण कराया था। स्पष्टतः विमलशाह ने ये कार्य अपने राजा भीम की अनुमति से ही किये होंगे और उनके द्वारा उसने सोमनाथ

तथा अन्य स्थानों पर किये गये विध्वंसों का प्रत्युत्तर दिया होगा। चालुक्यनरेश सिद्धराज और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के काल में जैनधर्म का और भी अधिक बल बढ़ा। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र के उपदेश से कुमारपाल ने स्वयं, खुलकर जैनधर्म धारण किया और गुजरात की जैन संस्थाओं को खूब समृद्ध बनाया, जिसके फलस्वरूप गुजरात प्रदेश सदा के लिए धर्मानुयायियों की संख्या एवं संस्थाओं की समृद्धि की दृष्टि से जैनधर्म का एक सुदृढ़ केन्द्र बन गया। यह महान् कार्य किसी धार्मिक कट्टरता के बल पर नहीं, किन्तु नाना-धर्मों के प्रति सद्भाव व सामंजस्य-बुद्धि द्वारा ही किया गया था। यही प्रणाली जैनधर्म का प्राण रही है, और हेमचन्द्राचार्य ने अपने उपदेशों एवं कार्यों द्वारा इसी पर अधिक बल दिया था। धर्म की अविच्छिन्न परम्परा एवं उसके अनुयायियों की समृद्धि के फलस्वरूप ई० सन् १२३० में भीम सिंहदेव के राज्यकाल में पोरवाड वंशी सेठ तेजपाल ने आबूपर्वत पर उक्त आदिनाथ मंदिर के समीप ही वह नेमिनाथ मंदिर बनवाया जो अपनी शिल्पकला में केवल उस प्रथम मंदिर से ही तुलनीय है। १२ वीं १३ वीं शताब्दी में आबू पर और भी अनेक जैनमंदिरों का निर्माण हुआ था, जिनसे उस स्थान का नाम देलवाड़ा (देवलवाड़ा) अर्थात् देवों का नगर पड़ गया। आबू के अतिरिक्त काठियावाड़ के शत्रुंजय और गिरनार तीर्थक्षेत्रों की ओर भी अनेक नरेशों और सेठों का ध्यान गया और परिणामतः वहां के शिखर भी अनेक सुन्दर और विशाल मंदिरों से अलंकृत हो गये। खंभात का चिंतामणि पार्श्वनाथ मंदिर ई० सन् ११०८ में बनवाया गया था और १२९५ में उसका जीर्णोद्धार कराया गया था। यहां के लेखों से पता चलता है कि यह समय समय पर मालवा, सपादलक्ष तथा चित्रकूट के अनेक धर्मानुयायियों के विपुल दानों द्वारा समृद्ध बनाया गया था।

जैन संघ में उत्तरकालीन पंथभेद—

जैन संघ में जो भेदोपभेद, सम्प्रदाय व गण गच्छादि रूप से, समय समय पर उत्पन्न हुए, उनका कुछ वर्णन ऊपर किया जा चुका है। किन्तु उनसे जैन मान्यताओं व मुनि आचार में कोई विशेष परिवर्तन हुए हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता। केवल जो दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद विक्रम की दूसरी शती के लगभग उत्पन्न हुआ, उसका मुनि-आचार पर क्रमशः गंभीर प्रभाव पड़ा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में न केवल मुनियों द्वारा वस्त्र ग्रहण की मात्रा बढ़ी, किन्तु धीरे-धीरे तीर्थंकरों की मूर्तियों में भी कोपीन का चिन्ह प्रदर्शित किया जाने लगा। तथा मूर्तियों का आंख, अंगी, मुकुट आदि द्वारा अलंकृत किया जाना भी प्रारम्भ हो गया। इस कारण दिगम्बर और

श्वेताम्बर मंदिर व मूर्तियां, जो पहले एक ही रहा करते थे, वे अब पृथक् पृथक् होने लगे। ये प्रवृत्तियां सातवी आठवी शती से पूर्व नही पाई जातीं। एक और प्रकार से मुनि-संघ में भेद दोनों सम्प्रदायों में उत्पन्न हुआ। जैन मुनि आदितः वर्षा ऋतु के चातुर्मास को छोड़ अन्य काल में एक स्थान पर परिमित दिनों से अधिक नहीं ठहरते थे, और वे सदा विहार किया करते थे। वे नगर में केवल आहार व धर्मोपदेश निमित्त ही आते थे, और शेषकाल वन, उपवन, में ही रहते थे। किन्तु धीरे-धीरे पांचवीं छठवी शताब्दी के पश्चात् कुछ साधु चैत्यालयों में स्थायी रूप से निवास करने लगे। इससे श्वेताम्बर समाज में बनवासी और चैत्यवासी मुनि सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी प्रायः उसी काल से कुछ साधु चैत्यों में रहने लगे। यह प्रवृत्ति आदितः सिद्धान्त के पठन-पाठन व साहित्य-स्रजन की सुविधा के लिये प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है, किन्तु धीरे-धीरे वह एक साधु-वर्ग की स्थायी जीवन-प्रणाली बन गई, जिसके कारण नाना मंदिरों में भट्टारकों की गद्दियां व मठ स्थापित हो गये। इस प्रकार के भट्टारकों के आचार में कुछ शैथिल्य तथा परिग्रह अनिवार्यतः आ गया। किन्तु दूसरी ओर उससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि इन भट्टारक गद्दियों और मठों में विशाल शास्त्र भंडार स्थापित हो गये और वे विद्याभ्यास के सुदृढ़ केन्द्र बन गये। नौवी दसवी शताब्दी से आगे जो जैन साहित्य-स्रजन हुआ, वह प्रायः इसी प्रकार के विद्या-केन्द्रों मे हुआ पाया जाता है। इसी उपयोगिता के कारण भट्टारक गद्दिया धीरे-धीरे प्रायः सभी नगरों में स्थापित हो गईं, और मंदिरों में अच्छा शास्त्र-भंडार भी रहने लगा। यहीं प्राचीन शास्त्रों की लिपियां प्रतिलिपियां होकर उनका नाना केन्द्रों में आदान-प्रदान होने लगा। यह प्रणाली ग्रंथों के यंत्रों द्वारा मुद्रण के युग प्रारम्भ होने से पूर्व तक बराबर अविच्छिन्न बनी रही। जयपुर, जैसलमेर, ईडर, कारंजा, मूडबिद्री, कोल्हापुर आदि स्थानों पर इन शास्त्र भंडारों की परम्परा आज तक भी स्थिर है।

१५ वी, १६ वी शती में उक्त जैन सम्प्रदायों में एक और महान् क्रान्ति उत्पन्न हुई। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में लोंकाशाह द्वारा मूर्तिपूजा विरोधी उपदेश प्रारंभ हुआ, जिसके फलस्वरूप स्थानकवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई। यह संप्रदाय ढूंढिया नाम से भी पुकारा जाता है। इस सम्प्रदाय में मूर्तिपूजा का निषेध किया गया है। वे मंदिर नही, किन्तु स्थानक मे रहते हैं; और वहां मूर्ति नही, किन्तु आगमों की प्रतिष्ठा करते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ४५ आगमों मे से कोई बारह-चौदह आगमों को ये इस कारण स्वीकार नही करते, क्योंकि उनमें मूर्तिपूजा का विधान पाया जाता है।

इसी सम्प्रदाय में से १८ वी शती में आचार्य भिक्षु द्वारा 'तेरापंथ' की स्थापना हुई। वर्तमान के इस सम्प्रदाय के नायक तुलसी गणि है, जिन्होंने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी १६ वी शती में तारण स्वामी द्वारा मूर्ति पूजा निषेधक पंथ की स्थापना हुई, जो तारणपंथ कहलाता है। इस पंथ के अनुयायी विशेषरूप से मध्यप्रदेश में पाये जाते हैं। इन दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भेदो का परिणाम जैन गृहस्थ समाज पर भी पड़ा, जिसके कारण जैनधर्म के अनुयायी आज इन्हीं पंथों में बटे हुए हैं। इस समय भारतवर्ष में जैनधर्मानुयायियों की संख्या पिछली भारतीय जनगणना के अनुसार लगभग २० लाख है।

व्याख्यान - २

जैन साहित्य

व्याख्यान—२

जैन साहित्य

साहित्य का द्रव्यात्मक और भावात्मक स्वरूप—

भारत का प्राचीन साहित्य प्रधानतया धार्मिक भावनाओं से प्रेरित और प्रभावित पाया जाता है। यहां का प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेदादि वेदों में है, जिनमें प्रकृति की शक्तियों, जैसे अग्नि, वायु, वरुण, (जल), मित्र (सूर्य), द्यावा-पृथ्वी (आकाश और भूमि) उष: (प्रात:) आदि को देवता मानकर उनकी वन्दना और प्रार्थना सूक्तों व ऋचाओं के रूप में की गई है। वेदों के पश्चात् रचे जाने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों में उन्ही वैदिक देवताओं का वैदिक मंत्रों द्वारा आह्वान कर होम आदि सहित पूजा-अर्चा की विधियो का विवरण दिया गया है, और उन्हीं के उदाहरण स्वरूप उनमें यज्ञ कराने वाले प्राचीन राजाओं आदि महापुरुषों तथा यज्ञ करने वाले विद्वान् ब्राह्मणों के अनेक आख्यान उपस्थित किये गये हैं। सूत्र ग्रंथों की एक शाखा श्रौत सूत्र हैं, जिसमें सूत्र रूप से यज्ञविधियों के नियम प्रतिपादित किये गये हैं, और दूसरी शाखा गृह्यसूत्र है, जिसमें गृहस्थों के घरों में गर्भाधान, जन्म, उपनयन, विवाह आदि अवसरों पर की जाने वाली धार्मिक विधियों व संस्कारों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह समस्त वैदिक साहित्य पूर्णत: धार्मिक पाया जाता है।

इसी वैदिक साहित्य का एक अंग आरण्यक और उपनिषत् कहलाने वाले वे ग्रन्थ हैं, जिनमें हमें भारत के प्राचीनतम दर्शन-शास्त्रियों का तत्वचिंतन प्राप्त होता है। यो तो—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्।
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि:॥ (ऋ. १०, १२९, ६)

अर्थात् कौन ठीक से जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहां से उत्पन्न हुई? ऐसे तत्वचिन्तनात्मक विचारों के दर्शन हमें वेदों में भी होते हैं।

तथापि न तो वहां इन विचारों की कोई अविच्छिन्न धारा दृष्टिगोचर होती, और न उक्त प्रश्नों के समाधान का कोई व्यवस्थित प्रयत्न किया गया दिखाई देता। इस प्रकार का चिंतन आरण्यकों और उपनिषदों में हमें बहुलता से प्राप्त होता है। इन रचनाओं का प्रारंभ ब्राह्मण काल में अर्थात् ई० पू० आठवीं शताब्दी के लगभग हो गया था, और सहस्रों वर्ष पश्चात् तक निरन्तर प्रचलित रहा, जिसके फलस्वरूप संस्कृत साहित्य में सैकड़ों उपनिषत् ग्रन्थ पाये जाते हैं। ये ग्रन्थ केवल अपने विषय और भावना की दृष्टि से ही नहीं, किन्तु अपनी ऐतिहासिक व भौगोलिक परम्परा द्वारा शेष वैदिक साहित्य से अपनी विशेषता रखते हैं। जहां वेदों में देवी-देवताओं का आह्वान, उनकी पूजा-अर्चा तथा सांसारिक सुख और अभ्युदय संबंधी वरदानों की मांग की प्रधानता है, वहां उपनिषदों में उन समस्त बातों की कठोर उपेक्षा, और तात्विक एवं आध्यात्मिक चिन्तन की प्रधानता पाई जाती है। इस चिन्तन का आदि भौगोलिक केन्द्र वेद-प्रसिद्ध पंचनद प्रदेश व गंगा-यमुना से पवित्र मध्य देश न होकर वह पूर्व प्रदेश है जो वैदिक साहित्य में धार्मिक दृष्टि से पवित्र नहीं माना गया। अध्यात्म के आदि-चिंतक, वैदिक ऋषि व ब्राह्मण पुरोहित नहीं, किन्तु जनक जैसे क्षत्रिय राजर्षि थे, और जनक की ही राजसभा में यह आध्यात्मिक चिन्तन-धारा पुष्ट हुई पाई जाती है।

जैनधर्म मूलतः आध्यात्मिक है, और उसका आदितः सम्बन्ध कोशल, काशी, विदेह आदि पूर्वीय प्रदेशों के क्षत्रियवंशी राजाओं से पाया जाता है। इसी पूर्वी प्रदेश में जैनियों के अधिकांश तीर्थंकरों ने जन्म लिया, तपस्या की, ज्ञान प्राप्त किया और अपने उपदेशों द्वारा वह ज्ञानगंगा बहाई जो आजतक जैनधर्म के रूप में सुप्रवाहित है। ये सभी तीर्थंकर क्षत्रिय राजवंशी थे। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जनक के ही एक पूर्वज नमि राजा जैनधर्म के २१ वें तीर्थंकर हुए हैं। अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं जो जनक-कुल में उस आध्यात्मिक चिंतन की धारा पाई जाय जो जैनधर्म का मूलभूत अंग है। उपनिषत्कार पुकार पुकार कर कहते हैं कि :—

> एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
> दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ (कठो. १,३,१२)
>
> \+ \+ \+ \+
>
> हन्त तेऽइदम् प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
> यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतं ॥ (कठो. २, २, ६-७)

अर्थात् प्राणिमात्र मे एक अनादि अनन्त सजीव तत्व है जो भौतिक न होने के कारण दिखाई नही देता। वही आत्मा है। मरने के पश्चात् यह आत्मा अपने कर्म व ज्ञान की अवस्थानुसार वृक्षो से लेकर संसार की नाना जीव-योनियों में भटकता फिरता है, जबतक कि अपने सर्वोत्कृष्ट चरित्र और ज्ञान द्वारा निर्वाण पद प्राप्त नही कर लेता। उपनिषत् में जो यह उपदेश गौतम को नाम लेकर सुनाया गया है, वह हमें जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उन उपदेशों का स्मरण कराये विना नहीं रहता, जो उन्होंने अपने प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को गौतम नाम से ही संबोधन करके सुनाये थे, और जिन्हें उन्ही गौतम ने बारह अंगों में निबद्ध किया, जो प्राचीनतम जैन साहित्य है और द्वादशांग आगम या जैन श्रुतांग के नाम से प्रचलित हुआ पाया जाता है।

महावीर से पूर्व का साहित्य—

प्रश्न हो सकता है कि क्या महावीर से पूर्व का भी कोई जैन साहित्य है ? इसका उत्तर हां और ना दोनों प्रकार से दिया जा सकता है। साहित्य के भीतर दो तत्वों का ग्रहण होता है, एक तो उसका शाब्दिक व रचनात्मक स्वरूप और दूसरा आर्थिक व विचारात्मक स्वरूप। इन्ही दोनों बातों को जैन परम्परा में द्रव्य-श्रुत और भाव-श्रुत कहा गया है। द्रव्यश्रुत अर्थात् शब्दात्मकता की दृष्टि से महावीर से पूर्वकालीन कोई जैन साहित्य उपलभ्य नहीं है, किन्तु भावश्रुत की अपेक्षा जैन श्रुतांगों के भीतर कुछ ऐसी रचनाएं मानी गई हैं जो महावीर से पूर्व श्रमण-परम्परा में प्रचलित थी, और इसी कारण उन्हें 'पूर्व' कहा गया है। द्वादशांग आगम का बारहवां अंग दृष्टिवाद था। इस दृष्टिवाद के अन्तर्गत ऐसे चौदह पूर्वों का उल्लेख किया गया है, जिनमें महावीर से पूर्व की अनेक विचार-धाराओं, मत-मतान्तरों तथा ज्ञान-विज्ञान का संकलन उनके शिष्य गौतम द्वारा किया गया था। इन चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार हैं, जिनसे उनके विषयों का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है—उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञान-प्रवाद, सत्य-प्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद (श्वेताम्बर परम्परानुसार अबन्ध्य), प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोक-बिन्दुसार। प्रथम पूर्व उत्पाद में जीव, काल, पुद्गल आदि द्रव्यों के उत्पत्ति,

विनाश व ध्रुवता का विचार किया गया था। द्वितीय पूर्व अग्रायणीय में द्रव्य समस्त द्रव्यों तथा उनकी नाना अवस्थाओं की संख्या, परिमाण आदि का विचार किया गया था। तृतीय पूर्व वीर्यानुवाद में उक्त द्रव्यों के क्षेत्रकालादि की अपेक्षा से वीर्य अर्थात् बल-सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया था। चतुर्थ पूर्व अस्ति-नास्ति प्रवाद में लौकिक वस्तुओं के नाना अपेक्षाओं से अस्तित्व नास्तित्व का विवेक किया गया था। पांचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद में मति आदि ज्ञानों तथा उनके भेद प्रभेदों का प्रतिपादन किया गया था। छठे पूर्व सत्यप्रवाद में वचन की अपेक्षा सत्यासत्य विवेक व वक्ताओं की मानसिक परिस्थितियों तथा असत्य के स्वरूपों का विवेचन किया गया था। सातवें पूर्व आत्मप्रवाद में आत्मा के स्वरूप, उसकी व्यापकता, ज्ञातृभाव तथा भोक्तापन सम्बन्धी विवेचन किया गया था। आठवें पूर्व कर्मप्रवाद में नाना प्रकार के कर्मों की प्रकृतियों स्थितियों शक्तियों व परिमाणों आदिका प्ररूपण किया गया था। नौवें पूर्व प्रत्याख्यान में परिग्रह-त्याग, उपवासादि विधि, मन वचन काय की विशुद्धि आदि आचार सम्बन्धी नियम निर्धारित किये गये थे। दसवें पूर्व विद्यानुवाद में नाना विद्याओं और उपविद्याओं का प्ररूपण किया गया था, जिनके भीतर अंगुष्ट प्रसेनादि सातसौ अल्पविद्याओं, रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्याओं एवं अन्तरिक्ष भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन और छिन्न, इन आठ महानिमित्तों द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन था। ग्यारहवें पूर्व कल्याणवाद में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और तारागणों की नाना गतियों को देखकर शकुन के विचार तथा बलदेवों, वासुदेवों, चक्रवर्तियों आदि महापुरुषों के गर्भावतरण आदि के अवसरों पर होने वाले लक्षणों और कल्याणों का कथन किया गया था। इस पूर्व के अवन्ध्य नामकी सार्थकता यही प्रतीत होती है कि शकुनों और शुभाशुभ लक्षणों के निमित्त से भविष्य में होने वाली घटनाओं का कथन अवंध्य अर्थात् अवश्यम्भावी माना गया था। बारहवें पूर्व प्राणावाय में आयुर्वेद अर्थात् कायचिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन एवं प्राण अपान आदि वायुओं का शरीर धारण की अपेक्षा से कार्य का विवेचन किया गया गया था। तेरहवें पूर्व क्रियाविशाल में लेखन, गणना आदि बहत्तर कलाओं, स्त्रियों के चौसठ गुणों और शिल्पों, काव्यरचना सम्बन्धी गुण-दोषों व छन्दों आदि का प्ररूपण किया गया था। चौदहवें पूर्व लोकबिन्दुसार में जीवन की श्रेष्ठ क्रियाओं व व्यवहारों एवं उनके निमित्त से मोक्ष के सम्पादन विषयक विचार किया गया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन पूर्व नामक रचनाओं के अंतर्गत तत्कालीन न केवल धार्मिक, दार्शनिक व नैतिक विचारों का संकलन किया गया था, किन्तु उनके

भीतर नाना कलाओं व ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानों, तथा फलित ज्योतिष, शकुन-शास्त्र, व मन्त्र-तन्त्र आदि विषयों का भी समावेश कर दिया गया था। इस प्रकार ये रचनाएं प्राचीन काल का भारतीय ज्ञानकोष कही जाय तो अनुचित न होगा।

किन्तु दुर्भाग्यवश यह पूर्व-साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। यद्यपि पश्चात्कालीन साहित्य में इनका स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है, और उनके विषय का पूर्वोक्त प्रकार प्ररूपण भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है, तथापि ये ग्रन्थ महावीर निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् क्रमशः विच्छिन्न हुए कहे जाते हैं। उक्त समस्त पूर्वों के अन्तिम ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। तत्पश्चात् १८१ वर्षों में हुए विशाखाचार्य से लेकर धर्मसेन तक अन्तिम चार पूर्वों को छोड़, शेष दश पूर्वों का ज्ञान रहा, और उसके पश्चात् पूर्वो का कोई ज्ञाता आचार्य नहीं रहा। षट्खंडागम के वेदना नामक चतुर्थखण्ड के आदि में जो नमस्कारात्मक सूत्र पाये जाते हैं, उनमें दशपूर्वों के और चौदहपूर्वो के ज्ञाता मुनियों को अलग-अलग नमस्कार किया गया है (**नमो दसपुव्वियाणं, नमो चउद्दसपुव्वियाणं**)। इन सूत्रों की टीका करते हुए वीरसेनाचार्य ने बतलाया है कि प्रथम दशपूर्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ मुनियों को नाना महाविद्याओं की प्राप्ति से सांसारिक लोभ व मोह उत्पन्न हो जाता है, जिससे वे आगे वीतरागता की ओर नहीं बढ़ पाते। जो मुनि इस लोभ-मोह को जीत लेता है, वही पूर्ण श्रुतज्ञानी बन पाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त के जिन पूर्वों में कलाओं, विद्याओं, मन्त्र-तन्त्रों व इन्द्रजालों का प्ररूपण था, वे सर्वप्रथम ही मुनियों के संयमरक्षा की दृष्टि से निषिद्ध हो गये। शेष पूर्वों के विछिन्न हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि उनका जितना विषय जैन मुनियों के लिये उपयुक्त व आवश्यक था, उतना द्वादशांग के अन्य भागों में समाविष्ट कर लिया गया था, इसीलिये इन रचनाओं के पठन-पाठन में समय-शक्ति को लगाना उचित नहीं समझा गया। इसी बातकी पुष्टि दिग० साहित्य की इस परम्परा से होती है कि वीर निर्वाण से लगभग सात शताब्दियों पश्चात् हुए गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी आचार्य धरसेन को द्वितीय पूर्व के कुछ अधिकारों का विशेष ज्ञान था। उन्होंने वही ज्ञान पुष्पदंत और भूतबलि आचार्यों को प्रदान किया और उन्होंने उसी ज्ञान के आधार से सत्कर्मप्राभृत अर्थात् षट्खण्डागम की सूत्र रूप रचना की।

अंग-प्रविष्ट व अंग-बाह्य साहित्य—

दिग० परम्परानुसार महावीर द्वारा उपदिष्ट साहित्य की ग्रन्थ-रचना उनके शिष्यों द्वारा दो भागों में की गई - एक अंग-प्रविष्ट और दूसरा अंग-बाह्य। अंग-प्रविष्ट के आचारांग आदि ठीक वे ही द्वादश ग्रन्थ थे, जिनका क्रमशः लोप माना गया है, किन्तु जिनमें से ग्यारह अंगों का श्वेताम्बर परम्परानुसार वीर-निर्वाण के पश्चात् १०वीं शती में किया गया संकलन अब भी उपलब्ध है। इनका विशेष परिचय आगे कराया जायगा। अंग-बाह्य के चौदह भेद माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक और निषिद्धिका। यह अंग-बाह्य साहित्य भी यद्यपि दिग० परम्परानुसार अपने मूलरूप में अप्राप्य हो गया है, तथापि श्वे० परम्परा में उनका सद्भाव अब भी पाया जाता है। सामायिक आदि प्रथम छह का समावेश आवश्यक सूत्रों में हो गया है, तथा कल्प, व्यवहार और निशीथ सूत्रों में अन्त के कल्प, व्यवहारादि छह का अन्तर्भाव हो जाता है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन नाम की रचनाएँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनका श्वे० आगम साहित्य में बड़ा महत्व है। यही नहीं, इन ग्रन्थों की रचना के कारण का जो उल्लेख दिग० शास्त्रों में पाया जाता है, ठीक वही उपलब्ध दशवैकालिक की रचना के संबंध में कहा जाता है। आचार्य पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका (१,२०) में लिखा है कि "आरातीय आचार्यों ने कालदोष से संक्षिप्त आयु, मति और बलशाली शिष्यों के अनुग्रहार्थ दशवैकालिकादि ग्रन्थों की रचना की; इन रचनाओं में उतनी ही प्रमाणता है, जितनी गणधरों व श्रुतकेवलियों द्वारा रचित सूत्रों में; क्योंकि ये अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जिस प्रकार कि क्षीरोदधि से घड़े में भरा हुआ जल क्षीरोदधि से भिन्न नहीं है।" दशवैकालिक निर्युक्ति व हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में बतलाया गया है कि स्वयंभव आचार्य ने अपने पुत्र मनक को अल्पायु जान उसके अनुग्रहार्थ आगम के साररूप दशवैकालिक सूत्र की रचना की। इस प्रकार इन रचनाओं के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों में मतैक्य पाया जाता है। श्वे० परम्परानुसार महावीर निर्वाण से १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में स्थूलभद्र आचार्य ने जैन श्रमण संघ का सम्मेलन कराया, और वहां ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। बारहवें अंग दृष्टिवाद का उपस्थित मुनियों में से किसी को भी ज्ञान नहीं रहा था; अतएव

उसका संकलन नहीं किया जा सका। इसके पश्चात् की शताब्दियों में यह श्रुत-संकलन पुनः छिन्न-भिन्न हो गया। तब वीरनिर्वाण के लगभग ८४० वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल ने मथुरा में एक संघ-सम्मेलन कराया, जिसमें पुनः आगम साहित्य को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया। इसी समय के लगभग वलभी में नागार्जुन सूरि ने भी एक मुनि सम्मेलन द्वारा आगम रक्षा का प्रयत्न किया। किन्तु इन तीन पाटलिपुत्री, माथुरी और प्रथम वल्लभी वाचनाओं के पाठ उपलभ्य नहीं। केवल साहित्य में यत्र-तत्र उनके उल्लेख मात्र पाये जाते हैं। अन्त में महावीर निर्वाण के लगभग ९८० वर्ष पश्चात् वलभी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा जो मुनि-सम्मेलन किया गया उसमें कोई ४५-४६ ग्रन्थों का संकलन हुआ, और ये ग्रन्थ आजतक सुप्रचलित हैं। यह उपलभ्य आगम साहित्य निम्नप्रकार है :—

अर्धमागधी जैनागम

(श्रुतांग—११)

१—आचारांग (आयारंग)—इस ग्रन्थ में अपने नामानुसार मुनि-आचार का वर्णन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रत्येक श्रुतस्कंध अध्ययनों में और प्रत्येक अध्ययन उद्देशकों या चूलिकाओं में विभाजित है। इस प्रकार श्रुत प्रथम स्कंध में ९ अध्ययन व ४४ उद्देशक हैं; एवं द्वितीय श्रुतस्कंध में तीन चूलिकाएं हैं, जो १६ अध्ययनों में विभाजित हैं। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम की चूलिका रूप है। भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से स्पष्टतः प्रथम श्रुतस्कंध अधिक प्राचीन है। इसकी अधिकांश रचना गद्यात्मक है, पद्य बीच बीच में कहीं कहीं आ जाते हैं। अर्द्धमागधी-प्राकृत भाषा का स्वरूप समझने के लिए यह रचना बड़ी महत्वपूर्ण है। सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा तो निर्दिष्ट किया गया है, किन्तु उसका पाठ उपलभ्य नहीं है। उपधान नामक नवमे अध्ययन में महावीर की तपस्या का बड़ा मार्मिक वर्णन पाया जाता है। यहां उनके लाढ, वज्रभूमि और शुभ्रभूमि में विहार और नाना प्रकार के घोर उपसर्ग सहन करने का उल्लेख आया है। द्वितीय श्रुतस्कंध में श्रमण के लिए भिक्षा मांगने, आहार-पान-शुद्धि, शय्या-संस्तरण-ग्रहण, विहार, चातुर्मास, भाषा, वस्त्र, पात्रादि उपकरण, मल-मूत्र-त्याग एवं व्रतों व तत्सम्बन्धी भावनाओं के स्वरूपों व नियमोपनियमों का वर्णन हुआ है।

२— सूत्रकृतांग (सूयगडं)—यह भी दो श्रुतस्कंधों में विभक्त है, जिनके पुनः क्रमशः १६ और ७ अध्ययन हैं। पहला श्रुतस्कंध प्रायः पद्यमय है। केवल एक अध्ययन में गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुतस्कंध में गद्य और पद्य दोनों पाये जाते हैं। इसमें गाथा छंद के अतिरिक्त अन्य छंदों का भी उपयोग हुआ है, जैसे इन्द्रवज्रा, वैतालिक, अनुष्टुप् आदि। ग्रन्थ में जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य मतों व वादों का प्ररूपण किया गया है जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद, आदि। मुनियों को भिक्षाचार में सतर्कता, परीषहों की सहनशीलता, नरकों के दुःख, उत्तम साधुओं के लक्षण, ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षुक व निर्ग्रन्थ आदि शब्दों की व्युत्पत्ति भले प्रकार उदाहरणों व रूपकों द्वारा समझाई गई है। द्वितीय श्रुतस्कंध में जीव-शरीर के एकत्व, ईश्वर-कर्तृत्व व नियतिवाद आदि मतों का खंडन किया गया है। आहार व भिक्षा के दोषों का निरूपण हुआ है। प्रसंगवश भौमोत्पातादि महा-निमित्तों का भी उल्लेख आया है। प्रत्याख्यान क्रिया बतलाई गई है। पाप-पुण्य का विवेक किया गया है, एवं गोशालक, शाक्यभिक्षु आदि तपस्वियों के साथ हुआ वाद-विवाद अंकित है। अन्तिम अध्ययन नालन्दीय नामक है, क्योंकि इसमें नालन्दा में हुए गौतम गणधर और पार्श्वनाथ के शिष्य उदकपेढालपुत्र का वार्तालाप और अन्त में पेढालपुत्र द्वारा चातुर्याम को त्यागकर पंच-महाव्रत स्वीकार करने का वृत्तान्त आया है। प्राचीन मतों, वादों व दृष्टियों के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से भी यह विशेष प्राचीन सिद्ध होता है।

३—स्थानांग (ठाणांग)—यह श्रुतांग दस अध्ययनों में विभाजित है, और उसमें सूत्रों की संख्या एक हजार से ऊपर है। इसकी रचना पूर्वोक्त दो श्रुतांगों से भिन्न प्रकार की है। यहां प्रत्येक अध्ययन में जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु-संख्या गिनाई गई है; जैसे प्रथम अध्ययन में कहा गया है-एक दर्शन, एक चरित्र, एक समय, एक प्रदेश, एक परमाणु, एक सिद्ध आदि। उसी प्रकार दूसरे अध्ययन में बतलाया गया है कि क्रियाएं दो हैं, जीव-क्रिया और अजीव-क्रिया। जीव-क्रिया पुनः दो प्रकार की है, सम्यक्त्व-क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया। उसी प्रकार अजीव क्रिया भी दो प्रकार की है, ईर्यापथिक और साम्परायिक, इत्यादि। इसी प्रकार दसवें अध्ययनमें दसी क्रम से वस्तुभेद दस तक गयेहैं। इस दृष्टिसे यह श्रुतांग पालि बौद्धग्रन्थ अंगुत्तर निकाय से तुलनीय है। यहाँ नाना प्रकार के वस्तु-निर्देश अपनी अपनी दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। यथास्थान ऋग्, यजुः, और साम, ये तीन वेद बतलाये गये हैं, धर्म, अर्थ

और काम ये तीन प्रकार की कथाएं बतलाई गईहै । वृक्ष भी तीन प्रकार के हैं,पत्रोपेत,पुष्पोपेत और फलोपेत। पुरुष भी नाना दृष्टियोंसे तीन-तीन प्रकार के हैं-जैसे नाम पुरुष,द्रव्यपुरुष और भावपुरुष;अथवा ज्ञानपुरुष,दर्शनपुरुष और चरित्रपुरुष;अथवा उत्तम पुरुष, मध्यमपुरुष, और जघन्यपुरुष। उत्तमपुरुष भी तीन प्रकार के है-धर्मपुरुष भोगपुरुष और कर्मपुरुष । अर्हन्त धर्मपुरुष हैं, चक्रवर्ती भोगपुरुष है, और वासुदेव कर्मपुरुष। धर्म भी तीन प्रकार का कहा गया है-श्रुतधर्म, चरित्रधर्म और अस्तिकाय धर्म। चार प्रकार की अन्त-क्रियाएं बतलाई गई हैं, और उनके दृष्टान्त-स्वरूप भरत चक्रवर्ती, गजसुकुमार, सनत्कुमार व मरुदेवी के नाम बतलाये गये हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों को छोड़ बीच के २२ तीर्थंकर चातुर्याम धर्मके प्रज्ञापक कहे गये हैं। आजीविको का चार प्रकार का तप कहा गयाहै-उग्रतप, घोरतप,रसनिर्यूयणता और जिह्वेन्द्रिय प्रतिसंलीनता। शूरवीर चार प्रकार के बतलाये गये हैं-क्षमासूर, तपसूर, दानशूर और युद्धशूर। आचार्य वृक्षों के समान चार प्रकार के बतलाये गये हैं, और उनके लक्षण भी चार गाथाओं द्वारा प्रगट किये गये हैं। कोई आचार्य और उसका शिष्य-परिवार दोनों शालवृक्षके समान महान् और सुन्दर होतेहैं कोई आचार्य तो शाल वृक्षके समान होते है, किन्तु उनका शिष्य-समुदाय एरंड के समान होता हैं। किसी आचार्य का शिष्य-समुदाय तो शालवृक्ष के समान महान् होता है, किन्तु स्वयं आचार्य एरंड के समान खोखला; और कहीं आचार्य और उनका शिष्य-समुदाय दोनों एरंड के समान खोखले होते हैं। सप्तस्वरों के प्रसंग से प्रायः गीतिशास्त्र का पूर्ण निरूपण आ गया है। यहां भणिति-बोली दो प्रकार की कही गई है-संस्कृत और प्राकृत। महावीर के तीर्थ में हुए बहुरत आदि सात निन्हवों और जामालि आदि उनके संस्थापक आचार्यों एवं उनके उत्पत्ति-स्थान श्रावस्ती आदि नगरियों का उल्लेख भी आया है। महावीर के तीर्थ में जिन नौ पुरुषों ने तीर्थंकर गोत्र का बंध किया उनके नाम इस प्रकार हैं-श्रेणिक, सुपार्श्व, उदायी, प्रोष्ठिल, दृढ़ायु, शंख, सजग या शतक (समय), सुलसा और रेवती । इस प्रकार इस श्रुतांग में नाना प्रकार का विषय-वर्णन प्राप्त होता है जो अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

४ **समवायांग**—इस श्रुतांग में २७५ सूत्र हैं। अन्य कोई स्कंध, अध्ययन या उद्देशक आदि रूपसे विभाजन नहीं हैं। स्थानांग के अनुसार यहां भी संख्या के क्रम से वस्तुओं का निर्देश और कहीं कहीं उनके स्वरूप व भेदोपभेदोंका वर्णन किया गया है। आत्मा एक है; लोक एक है; धर्म अधर्म एक-एक हैं; इत्यादि क्रम के २,३,४, वस्तुओं को गिनाते हुए १७८ वें सूत्रमें १०० तक संख्या पहुंची है, जहां बतलाया गया है कि

शतभिषा नक्षत्र में १०० तारे हैं, पार्श्व अरहंत तथा सुधर्माचार्य की पूर्णायु सौ वर्ष की थी, इत्यादि। इसके पश्चात् २००, ३०० आदि क्रम से वस्तु-निर्देश आगे बढ़ा है। और यहां कहा गया है कि श्रमण भगवान् महावीर के तीन सौ शिष्य १४ पूर्वों के ज्ञाता थे, और ४०० वादी थे। इसी प्रकार शतक्रम से १६१ वें सूत्र पर संख्या दस सहस्र पर पहुंच गई है। तत्पश्चात् संख्या शतसहस्र (लाख) के क्रमसे बढ़ी है, जैसे अरहन्त पार्श्व के तीन शत-सहस्र और सत्ताईस सहस्र उत्कृष्ट श्राविका संघ था। इस प्रकार २०८ वें सूत्रतक दशशत-सहस्र पर पहुंचकर आगे कोटि क्रमसे कथन करते हुए २१० वें सूत्रमें भगवान् ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान तक का अन्तर काल एक सागरोपम कोटाकोटि निर्दिष्ट किया गया है। तत्पश्चात् २११ वें से २२७ वें सूत्र तक आचारांग आदि बारहों अंगों के विभाजन और विषयका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यहां इन रचनाओं को द्वादशांग गणिपिटक कहा गया है। इसके पश्चात् जीवराशि का विवरण करते हुए स्वर्ग और नरक भूमियों का वर्णन पाया जाता है। २४६ वें सूत्र से अन्त के २७५ वें सूत्रतक कुलकरों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, तथा बलदेव और वासुदेवों एवं उनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेवों) का उनके पिता, माता, जन्मनगरी, दीक्षास्थान आदि नामावली-क्रम से विवरण किया गया है। इस भाग को हम संक्षिप्त जैन पुराण कह सकते हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि सूत्र क्र० १३२ में उत्तम (शलाका) पुरुषों की संख्या ५४ निर्दिष्ट की गई है, ६३ नहीं, अर्थात् नौ प्रतिवासुदेवों को शलाका पुरुषों में सम्मिलित नहीं किया गया। ४६ संख्या के प्रसंग में दृष्टिवाद अंग के मातृकापदों तथा ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृका अक्षरों का उल्लेख हुआ है। सूत्र १२४से१३०वें सूत्र तक मोहनीय कर्म के ५२ पर्यायवाची नाम गिनाये गये हैं, जैसे क्रोध, कोप, रोष, द्वेष, अक्षम, संज्वलन कलह, आदि। अनेक स्थानों में (सू० १४१,१६२) ऋषभ अरहंत को कोशलीय विशेषण लगाया गया है, जो उनके कोशल देशवासी होने का सूचक है। इसी महावीर के साथ जो अन्यत्र 'वेसालीय' विशेषण लगा पाया जाता है, उससे उनके वैशाली के नागरिक होने की पुष्टि होती है। १५० वें सूत्र में लेख, गणित, रूप, नाट्य, गीत, वादित्र आदि बहत्तर कलाओं के नाम निर्दिष्ट हुए हैं। इस प्रकार जैन सिद्धान्त व इतिहास की परम्परा के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग महत्वपूर्ण है। अधिकांश रचना गद्य रूप है, किन्तु बीच बीच में नामावलियां व अन्य विवरण गाथाओं द्वारा भी प्रस्तुत हुए हैं।

५ भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति (वियाह-पण्णत्ति)—इस संक्षेप में केवल भगवती नाम से भी उल्लिखित किया जाता है। इसमें ४१ शतक हैं और प्रत्येक शतक अनेक उद्देशकों में विभाजित है। आदि के आठ शतक, तथा १२-१४, तथा १८-२० ये १४ शतक १०, १० उद्देशकों में विभाजित हैं। शेष शतकों में उद्देशकों की संख्या हीनाधिक पाई जाती है। पन्द्रहवें शतक में उद्देसक-भेद नहीं है। यहाँ मंखलिगोशाल का चरित्र एक स्वतंत्र ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। कहीं कहीं उद्देशक संख्या विशेष प्रकार के विभागानुसार गुणित क्रम से बतलाई गई है; जैसे ४१ वें शतक में २८ प्रकार की प्ररूपणा के गुणा मात्र से उद्देशकों की संख्या १९६ हो गई है। ३३ वें शतक में १२ अवान्तर शतक हैं, जिनमें प्रथम आठ, ग्यारह के गुणित क्रम से ८८ उद्देशकों में, एवं अन्तिम चार, नौ उद्देशकों के गुणित क्रम से ३६ होकर सम्पूर्ण उद्देशकों की संख्या १२४ हो गई है। इस समस्त रचना का सूत्र-क्रम से की विभाजन पाया जाता है, जिसके अनुसार कुल सूत्रों की संख्या ८६७ है। इस प्रकार यह अन्य श्रुतांगों की अपेक्षा बहुत विशाल है। इसकी वर्णन शैली प्रश्नोत्तर रूप में है। गौतम गणधर जिज्ञासा-भाव से प्रश्न करते हैं, और स्वयं तीर्थंकर महावीर उत्तर देते हैं। टीकाकार अभयदेव ने इन प्रश्नोत्तरों की संख्या ३६००० बतलाई है। प्रश्नोत्तर कहीं बहुत छोटे छोटे हैं। जैसे भगवन् ज्ञान का फल क्या है?—विज्ञान। विज्ञान का क्या फल है? प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का क्या फल है? संयम; इत्यादि। और कहीं ऐसे बड़े कि प्रायः एक ही प्रश्न के उत्तर में मंखलिगोशाल के चरित्र सम्बन्धी पन्द्रहवाँ शतक ही पूरा हो गया है। इन प्रश्नोत्तरों में जैन सिद्धान्त व इतिहास तथा अन्य सामयिक घटनाओं व व्यक्तियों का इतना विशाल संकलन हो गया है कि इस रचना को प्राचीन जैन-कोष ही कहा जाय तो अनुचित नहीं। स्थान स्थान पर विवरण अन्य ग्रन्थों, जैसे पण्णवणा, जीवाभिगम, उववाइय, रायपसेणिज्ज, णंदी आदि का उल्लेख करके संक्षिप्त कर दिया गया है, और इस प्रकार उद्देशक के उद्देशक भी समाप्त कर दिये गये हैं। ये उल्लिखित रचनायें निश्चय ही ग्यारह श्रुतांगों से पश्चात्-कालीन हैं। नंदीसूत्र तो वल्लभी वाचना के नायक देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की ही रचना मानी जाती है। उसका भी इस ग्रन्थ में उल्लेख होने से, तथा यहाँ के विषय-विवरण को उसे देखकर पूर्ण कर लेने की सूचना से यह प्रमाणित होता है कि इस श्रुतांग को अपना वर्तमान रूप, नंदीसूत्र की रचना के पश्चात् अर्थात् वीर० निर्वाण से लगभग १००० वर्ष पश्चात् प्राप्त हुआ है। यही बात प्रायः अन्य श्रुतांगों के सम्बन्ध में भी घटित

होती है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि विषय-वर्णन प्राचीन है, और आचार्य-परम्परागत है। इसमें हमें महावीर के जीवन के अतिरिक्त उनके अनेक शिष्यों गृहस्थ-अनुयायियों तथा अन्य तीर्थकों का परिचय मिलता है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक मंखलि गोशाल के जीवन का जितना विस्तृत परिचय यहां मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। स्थान-स्थान पर पार्श्वापत्यों अर्थात् पार्श्वनाथ के अनुयाइयों, तथा उनके द्वारा मान्य चातुर्याम धर्म के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि महावीर के समय में यह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्वतंत्र रूप से प्रचलित था। उसका महावीर द्वारा प्रतिपादित पंचमहाव्रत रूप धर्म से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था, एवं उसका क्रमशः महावीर के सम्प्रदाय में समावेश होना प्रारम्भ हो गया था। ऐतिहासिक व राजनैतिक दृष्टि से सातवें शतक में उल्लिखित, वैशाली में हुए महाशिलाकण्टक संग्राम तथा रथ-मुसल संग्राम, इन दो महायुद्धों का वर्णन अपूर्व है। कहा गया है कि इन युद्धों में एक ओर वज्जी एवं विदेहपुत्र थे, और दूसरी ओर नौ मल्लकी, नौ लिच्छवी,काशी, कौशल एवं अठारह गणराजा थे। इन युद्धों में वज्जी, विदेहपुत्र कुणिक (अजातशत्रु) की विजय हुई। प्रथम युद्ध में ८४ और दूसरे युद्ध में ९६ लाख लोग मारे गये। २१, २२ और २३ वें शतक वनस्पति शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। यहां नानाप्रकार से वनस्पति का वर्गीकरण किया गया है; एवं उनके कंद, मूल, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज के सजीवत्व, निर्जीवत्व की दृष्टि से विचार किया गया है।

६. ज्ञातृधर्म कथा (णायाधम्मकहाओ)— यह आगम दो श्रुतस्कंधों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कंध में १९ अध्याय हैं। इसके नामकी सार्थकता दो प्रकार से समझाई जाती है। एक तो संस्कृत रूपान्तर ज्ञातृधर्मकथा के अनुसार, जिससे प्रगट होता है कि श्रुतांग में ज्ञातृ अर्थात् ज्ञातृपुत्र महावीर के द्वारा उपदिष्ट धर्म-कथाओं का प्ररूपण है। दूसरा संस्कृत रूपान्तर न्यायधर्मकथा भी सम्भव है, जिसके अनुसार इसमें न्यायों अर्थात् ज्ञान व नीति संबंधी सामान्य नियमों और उनके दृष्टान्तों द्वारा समझाने वाली कथाओं का समावेश है। रचना के स्वरूप को देखते हुए यह द्वितीय संस्कृत रूपान्तर ही उचित प्रतीत होता है, यद्यपि प्रचलित नाम ज्ञातृधर्मकथा पाया जाता है। प्रथम अध्ययन में राजगृह के नरेश श्रेणिक के धारिणी देवी से उत्पन्न राजपुत्र मेघकुमार का कथानक है। जब राजकुमार वैभवानुसार बालकपन को व्यतीत कर, व समस्त विद्याओं और कलाओं को सीखकर युवावस्था

को प्राप्त हुआ, तब उसका अनेक राजकन्याओं से विवाह हो गया। एकबार महावीर के उपदेश को सुनकर मेघकुमार को मुनिदीक्षा धारण करने की इच्छा हुई। माता ने बहुत कुछ समझाया, किन्तु राजकुमार नहीं माना और उसने प्रव्रज्या ग्रहण करली। मुनि-धर्म पालन करते हुए एकबार उसके हृदय में कुछ क्षोभ उत्पन्न हुआ, और उसे प्रतीत हुआ जैसे मानों उसने राज्य छोड़, मुनि दीक्षा लेकर भूल की है। किन्तु जब महावीर ने उसके पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाकर समझाया, तब उसका चित्त पुनः मुनिधर्म में दृढ़ हो गया। इसी प्रकार अन्य अन्य अध्ययनों मे भिन्न भिन्न कथानक तथा उनके द्वारा तप, त्याग व संयम संबंधी किसी नीति व न्याय की स्थापना की गई है। आठवें अध्ययन में विदेह राजकन्या मल्लि एवं सोलहवें अध्ययन के द्रौपदी के पूर्व जन्म की कथा विशेष ध्यान देने योग्य है। व्रतकथाओं में सुप्रचलित सुगंध-दशमी कथा का मूलाधार द्रौपदी के पूर्वभव में नागश्री व सुकुमालिका का चरित्र सिद्ध होता है। द्वितीय श्रुतस्कंध दश वर्गों में विभाजित है, और प्रत्येक वर्ग पुनः अनेक अध्ययनों में विभक्त है। इन वर्गो में प्रायः स्वर्गों के इन्द्रों जैसे चमरेन्द्र, असुरेन्द्र, वाणव्यंतरेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, शक्र व ईशान की अग्रमहिषी रूपसे उत्पन्न होने वाली पुण्यशाली स्त्रियों की कथाएं है। तीसरे वर्ग मे देवकी के पुत्र गजसुकुमाल का कथानक विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि यह कथानक पीछे के जैन साहित्य में पल्लवित होकर अवतरित हुआ है। यही कथानक हमें पालि महावग्ग में यस पव्बज्जा के रूप में प्राप्त होता है।

७ : उपासकाध्ययन (उवासगदसाओ)—इस श्रुतांग मे, जैसा नाम मे ही सूचित किया गया है, दश अध्ययन हैं; और उनमें क्रमशः आनंद, कामदेव, चुलनीप्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकोलिय, सद्दालपुत्र, महाशतक, नंदिनीप्रिय और सालिहीप्रिय इन दस उपासकों के कथानक हैं। इन कथानकों के द्वारा जैन गृहस्थों के धार्मिक नियम समझाये गये है, और यह भी बतलाया गया है कि उपासकों को अपने धर्म के परिपालन में कैसे कैसे विघ्नों और प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है। प्रथम आनन्द अध्ययन में पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों – इन बारह व्रतों तथा उनके अतिचारों का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। इनका विधिवत् पालन वाणिज्य ग्राम के जैन गृहस्थ आनंद ने किया था। आनंद बड़ा धनी गृहस्थ था, जिसकी धन-धान्य संपत्ति करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं की थी। आनंद ने स्वयं भगवान् महावीर से गृहस्थ-व्रत लेकर अपने समस्त परिग्रह और भोगोपभोग के परिमाण को सीमित किया था। उसने क्रमशः अपनी धर्मसाधना को बढ़ाकर बीस

वर्ष में इतना अवधिज्ञान प्राप्त किया था कि उसके विषय में गौतम गणधर को कुछ शंका हुई, जिसका निराकरण स्वयं भगवान् महावीर ने किया। इस कथानक के अनुसार वाणिज्य ग्राम और कोल्लाग संनिवेश पास-पास थे। कोल्लाग सन्निवेश में ज्ञातृकुल की प्रोषधशाला थी, जहां का कोलाहल वाणिज्य ग्राम तक सुनाई पड़ता था। वैशाली के समीप जो बनिया और कोल्हुआ नामक वर्तमान ग्राम हैं, वे ही प्राचीन वाणिज्य ग्राम और कोल्लाग सन्निवेश सिद्ध होते हैं। अगले चार अध्ययनों में धर्म के परिपालन में बाहर से कैसी-कैसी विघ्नबाधाएं आती हैं, इनके उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। द्वितीय अध्ययन में एक मिथ्यादृष्टि देव ने पिशाच आदि नाना रूप धारण कर, कामदेव उपासक को अपनी साधना छोड़ देने के लिये कितना डराया धमकाया, इसका सुन्दर चित्रण किया गया है। ऐसा ही चित्रण तीसरे, चौथे और पांचवें अध्ययनों में भी पाया जाता है। छठवें अध्ययन में उपासक के सम्मुख गोशाल मंखलिपुत्र के सिद्धान्तों का एक देव के व्याख्यान द्वारा उसकी धार्मिक श्रद्धा को डिगाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु वह अपने श्रद्धान में दृढ़ रहता है तथा अपने प्रत्युत्तरों द्वारा प्रतिपक्षी को परास्त कर देता है। इस समाचार को जानकर महावीर ने उसकी प्रशंसा की। उक्त प्रसंग में गोशाल मंखलिपुत्र के नियतिवादका प्ररूपण किया गया है। सातवें अध्ययन में भगवान् महावीर आजीवक सम्प्रदाय के उपासक सद्दालपुत्र को सम्बोधन कर अपना अनुगामी बना लेते हैं। (यहां महावीर को उनकी विविध महाप्रवृत्तियों के कारण महाब्राह्मण, महागोप, महासार्थवाह, महाधर्मकथिक, व महानिर्यापक उपाधियां दी गई हैं) । तत्पश्चात् उसके सम्मुख पूर्वोक्त प्रकार का दैवी उपसर्ग उत्पन्न होता है, किन्तु वह अपने श्रद्धान में अडिग बना रहता है, और अन्त तक धर्म पालन कर स्वर्गगामी होता है। आठवें अध्ययन में उपासक को उसकी अधार्मिक व मांसलोलुपी पत्नी द्वारा धर्म-बाधा पहुंचाई जाती है। अन्त के कथानक बहुत संक्षेप में शांतिपूर्वक धर्मपालन के उदाहरण रूप कहे गये हैं। ग्रन्थ के अन्त की बारह गाथाओं में उक्त दशों कथानकों के नगर आदि के उल्लेखों द्वारा सार प्रगट कर दिया गया है। इस प्रकार यह श्रुतांग आचारांग का परिपूरक है, क्योंकि आचारांग में मुनिधर्म का और इसमें गृहस्थ धर्म का निरूपण किया गया है। आनंद आदि महासम्पत्तिवान् गृहस्थों का जीवन कैसा था, इसका परिचय इस ग्रन्थ से भलीभांति प्राप्त होता है।

८ : अन्तकृद्दशा—(अंतगडदसाओ)—इस श्रुतांग में आठ वर्ग हैं, जो क्रमशः १०, ८, १३, १०, १०, १६, १३, और १० अध्ययनों में विभाजित हैं। इनमें ऐसे

महापुरुषों के कथानक उपस्थित किये गये हैं, जिन्होंने घोर तपस्या कर अन्त में निर्वाण प्राप्त किया, और इसी के कारण वे अन्तकृत् कहलाये। यहाँ कोई कथानक अपने रूप में पूर्णता से वर्णित नही पाया जाता। अधिकांश वर्णन अन्यत्र के वर्णनानुसार पूरा कर लेने की सूचना मात्र करदी गई है। उदाहरणार्थ, प्रथम अध्ययन में गौतम का कथानक द्वारावती नगरी के राजा अंधकवृष्णि की रानी धारणी देवी की सुप्तावस्था तक वर्णन कर, कह दिया गया है कि यहाँ स्वप्न-दर्शन, पुत्र-जन्म, उसका बालकपन, कला-ग्रहण, यौवन, पाणिग्रहण, विवाह, प्रासाद और भोगों का वर्णन जिस प्रकार महाबल की कथा में अन्यत्र (भगवती में) किया गया है, उसी प्रकार यहाँ कर लेना चाहिये। आगे तो अध्ययन के अध्ययन केवल आख्यान के नायक या नायिका का नामोल्लेख मात्र करके शेष समस्त वर्णन अन्य आख्यान द्वारा पूरा कर लेने की सूचना देकर समाप्त कर दिये गये हैं। इस श्रुतांग के नाम पर से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें उवासगदसाओ के समान मूलतः दस ही अध्याय रहे होंगे। पश्चात् पल्लवित होकर ग्रन्थ को उसका वर्तमान रूप प्राप्त हुआ।

९ : अनुत्तरोपपातिक दशा (अणुत्तरोवाइय दसाओ)—इस श्रुतांग में कुछ ऐसे महापुरुषों का चरित्र वर्णित है, जिन्होंने अपनी धर्म-साधना के द्वारा मरणकर उन अनुत्तर-स्वर्ग विमानों में जन्म लिया जहाँ से पुनः केवल एक बार ही मनुष्य योनि में आने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह श्रुतांग तीन वर्गों में विभाजित है। प्रथम वर्ग में १०, द्वितीय में १३ व तृतीय में १० अध्ययन हैं। किन्तु इनमें चरित्रों का उल्लेख केवल सूचना मात्र से कर दिया गया है। केवल प्रथम वर्ग में धारणीपुत्र जाली तथा तीसरे मे भद्रापुत्र धन्य का चरित्र कुछ विस्तार से वर्णित है। उल्लिखित ३३ अनुत्तरविमानगामी पुरुषों में से प्रथम २३ राजा श्रेणिक की धारणी, चेलना व नंदा, इन तीन रानियों से उत्पन्न कहे गये हैं। और अन्त के धन्य आदि दस काकन्दी नगरी की सार्थवाही भद्रा के पुत्र। तीसरे वर्ग के प्रथम अध्ययन में धन्य की कठोर तपस्या और उसके कारण उसके अंग प्रत्यंगों की क्षीणता का बड़ा मार्मिक और विस्तृत वर्णन किया गया है। यह वर्णन पालि ग्रंथों में बुद्ध की तप से उत्पन्न देह-क्षीणता का स्मरण कराता है।

१० प्रश्न व्याकरण (पण्ह-वागरण)—यह श्रुतांग दो खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में पाँच आस्रवद्वारों का वर्णन है, और दूसरे में पाँच संवरद्वारों का पाँच आस्रवद्वारों में हिंसादि पाँच पापों का विवेचन है, और संवरद्वारों में उन्हीं के निषेध रूप अहिंसादि व्रतों का। इस प्रकार इसमें उक्त व्रतों का सुव्यवस्थित

वर्णन पाया जाता है। किन्तु इस विषय-वर्णन में श्रुतांग के नाम की सार्थकता का कोई पता नहीं चलता। स्थानांग, समवायांग तथा नन्दीसूत्र में जो इस श्रुतांग का विषय-परिचय दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि मूलतः इसमें स्वसमय और परसमय सम्मत नाना विद्याओं व मंत्रों आदि का प्रश्नोत्तर रूप से विवेचन किया गया था, किन्तु यह विषय प्रस्तुत ग्रन्थ में अब प्राप्त नहीं होता।

११ : विपाक सूत्र (विवाग सुयं) — इस श्रुतांग में दो श्रुतस्कंध हैं, पहला दुःख-विपाक विषयक और दूसरा सुख-विपाक विषयक। प्रथम श्रुतस्कंध दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ा है। प्रत्येक में दस-दस अध्ययन हैं, जिनमें क्रमशः जीव के कर्मानुसार दुःख और सुख रूप कर्मफलों का वर्णन किया गया है। कर्म-सिद्धान्त जैन धर्म का विशेष महत्वपूर्ण अंग है। उसके उदाहरणों के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। यहाँ लकड़ी टेककर चलते हुए व भिक्षा मांगते हुए कहीं एक अन्धे मनुष्य का दर्शन होगा, कहीं श्वास, कफ, भगंदर, अर्श, खाज, यक्ष्मा व कुष्ट आदि से पीड़ित मनुष्यों के दर्शन होंगे। नाना व्याधियों के औषधि-उपचार का विवरण भी मिलता है। गर्भिणी स्त्रियों के दोहले, भ्रूण-हत्या, नरबलि, क्रूर दमनानुचित दंड, वेश्याओं के प्रलोभनों, नाना प्रकार के मांस संस्कारों, पकाने की विधि आदि के वर्णन भी यहाँ मिलते हैं। उनके द्वारा हमें प्राचीन काल की नाना सामाजिक विधियों, मान्यताओं एवं अन्धविश्वासों का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार सामाजिक अध्ययन के लिये यह श्रुतांग महत्वपूर्ण है।

१२ : दृष्टिवाद (दिट्ठिवाद) — यह श्रुतांग अब नहीं मिलता। समवायांग के अनुसार इसके पांच विभाग थे — परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। इन पांचों के नाना भेद-प्रभेदों के उल्लेख पाये जाते हैं, जिनपर विचार करने से प्रतीत होता है कि परिकर्म के अन्तर्गत लिपि-विज्ञान और गणित का विषय था। सूत्र के अन्तर्गत छिन्न-छेद नय, अछिन्न-छेद नय, त्रिक नय, व चतुर्नय की परिपाटियों का विवरण था। छिन्न छेद व चतुर्नय परिपाटियां निर्ग्रन्थों की एवं अछिन्न छेद नय और त्रिक नय परिपाटियां आजीविकों की थीं। पीछे इन सबका समावेश जैन नयवाद में हो गया। दृष्टिवाद का पूर्वगत विभाग सबसे अधिक विशाल और महत्वपूर्ण रहा है। इसके अन्तर्गत उत्पाद, अग्रायणी, वीर्यप्रवाद आदि वे १४ पूर्व थे जिनका परिचय ऊपर कराया जा चुका है। अनुयोग नामक दृष्टिवाद के चतुर्थ भेद के मूलप्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग — ये दो भेद बतलाये गये हैं। प्रथम में अरहन्तों के गर्भ, जन्म, तप ज्ञान और निर्वाण संबंधी इतिवृत्त समाविष्ट

किया गया था, और दूसरे में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि अन्य महापुरुषों के चरित्र का। इस प्रकार अनुयोग को प्राचीन जैन पुराण कहा जा सकता है। दिग० जैन परम्परा में इस भेद का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है। पंचम भेद चूलिका के संबंध में समवायांग में केवल यह सूचना पाई जाती है कि प्रथम चार पूर्वों की जो चूलिकाएँ गिनाई गई हैं, वे ही यहाँ समाविष्ट समझना चाहिये। किन्तु दिग० परम्परा में चूलिका के पाँच भेद गिनाये गये हैं, जिनके नाम हैं— जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत। इन नामों पर से प्रतीत होता है कि उनका विषय इन्द्रजाल और मन्त्र-तन्त्रात्मक था, जो जैन धर्म की तात्त्विक और समीक्षात्मक दृष्टि के आगे स्वभावतः अधिक काल तक नहीं टिक सका।

उपांग-१२

उपर्युक्त श्रुतांगों के अतिरिक्त वल्लभी वाचना द्वारा १२ उपांगों, ६ छेद सूत्रों, ४ मूल सूत्रों, १० प्रकीर्णकों और २ चूलिका सूत्रों का भी संकलन किया गया था। (१) प्रथम उपांग औपपातिक में नाना विचारों, भावनाओं और साधनाओं से मरने वाले जीवों का पुनर्जन्म किस प्रकार होता है, इसका उदाहरणों सहित व्याख्यान किया गया है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि यहां नगरों, चैत्यों, राजाओं व रानियों आदि के वर्णन संपूर्ण रूप में पाये जाते हैं, जिनका वर्णन अन्य श्रुतांगों में इसी ग्रन्थ का उल्लेख देकर छोड़ दिया जाता है।

(२) दूसरे उपांग का नाम 'राय-पसेणियं' है, जिसका सं० रूपान्तर 'राजप्रश्नीय' किया जाता है, क्योंकि इसका मुख्य विषय राजा पएसी (प्रदेशी) द्वारा किये गये प्रश्नों का केशी मुनि द्वारा समाधान है। आश्चर्य नहीं जो इस ग्रन्थ का यथार्थ नायक कोशल का इतिहास-प्रसिद्ध राजा पसेंडी (सं० प्रसेनजित्) रहा हो, जिसके अनुसार ग्रन्थ के नामका ठीक सं० रूपान्तर 'राज-प्रसेनजित् सूत्र' होना चाहिये। इसके प्रथम भाग में तो सूर्याभदेव का वर्णन है, और दूसरे भाग में इस देव के पूर्व जन्म का वृत्तान्त है, जब कि सूर्याभ का जीव राजा प्रदेशी के रूप में पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनि केशी से मिला था, और उनसे आत्मा की सत्ता व उसके स्वरूप के संबंध में नाना प्रकार से अपने भौतिकवाद की दृष्टि से प्रश्न किये थे। अन्त में केशी मुनि के उपदेश से वह सम्यग्दृष्टि बन गया और उसी के प्रभाव से दूसरे जन्म में महासमृद्धिशाली सूर्याभ देव हुआ। यह ग्रन्थ जड़वाद और अध्यात्मवाद

की प्राचीन परम्पराओं के अध्ययन के लिये तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है।

(३) तीसरे उपांग जीवाजीवाभिगम में २० उद्देश थे, किन्तु उपलभ्य संस्करण में नौ प्रतिपत्तियाँ (प्रकरण) हैं, जिनके भीतर २७२ सूत्र हैं। इसमें नामानुसार जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विवरण महावीर और गौतम के बीच प्रश्नोत्तर रूप से उपस्थित किया गया है। तीसरी प्रतिपत्ति में द्वीप-सागरों का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। यहाँ प्रसंगवश लोकोत्सवों, यानों, अलंकारों व मिष्टान्नों आदि के उल्लेख भी आये हैं, जो प्राचीन लोक-जीवन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

(४) चौथे उपांग प्रज्ञापना (पण्णवणा) में छत्तीस पद (परिच्छेद) हैं, जिनमें क्रमशः जीव से संबंध रखनेवाले प्रज्ञापना, स्थान, बहुवक्तव्य, स्थिति एवं पर्याय, इन्द्रिय, लेश्या, कर्म, उपयोग, वेदना, समुद्घात आदि विषयों का प्ररूपण है। जैन दर्शन की दृष्टि से यह रचना बड़ी महत्वपूर्ण है। जो स्थान अंगों में भगवती सूत्र को प्राप्त है, वही उपांगों में इस सूत्र को दिया जा सकता है, और उसे भी उसी के अनुसार जैन सिद्धान्त का ज्ञानकोष कहा जा सकता है। इस रचना में इसके कर्ता आर्य श्याम का भी उल्लेख पाया जाता है, जिनका समय सुधर्म स्वामीसे २३ वीं पीढ़ी वीर नि० के ३७६ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व दूसरी शताब्दी सिद्ध होता है।

(५) पांचवां उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरियपण्णत्ति) में २० पाहुड हैं, जिनके अन्तर्गत १०८ सूत्रों में सूर्य तथा चन्द्र व नक्षत्रों की गतियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष संबंधी मान्यताओं के अध्ययन के लिये यह रचना विशेष महत्वपूर्ण है।

(६) छठा उपांग जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति (जम्बूदीवपण्णत्ति) है। इसके दो विभाग हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। प्रथम भाग के चार वक्षस्कारों (परिच्छेदों) में जम्बूद्वीप और भरत क्षेत्र तथा उसके पर्वतों, नदियों आदि का एवं उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल-विभागों का तथा कुलकरों, तीर्थंकरों और चक्रवर्ती आदि का वर्णन है।

(७) सातवां उपांग चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपण्णत्ति) अपने विषय-विभाजन व प्रतिपादन में सूर्यप्रज्ञप्ति से अभिन्न है। मूलतः ये दोनों अवश्य अपने-अपने विषय में भिन्न रहे होंगे, किन्तु उनका मिश्रण होकर वे प्रायः एक से हो गये हैं।

(८) आठवें उपांग कल्पिका (कप्पिया) में १० अध्ययन हैं, जिनमें कुणिक अजातशत्रु के अपने पिता श्रेणिक बिंबिसार को बंदीगृह में डालने, श्रेणिक की आत-

हत्या तथा कुणिक का वैशाली नरेश चेटक के साथ युद्ध का वर्णन है, जिनसे मगध के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

(६) नौवें उपांग कल्पावतंसिका (कप्पावडंसियाओ) में श्रेणिक के दस पौत्रों की कथाएं हैं, जो अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्गगामी हुए।

(१०-११) दसवें व ग्यारहवें उपांग पुष्पिका (पुप्फियाओ) और पुष्पचूला (पुप्फ-चूलाओ) में १०-१० अध्ययन हैं, जिनमे ऐसे पुरुष-स्त्रियों की कथाएं हैं जो धार्मिक साधनाओं द्वारा स्वर्गगामी हुए, और देवता होकर अपने विमानों द्वारा महावीर की वंदना करने आये।

(१२) बारहवें अंतिम उपांग वृष्णिदशा (वण्हिदसा) में बारह अध्ययन हैं, जिनमें द्वारावती (द्वारिका) के राजा कृष्ण वासुदेव का बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रैवतक पर्वत पर विहार या एवं वृष्णि वंशीय बारह राजकुमारों के दीक्षित होने का वर्णन पाया जाता है।

आठ से बारह तक के पाँच उपांग सामूहिक रूप से निरयावलियाओं भी कहलाते हैं, और उनमें उन्हे उपांग नाम से निर्दिष्ट भी किया गया है। आश्चर्य नही जो आदितः ये ही पांच उपांग रहे हों और वे अपने विषयानुसार अंगों से सम्बन्ध हों। पीछे द्वादशांग की देखादेखी उपागों की संख्या बारह तक पहुँचा दी गई हो।

छेदसूत्र—६

छह छेदसूत्रों के नाम क्रमशः (१) निशीथ, (निसीह) (२) महानिशीथ (महा-निसीह) (३) व्यवहार (विवहार) (४) आचारदशा (आचारदसा) (५) कल्पसूत्र (कप्पसुत्त) और (६) पंचकल्प (पंचकप्प) या जीतकल्प (जीतकप्प) हैं, जिनमें बड़े विस्तार के साथ जैन मुनियों की बाह्य और आभ्यन्तर साधनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है, और विशेष नियमो के भंग होने पर समुचित प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है, प्रसंगवश यहाँ नाना तीर्थंकरों व गणधरों सम्बन्धी घटनाओं के उल्लेख भी आये हैं। इन रचनाओं में कल्पसूत्र विशेष रूप से प्रसिद्ध है, और साधुओं में उसके पठन-पाठन की परम्परा आजतक विशेष रूप से सुप्रचलित है। मुनियों के वैयक्तिक व सामूहिक जीवन और उसकी समस्याओं का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये ये रचनाएं बड़े महत्व की हैं।

मूलसूत्र—४

चार मूल सूत्रों के नाम हैं—उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयण), आवश्यक

की प्राचीन परम्पराओं के अध्ययन के लिये तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है।

(३) तीसरे उपांग जीवाजीवाभिगम में २० उद्देश थे,किन्तु उपलभ्य संस्करण में नौ प्रतिपत्तियाँ (प्रकरण) हैं, जिनके भीतर २७२ सूत्र हैं। इसमें नामानुसार जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विवरण महावीर और गौतम के बीच प्रश्नोत्तर रूप से उपस्थित किया गया है। तीसरी प्रतिपत्ति में द्वीप-सागरों का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। यहाँ प्रसंगवश लोकोत्सवों, यानों, अलंकारों व मिष्टान्नों आदि के उल्लेख भी आये हैं, जो प्राचीन लोक-जीवन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

(४) चौथे उपांग प्रज्ञापना (पण्णवणा) में छत्तीस पद (परिच्छेद) हैं, जिनमें क्रमशः जीव से संबंध रखनेवाले प्रज्ञापना, स्थान, बहुवक्तव्य, स्थिति एवं कषाय, इन्द्रिय, लेश्या, कर्म, उपयोग, वेदना, समुद्घात आदि विषयों का प्ररूपण है। जैन दर्शन की दृष्टि से यह रचना बड़ी महत्वपूर्ण है। जो स्थान अंगों में भगवती सूत्र को प्राप्त है, वही उपांगों में इस सूत्रको दिया जा सकता है, और उसे भी उसी के अनुसार जैन सिद्धान्त का ज्ञानकोष कहा जा सकता है। इस रचना में इसके कर्त्ता आर्य श्याम का भी उल्लेख पाया जाता है, जिनका समय सुधर्म स्वामीसे २३ वीं पीढ़ी वीर नि० के ३७६ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व दूसरी शताब्दी सिद्ध होता है।

(५) पांचवां उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरियपण्णत्ति) में २० पाहुड हैं, जिनके अन्तर्गत १०८ सूत्रों में सूर्य तथा चन्द्र व नक्षत्रों की गतियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष संबंधी मान्यताओं के अध्ययन के लिये यह रचना विशेष महत्वपूर्ण है।

(६) छठा उपांग जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति (जम्बूदीवपण्णत्ति है। इसके दो विभाग हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। प्रथम -भाग के चार वक्खकारों (परिच्छेदों) में जम्बूद्वीप और भरत क्षेत्र तथा उसके पर्वतों, नदियों आदि का एवं उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल-विभागों का तथा कुलकरों, तीर्थंकरों और चक्रवर्ती आदि का वर्णन है।

(७) सातवां उपांग चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपण्णत्ति) अपने विषय-विभाजन व प्रतिपादन में सूर्यप्रज्ञप्ति से अभिन्न है। मूलतः ये दोनों अवश्य अपने-अपने विषय में भिन्न रहे होंगे, किन्तु उनका मिश्रण होकर वे प्रायः एक से हो गये हैं।

(८) आठवें उपांग कल्पिका (कप्पिया) में १० अध्ययन हैं, जिनमें कुणिक अजातशत्रु के अपने पिता श्रेणिक बिंबिसार को बंदीगृह में डालने, श्रेणिक की आत्म-

हत्या तथा कुणिक का वैशाली नरेश चेटक के साथ युद्ध का वर्णन है, जिनसे मगध के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

(९) नौवें उपांग कल्पावतंसिका (कप्पावडंसियाओ) में श्रेणिक के दस पौत्रों की कथाएं हैं, जो अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्गगामी हुए।

(१०-११) दसवें व ग्यारहवें उपांग पुष्पिका (पुप्फियाओ) और पुष्पचूला (पुप्फ-चूलाओ) में १०-१० अध्ययन हैं, जिनमें ऐसे पुरुष-स्त्रियों की कथाएं हैं जो धार्मिक साधनाओं द्वारा स्वर्गगामी हुए, और देवता होकर अपने विमानों द्वारा महावीर की वंदना करने आये।

(१२) बारहवें अंतिम उपांग वृष्णिदशा (वण्हिदसा) में बारह अध्ययन हैं, जिनमें द्वारावती (द्वारिका) के राजा कृष्ण वासुदेव का बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रैवतक पर्वत पर विहार का एवं वृष्णि वंशीय बारह राजकुमारों के दीक्षित होने का वर्णन पाया जाता है।

आठ से बारह तक के पाँच उपांग सामूहिक रूप से *निरयावलियाओं* भी कहलाते हैं, और उनमें उन्हे उपांग नाम से निर्दिष्ट भी किया गया है। आश्चर्य नहीं जो आदितः ये ही पाँच उपांग रहे हों और वे अपने विषयानुसार अंगों से सम्बन्द्ध हों। पीछे द्वादशांग की देखादेखी उपागो की संख्या बारह तक पहुँचा दी गई हो।

छेदसूत्र—६

छह छेदसूत्रों के नाम क्रमशः (१) निशीथ, (निसीह) (२) महानिशीथ (महा-निसीह) (३) व्यवहार (विवहार) (४) आचारदशा (आचारदसा) (५) कल्पसूत्र (कप्पसुत्त) और (६) पंचकल्प (पंचकप्प) या जीतकल्प (जीतकप्प) हैं, जिनमें बड़े विस्तार के साथ जैन मुनियों की बाह्य और आभ्यन्तर साधनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है, और विशेष नियमों के भंग होने पर समुचित प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है, प्रसंगवश यहाँ नाना तीर्थंकरों व गणधरों सम्बन्धी घटनाओं के उल्लेख भी आये हैं। इन रचनाओं में कल्पसूत्र विशेष रूप से प्रसिद्ध है, और साधुओं में उसके पठन-पाठन की परम्परा आजतक विशेष रूप से सुप्रचलित है। मुनियों के वैयक्तिक व सामूहिक जीवन और उसकी समस्याओं का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये ये रचनाएं बड़े महत्व की हैं।

मूलसूत्र—४

चार मूल सूत्रों के नाम हैं—उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयण), आवश्यक

(आवस्सय) दशवैकालिक (दसवेयालिय) और पिंडनिर्युक्ति (पिंडणिज्जुत्ति)। ये चारों सूत्र मुनियों के अध्ययन और चिन्तन के लिये विशेषरूप से महत्वपूर्ण माने गये हैं, क्योंकि उनमें जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों, विचारों व भावनाओं और साधनाओं का प्रतिपादन किया गया है। आवश्यक सूत्र में साधुओं की छह नित्यक्रियाओं अर्थात् सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाया गया है। पिंडनिर्युक्ति में अपने नामानुसार पिंड अर्थात् मुनिके ग्रहण योग्य आहार का विवेचन किया गया है। इसमें आठ अधिकार हैं—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण, जिनके द्वारा आहार में उत्पन्न होने वाले दोषों का विवेचन किया गया है, और उनके साधु द्वारा निवारण किये जाने पर जोर दिया गया है। निर्युक्ति आगमों पर सबसे प्राचीन टीकाओं को कहते हैं, और इनके कर्ता भद्रबाहु माने जाते हैं। पिंड-निर्युक्ति यथार्थतः दशवैकालिक के अंतर्गत पिंड-एषणा नामक पांचवें अध्ययन की इसी प्रकार की प्राचीन टीका है, जिसे अपने विषय के महत्व व विस्तार के कारण आगम में एक स्वतंत्र स्थान प्राप्त हुआ है। शेष दो मूलसूत्र अर्थात् उत्तराध्ययन और दशवैकालिक विशेष महत्वपूर्ण, सुप्रचलित और लोकप्रिय रचनायें हैं, जो भाषा, साहित्य एवं सिद्धान्त, तीनों दृष्टियों से अपनी विशेषता रखती हैं। उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन हैं। परम्परानुसार महावीर ने अपने जीवन के उत्तरकाल में निर्वाण से पूर्व ये उपदेश दिये थे। इन छत्तीस अध्ययनों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक सैद्धान्तिक, दूसरा नैतिक व सुभाषितात्मक, और तीसरा कथात्मक। इन तीनों प्रकार के विषयों का पश्चात्कालीन साहित्य में खूब अनुकरण व टीकाओं आदि द्वारा खूब पल्लवन किया गया है। दशवैकालिक सूत्र में बारह अध्ययन हैं, जिनमें विशेषतः मुनि-आचार का प्ररूपण किया गया है। ये दोनों रचनाएं बहुलता से पद्यात्मक हैं, और सुभाषितों, न्यायों व रूपकों से भरपूर हैं। इनकी भाषा आचारांग और सूत्रकृतांग के सदृश अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। इन दोनों सूत्रों का उल्लेख दिग० शास्त्रों में भी पाया जाता है।

प्रकीर्णक—१०

दसपइण्णा—नामक ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में टीकाकारों ने कहा है कि तीर्थंकर द्वारा दिये गये उपदेश के आधार पर नाना श्रमणों द्वारा जो ग्रन्थ लिखे गये, वे प्रकीर्णक कहलाये। ऐसे प्रकीर्णकों की संख्या सहस्रों बतलाई जाती है, किन्तु जिन

रचनाओं को वल्लभी वाचना के समय आगम के भीतर स्वीकृत किया गया वे दस हैं, जिनके नाम हैं—(१) चतुःशरण (चउसरण), (२) आतुर-प्रत्याख्यान (आउर पच्चक्खाण),(३)महाप्रत्याख्यान (महा-पच्चक्खाण),(४) भक्तपरिज्ञा,(भत्तपइण्णा), (५) तंदुलवैचारिक (तंदुलवेयालिय), (६) संस्तारक (संथारग), (७) गच्छाचार (गच्छायार), (८) गणिविद्या (गणिविज्जा), (९) देवेन्द्रस्तव (देविंद्रथ) और (१०) मरणसमाधि (मरणसमाहि)। ये रचनायें प्रायः पद्यात्मक हैं।(१)चतुःशरण में आरंभ में छः आवश्यकों का उल्लेख करके पश्चात् अरहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म इन चार को शरण मानकर दुष्कृत (पाप) के प्रति निंदा और सुकृत (पुण्य) के प्रति अनुराग प्रगट किया गया है। इसमें त्रेसठ गाथाएँ मात्र हैं। अंतिम गाथा में कर्त्ता का का नाम वीरभद्र अंकित पाया जाता है। (२) आतुर-प्रत्याख्यान में बालमरण और पंडितमरण में भेद स्थापित किया गया है, और प्रत्याख्यान अर्थात् परित्याग को मोक्षप्राप्ति का साधन कहा गया है। इसमें केवल ७० गाथाएं हैं, और कुछ अंश गद्य में भी है। (३) महाप्रत्याख्यान में १४२ अनुष्टुप् छंदमय गाथाओं द्वारा दुश्चरित्र की निंदापूर्वक; सच्चरित्रात्मक भावनाओं, व्रतों व आराधनाओं और अन्ततः प्रत्याख्यान के परिपालन पर जोर दिया गया है। इस प्रकार यह रचना पूर्वोक्त आतुर-प्रत्याख्यान की ही पूरक स्वरूप है। (४) भक्त-परिज्ञा मे १७२ गाथाओं द्वारा भक्त-परिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन रूप मरण के भेदों का स्वरूप बतलाया गया है, तथा नाना दृष्टान्तों द्वारा मन को संयत रखने का उपदेश दिया गया है। मन को बन्दर की उपमा दी गई है, जो स्वभावतः अत्यन्त चंचल है और क्षणमात्र भी शांत नहीं रहता। (५) तंदुलवैचारिक या वैकालिक १२३ गाथाओं युक्त गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसमें गौतम और महावीर के बीच प्रश्नोत्तरों के रूप में जीव की गर्भावस्था, 'आहार-विधि, बालजीवन-क्रीड़ा आदि अवस्थाओं का वर्णन है। प्रसंग वश इसमें शरीर के अंग प्रत्यंगों का व उसकी अपवित्रता का, स्त्रियों की प्रकृति और उनसे उत्पन्न होने वाले साधुओं के भयों आदि का विस्तार से वर्णन है। (६) संस्तारक में १२२ गाथाओं द्वारा साधु के अंत समय में तृण का आसन (संथारा) ग्रहण करने की विधि बतलाई गई है, जिस पर अविचल रूप से स्थिर रहकर वह पंडित-मरण करके सद्गति को प्राप्त कर सकता है। इस प्रसंग के दृष्टान्त स्वरूप सुबंधु व चाणक्य आदि नामों का उल्लेख हुआ है। (७) गच्छाचार में १३७ गाथाओं द्वारा मुनियों व आर्यिकाओं के गच्छ में रहने व तत्संबंधी विनय व नियमोपनियमों के पालन की विधि समझाई गई है। यहां मुनियों और साध्वियों को एक दूसरे के प्रति पर्याप्त सतर्क रहने और

अपने को कामवासना की जागृति से बचाने पर बहुत जोर दिया गया है। (८) गणि-विद्या में ८६ गाथाओं द्वारा दिवस, तिथि, नक्षत्र, योग, करण, मुहूर्त आदि का ज्योतिष की रीति से विचार किया गया है जिसमें होरा शब्द भी आया है। (९) देवेन्द्रस्तव में ३०७ गाथाएं हैं, जिनमें २४ तीर्थंकरों की स्तुति करके, स्तुतिकार एक प्रश्न के उत्तर में कल्पों और कल्पातीत देवों का वर्णन करता है। यह कृति भी वीरभद्र कृत मानी जाती है। (१०) मरण-समाधि में ६६३ गाथाएं हैं, जिनमें आराधना, आराधक, आलोचन, संलेखन, क्षमापन आदि १४ द्वारों से समाधि-मरण की विधि समझाई गई है, व नाना दृष्टान्तों द्वारा परीषह सहन करने की आवश्यकता बतलाई गई है। अन्तमें बारह भावनाओं का भी निरूपण किया गया है। दसों प्रकीर्णकों के विषय पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य प्रधानतः मुनियों के अपने अन्त समय में मनको धार्मिक भावनाओं में लगाते हुए शांति और निराकुलता पूर्वक शरीर परित्याग करने की विधि को समझाना ही है।

चूलिका सूत्र—२

अन्तिम दो चूलिका सूत्र नंदी और अनुयोगद्वार हैं, जो अपेक्षाकृत पीछे की रचनाएं हैं। नंदीसूत्र के कर्ता तो एक मतानुसार वल्लभी वचना के प्रधान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ही हैं। नंदीसूत्र में ९० गाथाएं और ५९ सूत्र हैं। यहां भगवान महावीर तथा उनके संघवर्ती श्रमणों व परंपरागत भद्रबाहु, स्थूलभद्र, महागिरि आदि आचार्यों की स्तुति की गई है। तत्पश्चात् ज्ञान के पांचभेदों का विवेचन कर, आचारांगादि बारह श्रुतांगों के स्वरूप को विस्तार से व्यक्त किया गया है। यहां भारत, रामायण, कौटिल्य, पांतजल आदि शास्त्रपुराणों तथा वेदों एवं बहत्तर कलाओं का उल्लेख कर मुनियों के लिये उनका अध्ययन वर्ज्य कहा गया है। (२) अनुयोगद्वार आर्यरक्षित कृत माना जाता है। उसमें प्रश्नोत्तर रूप से पल्योपमादि उपमा प्रमाण का स्वरूप समझाया गया है, और नयों का भी प्ररूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त काव्यसम्बन्धी नव-रसों, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदि के लक्षणों एवं चरक, गौतम आदि अन्य शास्त्रों के उल्लेख भी आये हैं। इस पर हरिभद्र द्वारा विवृत्ति भी लिखी गई है।

अर्द्धमागधी भाषा

उपर्युक्त ४५ आगम ग्रन्थों की भाषा अर्द्धमागधी मानी जाती है। अर्द्ध-मागधी का अर्थ नाना प्रकार से किया जाता है-जो भाषा आधे मगध प्रदेश में बोली जाती

थी, अथवा जिसमें मागधी भाषा की आधी प्रवृत्तियां पाई जाती थी। यथार्थतः ये दोनो ही व्युत्पत्तियां सार्थक हैं, और इस भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप को सूचित करती हैं। मागधी भाषा की मुख्यतः तीन विशेषताएं थीं। (१) उसमें र का उच्चारण ल होता था, (२) तीनों प्रकार के ऊष्म ष, स, श वर्णों के स्थान पर केवल तालव्य 'श' ही पाया जाता था; और (३) अकारान्त कर्त्ताकारक एक वचन का रूप 'ओ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय द्वारा बनता था। इन तीन मुख्य प्रवृत्तियो मे से अर्द्ध-मागधी में कर्त्ताकारक की एकार विभक्ति बहुलता से पाई जाती है। र का ल क्वचित् ही होता है, तथा तीनों सकारों के स्थानपर तालव्य 'श' कार न होकर दन्त्य 'स' कार ही होता है। इस प्रकार इस भाषा में मागधी की आधी प्रवृत्तियां कही जा सकती हैं। इसकी शेष प्रवृत्तियां शौरसैनी प्राकृत से मिलती हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा का प्रचार मगध से पश्चिम प्रदेश में रहा होगा। विद्वानों का यह भी मत है कि मूलतः महावीर एवं बुद्ध दोनों के उपदेशों की भाषा उस समय की अर्द्धमागधी रही होगी, जिससे वे उपदेश पूर्व एवं पश्चिम की जनता को समान रूप से सुबोध हो सके होगें। किन्तु पूर्वोक्त उपलभ्य आगम ग्रन्थों में हमें उस प्राक्तन अर्द्धमागधी का स्वरूप नही मिलता। भाषा-शास्त्रियों का मत है कि उस काल की मध्ययुगीन आर्य भाषा में संयुक्त व्यजनों का समीकरण अथवा स्वर-भक्ति आदि विधियों से भाषा का सरलीकरण तो प्रारंभ हो गया था, किन्तु उसमे वर्णों का विपरिवर्तन जैसे क-ग, त-द, अथवा इनके लोप की प्रक्रिया प्रारंभ नहीं हुई थी। यह प्रक्रिया मध्ययुगीन आर्य भाषा के दूसरे स्तर में प्रारंभ हुई मानी जाती है; जिसका काल लगभग दूसरी शती ई० सिद्ध होता है। उपलभ्य आगम ग्रन्थ इसी स्तर की प्रवृत्तियों से प्रभावित पाये जाते हैं। स्पष्टतः ये प्रवृत्तियां कालानुसार उनकी मौखिक परम्परा के कारण उनमें समाविष्ट हो गई हैं।

सूत्र या सूक्त ?—

इन आगमों के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। उन्हें प्रायः सूत्र नाम से उल्लिखित किया जाता है, जैसे आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि। किन्तु जिस अर्थ में संस्कृत में सूत्र शब्द का प्रयोग पाया जाता है, उस अर्थ में ये रचनाएं सूत्र रूप सिद्ध नहीं होतीं। सूत्र का मुख्य लक्षण संक्षिप्त वाक्य में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना है, और उनमें पुनरावृत्ति को दोष माना जाता है। किन्तु ये जैन श्रुतांग न तो वैसी संक्षिप्त रचानाएं हैं, और न उनमें विषय व वाक्यों की पुनरावृत्ति की कमी है। अतएव उन्हें सूत्र कहना अनुचित सा प्रतीत होता है। अपने प्राकृत

नामानुसार ये रचनाएं सुत्त कही गई हैं, जैसे आयारंग सुत्त, उत्तराध्ययन सुत्त आदि। इस सुत्त का संस्कृत पर्याय सूत्र भ्रममूलक प्रतीत होता है। उसका उचित संस्कृत पर्याय सूक्त अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। महावीर के काल में सूत्र शैली का प्रारंभ भी सम्भवतः नहीं हुआ था। उस समय विशेष प्रचार था वेदों के सूक्तों का। और संभवतः वही नाम मूलतः इन रचनाओं को, तथा बौद्ध साहित्य के सुत्तों को, उसके प्राकृत रूप में दिया गया होगा।

आगमों का टीका साहित्य—

उपर्युक्त आगम ग्रन्थों से सम्बद्ध अनेक उत्तरकालीन रचनाएं हैं, जिनका उद्देश्य आगमो के विषय को संक्षेप या विस्तार से समझाना है। ऐसी रचनाएं चार प्रकार की हैं, जो निर्युक्ति (णिज्जुत्ति), भाष्य (भास), चूर्णि (चुण्णि) और टीका कहलाती हैं। ये रचनाएं भी आगम का अंग मानी जाती हैं, और उनके सहित यह साहित्य पंचांगी आगम कहलाता है। इनमें निर्युक्तियां अपनी भाषा, शैली, व विषय की दृष्टि से सर्वप्राचीन हैं। ये प्राकृत पद्यों में लिखी गई हैं, और संक्षेप में विषय का प्रतिपादन करती हैं। इनमें प्रसंगानुसार विविध कथाओं व दृष्टान्तों के संकेत मिलते हैं, जिनका विस्तार हमें टीकाओं में प्राप्त होता है। वर्तमान में आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशाश्रुतस्कंध, उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक इन ९ आगमों की निर्युक्तिया मिलती हैं, और वे भद्रबाहुकृत मानी जाती हैं। दसवीं 'ऋषि भाषित निर्युक्ति' का उल्लेख है, किन्तु वह प्राप्त नहीं हुई। इनमें कुछ प्रकरणों की निर्युक्तियाँ, जैसे पिण्डनिर्युक्ति व ओघनिर्युक्ति मुनियों के आचार की दृष्टि से इतनी महत्वपूर्ण समझी गई कि वे स्वतंत्र रूप से आगम साहित्य में प्रतिष्ठित कर ली गई हैं।

भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में रचित संक्षिप्त प्रकरण हैं। ये अपनी शैली में निर्युक्तियो से इतने मिलते हैं कि बहुधा इन दोनों का परस्पर मिश्रण हो गया है, जिसका पृथक्करण असंभव सा प्रतीत होता है। कल्प, पंचकल्प, जीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, निशीथ, और व्यवहार, इनके भाष्य मिलते हैं। इनमें कथाएं कुछ विस्तार से पाई जाती हैं। निशीथ भाष्य में शश आदि चार धूर्तों की वह रोचक कथा वर्णित है जिसे हरिभद्रसूरि ने अपने धूर्ताख्यान नामक ग्रन्थ में सरसता के साथ पल्लवित किया है। कुछ भाष्यों, जैसे कल्प, व्यवहार और निशीथ के कर्ता संघदास गणि माने जाते हैं, और विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्र (ई० सं० ६०९)। यह भाष्य कोई ३६०० गाथाओं में पूर्ण हुआ है और उसमें ज्ञान,

नय-निक्षेप, आचार आदि सभी विषयों का विवेचन किया गया है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है।

चूर्णियां भाषा व रचना शैली की दृष्टि से अपनी विशेषता रखती हैं। वे गद्य में लिखी गई हैं, और भाषा यद्यपि प्राकृत-संस्कृत मिश्रित है, फिर भी इनमें प्राकृत की प्रधानता है। आचारांग, सूत्रकृतांग, निशीथ, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार पर चूर्णियां पाई जाई हैं। ऐतिहासिक, सामाजिक व कथात्मक सामग्री के लिये निशीथ और आवश्यक की चूर्णियां बड़ी महत्वपूर्ण हैं। सामान्यरूप से चूर्णियों के कर्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं, जिनका समय ई० की छठी-सातवीं शती अनुमान किया जाता है।

टीकाएं अपने नामानुसार ग्रन्थो को समझने समझाने के लिये विशेष उपयोगी हैं। ये संस्कृत मे विस्तार से लिखी गई हैं, किन्तु कहीं कहीं, और विशेषतः कथाओं में प्राकृत का आश्रय लिया गया है। प्रतीत होता है कि जो कथाएं प्राकृत में प्रचलित थीं, उन्हे यहाँ जैसा का तैसा उद्धृत कर दिया है। आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार पर हरिभद्र सूरि (ई० सं० ७५०) की टीकाएं उपलब्ध हैं। इनके पश्चात् आचारांग और सूत्रकृतांग पर शीलांक आचार्य (ई० सं० ८६६) ने टीकाएं लिखीं। ११ वी शताब्दी में वादि वेताल शान्तिसूरि द्वारा लिखित उत्तराध्ययन की शिष्यहिता टीका प्राकृत में है, और बड़ी महत्वपूर्ण है। इसी शताब्दी में उत्तराध्ययन पर देवेन्द्रगणि नेमिचन्द्र ने सुखबोधा नामक टीका लिखी, जिसके अन्तर्गत ब्रह्मदत्त अगडदत्त आदि कथाएं प्राकृत कथा साहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं, जिनका संकलन डा० हर्मन जैकोबी ने एक पृथक् ग्रन्थ में किया था, और जो प्राकृत-कथा-संग्रह के नाम से मुनि जिनविजय जी ने भी प्रकाशित कराई थी। उत्तराध्ययन पर और भी अनेक आचार्यों ने टीकाएं लिखीं, जैसे अभयदेव, द्रोणाचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, क्षेमकीर्ति, शांतिचन्द्र आदि। टीकाओं की यह बहुलता उत्तराध्ययन के महत्व व लोकप्रियता को स्पष्टतः प्रमाणित करती है।

शौरसेनी जैनागम—

उपर्युक्त उपलभ्य आगम साहित्य जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सुप्रचलित है, किन्तु दिग० सम्प्रदाय उसे प्रामाणिक नही मानता। इस मान्यतानुसार मूल आगम ग्रन्थों का क्रमशः लोप हो गया, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। उन आगमों का केवल आंशिक ज्ञान मुनि-परम्परा में सुरक्षित रहा। पूर्वो के एकदेश-ज्ञाता

आचार्य धरसेन माने गये हैं, जिन्होंने अपना वह ज्ञान अपने पुष्पदंत और भूतबलि नामक शिष्यों को प्रदान किया और उन्होंने उस ज्ञान के आधार से षट्खंडागम की सूत्ररूप रचना की। यह रचना उपलभ्य है, और अब सुचारु रूप से टीका व अनुवाद सहित २३ भागों में प्रकाशित हो चुकी है। इसके टीकाकार वीरसेनाचार्य ने प्रारंभ में ही इस रचना के विषय का जो उद्गम बतलाया है, उससे हमें पूर्वों के विस्तार का भी कुछ परिचय प्राप्त होता है। पूर्वों में द्वितीय पूर्व का नाम आग्रायणीय था। उसके भीतर पूर्वान्त, अपरान्त आदि चौदह प्रकरण थे। इनमें पाचवें प्रकरण का नाम चयन लब्धि था, जिसके अन्तर्गत बीस पाहुड थे। इनमें चतुर्थ पाहुड का नाम कर्म-प्रकृति था। इस कर्म-प्रकृति पाहुड के भीतर कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वार थे, जिनके विषय को लेकर षट्खंडागम के छह खंड अर्थात् जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधस्वामित्व-विचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध की रचना हुई। इसमें का कुछ अंश अर्थात् *सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक जीवस्थान की आठवीं चूलिका बारहवें अंग दृष्टिवाद के द्वितीय भेद सूत्रसे तथा गति-अगति नामक नवमीं चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति से उत्पन्न बतलाई गई है। यही आगम दिग० सम्प्रदाय में सर्वप्राचीन ग्रन्थ माना जाता है।* इसकी रचना का काल ई० द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है। इसकी रचना ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पूर्ण हुई थी और उस दिन जैन संघ ने श्रुतपूजा का महान् उत्सव मनाया था, जिसकी परम्परानुसार श्रुतपंचमी की मान्यता दिग० सम्प्रदाय में आज भी प्रचलित है। इस आगम की परम्परा में जो साहित्य निर्माण हुआ, उसे चार अनुयोगों में विभाजित किया जाता है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में पुराणों, चरितों व कथाओं अर्थात् आख्यानात्मक ग्रन्थों का समावेश किया जाता है। करणानुयोग में ज्योतिष, गणित आदि विषयक ग्रन्थों का, चरणानुयोग में मुनियों व गृहस्थों द्वारा पालने योग्य नियमोपनियम संबंधी आचार विषयक ग्रन्थों का, और द्रव्यानुयोग में जीव-अजीव आदि तत्वों के चिंतन से संबंध रखने वाले दार्शनिक, कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी, तथा नय-निक्षेप आदि विषयक सैद्धान्तिक ग्रन्थों का।

इस धार्मिक साहित्य में प्रधानता द्रव्यानुयोग की है, और इस वर्ग की रचनाएं बहुत प्राचीन, बड़ी विशाल तथा लोकप्रिय हैं। इसमें सबसे प्रथम स्थान पूर्वोल्लिखित *षट्खंडागम का ही है। इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने का भी एक रोचक इतिहास है।* इस ग्रन्थ का साहित्यकारों द्वारा प्रचुरता से उपयोग केवल ११वीं १२वीं शताब्दी तक गोम्मटसार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र और उनके टीकाकारों तक ही पाया जाता है। उसके पश्चात् के लेखक इन ग्रन्थों के नाम-मात्र से परिचित प्रतीत होते हैं। इस

ग्रन्थ की दो संपूर्ण और एक त्रुटित, ये तीन प्रतियां प्राचीन कन्नड लिपि में ताड़पत्र पर लिखी हुई केवल एक स्थान में, अर्थात मैसूर राज्य में मूड़बद्री नामक स्थान के सिद्धान्त वस्ति नामक मंदिर में ही सुरक्षित बची थी, और वहां भी उनका उपयोग स्वाध्याय के लिये नहीं, किन्तु दर्शन मात्र से पुण्योपार्जन के लिए किया जाता था। उन प्रतियों की उत्तरोत्तर जीर्णता को बढ़ती देखकर समाज के कुछ कर्णधारो को चिंता हुई, और सन् १८९५ के लगभग उनकी कागज पर प्रतिलिपि करा डालने का निश्चय किया गया। प्रतिलेखन कार्य सन् १९२२ तक धीरे धीरे चलता हुआ २६-२७ वर्ष में पूर्ण हुआ। किन्तु इसी बीच इनकी एक प्रतिलिपि गुप्तरूप से बाहर निकलकर सहारनपुर पहुंच गई। यह प्रतिलिपि भी कन्नड लिपि में थी। अतएव इसकी नागरी लिपि कराने का आयोजन किया गया, जो १९२४ तक पूरा हुआ। इस कार्य के संचालन के समय उनकी एक प्रति पुनः गुप्त रूपसे बाहर आ गई, और उसी की प्रतिलिपियां अमरावती, कारंजा, सागर और आरा में प्रतिष्ठित हुई। इन्हीं गुप्तरूप से प्रगट प्रतियों पर से इनका सम्पादन कार्य प्रस्तुत लेखक के द्वारा सन् १९३८ में प्रारम्भ हुआ, और सन् १९५८ में पूर्ण हुआ। हर्ष की बात यह है कि इसके प्रथम दो भाग प्रकाशित होने के पश्चात् ही मूडबिद्री की सिद्धान्त बस्ति के अधिकारियों ने मूल प्रतियों के मिलान की भी सुविधा प्रदान कर दी, जिससे इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन-प्रकाशन प्रामाणिक रूप से हो सका।

षट्खंडागम टीका—

षट्खंडागम के उपर्युक्त छह खंडों में सूत्ररूप से जीव द्वारा कर्मबंध और उससे उत्पन्न होनेवाले नाना जीव-परिणामों का बड़ी व्यवस्था, सूक्ष्मता और विस्तार से विवेचन किया गया है। यह विवेचन प्रथम तीन खंडों में जीव के कर्तृत्व की अपेक्षा से और अंतिम तीन खंडों में कर्मप्रकृतियों के स्वरूप की अपेक्षा से हुआ है। इसी विभागानुसार नेमिचन्द्र आचार्य ने इन्ही के संक्षेप रूप गोम्मटसार ग्रंथ के दो भाग किये हैं—एक जीवकांड और दूसरा कर्मकांड। इन ग्रन्थों पर श्रुतावतार कथा के अनुसार क्रमशः अनेक टीकाएं लिखी गई जिनके कर्ताओं के नाम कुंदकुंद, श्यामकुंड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र और बप्पदेव उल्लिखित मिलते हैं, किन्तु ये टीकाएं अप्राप्य हैं। जो टीका इस ग्रन्थ की उक्त प्रतियों पर से मिली है, वह वीरसेनाचार्यकृत धवला नाम की है, जिसके कारण ही इस ग्रन्थ की ख्याति धवल सिद्धान्त के नाम से पाई जाती है। टीकाकार ने अपनी जो प्रशस्ति ग्रन्थ के अंत में लिखी है, उसपर से उसके पूर्ण होने का

समय कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी, शक सं० ७३८=ई० सन् ८१६ सिद्ध होता है। इस प्रशस्ति में वीरसेन ने अपने पंचस्तूप अन्वय का, विद्यागुरु एलाचार्य का, तथा दीक्षागुरु आर्यनन्दि व दादागुरु चन्द्रसेन का भी उल्लेख किया है। इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार कथा के अनुसार एलाचार्य ने चित्रकूटपुर में रहकर वीरसेन को सिद्धान्त पढ़ाया था। पश्चात् वीरसेन ने वाटग्राम में जाकर अपनी यह टीका लिखी। वीरसेन की टीका का प्रमाण बहत्तर हजार श्लोक अनुमान किया जाता है।

शौरसैनी आगम की भाषा—

धवला टीका की भाषा गद्यात्मक प्राकृत है, किन्तु यत्र तत्र संस्कृत का भी प्रयोग किया गया है। यह शैली जैन साहित्यकारों में सुप्रचलित रही है, और उसे मणि-प्रवाल शैली कहा गया है। टीका में कहीं कहीं प्रमाण रूप से प्राचीन गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं। इस प्रकार भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस ग्रन्थ में हमें प्राकृत के तीन स्तर मिलते हैं—एक सूत्रों की प्राकृत जो स्पष्टतः अधिक प्राचीन है तथा शौरसैनी की विशेष-ताओं को लिये हुए भी कही कहीं अर्द्धमागधी से प्रभावित है। शौरसैनी प्राकृत का दूसरा स्तर हमें उद्धृत गाथाओं में मिलता है, और तीसरा टीका की गद्य रचना में। यहां उद्धृत गाथाओं मे की अनेक गोम्मटसार मे भी जैसी की तैसी पाई जाती हैं; भेद यह है कि वहां शौरसैनी महाराष्ट्री की प्रवृत्तियां कुछ अधिकता से मिश्रित दिखाई देती हैं।

यहां प्राकृत भाषा के ऐतिहासिक विकास सम्बन्धी कुछ बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। प्राचीनतम प्राकृत साहित्य तथा प्राकृत व्याकरणों में हमें मुख्यतः तीन भाषाओं का स्वरूप, उनके विशेष लक्षणों सहित, दृष्टिगोचर होता है। मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसेनी। मागधी और अर्द्धमागधी के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। शौरसेनी का प्राचीनतम रूप हमें अशोक (ई० पू० तीसरी शती) की गिरनार शिला पर खुदी हुई चौदह धर्मलिपियों में दृष्टिगोचर होता है। यहां कारक व क्रिया रूपों के सरलीकरण के अतिरिक्त जो संस्कृत की ध्वनियों में सरलता के लिये उत्पन्न हुए हेरफेर पाये जाते हैं, उनमें मुख्य परिवर्तन हैं : संयुक्त व्यंजनों का समीकरण या एक वर्ण का लोप; जैसे धर्म का 'धम्म, कर्म का कम्म, पश्यति का पसति, पुत्र का पुत, कल्याण का कलाण, आदि। तत्पश्चात् अश्वघोष (प्रथम शती ई०) के नाटकों में उक्त परिवर्तन के अतिरिक्त हमें अघोष वर्णों के स्थान पर उनके अनुरूप सघोष वर्णों का आदेश मिलता है; जैसे क का ग, च का ज, त का द, और थ का ध। इसके अनन्तर काल में जो प्रवृत्ति भास, कालिदास आदि के नाटकों की प्राकृतों में

दिखाई देती है, वह है-मध्यवर्ती असंयुक्त वर्णों का लोप तथा महाप्राण वर्णों के स्थान पर 'ह्' आदेश। यही प्रवृति महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण माना गया है, और इसका प्रादुर्भाव प्रथम शताब्दी के पश्चात् का स्वीकार किया जाता है। दण्डी के उल्लेखानुसार प्राकृत (शौरसेनी) ने महाराष्ट्र में आने पर जो रूप धारण किया, वही उत्कृष्ट प्राकृत महाराष्ट्री कहलाई (महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः-काव्यादर्श) और इसी महाराष्ट्री प्राकृत में सेतुबन्धादि काव्यों की रचना हुई है। जैसा पहले कहा जा चुका है, अर्द्धमागधी आगम में भी ये महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हुई पाई जाती हैं। भारत के उत्तर व पश्चिम प्रदेशों में जो प्राकृत ग्रंथ लिखे गये, उनमें भी इन प्रवृत्तियों का आंशिक समावेश पाकर पाश्चात्य विद्वानों ने उनकी भाषा को 'जैन महाराष्ट्री' की संज्ञा दी है। किन्तु जिन षट्खंडागमादि रचनाओं का ऊपर परिचय दिया गया है, उनमें प्रधान रूप से शौरसेनी की ही मूल प्रवृत्तियां पाई जाती हैं और महाराष्ट्री की प्रवृत्तियाँ गौण रूप से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दिखाई देती हैं। इस कारण इन रचनाओं की भाषा को 'जैन शौरसेनी' कहा गया है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब महाराष्ट्र प्रदेश और उससे उत्तर की भाषा में महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तियां पूर्ण या बहुल रूप से प्रविष्ट हो गई, तब महाराष्ट्र से सुदूर दक्षिण प्रदेश में लिखे गये ग्रन्थ इस प्रवृत्ति से कैसे बचे, या अपेक्षाकृत कम प्रभावित हुए ? इस प्रश्न का समाधान यही अनुमान किया जा सकता है कि जिस मुनि-सम्प्रदाय में ये ग्रन्थ लिखे गये उसका दक्षिण प्रदेश में आगमन महाराष्ट्री प्रवृत्तियां उत्पन्न होने से पूर्व ही हो चुका था और आर्येतर भाषाओं के बीच में लेखक अपने उस प्रान्तीय भाषा के रूप का ही अभ्यास करते रहने के कारण, वे महाराष्ट्री के बढ़ते हुए प्रभाव से बचे रहे या कम प्रभावित हुए। इसी भाषा-विकास-क्रम का कुछ स्वरूप हमें उक्त स्तरों में दिखाई देता है।

षट्खंडागम के टीकाकार के सम्मुख जैन सिद्धान्त विषयक विशाल साहित्य उपस्थित था। उन्होंने संतकम्मपाहुड, कषायपाहुड, सम्मति सुत्त, तिलोयपण्णत्ति सुत्त, पंचत्थिपाहुड, तत्वार्थसूत्र, आचारांग, वट्टकेर कृत मूलाचार, पूज्यपाद कृत सारसंग्रह, अकलंक कृत तत्वार्थ भाष्य, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, जीवसमास, छेदसूत्र, कर्म्मपवाद, दशकरणी संग्रह आदि के उल्लेख किये हैं। इनमें से अनेक ग्रन्थ तो सुविख्यात हैं, किन्तु कुछ का जैसे पूज्यपाद कृत सारसंग्रह, जीवसमास, छेदसूत्र, कर्मप्रवाद और दशकरणी संग्रह का कोई पता नहीं चलता। इसी प्रकार उन्होंने अपने गणित संबंधी विवेचन में परिकर्म का उल्लेख किया है, तथा व्याकरणात्मक विवेचन में कुछ ऐसे सूत्र व गाथाएं

उद्धृत की है, जिनसे प्रतीत होता है कि उनके सम्मुख कोई पद्यात्मक प्राकृत व्याकरण का ग्रन्थ उपस्थित था, जो अब प्राप्त नही है। स्वयं पट्खंडागम सूत्रों की उनके सम्मुख अनेक प्रतियाँ थीं, जिनमें पाठभेद भी थे, जिनका उन्होंने अनेकस्थलों पर स्पष्ट उल्लेख किया है। कहीं कहीं सूत्रों में परस्पर विरोध देखकर टीकाकार ने सत्यासत्य का निर्णय करने में अपनी असमर्थता प्रकट की है, और स्पष्ट कह दिया है कि इनमें कौन सूत्र हैं और कौन असूत्र इसका निर्णय आगम में निपुण आचार्य करें। कही कहा है—इसका निर्णय तो चतुर्दश-पूर्वधारी या केवलज्ञानी ही कर सकते हैं; किन्तु वर्तमान काल में वे हैं नही, और उनके पास से उपदेश पाकर आये हुए भी कोई विद्वान् नही पाये जाते, अतः सूत्रो की प्रामाणिकता नष्ट करने से डरने वाले आचार्यों को दोनों सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये। कहीं कही सूत्रों पर उठाई गई शंका पर उन्होंने यहां तक कह दिया है कि इस विषय की पूछताछ गौतम गणधर से करना चाहिये; हमने तो यहाँ उनका अभिप्राय कह दिया। टीका के अनेक उल्लेखों पर से ज्ञात होता है कि सूत्रों का अध्ययन कई प्रकार से चलता था। कोई सूत्राचार्य थे, तो कोई निक्षेपाचार्य और कोई व्याख्यानाचार्य। इनसे भी ऊपर महावाचकों का पद था। कषाय-प्राभृत के प्रकाण्ड ज्ञाता आर्य मंक्षु और नागहस्ति को अनेक स्थानों पर महावाचक कहा गया है। आर्य नंदी महावाचक का भी उल्लेख आया है। सैद्धान्तिक मतभेदों के प्रसंग मे टीकाकार ने अनेक स्थानों पर उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ती का उल्लेख किया है, जिनमें से वे स्वयं दक्षिण प्रतिपत्ति को स्वीकार करते थे, क्योंकि वह सरल, सुस्पष्ट और आचार्य-परम्परागत है। कुछ प्रसंगों पर उन्हें स्पष्ट आगम परम्परा प्राप्त नहीं हुई, तब उन्होंने अपना स्वयं स्पष्ट मत स्थापित किया है और यह कह दिया है कि शास्त्र प्रमाण के अभाव में उन्होंने स्वयं अपने युक्तिबल से अमुक बात सिद्ध की है। विषय चाहे दार्शनिक हो और चाहे गणित जैसा शास्त्रीय, वे उस पर पूर्ण विवेचन और स्पष्ट निर्णय किये बिना नही रुकते थे। इसी कारण उनकी ऐसी असाधारण प्रतिभा को देखकर ही उनके विद्वान् शिष्य आचार्य जिनसेन ने उनके विषय में कहा है कि—

यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाताः सर्वज्ञ-सद्भावे निरारेका मनस्विनः॥

अर्थात् उनकी स्वाभाविक सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा को देखकर विद्वज्जन सर्वज्ञ के सद्भाव के विषय में निस्सन्देह हो जाते थे। इस टीका के आलोड़न से हमें तत्कालीन

सैद्धांतिक विवेचन, वादविवाद व गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

नेमिचन्द्र (११वीं शती) की रचनाएं

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, इसी पट्खंडागम और उसकी धवला टीका के आधार से गोम्मटसार की रचना हुई, जिसके ७३३ गाथाओं युक्त जीवकांड तथा ९६२ गाथाओं युक्त कर्मकांड नामक खंडों में उक्त आगम का समस्त कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी सार निचोड़ लिया गया है, और अनुमानतः इसी के प्रचार से मूल पट्खंडागम के अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली समाप्त हो गई। गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्रने अपनी कृति के अंत में गर्व से कहा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती पट्खंड पृथ्वी को अपने चक्र द्वारा सिद्ध करता है, उसी प्रकार मैंने अपनी बुद्धि रूपी चक्र से पट्खंडागम को सिद्धकर अपनी इस कृति में भर दिया है। इसी सफल सैद्धांतिक रचना के कारण उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई और तत्पश्चात् यह उपाधि अन्य अनेक आचार्यों के साथ भी संलग्न पाई जाती है। संभवतः त्रैविद्यदेव की उपाधि वे आचार्य धारण करते थे, जो इस पट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों के पारगामी हो जाते थे। इन उपाधियों ने धवलाकार के पूर्व की सूत्राचार्य आदि उपाधियो का लोप कर दिया। उन्होंने अपनी यह कृति गोम्मटराय के लिये निर्माण की थी। गोम्मट गंगनरेश राचमल्ल के मंत्री चामुंडराय का ही उपनाम था, जिसका अर्थ होता है—सुन्दर, स्वरूपवान्। इन्हीं चामुंडराय ने मैसूर के श्रवण बेलगोल के विन्ध्यगिरि पर बहुबलि की उस प्रख्यात मूर्ति का उद्घाटन कराया था, जो अपनी विशालता और कलात्मक सौन्दर्य के लिये कोई उपमा नहीं रखती। समस्त उपलम्य प्रमाणों पर से इस मूर्ति की प्रतिष्ठा का समय रविवार दि० २३ मार्च सन् १०२८, चैत्र शुक्ल पंचमी, शक सं० ९५१ सिद्ध हुआ है। कर्मकांड की रचना तथा इस प्रतिष्ठा का उल्लेख कर्मकाण्ड की ९६८ वीं गाथा में साथ-साथ आया है। अतएव लगभग यही काल गोम्मटसार की रचना का माना जा सकता है। इन रचनाओं के द्वारा पट्खंडागम के विषय का अध्ययन उसी प्रकार सुलभ बनाया गया जिस प्रकार उपर्युक्त निर्युक्तियों और भाष्यों द्वारा श्रुतांगों का। गोम्मटसार पर संस्कृत में दो विशाल टीकाएं लिखी गईं—एक जीवप्रबोधिनी नामक टीका केशव वर्णी द्वारा, और दूसरी मंदप्रबोधिनी नामकी टीका श्रीमदभयचन्द्र सिद्धांन्त चक्रवर्ती के द्वारा। कुछ संकेतों के आधार से प्रतीत होता है कि गोम्मटसार पर चामुंडराय ने भी कन्नड में एक वृत्ति लिखी थी, जो अब नहीं मिलती। इनके आधार

से हिंदी में इसकी सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका नामक वचनिका पं० टोडरमल जी ने सं० १८१८ में समाप्त की । गोम्मटसार से सम्बद्ध एक और कृति लब्धिसार नामक है, जिसमें आत्मशुद्धि रूप लब्धियों को प्राप्त करने की विधि समझाई गयी है । अपनी द्रव्यसंग्रह नामक एक ५८ गाथायुक्त ग्रन्थ कृति द्वारा नेमिचन्द्र ने जीव तथा अजीव तत्वों को विधिवत् समझाकर एक प्रकार से संपूर्ण जैन तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन कर दिया है । लब्धिसार के साथ साथ एक कृति क्षपणासार भी मिलती है, जिसमें कर्मों को खपाने की विधि समझाई गई है । इसकी प्रशस्ति के अनुसार इसे माधवचन्द्र त्रैविद्यने बाहुबलि मंत्री की प्रार्थना से लिखकर शक सं० ११२५ (ई० सन् १२०३) में पूर्ण किया था ।

षट्खंडागम की परम्परा की द्वितीय महत्वपूर्ण रचना है पंचसंग्रह, जो अभी प्रकाशित हुई है । इसमें नामानुसार पांच अधिकार (प्रकरण) हैं: जीवसमास, प्रकृति समुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सत्तरि अर्थात् सप्ततिका, जिनमें क्रमानुसार २०६, १२,७७, १०५ और ७० गाथाएं हैं । प्रकृति समुत्कीर्तन में कुछ भाग गद्यात्मक भी है । इसकी बहुतसी गाथाएं धवला और गोम्मटसार के समान ही हैं । अंतिम दो प्रकरणों पर गाथाबद्ध भाष्य भी है, जिसकी गाथाएं भी गोम्मटसार से मिलती हैं । ये भाष्य गाथाएं मूलग्रन्थ से मिश्रित पाई जाती हैं । शतक नामक प्रकरण के आदि में कर्ता ने स्पष्ट कहा है कि मैं यहां कुछ गाथाएं दृष्टिवाद से लेकर कहता हूं (वोच्छं कदिवइ गाहाओ दिट्ठिवादाओ)। शतक के अंत में १०३ वी गाथा में कहा गया है कि यहां बंध-समास का वर्णन कर्म-प्रवाद नामक श्रुतसागर का रस मात्र ग्रहण करके किया गया है । जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, कर्मप्रवाद दृष्टिवाद के अन्तर्गत १४ पूर्वों में से आठवें पूर्व का नाम था । उसी प्रकार सप्तति के प्रारंभ में कहा गया है कि मैं यहां दृष्टिवाद के सार को संक्षेप में कहता हूं (वोच्छं संखेवेणं निस्संदं दिट्ठिवादादो) । प्रत्येक प्रकरण मंगलाचरण और प्रतिज्ञात्मक गाथाओं से प्रारंभ होता है, और अपने अपने रूप में परिपूर्ण है । इससे प्रतीत होता है कि आदितः ये पांचों प्रकरण स्वतंत्र रचनाओं के रूप में रहे हैं । इनपर एक संस्कृत टीका भी हैं, जिसके कर्ता ने अपना परिचय शतक की अंतिम गाथा की टीका में दिया है । यहां उन्होंने मूलसंघ के विद्यानंदि गुरु, भट्टारक मल्लिभूषण, मुनि लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र, उनके पट्टवर्ती ज्ञानभूषण गणि और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र यति के नाम लिये हैं । ये प्रभाचन्द्र ही इस टीका के कर्ता प्रतीत होते हैं । उक्त आचार्य-परम्परावर्ती प्रभाचन्द्र का काल संवत् १६२५ से १६३७ तक पाया जाता है । उक्त प्रशस्तिके अन्तकी पुष्पिका में मूल ग्रन्थ को पंचसंग्रह अपर नाम लघुगोम्मटसार सिद्धान्त, कहा है । इस पर से अनुमान होता है कि मूल शतक अथवा उसकी भाष्य-गाथाओं का

संकलन गोम्मटसार पर से किया गया है। इसी पंचसंग्रह के आधार से अमितगति ने संस्कृत श्लोकबद्ध पंचसंग्रह की रचना की, जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार वि० सं० १०७३ (ई० सन् १०१६) में मसूरिकापुर नामक स्थान में समाप्त हुई। इसमें पांचों अधिकारों के नाम पूर्वाक्त ही हैं, तथा दृष्टिवाद और कर्मप्रवाद के उल्लेख ठीक पूर्वोक्त प्रकार से ही आये हैं। यदि हम इसका आधार प्राकृत पंचसंग्रह को न माने तो यहां शतक और सप्तति नामक अधिकारों की कोई सार्थकता ही सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इनमें श्लोक-संख्या उससे बहुत अधिक पाई जाती है। किन्तु जब संस्कृत रूपान्तरकारने अधिकारों के नाम वे ही रखे हैं, तब उन्होंने भी मूल और भाष्य आधारित श्लोकों को अलग अलग रखा हो तो आश्चर्य नहीं। प्राकृत मूल और भाष्य को सन्मुख रखकर, संभव है श्लोकों का उक्त प्रकार पृथकत्व किया जा सके।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी एक प्राकृत पंचसंग्रह पाया जाता है जिसके कर्ता पार्श्वर्षि के शिष्य चंद्रर्षि हैं। उनका काल छठी शती अनुमान किया जाता है। इस ग्रन्थ में ९६३ गाथायें हैं जो शतक, सप्तति, कषायपाहुड, षट्कर्म और कर्मप्रकृति नामक पांच द्वारों में विभाजित हैं। ग्रन्थ पर मलयगिरि की टीका उपलब्ध है।

शिवशर्म कृत कर्मप्रकृति (कम्मपयडि) में ४१५ गाथाएं हैं और वे बंधन, संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, उपशमना, उदय और सत्ता इन आठ करणों (अध्यायों) में विभाजित हैं। इस पर एक चूर्णि तथा मलयगिरि और यशोविजय की टीकायें उपलब्ध हैं।

शिवशर्म की दूसरी रचना शतक नामक भी है। गर्गर्षि कृत कर्मविपाक (कम्मविवाग) तथा जिनवल्लभगणि कृत षडशीति (सडसीइ) एवं कर्मस्तव (कम्मत्थव) बंधस्वामित्व (सामित्त) और सप्ततिका (सत्तरी) अनिश्चित कर्ताओं की उपलब्ध हैं, जिनमें कर्म सिद्धान्त के भिन्न-भिन्न प्रकरणों का अतिसंक्षेप में सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। ये छहों रचनाएं प्राचीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं और उन पर नाना कर्ताओं की चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, टिप्पण आदि रूप टीकाएं पाई जाती हैं। सत्तरी पर अभयदेव सूरि कृत भाष्य तथा मेरुतुंग की वृत्ति (१४ वीं शती) उपलब्ध हैं।

ईस्वी की १३वीं शती में जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य देवेन्द्र सूरि ने कर्मविपाक (गा० ६०), कर्मस्तव (गा० ३४), बंधस्वामित्व (गा० २४), षडशीति (गा० ८६) और शतक (गा० १००), इन पांच ग्रन्थों की रचना की, जो नये कर्मग्रन्थों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पर उन्होंने स्वयं विवरण भी लिखा है। छठा नव्य कर्मग्रन्थ प्रकृति-बंध विषयक ७२ गाथाओं में लिखा गया है, जिसके कर्ता के विषय में अनिश्चय है। इस पर मलयगिरि कृत टीका मिलती है।

जिनभद्र गणी कृत विशेषणवती (६वीं शती) में ४०० गाथाओं द्वारा ज्ञान, दर्शन, जीव, अजीव आदि नाना प्रकार से द्रव्य-प्ररूपण किया गया है।

जिनवल्लभसूरि कृत सार्धशतक का दूसरा नाम 'सूक्ष्मार्थ विचारसार' है जिसमें सिद्धान्त के कुछ विषयों पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है। इस पर एक भाष्य, मुनिचन्द्र कृत चूर्णि तथा हरिभद्र, धनेश्वर और चक्रेश्वर कृत चूर्णियों के उल्लेख मिलते हैं। मूल रचना का काल लगभग ११०० ईस्वी पाया जाता है।

जीवसमास नामक एक प्राचीन रचना २८६ गाथाओं में पूर्ण हुई है, और उसमें सत्, संख्या आदि सात प्ररूपणाओं द्वारा जीवादि द्रव्यों का स्वरूप समझाया गया है। इस ग्रन्थ पर एक वृहद् वृत्ति मिलती है, जो मलधारी हेमचन्द्र द्वारा ११०७ ईस्वी में लिखी गई ७००० श्लोक प्रमाण है।

जैन सिद्धान्त में मन, वचन और काय योग के भेद-प्रभेदों का वर्णन आता है गोम्मटसारादि रचनाओं में यह पाया जाता है। यशोविजय उपाध्याय (१८वीं शती) ने अपने भाषारहस्य-प्रकरण की १०१ गाथाओं में द्रव्य व भाव-भात्मक भाषा के स्वरूप तथा सत्यभाषा के जनपद-सत्या, सम्मत-सत्या, नामसत्या आदि दश भेदों का निरूपण किया है।

षट्खंडागम सूत्रों की रचना के काल में ही गुणधर आचार्य द्वारा कसायपाहुड की रचना हुई। यथार्थतः कहा नहीं जा सकता कि धरसेन और गुणधर आचार्यों में कौन पहले और कौन पीछे हुए। श्रुतावतार के कर्ता ने स्पष्ट कह दिया है कि इन आचार्यों की पूर्वापर परम्परा का उन्हे कोई प्रमाण नहीं मिल सका। कसायपाहुड की रचना षट्खंडागम के समान सूत्र रूप नहीं, किन्तु पद्यबद्ध है। इसमें २३३ मूल गाथाएं हैं, जिनका विषय कषायों अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के स्वरूप का विवेचन और उनके कर्मबंध में कारणीभूत होने की प्रक्रिया का विवरण करना है। ये चारों कषाय पुनः दो वर्गों में विभाजित होते हैं—प्रेयस् (राग) और द्वेष, और इसी कारण ग्रन्थ का दूसरा नाम पेज्जदोस पाहुड पाया जाता है। इस पाहुड को आर्यमंक्षु और नागहस्ति से सीखकर, यतिवृषभाचार्य ने उस पर छह हजार श्लोक प्रमाण वृत्तिसूत्र लिखे; जिन्हें उच्चारणाचार्य ने पुनः पल्लवित किया। इन पर वीरसेनाचार्य ने अपनी जयधवला टीका लिखी। इसे वे बीस हजार श्लोक प्रमाण लिखकर स्वर्गवासी हो गये; तब उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिख कर उसे पूरा किया। यह रचना शक सं० ७५९ (ई० सन् ८३७) में पूरी हुई, जबकि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष का राज्य था। इस टीका की रचना भी धवला के समान

मणि-प्रवाल न्याय से बहुत कुछ प्राकृत, किन्तु यत्र-तत्र संस्कृत में हुई है। इस रचना के मूडवद्री के सिद्धान्त वसति से बाहर आने का इतिहास वही है, जो पट्खंडागम का।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ—

प्राकृत पाहुडों की रचना की परम्परा में कुंदकुंद आचार्य का नाम सुविख्यात है। यथार्थतः दिग० सम्प्रदाय मे उन्हें जो स्थान प्राप्त है, वह दूसरे किसी ग्रन्थकार को नहीं प्राप्त हो सका। उनका नाम एक मंगल पद्य में भगवान महावीर और गौतम के पश्चात् ही तीसरे स्थान पर आता है—"मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी। मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम्।" दक्षिण के शिलालेखों में इन आचार्य का नाम कोंडकुंद पाया जाता है, जिससे उनके तामिल देशवासी होने का अनुमान किया जा सकता है। श्रुतावतार के कर्ता ने उन्हें कोंडकुंड-पुर वासी कहा है। मद्रास राज्य में गुंतकल के समीप कुंडकुंडी नामक ग्राम है, जहाँ की एक गुफा में कुछ जैन मूर्तियां स्थापित हैं। प्रतीत होता है कि यही कुंदकुंदाचार्य का मूल निवास-स्थान व तपस्या-भूमि रहा होगा। आचार्य ने अपने ग्रन्थों में अपना कोई परिचय नहीं दिया, केवल वारस अणुवेक्खा की एक प्रति के अंत में उसके कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य कहे गये हैं। इसके अनुसार कवि का काल ई० पू० तीसरी चौथी शताब्दी मानना पड़ेगा। किन्तु एक तो वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष की जो आचार्य-परम्परा सुसम्बद्ध और सर्वमान्य पाई जाती है, उसमें कुन्दकुन्द का कहीं नाम नहीं आता, और दूसरे भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाएं इतनी प्राचीन सिद्ध नहीं होतीं। उनमें अघोष वर्णों के लोप, य-श्रुति का आगमन आदि ऐसी प्रवृत्तियां पाई जाती हैं, जो उन्हें ई० सन् से पूर्व नहीं, किन्तु उससे पश्चात् कालीन सिद्ध करती हैं। पांचवीं शताब्दी में हुए आचार्य देवनंदी पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में कुछ गाथाएं उद्धृत की हैं, जो कुन्दकुन्द की बारस-अणुवेक्खा में भी पाई जाने से वहीं से ली हुई अनुमान की जा सकती है। बस यही कुन्दकुन्दाचार्य के काल की अंतिम सीमा कही जा सकती है। मर्करा के शक संवत् ३८८ के ताम्रपत्रों में उनके आम्नाय का नाम पाया जाता है, किन्तु अनेक प्रबल कारणों से ये ताम्रपत्र जाली सिद्ध होते हैं। अन्य शिलालेखों में इस आम्नाय का उल्लेख सातवीं आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं पाया जाता। अतएव वर्तमान प्रमाणों के आधार पर निश्चयतः इतना ही कहा जा सकता है कि वे ई० की पांचवीं शताब्दी के प्रारंभ व उससे पूर्व हुए हैं।

मान्यतानुसार कुंदकुंदाचार्य ने कोई चौरासी पाहुडों की रचना की। किन्तु वर्तमान

में इनकी निम्न रचनाएं सुप्रसिद्ध हैं:—(१) समयसार (२) प्रवचनसार, (३) पंचास्तिकाय, (४) नियमसार, (५) रयणसार, (६) दशभक्ति, (७) अष्ट पाहुड और (८) बारस अणुवेक्खा। समयसार जैन अध्यात्म की एक बड़ी उत्कृष्ट रचना मानी जाती है, और उसका आदर जैनियों के सभी सम्प्रदायों में समान रूप से पाया जाता है। इसमें आत्मा के गुणधर्मों का, निश्चय और व्यवहार दृष्टियों से, विवेचन किया गया है! तथा उसकी स्वाभाविक और वैभाविक परिणतियों का सुन्दर निरूपण अनेक दृष्टान्तों, उदाहरणों, व उपमाओं सहित ४१५ गाथाओं में हुआ है। प्रवचनसार की २७५ गाथाएं ज्ञान, ज्ञेय व चारित्र नामक तीन श्रुतस्कंधों में विभाजित हैं। यहां आचार्य ने आत्मा के मूलगुण ज्ञान के स्वरूप का सूक्ष्मता से विवेचन किया है, और जीव की प्रवृत्तियों को शुभ होने से पुण्य बंध करने वाली, अशुभ होने से पाप कर्म बंधक, तथा शुद्ध होने से कर्मबंध से मुक्त करनेवाली बतलाया है। ज्ञेय तत्वाधिकार में गुण और पर्याय का भेद, तथा व्यवहारिक जीवन में होनेवाले आत्म और पुद्गल संबंध का विवेचन किया है। चारित्राधिकार में श्रमणों की दीक्षा और उसकी मानसिक तथा दैहिक साधनाओं का स्वरूप समझाया है। इस प्रकार यह ग्रंथ अपने नामानुसार जैन प्रवचन का सार सिद्ध होता है। कुंदकुंद की रचनाओं में अभी तक इसी ग्रन्थ का भाषात्मक व विषयात्मक सम्पादन व अध्ययन आधुनिक समालोचनात्मक पद्धति से हो सका है।

पंचास्तिकाय की १८१ गाथाएं दो श्रुतस्कंधों में विभाजित हैं। प्रथम श्रुतस्कंध १११ गाथाओं में समाप्त हुआ है और इसमें ६ द्रव्यों में से पाच अस्तिकायों अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश का स्वरूप समझाया गया है। अंतिम आठ गाथाएं चूलिका रूप हैं, जिनमें सामान्य रूप से द्रव्यों और विशेषतः काल के स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। दूसरा श्रुतस्कंध महावीर के नमस्कार रूप मंगल से प्रारंभ हुआ है, और इसमें नौ पदार्थों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है; तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाकर, उनका आचरण करने पर जोर दिया गया है। पांच अस्तिकायों के समवाय को ही लेखक ने समय कहा है, एवं अपनी रचना को संग्रहसूत्र (गाथा १०१, १८०) कहा है।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर दो टीकाएं सुप्रसिद्ध हैं—एक अमृतचन्द्र सूरि कृत और दूसरी जयसेन कृत। अमृतचन्द्र का समय १३ वीं शती का पूर्वार्द्ध व जयसेन का १० वीं का अन्तिम भाग सिद्ध होता है। ये दोनों ही टीकाएं बड़ी विद्वत्तापूर्ण हैं, और मूलग्रंथों के मर्म को तथा जैन सिद्धान्त संबंधी अनेक बातों को

स्पष्टता से समझने में बड़ी सहायक होती हैं। अमृतचन्द्र की समयसार-टीका विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने इस ग्रन्थ को संसार का सच्चा सार स्वरूप दिखलाने वाला नाटक कहा है, जिसपर से न केवल यह ग्रन्थ, किन्तु उक्त तीनों ही ग्रन्थ नाटक-त्रय के नाम से भी प्रख्यात हैं; यद्यपि रचना की दृष्टि से वे नाटक नहीं हैं। अमृतचन्द्र की समयसार टीका में आये श्लोकों का संग्रह 'समयसार कलश' के नाम से एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही बन गया है, जिसपर शुभचन्द्र कृत टीका भी है।:इन्हीं कलशों पर से हिन्दी में बनारसीदास ने अपना 'समयसार नाटक' नाम का आध्यामिक काव्य रचा हैं, जिसके विषय में उन्होंने कहा है कि 'नाटक के पढ़त हिया फाटक सो खुलत है'। अमृतचन्द्र की दो स्वतंत्र रचनाएं भी मिलती हैं—एक पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जो जिन प्रवचन-रहस्य-कोष भी कहलाता है, और दूसरी तत्वार्थसार, जो तत्वार्थसूत्र का पद्यात्मक रूपान्तर या भाष्य है। कुछ उल्लेखों व अवतरणों पर से अनुमान होता है कि उनका कोई प्राकृत पद्यात्मक ग्रन्थ, संभवतः श्रावकाचार, भी रहा है, जो अभी तक मिला नहीं।

अमृतचन्द्र और जयसेन की टीकाओं में मूल ग्रन्थों की गाथा-संख्या भी भिन्न भिन्न पाई जाती है। अमृतचन्द्र के अनुसार पंचास्तिकाय में १७३, समयसार में ४१५ और प्रवचनसार में २७५ गाथाएं हैं, जब कि जयसेन के अनुसार उनकी संख्या क्रमशः १८१, ४३९ और ३११ है।

उक्त तीनों ग्रन्थों पर बालचन्द्र देव कृत कन्नड टीका भी पाई जाती है, जो १२ वीं १३ वीं शताब्दी में लिखी गई है। यह जयसेन की टीका से प्रभावित है। प्रवचनसार पर प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित सरोज-भास्कर नामक टीका भी है, जो अनुमानतः १४ वीं शती की है, और उक्त टीकाओं की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त है।

कुंदकुंद कृत शेष रचनाओं का परिचय चरणानुयोग विषयक साहित्य के अन्तर्गत आता है।

द्रव्यानुयोग विषयक संस्कृत रचनाएं—

संस्कृत में द्रव्यानुयोग विषयक रचनाओं का प्रारम्भ तत्त्वार्थ सूत्र से होता है, जिसके कर्ता उमास्वाति हैं। इसका रचनाकाल निश्चित नहीं है, किन्तु इसकी सर्वप्रथम टीका पांचवी शताब्दी की पाई जाती है; अतएव मूल ग्रन्थ की रचना इससे पूर्व किसी समय हुई होगी। यह एक ऐसी अद्वितीय रचना है, कि उसपर दिग० श्वे० दोनों सम्प्रदायों की अनेक पृथक् पृथक् टीकाएं पाई जाती हैं। इस ग्रन्थ की रचना सूत्र रूप है और वह दस अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय के ३३ सूत्रों में

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के उल्लेख पूर्वक सम्यग्दर्शन की परिभाषा, सात तत्वों के नाम-निर्देश, प्रमाण और नयका उल्लेख एवं मति श्रुत आदि पांचज्ञानों का स्वरूप बतलाया गया है। दूसरे अध्याय में ५३ सूत्रों द्वारा जीवों के भेदोपभेद बतलाये गये हैं। तीसरे अध्याय में ३९ सूत्रों द्वारा अधोलोक और मध्यलोक का, तथा चौथे अध्याय में ४२ सूत्रों द्वारा देवलोक का वर्णन किया गया है। पांचवें अध्याय में छह द्रव्यों का स्वरूप ४२ सूत्रो द्वारा बतलाया गया है, और इस प्रकार सात तत्वों में से प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव तत्वों का प्ररूपण समाप्त किया गया है। छठे अध्याय में २७ सूत्रों द्वारा आस्रव तत्व का निरूपण समाप्त किया गया है, जिसमें शुभाशुभ परिणामों द्वारा पुण्य पाप रूप कर्मास्रव का वर्णन है। सातवें अध्याय में अहिंसादि व्रतों तथा उनसे सम्बद्ध भावनाओं का ३९ सूत्रों द्वारा वर्णन किया गया है। आठवें अध्याय के २६ सूत्रों में कर्मबन्ध के मिथ्यादर्शनादि कारण, प्रकृति स्थिति आदि विधियों, ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मभेदों और उनके उपभेदों को स्पष्ट किया गया है। नौवें अध्याय में ४७ सूत्रों द्वारा अनागत कर्मों को रोकने के उपाय रूप संवर, तथा बंधे हुए कर्मों के विनाश रूप निर्जरा तत्वों को समझाया गया है। दसवें अध्याय में नौ सूत्रों द्वारा कर्मों के क्षय से उत्पन्न मोक्ष का स्वरूप समझाया गया है। इस प्रकार छोटे छोटे ३५६ सूत्रों द्वारा जैन धर्म के मूलभूत सात तत्वों का विधिवत् निरूपण इस ग्रन्थ में आ गया है, जिससे इस ग्रन्थ को समस्त जैन सिद्धान्त की कुंजी कहा जा सकता है। इसी कारण यह ग्रन्थ लोकप्रियता और सुविस्तृत प्रचार की दृष्टि से जैन साहित्य में अद्वितीय है। दिग० परम्परा में इसकी प्रमुख टीकाएं देवनंदि पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि (५वीं शती), अकलंक कृत तत्वार्थराजवार्तिक (आठवीं शती) तथा विद्यानंदि कृत तत्वार्थश्लोकवार्तिक (नौवीं शती) एवं श्वे० परम्परा में स्वोपज्ञ भाष्य तथा सिद्धसेन गणि कृत टीका (आठवीं शती) हैं। इन टीकाओं के द्वारा मूल ग्रन्थ का सूत्रों द्वारा संक्षेप में वर्णित विषय खूब पल्लवित किया गया है। इनके अतिरिक्त भी इस ग्रन्थ पर छोटी बड़ी और भी अनेक टीकाएं उत्तर काल में लिखी गई हैं। तत्वार्थ सूत्र के विषय को लेकर उसके भाष्य रूप स्वतंत्र पद्यात्मक रचनाएं भी की गई हैं। इनमें अमृतचन्द्रसूरि कृत तत्वार्थसार विशेष उल्लेखनीय है।

न्याय विषयक प्राकृत जैन साहित्य—

जैन आगम सम्मत तत्वज्ञान की पुष्टि अनेक प्रकार की न्यायशैलियों में की गई है, जिन्हें स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नयवाद आदि नामों से कहा गया है। इन न्याय

शैलियों का स्फुटरूप से उल्लेख व प्रतिपादन तो जैन साहित्य में आदि से ही यत्र तत्र आया है, तथापि इस विषय के स्वतंत्र ग्रन्थ चौथी पांचवीं शताब्दी से रचे गये मिलते हैं। जैन न्यायका प्राकृत मे प्रतिपादन करने वाला सर्व प्रथम ग्रन्थ सिद्धसेन कृत 'सम्मइ सुत्त' (सन्मति या सम्मति तर्क) या सन्मति-प्रकरण है । सन्मति-तर्क को तत्वार्थसूत्र के समान ही दिग० श्वे० दोनो सम्प्रदायों के आचार्यों ने प्रमाण रूप से स्वीकृत किया है। पट्खंडागम की धवला टीका मे इसके उल्लेख व उद्धरण मिलते हैं, तथा वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित (शक ६४७) में इसका व सभवतः उस पर सन्मति (सुमतिदेव) कृत विवृत्ति का उल्लेख किया है। इसका रचना काल चौथी-पांचवीं शताब्दी ई० है। इसमें तीन कांड हैं, जिनमें क्रमशः ५४, ४३ और ६९ या ७० गाथाएं हैं। इस पर अभयदेव कृत २५००० श्लोक प्रमाण 'तत्वबोध विधायिनी' नामकी टीका है, जिसमे जैन न्याय के साथ साथ जैन दर्शन का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। इससे पूर्व मल्लवादी द्वारा लिखित टीका के भी उल्लेख मिलते हैं। प्राकृत में स्याद्वाद और नयका प्ररूपण करने वाले दूसरे आचार्य देवसेन हैं, जो दसवी शताब्दी में हुए हैं। उनकी दो रचनाएं उपलभ्य हैः एक लघु-नयचक्र, जिसमें ८७ गाथाओं द्वारा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो तथा उनके नैगमादि नौ नयों को उनके भेदोपभेद के उदाहरणों सहित समझाया है। दूसरी रचना बृहन्नयचक्रहै, जिसमें ४२३ गाथाएं हैं, और उसमें नयों व निक्षेपो का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। रचना के अंत की ६, ७ गाथाओं में लेखक ने एक यह महत्वपूर्ण बात बतलाई है कि आदितः उन्होंने 'दव्व-सहाव-पयास' (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) नाम से इस ग्रन्थ की रचना दोहा बंध में की थी, किन्तु उनके एक शुभंकर नामके मित्र ने उसे सुनकर हंसते हुए कहा कि यह विषय इस छंद में शोभा नही देता; इसे गाथा बद्ध कीजिये । अतएव उसे उनके माइल्ल-धवल नामक शिष्य ने गाथा रूप में परिवर्तित कर डाला । स्याद्वाद और नयवाद का स्वरूप, उनके पारिभाषिक रूप में, व्यवस्था से समझने के लिये देवसेन की ये रचनायें बहुत उपयोगी हैं। इनकी न्यायविषयक एक अन्य रचना 'आलाप-पद्धति' है। इसकी रचना संस्कृत गद्य में हुई है। जैन न्याय में सरलता से प्रवेश पाने के लिये यह छोटा सा ग्रन्थ बहुत सहायक सिद्ध होता है। इसकी रचना नयचक्र के पश्चात् नयों के सुबोध व्याख्यान रूप हुई है।

न्याय विषयक संस्कृत जैन साहित्य—

जैन न्याय की इस प्राचीन शैली को परिपुष्ट बनाने का श्रेय आचार्य समंतभद्र

(५-वी ६ ठी शती) की है, जिनकी न्याय विषयक आप्तमीमांसा (११४ श्लोक) और युक्त्यनुशासन, (६४ श्लोक), ये दोनों रचनाएं प्राप्त हैं। आप्तमीमांसा को देवागम स्तोत्र भी कहा गया है। ये दोनों कृतियां स्तुतियों के रूप में रची गई हैं, और उनमें विषय की ऊहापोह एवं खंडन-मंडन स्याद्वाद की सप्तभंगी व नयों के आश्रय से किया गया है; और उनमें विशेष रूप से एकांतवाद का खंडन कर अनेकान्तवाद की पुष्टि की गई है। इसी अनेकान्तवाद के आधारपर युक्त्यनुशासन में महावीर के शासन को सर्वोदय तीर्थ कहा गया है। इस रचना का दिग० सम्प्रदाय में बड़ा आदर हुआ है, और उसपर विशाल टीका साहित्य पाया जाता है। सबसे प्राचीन टीका भट्टाकलंककृत अष्टशती है, जिसे आत्मसात् करते हुए विद्यानंदि आचार्य ने अपनी अष्टसहस्री नामक टीका लिखी है। इस टीका के आप्तमीमांसालंकृति व देवागमालंकृति नाम भी पाये जाते हैं। अन्य कुछ टीकाएं वसुनंदि कृत देवागम-वृत्ति (१० वी शती) तथा लघु समंतभद्र कृत अष्टसहस्रीविषमपद-तात्पर्यटीका (१३ वीं शती) नामकी हैं। एक टिप्पण उपाध्याय यशोविजय कृत भी उपलब्ध हैं। युक्त्यनुशासन पर विद्यानंदि आचार्य कृत टीका पाई जाती है। इस टीका की प्रस्तावना में कहा गया है कि समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' द्वारा तीर्थंकर भगवान् को व्यवस्थापित किया, और फिर युक्त्यनुशासन की रचना की। इसके द्वारा हमें उक्त दोनों ग्रन्थों के रचना-क्रम की सूचना मिलती है। विद्यानंदि ने यहां जो 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' पद आप्तमीमांसा के सम्बन्ध में प्रयोग किया है, उसका आगे बड़ा प्रभाव पड़ा, और हेमचन्द्र ने अपनी एक स्तुति रूप रचना का यही नाम रक्खा, जिस पर मल्लिषेण ने स्याद्वाद मंजरी टीका लिखी। अपनी एक दूसरी स्तुति-रूप रचना को हेमचन्द्र ने 'अयोग-व्यवच्छेदिका नाम दिया है। समंतभद्र कृत अन्य दो ग्रन्थों अर्थात् जीव-सिद्धि और तत्वानुशासन के नामों का उल्लेख मिलता है, किन्तु ये रचनायें अभी तक प्रकाश में नहीं आईं।

संस्कृत में जैन न्याय विषयक संक्षिप्ततम रचना सिद्धसेन कृत न्यायावतार उपलब्ध होती है, जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण-भेदों के प्रतिपादन द्वारा जैन न्याय को एक नया मोड़ दिया गया है। इससे पूर्व प्रमाण के मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल, ये पांच ज्ञानभेद किये जाते थे, जिनमें प्रथम दो परोक्ष और शेष तीन प्रत्यक्ष माने जाते थे। इसके अनुसार इन्द्रिय-जन्य समस्त ज्ञान परोक्ष माना जाता था। किन्तु वैदिक व बौद्ध परम्परा के न्याय शास्त्रों में इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुए ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ही मानकर चला गया है। इस ज्ञान को

सम्भवतः जिनभद्रगणि ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में प्रथम वार परोक्ष के स्थान पर 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' की संज्ञा प्रदान की। इसी आधार पर पीछे के न्याय ग्रन्थों में प्रमाण को प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन अथवा उपमान को मिलाकर चार भेदों में विभाजित कर ऊहापोह की जाने लगी। न्यायावतार में कुल ३२ कारिकाएं हैं, जिनके द्वारा उपर्युक्त तीन प्रमाणों का संक्षेप से प्रतिपादन किया गया है। इसी विषय का विस्तार न्यायावतार की हरिभद्र सूरि (८वीं शती) कृत वृत्ति, सिद्धर्षि गणि (१०वी शती) कृत टीका, एवं देवभद्र सूरि (१२ वी शती) कृत टिप्पणों में किया गया है। शान्तिसूरि (११ वी शती) ने न्यायावतार की प्रथम कारिका पर सटीक पद्यबंध वार्त्तिक रचा है। इसी प्रथम कारिका पर जिनेश्वर सूरि (११ वीं शती) ने अपना पद्यबंध प्रमालक्षण नामक ग्रन्थ लिखा, और स्वयं उसपर व्याख्या भी लिखी।

जैन न्याय को अकलंक की देन बड़ी महत्वपूर्ण है। अनेक शिलालेखों व प्रशस्तियों के आधार से अकलंक का समय ई० की आठवी शती का उत्तरार्द्ध विशेषतः ई० ७२०-७८० सिद्ध हो चुका है। इनकी तत्त्वार्थसूत्र तथा आप्तमीमांसा पर लिखी हुई टीकाओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उन रचनाओं में हमें एक बड़े नैयायिक की तर्क शैली के स्पष्ट दर्शन होते हैं। अकलंक की न्यायविषयक चार कृतियां प्राप्त हुई हैं-प्रथम कृति लघीयस्त्रय में प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश तथा प्रवचन-प्रवेश नाम के तीन प्रकरण हैं, जो प्रथमतः स्वतंत्र ग्रन्थ थे, और पीछे एकत्र ग्रथित होकर लघीयस्त्रयनाम से प्रसिद्ध हो गये। प्रमाण, नय और निक्षेप इन तीनों का तार्किक शैली से एकत्र प्ररूपण करने वाला यही सर्वप्रथम ग्रन्थ सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने प्रत्यक्ष का स्वतंत्र लक्षण स्थिर किया (१, ३), तार्किक कसौटी द्वारा क्षणिक-वाद का खंडन किया (२, १), तर्क का विषय, स्वरूप, उपयोग आदि स्थिर किया; इत्यादि। इसपर स्वयं कर्ता की विवृत्ति नामक टीका मिलती है। इसी पर प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रयालंकार नामकी वह विशाल टीका लिखी जो 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामसे प्रसिद्ध है, और जैन न्याय का एक बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इनका काल ई० की ग्यारहवीं शती है। अकलंक की दूसरी रचना 'न्यायविनिश्चय' है, और उसपर भी लेखक ने स्वयं एक वृत्ति लिखी थी। मूल रचना की कोई स्वतंत्र प्रति प्राप्त नहीं हो सकी, किन्तु उसका उद्धार उनकी वादिराजसूरि (११ वीं शती) द्वारा रचित विवरण नामकी टीका पर से किया गया है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन नाम के तीन प्रस्ताव हैं, जिनकी तुलना सिद्धसेन द्वारा न्यायावतार में स्थापित प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुत; तथा बौद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान से करने योग्य है। तीसरी

रचना 'सिद्धिविनिश्चय' में प्रत्यक्षसिद्धि, सविकल्प सिद्धि, प्रमाणान्तरसिद्धि व जीवसिद्धि आदि बारह प्रस्तावों द्वारा प्रमाण, नय और निक्षेप का विवेचन किया गया है। इस पर अनंतवीर्यकृत (११वीं शती) विशाल टीका है। इनका चौथा ग्रन्थ 'प्रमाण-संग्रह' है, जिसकी ८७-८८ कारिकाएं नौ प्रस्तावों में विभाजित हैं। इसपर कर्ता द्वारा स्वरचित वृत्ति भी है, जो गद्य मिश्रित शैली में लिखी गई है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का स्वरूप, हेतुओं और हेत्वाभासों का निरूपण, वाद के लक्षण, प्रवचन के लक्षण, सप्तभंगी और नैगमादि सात नयों का कथन, एवं प्रमाण, नय और निक्षेप का निरूपण बड़ी प्रौढ़ और गंभीर शैली में किया गया है, जिससे अनुमान होता है कि यही अकलंक की अन्तिम रचना होगी। इसपर अनन्तवीर्य कृत प्रमाणसंग्रह भाष्य, अपर नाम 'प्रमाणसंग्रह-अलंकार टीका' उपलभ्य है। इन रचनाओं द्वारा अकलंक ने जैन न्याय को खूब परिपुष्ट किया है, और उसे उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कराई है।

अकलंक के अनन्तर जैन न्याय विषयक साहित्य को विशेष रूप से परिपुष्ट करने का श्रेय आचार्य विद्यानंदि को है, जिनका समय ई० ७७५ से ८४० तक सिद्ध होता है। उनकी रचनाएं दो प्रकार की पाई जाती हैं, एक तो उनसे पूर्वकाल की विशेष सैद्धान्तिक कृतियों की टीकाएं, और दूसरे अपनी स्वतंत्र कृतियां। उनकी उमास्वाति कृत त० सूत्र पर श्लोकवार्तिक नामक टीका, समन्तभद्र कृत युक्त्यनुशासन की टीका और आप्तमीमांसा पर अष्टसहस्री टीका के उल्लेख यथास्थान किये जा चुके हैं। इन टीकाओं में भी उनकी सैद्धान्तिक प्रतिभा एवं न्याय की तर्क शैली के दर्शन पद-पद पर होते हैं। उनकी न्याय विषयक स्वतंत्र कृतियां हैं—आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा और सत्यशासन-परीक्षा। आप्त-परीक्षा सर्वार्थसिद्धि के 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि प्रथम श्लोक के भाष्य रूप लिखी गई है। विद्या-नंदि ने अपने प्रमाण-परीक्षादि ग्रन्थों में उस वर्णन-शैली को अपनाया है, जिसके अनुसार प्रतिपादन अन्य ग्रन्थ की व्याख्या रूप से नहीं, किन्तु विषय का स्वतंत्र धारावाही रूप से किया जाता है। इन सब ग्रन्थों में कर्ता ने अकलंक के न्याय को और भी अधिक परिमार्जित करके चमकाया है। उनकी एक और रचना 'विद्यानंद-महोदय' का उल्लेख स्वयं उनके तत्वार्थश्लोकवार्तिक में, तथा वादिदेव सूरि के 'स्याद्वाद-रत्नाकर' में मिलता है, किन्तु वह अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है।

विद्यानंदि के पश्चात् विशेष उल्लेखनीय नैयायिक अनंतकीर्ति (१० वीं शती) और माणिक्यनंदि (११ वीं शती) पाये जाते हैं। अनन्तकीर्ति की दो रचनाएं 'बृहत् सर्वज्ञसिद्धि' और 'लघुसर्वज्ञसिद्धि' प्रकाश में आ चुकी हैं। माणिक्यनंदि कृत परीक्षामुख में हमें अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन, इन पांचों अवयवों

के प्रयोग की स्वीकृति दिखाई देती है (३, २७-४६) । यहां अनुपलब्धि को एक मात्र प्रतिषेध का ही नहीं, किन्तु विधि-निषेध दोनों का साधक बतलाया है (३, ५७ आदि) । यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्र कृत 'प्रमेय-कमल-मार्तण्ड' नामक टीका के द्वारा विशेष प्रख्यात हो गया है । प्रभाचन्द्र कृत 'न्यायकुमुदचन्द' नामक टीका का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । प्रभाचन्द्र का काल ई० की ११ वीं शती सिद्ध होता है। १२ वीं शती में अनंतवीर्य ने **प्रमेयरत्नमाला**, १५ वीं शती में धर्मभूषण ने **न्यायदीपिका**, विमलदास ने **सप्तभंगि-तरंगिणी**, शुभचन्द्र ने **संशयवदनविदारण**, तथा अनेक आचार्यों ने पूर्वोक्त ग्रन्थों पर टीका, वृत्ति व टिप्पण रूप से अथवा स्वतंत्र प्रकरण लिखकर संस्कृत में जैन न्यायशास्त्र की परम्परा को १७ वी-१८ वी शती तक बराबर प्रचलित रखा; और उसका अध्ययन-अध्यापन उत्तरोत्तर सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया ।

जिस प्रकार दिग० सम्प्रदाय में पूर्वोक्त प्रकार से न्यायविषयक ग्रन्थों की रचना हुई, उसी प्रकार श्वे० सम्प्रदाय में भी सिद्धसेन के पश्चात् संस्कृत में नाना न्यायविषयक ग्रन्थों की रचना की परम्परा १८ वी शती तक पाई जाती है । मुख्य नैयायिक और उनकी रचनाएं निम्न प्रकार हैं: मल्लवादी ने छठवीं शती में, **द्वादशार नयचक्र** नामक ग्रन्थ की रचनाकी जिसपर सिंहसूरिगणि की वृत्ति है और उसी वृत्तिपर से इस ग्रन्थका उद्धार किया गया है । इसमें सिद्धसेन के उद्धरण पाये जाते हैं, तथा भर्तृहरि और दिङ्नाग के मतों का भी उल्लेख हुआ है । इस नयचक्र का कुछ उद्धरण अकलंकके तत्वार्थवार्तिक में भी पाया जाता है। आठवीं शती में हरिभद्राचार्य ने न केवल जैन न्याय को, किन्तु जैन सिद्धान्त को भी अपनी विपुल रचनाओं द्वारा परिपुष्ट बनाया है, एवं कथा साहित्य को भी अलंकृत किया है । उनकी रचनाओं में **अनेकान्त जयपताका** (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), **अनेकान्त-वाद-प्रवेश** तथा **सर्वज्ञसिद्धि** जैन न्याय की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं ।

अनेकान्त-जयपताका में ६ अधिकार हैं, जिनमें क्रमशः सदसद्-रूप-वस्तु, नित्यानित्यवस्तु, सामान्य-विशेष, अभिलाप्यानभिलाप्य, योगाचार मत, और मुक्ति, इन विषयों पर गम्भीर व विस्तृत न्यायशैली से ऊहापोह की गई है। उक्त विषयों में से योगाचार मत को छोड़कर शेष पांच विषयों पर हरिभद्रने **अनेकान्तवाद-प्रवेश** नामक ग्रन्थ संस्कृत में लिखा, जो भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से अनेकान्तजयपताका का संक्षिप्त रूप ही प्रतीत होता है । यह ग्रन्थ एक टिप्पणी सहित प्रकाशित हो चुका है (पाटन १९१२) । उनके **अष्टप्रकरण** नामक ग्रन्थ में आठ-आठ पद्यों के ३२

किये हुए है, और उसे भी वेष्टित किये हुए आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। कालोदधि के आसपास १६ लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है। उसके आगे उक्त प्रकार दुगुने, दुगुने विस्तार वाले असंख्य सागर और द्वीप हैं। पुष्करवर-द्वीप के मध्य में एक महान् दुर्लंघ्य पर्वत है, जो मानुषोत्तर कहलाता है, क्योंकि इसको लांघकर उस पार जाने का सामर्थ्य मनुष्य में नही है। इस प्रकार जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध ये ढाई द्वीप मिलकर मनुष्य-लोक कहलाता है। जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों में विभाजित है, जिनकी सीमा निर्धारित करने वाले छह कुल-पर्वत हैं। क्षेत्रों के नाम हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इनके विभाजक पर्वत हैं— हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी। इनमें मध्यवर्ती विदेह क्षेत्र सबसे विशाल है, और उसी के मध्य में मेरु पर्वत है। भरतक्षेत्र में हिमालय से निकलकर गंगा नदी पूर्व समुद्रकी ओर, तथा सिंधु पश्चिम समुद्र की ओर बहती हैं। मध्य में विन्ध्य पर्वत है। इन नदी-पर्वतों के द्वारा भरत क्षेत्र के छह खंड हो गये हैं, जिनको जीतकर अपने वशीभूत करने वाला सम्राट् ही षट्खंड चक्रवर्ती कहलाता है।

मध्यलोक मे उपर्युक्त असंख्य द्वीपसागरों की परम्परा स्वयम्भूरमण समुद्र पर समाप्त होती है। मध्यलोक के इस असंख्य योजन विस्तार का प्रमाण एक राजु माना गया है। इस प्रमाण से सात राजु ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक, और सात राजु नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। ऊर्ध्वलोक में पहले ज्योतिर्लोक आता है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारों की स्थिति बतलाई गई है। इनके ऊपर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, ये सोलह स्वर्ग हैं। इन्हें कल्प भी कहते हैं, क्योंकि इनमें रहने वाले देव, इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक इन दस उत्तरोत्तर हीन पदरूप कल्पों (भेदों) में विभाजित हैं। इन सोलह स्वर्गों के ऊपर नौ ग्रैवेयक, और उनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि, ये पांच कल्पातीत देव-विमान हैं। सर्वार्थसिद्धि के ऊपर लोक का अग्रतम भाग है, जहां मुक्तात्माएं जाकर रहती हैं। इसके आगे धर्मद्रव्य का अभाव होने से कोई जीव या अन्य द्रव्य प्रवेश नहीं कर पाता। अधोलोक में क्रमशः रत्न, शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम और महातम प्रभा नाम के सात उत्तरोत्तर नीचे की ओर जाते हुए नरक हैं।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप से कालचक्र घूमा

करता है, जिसके अनुसार सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा,दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छह् अवसर्पिणी के, और ये ही विपरीत क्रम से उत्सर्पिणी के आरे होते हैं। प्रथम तीन आरों के काल में भोगभूमि की रचना रहती है, जिसमें मनुष्य अपनी अन्न वस्त्र आदि समस्त आवश्यकताएं कल्पवृक्षों से ही पूरी करते हैं, और वे कृषि आदि उद्योग-व्यवसायों से अनभिज्ञ रहते हैं। सुषमा-दुषमा काल के अन्तिम भाग में क्रमशः भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त होती और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ होती है। उस समय कर्मभूमि सम्बधी युगधर्मो को समझाने वाले क्रमशः चौदह कुलकर होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी के सुषमा-दुषमा काल के अंत में प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराज, इन चौदह कुलकरों और विशेषतः अंतिम कुलकर नाभिराज ने असि, मसि, कृषि, विद्या-वाणिज्य, शिल्प और उद्योग, इन षट्कर्मों की व्यवस्थाएं निर्माण की। इनके पश्चात् ऋषभ आदि २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव ९ वासुदेव, और ९ प्रति-वासुदेव, ये ६३ शलाका पुरुष दुषमा-सुषमा नामक चौथे काल में हुए। अंतिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् पंचम काल दुषम प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान मे चल रहा है। यही सामान्य रूप से करणानुयोग के ग्रन्थों में वर्णित विषयों का संक्षिप्त परिचय है। किन्हीं ग्रन्थों में यह सम्पूर्ण विषयवर्णन किया गया है, और किन्ही में इसमे से कोई। किन्तु विशेषता यह है कि इनके विषय के प्रतिपादन में गणित की प्रक्रियाओं का प्रयोग किया गया है, जिससे ये ग्रन्थ प्राचीन गणित के सूत्रों, और उनके क्रम-विकास को समझने में बड़े सहायक होते हैं। इस विषय के मुख्य ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

दिग० परम्परा में इस विषय का प्रथम ग्रन्थ लोकविभाग प्रतीत होता है। यद्यपि यह मूलग्रन्थ उपलब्ध नही है, तथापि इसका पश्चात् कालीन संस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर सिंहसूरि कृत लोकविभाग में मिलता है। सिंहसूरि ने अपनी प्रशस्ति मे स्पष्ट कहा है कि तीर्थंकर महावीर ने जगत् का जो विधान बतलाया, उसे सुधर्म स्वामी आदि ने जाना, और वही आचार्य-परम्परा से प्राप्त कर, सिंहसूरि ऋषि ने भाषा का परिवर्तन करके रचा। जिस मूलग्रन्थ का उन्होंने यह भाषा-परवर्तन किया, उसका भी उन्होंने यह परिचय दिया है कि वह ग्रन्थ कांची नरेश सिंहवर्मा के बाईसवें संवत्सर, तदनुसार शक के ३८० वें वर्ष में सर्वनंदि मुनि ने पांड्य राष्ट्र के पाटलिक ग्राम मे लिखा था। इतिहास से सिद्ध है कि शक संवत् ३८० में पल्लव वंशी राजा सिंहवर्मा राज्य करते थे, और उनकी राजधानी कांची थी। यह मूल ग्रन्थ अनुमानतः प्राकृत में ही रहा होगा।

कुंदकुंदकृत नियमसार की १७ वीं गाथा में जो 'लोयविभागे सुणादव्वं' रूप से उल्लेख किया गया है, उसमें सम्भव है इसी सर्वनंदि कृत लोकविभाग का उल्लेख हो। आगामी तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में लोकविभाग का अनेक बार उल्लेख किया गया है।

सिंहसूरि ऋषि ने यह भी कहा है कि उन्होंने अपना यह रूपान्तर उक्त ग्रन्थ पर से समास अर्थात् संक्षेप में लिखा है। जिस रूप में यह रचना प्राप्त हुई है, उसमें २२३० श्लोक पाये जाते हैं, और वह जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुषक्षेत्र, द्वीप-समुद्र, काल, ज्योतिर्लोक, भवनवासी लोक, अधोलोक, व्यन्तरलोक, स्वर्गलोक, और मोक्ष, इन ग्यारह विभागों में विभाजित है। ग्रन्थ में यत्र तत्र तिलोयपण्णत्ति, आदिपुराण, त्रिलोकसार व जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति ग्रन्थों के अवतरण या उल्लेख पाये जाते हैं, जिससे इसकी रचना ११ वीं शती के पश्चात् हुई अनुमान की जा सकती है।

त्रैलोक्य संबंधी समस्त विषयों को परिपूर्णता और सुव्यवस्था से प्रतिपादित करने वाला उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति है, जिसकी रचना प्राकृत गाथाओं में हुई है। यत्र तत्र कुछ प्राकृत गद्य भी आया है, एवं अंकात्मक संदृष्टियों की उसमें बहुलता है। ग्रन्थ इन नौ महाधिकारों में विभाजित है— सामान्य लोक, नारकलोक, भवनवासीलोक, मनुष्यलोक, तिर्यक्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, देवलोक और सिद्धलोक। ग्रन्थ की कुल गाथा-संख्या ५६७७ है। बीच बीच में इन्द्रवज्रा, स्रग्धरा, उपजाति, दोधक, शार्दूल-विक्रीड़ित, वसन्ततिलका और मालिनी छंदों का भी प्रयोग पाया जाता है। ग्रन्थोल्लेखों में अग्गायणी, संगोयणी, संगाइनी, दिट्ठिवाद, परिकम्म, मूलायार, लोयविणिच्छय, लोगाइणी व लोकविभाग नाम पाये जाते हैं। मनुष्य लोकान्तर्गत त्रेसठ शलाका पुरुषों की ऐतिहासिक राजवंशीय परम्परा, महावीर निर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् हुए चतुर्मुख कल्कि के काल तक वर्णित है। षट्खंडागम की वीरसेन कृत धवला टीका में तिलोयपण्णत्ति का अनेक बार उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों पर से इस ग्रन्थ की रचना मूलतः ई० सन् के ५०० और ८०० के बीच हुई सिद्ध होती है। किन्तु उपलभ्य ग्रन्थ में कुछ प्रकरण ऐसे भी मिलते हैं जो उक्त वीरसेन कृत धवला टीका परसे जोड़े गये प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ के कर्ता यति वृषभाचार्य हैं, जो कषायप्राभृत की चूर्णि के लेखक से अभिन्न ज्ञात होते हैं।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत त्रिलोकसार १०१८ प्राकृत गाथाओं में समाप्त हुआ है। उसमें यद्यपि कोई अध्यायों के विभाजन का निर्देश नहीं किया गया, तथापि जिन विषयों के वर्णन की आरंभ में प्रतिज्ञा की गई है, और उसी अनुसार जो वर्णन हुआ है, उसपर से इसके लोक-सामान्य तथा भवन, व्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक और

नर-तिर्यक्लोक ये छह अधिकार पाये जाते हैं। विषय-वर्णन प्रायः त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अनुसार संक्षिप्त रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ११ वीं शती है।

पद्मनंदि मुनि कृत जम्बूद्दीपपण्णत्ति में २३८९ प्राकृत गाथाएं हैं और रचना तिलोय पण्णति के आधार से हुई स्पष्ट प्रतीत होती है। इसके तेरह उद्देश्य निम्न प्रकार हैं:—उपोद्घात, भरत-ऐरावत वर्ष; शैल-नंदी-भोगभूमि; सुदर्शन मेरु, मंदर जिनभवन, देवोत्तरकुरु, कक्षाविजय, पूर्व विदेह, अपर विदेह, लवण समुद्र, द्वीपसागर-अधः-ऊर्ध्व-सिद्ध लोक; ज्योतिर्लोक और प्रमाण परिच्छेद। ग्रन्थ के अन्त में कर्ता ने बतलाया है कि उन्होंने जिनागम को ऋषि विजयगुरु के समीप सुनकर उन्हीं के प्रसाद से यह रचना माघनंदि, के प्रशिष्य तथा सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनंदि गुरु के निमित्त की। उन्होंने स्वयं अपने को वीरनंदि के प्रशिष्य व बलनंदि के शिष्य कहा है; तथा ग्रन्थ रचना का स्थान पारियात्र देश के अन्तर्गत वारानगर और वहां के राजा संति या सत्ति का उल्लेख किया है।

श्वे० परम्परा में इस विषय की आगमान्तर्गत सूर्य, चन्द्र व जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तियों के अतिरिक्त जिनभद्रगणि कृत दो रचनाएं क्षेत्रसमास और संग्रहणी उल्लेखनीय हैं। इन दोनों रचनाओं के परिमाण में क्रमशः बहुत परिवर्द्धन हुआ है, और उनके लघु और वृहद् रूप संस्करण टीकाकारों ने प्रस्तुत किये हैं। उपलभ्य बृहत्क्षेत्रसमास, अपर-नाम त्रैलोप्यदीपिका, में ६५६ गाथाएं हैं, जो इन पांच अधिकारों में विभाजित हैं—जम्बूद्वीप, लवणोदधि, धातकीखंड, कालोदधि और पुष्करार्द्ध। इस प्रकार इसमें मनुष्य लोक मात्र का वर्णन है। उपलभ्य वृहत्संग्रहणी के संकलनकर्ता मलधारी हेमचन्द्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि (१२ वीं शती) है। इसमें ३४९ गाथाएं हैं, जो देव, नरक, मनुष्य, और तिर्यंच, इन चार गति नामक अधिकारों में, तथा उनके नाना विकल्पों एवं स्थिति, अवगाहना आदि के प्ररूपक नाना द्वारों में विभाजित है। यहां लोकों की अपेक्षा उनमें रहने वाले जीवों का ही अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। एक लघुक्षेत्रसमास रत्नशेखर सूरि (१४ वी शती) कृत २६२ गाथाओं में तथा वृहत्क्षेत्रसमास सोम-तिलक सूरि (१४ वीं शती) कृत ४८९ गाथाओं में, भी पाये जाते हैं। इनमें भी अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य-लोक का वर्णन है। विचारसार-प्रकरण के कर्ता देवसूरि के शिष्य प्रद्युम्नसूरि (१३ वी शती) हैं। इसमें ९०० गाथाओं द्वारा कर्मभूमि, भोगभूमि, आर्य व अनार्य देश, राजधानियां, तीर्थंकरों के पूर्वभव, माता-पिता, स्वप्न, जन्म आदि एवं समवशरण, गणधर, अष्टमहाप्रातिहार्य, कल्कि, शक व विक्रम काल गणना,

दशनिन्हव, ८४ लाख योनियां व सिद्ध, इस प्रकार नाना विषयों का वर्णन है। इस पर माणिक्यसागर कृत संस्कृत छाया उपलम्य है। (आ० स०, भावनगर, १९८३)।

उक्त समस्त रचनाओं से संभवतः प्राचीन 'ज्योतिषकरंडक' नामक ग्रन्थ है जिसे मुद्रित प्रति में 'पूर्वभृद् वालभ्य प्राचीनतराचार्य कृत' कहा गया है (प्र० रतलाम १९२८)। इस पर पादलिप्त सूरि कृत टीका का भी उल्लेख मिलता है। उपलभ्य ज्योतिषकरंडक-प्रकीर्णक में ३७६ गाथाएं हैं, जिनकी भाषा व शैली जैन महाराष्ट्री प्राकृत रचनाओं से मिलती है। ग्रन्थ के आदि में कहा गया है कि सूर्यप्रज्ञप्ति में जो विषय विस्तार से वर्णित है उसको यहां संक्षेप से पृथक् उद्धृत किया जाता है। ग्रन्थ में कालप्रमाण, मान, अधिकमास-निष्पत्ति, तिथि-निष्पत्ति, ओमरत्त (हीनरात्रि) नक्षत्र-परिमाण, चन्द्र-सूर्य-परिमाण, नक्षत्र-चन्द्र-सूर्य-गति, नक्षत्रयोग, मंडलविभाग, अयन, आवृत्ति, मुहूर्तगति, ऋतु, विषुवत् (अहोरात्रि-समत्व), व्यतिपात, ताप, दिवसवृद्धि, अमावस-पौर्णमासी, प्रनष्टपर्व और पौरुषी, ये इक्कीस पाहुड हैं।

संस्कृत और अपभ्रंश के पुराणों में, जैसे हरिवंशपुराण, महापुराण, त्रिषष्टि-शलाकापुरुष चरित्र, तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार में भी त्रैलोक्य का वर्णन पाया जाता है। विशेषतः जिनसेन कृत संस्कृत हरिवंशपुराण (८ वीं शती) इसके लिये प्राचीनता व विषय-विस्तार की दृष्टि से उल्लेखनीय है। उसके चौथे से सातवें सर्ग तक क्रमशः अधोलोक, तिर्यग्लोक, ऊर्ध्वलोक और काल का विशद वर्णन किया गया है, जो प्रायः तिलोय-पण्णत्ति से मेल खाता है।

चरणानुयोग-साहित्य

जैन साहित्य के चरणानुयोग विभाग में वे ग्रन्थ आते हैं जिनमें आचार धर्म का प्रतिपादन किया गया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि द्वादशांग आगम के भीतर ही प्रथम आचारांग में मुनिधर्म का तथा सातवें अंग उपासकाध्ययन में गृहस्थों के आचार का वर्णन किया गया है। पश्चात्कालीन साहित्य में इन दोनों प्रकार के आचार पर नाना ग्रन्थ लिखे गये।

मुनिआचार-प्राकृत

सर्वप्रथम कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में हमें मुनि और श्रावक सम्बन्धी आचार का भिन्न-भिन्न निरूपण प्राप्त होता है। उनके प्रवचनसार का तृतीय श्रुतस्कंध यथार्थतः मुनिआचार सम्बन्धी एक स्वतंत्र रचना है जो सिद्धों, तीर्थंकरों और श्रमणों के

नमस्कारपूर्वक श्रामण्य का निरूपण करता है। यहाँ ७५ गाथाओं द्वारा श्रमण के लक्षण, प्रव्रज्या तथा उपस्थापनात्मक दीक्षा, अट्ठाईस मूलगुणों का निर्देश, छेद का स्वरूप, उत्सर्ग व अपवाद मार्ग का निरूपण, ज्ञानसाधना, शुभोपयोग, संयमविरोधी प्रवृत्तियों का निषेध तथा श्रामण्य की पूर्णता द्वारा मोक्ष तत्व की साधना का प्ररूपण कर अन्तिम गाथा में यह कहते हुए ग्रन्थ समाप्त किया गया है कि जो कोई सागार या अनगार आचार से युक्त होता हुआ इस शासन को समझ जाय, वह अल्पकाल में प्रवचन के सार को प्राप्त कर लेता है।

नियमसार में १८७ गाथाएं हैं। लेखक ने आदि में स्पष्ट किया है कि जो नियम से किया जाय, वही नियम है और वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है। 'सार' शब्द से उनका तात्पर्य है कि उक्त नियम से विपरीत बातों का परिहार किया जाय। तत्पश्चात् ग्रन्थ में उक्त तीनों के स्वरूप का विवेचन किया है। गाथा ७७ से १५७ तक ८१ गाथाओं में आवश्यकों का स्वरूप विस्तार से समझाया है, जिसे उन्होंने मुनियों का निश्चययात्मक चारित्र कहा है। यहाँ षड़ावश्यकों का क्रम एवं उनके नाम अन्यत्र से कुछ भिन्न है। जिन आवश्यकों का यहाँ वर्णन हुआ है, वे हैं—प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक और परमभक्ति। उन्होंने कहा है—प्रतिक्रमण उसे कहते हैं जिसका जिनवर-निर्दिष्ट सूत्रों में वर्णन है (गाथा ८६) और उसका स्वरूप वही है जो प्रतिक्रमण नामके सूत्र में कहा गया है (गाथा ६४)। यहां आवश्यक निर्युक्ति का स्वरूप भी समझाया गया है। जो अपने वश अर्थात् स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है वह अवश, और अवश करने योग्य कार्य आवश्यक है। युक्ति का अर्थ है उपाय, वही निरवयव अर्थात् समष्टि रूप से निर्युक्ति कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि लेखक के सम्मुख एक आवश्यक निर्युक्ति नाम की रचना थी और वे उसे प्रामाणिक मानते थे (गाथा १४२)। आवश्यक द्वारा ही श्रामण्य गुण की पूर्ति होती है। अतएव जो श्रमण आवश्यक से हीन है, वह चारित्र-भ्रष्ट होता है (१४७-४८)। आवश्यक करके ही पुराण पुरुष केवली हुए हैं (गाथा १५७)। इस प्रकार ग्रन्थ का बहुभाग आवश्यकों के महत्व और उनके स्वरूप विषयक है। आगे की १०, १२ गाथाओं में केवली के ज्ञानदर्शन तथा इनके क्रमशः पर-प्रकाशकत्व और स्व-प्रकाशकत्व के विषय में आचार्य ने अपने आलोचनात्क विचार प्रकट किये हैं। यह प्रकरण षट्खंडागम की धवला टीका में ज्ञान और दर्शन के विवेचन विषयक प्रकरण से मिलान करने योग्य है। अंत में मोक्ष के स्वरूप पर कुछ विचार प्रकट कर नियमसार की रचना निजभावना निमित्त की गई है, ऐसा कह कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस ग्रन्थ

की १७ वीं गाथा में मनुष्य, नारकी, तिर्यंच व देवों का भेद-विस्तार लोकविभाग से जानना चाहिये, ऐसा कहा है। इस उल्लेख के संबंध में विद्वानों में यह मतभेद है कि यहां लोक-विभाग नामक किसी विशेष रचना से तात्पर्य है, अथवा लोकविभाग संबंधी सामान्य शास्त्रों से। ग्रन्थ के टीकाकार मलधारिदेव ने तो यहां स्पष्ट कहा है कि पूर्वोक्त जीवों का भेद लोकविभाग नामक परमागममें देखनाचाहिये(लोकविभागाभिधान-परमागमे द्रष्टव्यः)। लोकविभाग नामक संस्कृत ग्रन्थ मिलता है, जिसके कर्त्ता सिंहसूरि ने उसमें सर्वनंदि द्वारा शक सं० ३८० (ई० सं० ४५८) में लिखित प्राकृत लोकविभाग का उल्लेख किया है। आश्चर्य नहीं जो यही लोक विभाग नियमसार के लेखक की दृष्टि में रहा हो। किसी बाधक प्रमाण के अभाव में इस काल को कुंदकुंद के काल की पूर्वावधि मानना अनुचित प्रतीत नहीं होता।

नियमसार पर संस्कृत टीका 'तात्पर्यवृत्ति' पद्मप्रभ मलधारिदेव कृत पाई जाती है। इस टीका के आदि में तथा पांचवें श्रुतस्कंध के अन्त में कर्ता ने वीरनंदि मुनि की वन्दना की है। चालुक्यराज त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वरदेवके समय शक सं० ११०७ के एक शिलालेख (एपी० इन्डि० १९१६-१७) में पद्मप्रभ मलधारिदेव और उनके गुरु वीरनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती का उल्लेख है। ये ही पद्मप्रभ इस टीका के कर्ता प्रतीत होते हैं।

नियमसार में गाथा १३४ से १४० तक परमभक्तिरूप आवश्यकक्रिया का निरूपण है, जिसमें सम्यक्त्व, ज्ञान व चरण में भक्ति, निर्वाणभक्ति, मोक्षगत पुरुषों की भक्ति एवं योगभक्ति का उल्लेख आया है, और अन्त में यह भी कहा गया है कि योगभक्ति करके ही ऋषभादि जिनेन्द्र निर्वाण-सुख को प्राप्त हुए (गा० १४०)। इस प्रसंगानुसार कुंदकुंद द्वारा स्वयं पृथक् रूप से भक्तियां लिखा जाना भी सार्थक प्रतीत होता है। कुंदकुंद कृत उपलभ्य दशभक्तियों के नाम ये हैं:—तीर्थंकर भक्ति (गा० ८), सिद्धभक्ति (गा० ११), चारित्रभक्ति (गा० १२), अनगारभक्ति (गा० २३), आचार्यभक्ति (गा० १०), निर्वाणभक्ति (गा० २७), पंचपरमेष्ठिभक्ति (गा० ७), नंदीश्वरभक्ति और शान्तिभक्ति। ये भक्तियां उनके नामानुसार वन्दनात्मक व भावनात्मक हैं। सिद्धभक्ति की गाथा-संख्या कुछ अनिश्चित है। अन्तिम दो अर्थात् नंदीश्वरभक्ति और शांतिभक्ति जिस रूप में मिलती हैं, उसमें केवल अन्तिम कुछ वाक्य प्राकृत में हैं। उनका पूर्ण प्राकृत पाठ अप्राप्य है। इनकी प्राचीन प्रतियां एकत्र कर संशोधन किये जाने की आवश्यकता है। ये भक्तियां प्रभाचन्द्र कृत संस्कृत टीका सहित 'क्रियाकलाप' नाम से प्रकाशित हुई हैं। (प्र० शोलापुर १९२१)।

धर्माचरण का मुख्य उद्देश्य है मोक्ष-प्राप्ति; और मोक्ष का मार्ग है सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र। इन्ही तीन का प्रतिपादन कुंदकुंद ने क्रमशः अपने दर्शन, सूत्र व चारित्र पाहुडों में किया है। उन्होंने दर्शन पाहुड की १५ वी गाथा में कहा है कि सम्यक्त्व (दर्शन) से ज्ञान और ज्ञान से सब भावो की उपलब्धि तथा श्रेय-अश्रेय का बोध होता है, जिसके द्वारा शील की प्राप्ति होकर अन्ततः निर्वाण की उपलब्धि होती है। उन्होंने छह द्रव्य और नौ पदार्थो तथा पांच अस्तिकायों और सात तत्वों के स्वरूप में श्रद्धान करने वाले को व्यवहार से सम्यग्दृष्टि तथा आत्म श्रद्धानी को निश्चय सम्यग्दृष्टि कहा है (गाथा १६-२०)।

सूत्र पाहुड में बतलाया गया है कि जिसके अर्थ का उपदेश अर्हत् (तीर्थंकर) द्वारा, एवं ग्रंथ-रचना गणधरों द्वारा की गई है, वही सूत्र है और उसी के द्वारा श्रमण परमार्थ की साधना करते हैं (गाथा १)। सूत्र को पकड़ कर चलने वाला पुरुष ही बिना भ्रष्ट हुए संसार के पार पहुच सकता है, जिस प्रकार कि सूत्र (धागा) से पिरोई हुई सुई सुरक्षित रहती है और बिना सूत्र के खो जाती है (गाथा ३-४)। आगे जिनोक्त सूत्र के ज्ञान से ही सच्ची दृष्टि की उत्पत्ति तथा उसे ही व्यवहार परमार्थ बतलाया गया है। सूत्रार्थपद से भ्रष्ट हुए साधक को मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये (गाथा ५-७)। सूत्र संबंधी इन उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि कुंदकुंद के सम्मुख जिनागम सूत्र थे, जिनका अध्ययन और तदनुसार वर्तन, वे मुनि के लिये आवश्यक समझते थे। आगे की गाथाओं में उन्होंने मुनि के नग्नत्व व तिल-तुष मात्र परिग्रह से रहितपना बतलाकर स्त्रियों की प्रव्रज्या का निषेध किया है, जिससे अनुमान होता है कि कर्ता के समय में दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद बद्धमूल हो गया था।

चरित्र पाहुड के आदि में बतलाया गया है कि जो जाना जाय वह ज्ञान, जो देखा जाय वह दर्शन, तथा इन दोनों के संयोग से उत्पन्न भाव चारित्र होता है, तथा ज्ञान-दर्शन युक्त क्रिया ही सम्यक् चारित्र होता है। जीव के ये ही तीन भाव अक्षय और अनन्त हैं, और इन्ही के शोधन के लिये जिनेन्द्र ने दो प्रकार का चारित्र बतलाया है-एक दर्शनज्ञानात्मक सम्यक्त्व चारित्र और दूसरा संयम-चारित्र (गाथा ३-५)। आगे सम्यक्त्व के निःशंकादिक आठ अंग (गाथा ७) संयम चारित्र के सागार और अनगार रूप दो भेद (गाथा २१), दर्शन, व्रत आदि देशव्रती की ग्यारह प्रतिमाएं (गाथा २२), अणुव्रत-गुणव्रत और शिक्षाव्रत, द्वारा बारह प्रकार का सागारधर्म (गाथा २३-२७) तथा पंचेन्द्रिय संवर व पांच व्रत उनकी पच्चीस क्रियाओं सहित, पांच समिति और तीन गुप्ति रूप अनगार संयम का प्ररूपण किया है (गाथा २८ आदि)। बारह

श्रावक व्रतों के संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां दिशा-विदिशा प्रमाण, अनर्थदंडवर्जन और भोगोपभोग-प्रमाण ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषध, अतिथि पूजा और सल्लेखना, ये चार शिक्षा-व्रत कहे गये हैं। यह निर्देश त० सू० (७, २१) में निर्दिष्ट व्रतों से तीन बातों में भिन्न है-एक तो यहां भोगोपभोग-परिमाण को अनर्थदंड व्रत के साथ गुणव्रतों में लिया गया है, दूसरे यहां देशव्रत का कोई उल्लेख नहीं है; और तीसरे शिक्षाव्रतों में सल्लेखना का निर्देश सर्वथा नया है। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि त. सू. (७-२१) में दिग्देशादि सात व्रतों का निर्देश एक साथ किया गया है, उसमें गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का पृथग् निर्देश नहीं है। इनका निर्देश हमें प्रथम बार कुंदकुंद के इसी पाहुड में दिखाई देता है। हरिभद्रकृत श्रावकप्रज्ञप्ति में गुणव्रतों का निर्देश कुंदकुंद के अनुकूल है, किन्तु शिक्षाव्रतों में यहां सल्लेखना का उल्लेख न होकर देशावकाशिक का ही निर्देश है। अनगार संयम के संबंध में उल्लेखनीय बात यह है कि यहां पंचविंशति क्रियाओं व तीन गुप्तियों का समावेश नया है तथा उसमें लोच आदि सात विशेष गुणों का निर्देश नहीं पाया जाता, यद्यपि प्रवचनसार (गा० ३, ८) में उन सातों का निर्देश है, किन्तु तीन गुप्तियों का उल्लेख नहीं है।

बोध पाहुड (गाथा ६२) में आयतन, चैत्य-गृह, प्रतिमा, दर्शन, बिंब, जिन-मुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हत् और प्रव्रज्या इन ग्यारह के सच्चे स्वरूप का प्ररूपण किया गया है, और पंचमहाव्रतधारी महर्षि को सच्चा आयतन, उसे ही चैत्य-गृह, वन्दनीय प्रतिमा; सम्यक्त्व, ज्ञान व संयम रूप मोक्षमार्ग का दर्शन करानेवाला सच्चा दर्शन; उसी को तप और व्रतगुणों से युक्त सच्ची अर्हत मुद्रा; उसके ही ध्यान योग में युक्त ज्ञान को सच्चा ज्ञान, वही अर्थ, धर्म, काम व प्रव्रज्या को देनेवाला सच्चा देव, और उसी के निर्मल धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप व ज्ञान को सच्चा तीर्थ बतलाया है। जिसने जरा, व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गति-गमन, पुण्य और पाप एवं समस्त दोषों और कर्मों का नाशकर अपने को ज्ञानमय बना लिया है, वही अर्हत् है, और जिसमें गृह और परिग्रह के मोह से मुक्ति, बाईस परीषह व सोलह कषायों पर विजय तथा पापारंभ से विमुक्ति पाई जाती है, वही प्रव्रज्या है। इसमें शत्रु और मित्र, प्रशंसा और निन्दा, लाभ और अलाभ एवं तृण और कांचन के प्रति समताभाव पाया जाता है; उत्तम या मध्यम, दरिद्र या धनी के गृह से निरपेक्षभाव से पिण्ड (आहार) ग्रहण किया जाता है, यथा जात (नग्न दिगम्बर) मुद्रा धारण की जाती है; शरीर संस्कार छोड़ दिया जाता है; एवं क्षमा मार्दव आदि भाव धारण किये जाते हैं। इस पाहुड को कर्ता ने छक्काय सुहंकरं (षड्काय जीवों के लिये सुखकर-हितकर) कहा है, और सम्भवतः यही इस पाहुड

का कर्ता द्वारा निर्दिष्ट नाम है, जिसे उन्होंने भव्यजनों के बोधनार्थ कहा है। इस पाहुड में प्ररूपित उक्त ग्यारह विषयों के विवरण को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय नाना प्रकार के आयतन माने जाते थे, नाना प्रकार के चैत्यों, मंदिरों, मूर्तियों व बिंबों की पूजा होती थी, नाना मुद्राओं में साधु दिखलाई देते थे, तथा देव, तीर्थ व प्रवृज्या के भी नाना रूप पाये जाते थे। अतएव कुंदकुंद ने यह आवश्यक समझा कि इन लोक-प्रचलित समस्त विषयों पर सच्चा प्रकाश डाला जाय। यही उन्होंने इस पाहुड द्वारा किया है।

भावपाहुड : (गाथा १६५)में द्रव्यलिंगी और भावलिंगी श्रमणों में भेद किया गया है और कर्ता ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि मुनि का वेष धारण कर लेने, व्रतों और तपों का अभ्यास करने, यहां तक कि शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। आत्मकल्याण तो तभी होगा जब परिणामों में शुद्धि आ जाय, राग द्वेष आदि कषायभाव छूट जायं, और आत्मा का आत्मा में रमण होने लगे (गा० ५६-५६)। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक पूर्वकालीन द्रव्य और भाव श्रमणों के उल्लेख किये हैं। बाहुबलि, देहादि से विरक्त होने पर भी मान कषाय के कारण दीर्घकाल तक सिद्धि प्राप्त नहीं कर सके (गाथा ४४)। मधुपिंग एवं वशिष्ट मुनि आहारादि का त्याग कर देने पर भी चित्त में निदान (शल्य) रहने से श्रमणत्व को प्राप्त नही हो सके (गाथा ४५-४६)। जिनलिंगी बाहु मुनि आभ्यन्तर दोष के कारण समस्त दंडक नगर को भस्म करके रौरव नरक में गये (गाथा ४६)। द्रव्य श्रमण द्वीपायन सम्यग्-दर्शन-ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्त संसारी हो गये। भव्यसेन बारह अंग और चौदह पूर्व पढ़कर सकल श्रुतिज्ञानी हो गये, तथापि वे भावश्रमणत्व को प्राप्त न कर सके (गाथा ५२)। इनके विपरीत भावश्रमण शिवकुमार युवती स्त्रियों से घिरे होते हुए भी विशुद्ध परिणामों द्वारा संसार को पार कर सके, तथा शिवभूति मुनि तुष-माष की घोषणा करते हुए (जिसप्रकार छिलके से उसके भीतर का उड़द भिन्न है, उसीप्रकार देह और आत्मा पृथक् पृथक हैं) भाव विशुद्ध होकर केवलज्ञानी हो गये। प्रसंगवश १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानी, एवं ३२ वैनयिक, इसप्रकार ३६३ पाषंडों (मतों) का उल्लेख आया है (गा० १३७-१४२)। इस पाहुड में साहित्यक गुण भी अन्य पाहुडों की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं। जिसका मति रूपी धनुष, श्रुत रूपी गुण और रत्नत्रयरूपी बाण स्थिर हैं, वह परमार्थ रूपी लक्ष्य से कभी नही चूकता (गा० २३)। जिनधर्म उसीप्रकार सब धर्मों में श्रेष्ठ है जैसे रत्नों में वज्र और वृक्षों मे चन्दन (गा० ८२)। राग-द्वेष रूपी पवन

के झकोरों से रहित ध्यान रूपी प्रदीप उसीप्रकार स्थिरता से प्रज्वलित होता है जिस प्रकार गर्भगृह मे दीपक (गा० १२३)। जिसप्रकार बीज दग्ध हो जाने पर उसमें फिर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसीप्रकार भावश्रमण के कर्मबीज दग्ध हो जाने पर भव (पुनर्जन्म) रूपी अंकुर उत्पन्न नही होता, इत्यादि। इस पाहुड के अवलोकन से प्रतीत होता है कि कर्ता के समय में साधुलोग बाह्य वेश तथा जप, तप, व्रत आदि बाह्य क्रियाओं में अधिक रत रहते थे, और यथार्थ आभ्यन्तर शुद्धि की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते थे। इसी बाह्याडम्बर से भावशुद्धि की ओर साधुओं की चित्तवृत्तियों को मोड़ने के लिये यह पाहुड लिखा गया। इसी अभिप्राय से उनका अगला लिंग पाहुड भी लिखा गया है।

लिंगपाहुड : (गा० २२) में मुनियो की कुछ ऐसी प्रवृत्तियों की निंदा की गई है जिनसे उनका श्रमणत्व सधता नहीं, किन्तु दूषित होता है। कोई श्रमण नाचता, गाता व बाजा बजाता है (गा० ४)। कोई संचय करता है, रखता है व आर्तध्यान में पड़ता है (गा० ५)। कोई कलह, वाद व द्यूत मे अनुरक्त होता है (गा० ६)। कोई विवाह जोड़ता है और कृषिकर्म व वाणिज्य द्वारा जीवघात करता है (गा० ९)। कोई चोरों लम्पटों के वाद-विवद में पड़ता है व चोपड़ खेलता है (गा० १०)। कोई भोजन मे रस का लोलुपी होता व काम-क्रीड़ा में प्रवृत्त होता है (गा० १२)। कोई बिना दी हुई वस्तुओं को ले लेता है (गा० १४) कोई ईर्यापथ समिति का उल्लंघन कर कूदता है, गिरता है, दौड़ता है (गा० १५)। कोई सस्य (फसल) काटता है, वृक्ष का छेदन करता है या भूमि खोदता है (गा० १६)। कोई महिला वर्ग को रिझाता है, कोई प्रव्रज्याहीन गृहस्थ अथवा अपने शिष्य के प्रति बहुत स्नेह प्रकट करता है (गा० १८)। ऐसा श्रमण बड़ा ज्ञानी भी हो तो भी भाव-विनष्ट होने के कारण श्रमण नही है, और मरने पर स्वर्ग का अधिकारी न होकर नरक व तिर्यंच योनि में पड़ता है। ऐसे भाव-विनष्ट श्रमण को पासत्थ (पार्श्वस्थ) से भी निकृष्ट कहा है (गा० २०)। अन्त में भावपाहुड के समान इस लिंग पाहुड को सर्वं बुद्ध (सर्वज्ञ) द्वारा उपदिष्ट कहा है। जान पड़ता है कर्ता के काल में मुनि सम्प्रदाय में उक्त दोष बहुलता से दृष्टिगोचर होने लगे थे, जिससे कर्ता को इस रचना द्वारा मुनियों को उनकी ओर से सचेत करने की आवश्यकता हुई।

शीलपाहुड: (गा०४४) भी एक प्रकार से भाव और लिंग पाहुडों के विषय का ही पूरक है। यहाँ धर्मसाधना में शील के ऊपर बहुत अधिक जोर दिया गया है, जिसके बिना विशाल ज्ञानकी प्राप्ति भी निष्फल है। यहाँ सच्चइपुत्त (सात्यकिपुत्र)

का इस बात पर दृष्टान्त दिया गया है कि वह दश पूर्वों का ज्ञाता होकर भी विषयों की लोलुपता के कारण नरकगामी हुआ (गा० ३०-३१)। व्याकरण, छंद, वैशेषिक, व्यवहार तथा न्यायशास्त्र के ज्ञान की सार्थकता तभी बतलाई है जब उसके साथ शील भी हो (गा० १६)। शील की पूर्णता सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान, ध्यान, योग, विषयों से विरक्ति और तप के साधन मे भी बतलाई गई है। इसी शीलरूपी जल से स्नान करने वाले सिद्धालय को जाते हैं (गा० ३७-३८)।

कुंदकुद की उक्त रचनाओं में से बारह अणुवेक्खा तथा लिंग और शील पाहुड़ों को छोड़, शेष पर टीकायें भी मिलती हैं। दर्शन आदि छह पाहुडों पर श्रुतसागर कृत संस्कृत टीका उपलब्ध है। इन्ही की एकत्र प्रतियां पाये जाने से उनका सामूहिक नाम षट् प्राभृत (छप्पाहुड) भी प्रसिद्ध हो गया है। श्रुतसागर देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य तथा विद्यानन्दि के शिष्य थे। अतः उनका काल ई० सन् की १५-१६ वी शती सिद्ध होता है।

रयणसार: (गा० १६२) में श्रावक और मुनि के आचार का वर्णन किया गया है। आदि में सम्यग्दर्शन की आवश्यकता बतला कर उसके ७० गुणों और ४४ दोपो का निर्देश किया गया है (गा० ७-८)। दान और पूजा गृहस्थ के लिये, तथा ध्यान और स्वाध्याय मुनि के लिये आवश्यक बतलाये गये हैं (गा० ११ आदि); तथा सुपात्रदान की महिमा बतलाई गई है (गा० १७ आदि)। आगे अशुभ और शुभ भावों का निरूपण किया है. गुरूभक्ति पर जोर दिया गया है, तथा आत्म तत्व की प्राप्ति के लिये श्रुताभ्यास करने का आदेश दिया गया है। आगे स्वेच्छाचारी मुनियों की निंदा की गई है, व बहिरात्म भाव से बचने का उपदेश दिया गया है। अन्त में गणगच्छ को ही रत्नत्रय रूप, संघ को ही नाना गुण रूप, और शुद्धात्मा को ही समय कहा गया है। इस पाहुड का अभी तक सावधानी से सम्पादन नहीं हुआ। उसके बीच में एक दोहा व छह पद्य अपभ्रंश भाषा में पाये जाते हैं; या तो ये प्रक्षिप्त हैं, या फिर यह रचना कुन्दकुन्द कृत न होकर किसी उत्तरकालीन लेखक की कृति है। गण-गच्छ आदि के उल्लेख भी उसको अपेक्षाकृत पीछे की रचना सिद्ध करते हैं।

वट्टकेर स्वामी कृत मूलाचार दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनिधर्म के लिये सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। कहीं कही यह ग्रंथ कुंदाकुंदाचार्य कृत भी कहा गया है। यद्यपि यह बात सिद्ध नही होती, तथापि उससे इस ग्रंथ के प्रति समाज का महान् आदरभाव प्रकट होता है। धवलाकार वीरसेन ने इसे आचारांग नाम से उद्धृत किया है। इसमें कुल १२४३ गाथाएं हैं, जो मूलगुण, बृहत्प्रत्याख्यान, संक्षेप प्रत्याख्यान, सामाचार,

के झकोरों से रहित ध्यान रूपी प्रदीप उसीप्रकार स्थिरता से प्रज्वलित होता है जिस प्रकार गर्भगृह मे दीपक (गा० १२३) ।जिसप्रकार बीज दग्ध हो जाने पर उसमें फिर अंकुर उत्पन्न नही होता, उसीप्रकार भावश्रमण के कर्मबीज दग्ध हो जाने पर भव (पुनर्जन्म) रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता, इत्यादि । इस पाहुड के अवलोकन से प्रतीत होता है कि कर्ता के समय मे साधुलोग बाह्य वेश तथा जप, तप, व्रत आदि बाह्य क्रियाओं में अधिक रत रहते थे, और यथार्थ आभ्यन्तर शुद्धि की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते थे । इसी बाह्याडम्बर से भावशुद्धि की ओर साधुओं की चित्तवृत्तियों को मोड़ने के लिये यह पाहुड लिखा गया । इसी अभिप्राय से उनका अगला लिंग पाहुड भी लिखा गया है।

लिंगपाहुड : (गा० २२) में मुनियों की कुछ ऐसी प्रवृत्तियों की निंदा की गई है जिनसे उनका श्रमणत्व सधता नहीं, किन्तु दूषित होता है । कोई श्रमण नाचता, गाता व बाजा बजाता है (गा० ४) । कोई संचय करता है, रखता है व आर्तध्यान में पड़ता है (गा० ५) । कोई कलह, वाद व द्यूत में अनुरक्त होता है (गा० ६) । कोई विवाह जोड़ता है और कृषिकर्म व वाणिज्य द्वारा जीवघात करता है (गा० ९) । कोई चोरों लम्पटों के वाद-विवद में पड़ता है व चोपड़ खेलता है (गा० १०) । कोई भोजन मे रस का लोलुपी होता व काम-क्रीड़ा में प्रवृत्त होता है (गा० १२) । कोई बिना दी हुई वस्तुओं को ले लेता है (गा०- १४) कोई ईर्यापथ समिति का उल्लंघन कर कूदता है, गिरता है, दौड़ता है (गा० १५) । कोई धान्य (फसल) काटता है, वृक्ष का छेदन करता है या भूमि खोदता है (गा० १६) । कोई महिला वर्ग को रिझाता है, कोई प्रव्रज्याहीन गृहस्थ अथवा अपने शिष्य के प्रति बहुत स्नेह प्रकट करता है (गा० १८) । ऐसा श्रमण बड़ा ज्ञानी भी हो तो भी भाव-विनष्ट होने के कारण श्रमण नही है, और मरने पर स्वर्ग का अधिकारी न होकर नरक व तिर्यंच योनि में पड़ता है । ऐसे भाव-विनष्ट श्रमण को पासत्थ (पार्श्वस्थ) से भी निकृष्ट कहा है (गा० २०) । अन्त में भावपाहुड के समान इस लिंग पाहुड को सर्व्व बुद्ध (सर्वज्ञ) द्वारा उपदिष्ट कहा है । जान पड़ता है कर्ता के काल में मुनि सम्प्रदाय में उक्त दोष बहुलता से दृष्टिगोचर होने लगे थे, जिससे कर्ता को इस रचना द्वारा मुनियों को उनकी ओर से सचेत करने की आवश्यकता हुई ।

शीलपाहुड: (गा०४४)भी एक प्रकार से भाव और लिंग पाहुडों के विषय का ही पूरक है । यहाँ धर्मसाधना में शील के ऊपर बहुत अधिक जोर दिया गया है, जिसके बिना विशाल ज्ञानकी प्राप्ति भी निष्फल है । यहां सच्चइपुत्त (सात्यकिपुत्र)

का इस बात पर दृष्टान्त दिया गया है कि वह दश पूर्वों का ज्ञाता होकर भी विषयों की लोलुपता के कारण नरकगामी हुआ (गा० ३०-३१)। व्याकरण, छंद, वैशेषिक, व्यवहार तथा न्यायशास्त्र के ज्ञान की सार्थकता तभी बतलाई है जब उसके साथ शील भी हो (गा० १६)। शील की पूर्णता सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान, ध्यान, योग, विषयों से विरक्ति और तप के साधन मे भी बतलाई गई है। इसी शीलरूपी जल से स्नान करने वाले सिद्धालय को जाते हैं (गा० ३७-३८)।

कुंदकुंद की उक्त रचनाओं में से वारह् अणुवेक्खा तथा लिंग और शील पाहुड़ों को छोड़, शेष पर टीकायें भी मिलती हैं। दर्शन आदि छह् पाहुडों पर श्रुतसागर कृत संस्कृत टीका उपलब्ध है। इन्ही की एकत्र प्रतियां पाये जाने से उनका सामूहिक नाम षद् प्राभृत (छप्पाहुड) भी प्रसिद्ध हो गया है। श्रुतसागर देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य तथा विद्यानन्दि के शिष्य थे। अत: उनका काल ई० सन् की १५-१६ वी शती सिद्ध होता है।

रयणसार: (गा० १६२) में श्रावक और मुनि के आचार का वर्णन किया गया है। आदि मे सम्यग्दर्शन की आवश्यकता वतला कर उसके ७० गुणों और ४४ दोषों का निर्देश किया गया है (गा० ७-८)। दान और पूजा गृहस्थ के लिये, तथा ध्यान और स्वाध्याय मुनि के लिये आवश्यक वतलाये गये हैं (गा० ११ आदि); तथा सुपात्रदान की महिमा बतलाई गई है (गा० १७ आदि)। आगे अशुभ और शुभ भावों का निरूपण किया है. गुरूभक्ति पर जोर दिया गया है, तथा आत्म तत्व की प्राप्ति के लिये श्रुताभ्यास करने का आदेश दिया गया है। आगे स्वेच्छाचारी मुनियों की निंदा की गई है, व बहिरात्म भाव से वचने का उपदेश दिया गया है। अन्त में गणगच्छ को ही रत्नत्रय रूप, संघ को ही नाना गुण रूप, और शुद्धात्मा को ही समय कहा गया है। इस पाहुड का अभी तक सावधानी से सम्पादन नहीं हुआ। उसके बीच में एक दोहा व छह् पद्य अपभ्रंश भाषा में पाये जाते हैं; या तो ये प्रक्षिप्त हैं, या फिर यह रचना कुन्दकुन्द कृत न होकर किसी उत्तरकालीन लेखक की कृति है। गण-गच्छ आदि के उल्लेख भी उसको अपेक्षाकृत पीछे की रचना सिद्ध करते हैं।

वट्टकेर स्वामी कृत मूलाचार दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनिधर्म के लिये सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। कहीं कहीं यह ग्रंथ कुंदकुंदाचार्य कृत भी कहा गया है। यद्यपि यह बात सिद्ध नहीं होती, तथापि उससे इस ग्रंथ के प्रति समाज का महान् आदरभाव प्रकट होता है। धवलाकार वीरसेन ने इसे आचारांग नाम से उद्धृत किया है। इसमें कुल १२४३ गाथाएं हैं, जो मूलगुण, वृहत्प्रत्याख्यान, संक्षेप प्रत्याख्यान, सामाचार,

पंचाचार, पिंडशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगारभावना, समयसार, शीलगुण-प्रस्तार और पर्याप्ति, इन बारह अधिकारों में विभाजित हैं। यह सब यथार्थतः मुनि के उन अट्ठाईस गुणों का ही विस्तार है, जो प्रथम अधिकार के भीतर संक्षेप से निर्दिष्ट और वर्णित हैं। षडावश्यक अधिकार की कोई ८० गाथाएं आवश्यक निर्युक्ति और उसके भाष्य से ज्यों की त्यों मिलती हैं। इस पर वसुनंदि कृत टीका मिलती है। टीकाकार सम्भवतः वे ही हैं जिन्होंने प्राकृत उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) की रचना की है।

मुनि आचार पर एक प्राचीन रचना भगवती आराधना है, जिसके कर्ता शिवार्य हैं। इन्होंने ग्रंथ के अन्त में प्रगट किया है कि उन्होंने आर्य जिननंदिगणि, सर्वगुप्तगणि और मित्रनंदि के पादमूल में सूत्र और उसके अर्थ का भले प्रकार ज्ञान प्राप्त कर, पूर्वाचार्य-निबद्ध रचना के आश्रय से अपनी शक्ति अनुसार इस आराधना की रचना की। इससे सुस्पष्ट है कि उनके सम्मुख इसी विषय की कोई प्राचीन रचना थी। कल्पसूत्र की स्थविरावली में एक शिवभूति आचार्य का उल्लेख आया है, तथा आवश्यक मूल भाष्य में शिवभूति को वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् बोडिक (दिगम्बर) संघ का संस्थापक कहा है। कुंदकुंदाचार्य ने भावपाहुड में कहा है कि शिवभूति ने भाव-विशुद्धि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। जिनसेन ने अपने हरिवंश-पुराण में लोहार्य के पश्चाद्वर्ती आचार्यों में शिवगुप्त मुनि का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने गुणों से अर्हद्वलि पद को धारण किया था। आदिपुराण में शिवकोटि मुनीश्वर और उनकी चतुष्टय मोक्षमार्ग की आराधना रूप हितकारी वाणी का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र के आराधना कथाकोश व देवचन्द्र कृत 'राजावली कथे' में शिव-कोटि को स्वामी समन्तभद्र का शिष्य कहा गया है। आश्चर्य नहीं जो इन सब उल्लेखों का अभिप्राय इसी भगवती आराधना के कर्ता से हो। ग्रंथ सम्भवतः ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों का है। एक मत यह भी है कि यह रचना यापनीय सम्प्रदाय की है, जिसमें दिगम्बर सम्प्रदाय का अचेलकत्व तथा श्वेताम्बर की स्त्री-मुक्ति मान्य थी। इस ग्रंथ में २१६६ गाथाएं हैं और उनमें बहुत विशदता व विस्तार से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन्हीं चार आराधनाओं का वर्णन किया गया है, जिनका कुंदकुंद की रचनाओं में अनेक बार उल्लेख आया है। प्रसंगवश जैनधर्म संबंधी सभी बातों का इसमें संक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है। मुनियों की अनेक साधनाएं व वृत्तियां ऐसी वर्णित हैं, जैसी दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में अन्यत्र नहीं पाई पाई जाती। गाथा १६२१ से १८९१ तक की २७१ गाथाओं में आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानों का

विस्तार से वर्णन किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति, वृहत्कल्पभाष्य व निशीथ आदि प्राचीन ग्रंथों से इसकी अनेक गाथाएं व वृत्तान्त मिलते हैं। इस पर दो टीकाएं विस्तीर्ण और सुप्रसिद्ध हैं-एक अपराजित सूरि कृत विजयोदया और दूसरी पं० आशाधर कृत मूलाराधनादर्पण। अपराजित सूरि का समय लगभग ७ वीं, ८ वीं शती ई०, तथा पं० आशाधर का १३ वीं शती ई० पाया जाता है। इस पर एक पंजिका तथा भावार्थ-दीपिका नामकी दो टीकाएं भी मिली हैं।

मुनि आचार पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हरिभद्रसूरि (८वीं शती) कृत पंचवत्थुग (पंचवस्तुक) नामक ग्रन्थ उपलम्य है। इसमें १७१४ प्राकृत गाथाएं हैं जो विषयानुसार निम्न पाच वस्तु नामक अधिकारों में विभक्त है—(१) मुनि-दीक्षा, (२) यतिदिनकृत्य, (३) गच्छाचार, (४) अनुज्ञा. और (५) सल्लेखना। इनमें मुनि धर्म संबंधी साधनाओं का विस्तार तथा ऊहापोह पूर्वक वर्णन किया गया है। (प्रकाशित १९२७, गुज० अनुवाद, रतलाम, १९३७)। इस ग्रंथ पर स्वोपज्ञ टीका भी है। हरिभद्रकृत सम्यक्त्व-सप्तति मे १२ अधिकारों द्वारा सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया गया है और सम्यक्त्व की प्रभावना बढ़ानेवालों में वज्रस्वामी, मल्लवादी, भद्रबाहु, पादलिप्त, सिद्धसेन आदि के चरित्र वर्णन किये गये हैं।

जीवानुशासन में ३२३ गाथाओं द्वारा मुनिसंघ, मासकल्प, वंदना आदि मुनि चारित्र संबंधी विषयों पर विचार किया गया है। प्रसंगवश बिम्ब-प्रतिष्ठा का भी वर्णन आया है। इस ग्रंथ की रचना वीरचंद्र सूरि के शिष्य देवसूरि ने वि० सं० ११६२ (११०५ ई०) में की थी।

नेमिचन्द्रसूरि (१३वीं शती) कृत प्रवचनसारोद्धार में लगभग १६०० गाथाएं हैं जो १७६ द्वारों में विभाजित हैं। यहां वंदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, महाव्रत, परीषह आदि अनेक मुनिचारित्र संबंधी विषयों का वर्णन किया गया है। पूजा-अर्चा के संबंध में तीर्थंकरों के लांछन, यक्ष-यक्षिणी, अतिशय, जिनकल्प और स्थविरकल्प आदि का विवरण भी यहां प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। जैन क्रिया-काण्ड समझने के लिये यह ग्रंथ विशेष रूप से उपयोगी है। इस पर देवभद्र के शिष्य सिद्धसेनसूरि (१३ वीशती) ने तत्वज्ञानविकासिनी नामक संस्कृत टीका लिखी है।

जिनवल्लभसूरि (११-१२वी शती) कृत द्वादशकुलक में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद तथा क्रोधादि कषायों के परित्याग का उपदेश पाया जाता है। इस पर जिनपालकृतवृत्ति है जो वि० सं० १२९३ (बम्बई, सन् १२३६) मे पूर्ण हुई थी।

मुनिआचार–संस्कृत :

प्रशमरति प्रकरण उमास्वाति कृत माना जाता है। इसमें ३१३ संस्कृत पद्यों मे जैन तत्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त, साधु व गृहस्थ आचार, अनित्यादि बारह भावनाओं, उत्तमक्षमादि दशधर्मों एवं धर्मध्यान, केवलज्ञान, अयोगी व सिद्धों का स्वरूप सरल और सुन्दर शैली में वर्णित पाया जाता है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने इसको विषय की दृष्टि से २२ अधिकारों में विभाजित किया है। (सटीक हिन्दी अनु० सहित प्रका० बम्बई, १९५०)

मुनि आचार पर एक चारित्रसार नामक संस्कृत ग्रन्थ है। ग्रन्थ की पुष्पिका में कहा गया है कि इस ग्रन्थ को अजितसेन भट्टारक के चरणकमलों के प्रसाद से चारों अनुयोगों रूप समुद्र के पारगामी धर्मविजय श्रीमद् चामुण्डराय ने बनाया। इस पुष्पिका से पूर्व श्लोक मे कहा गया है कि इसमें अनुयोगवेदी रणरंगसिंह ने तत्वार्थ-सिद्धान्त, संभवतः तत्वार्थ (राजवार्तिक,) महापुराण एवं आचार शास्त्रों में विस्तार से वर्णित चारित्रसार का संक्षेप से वर्णन किया है। कर्ता के संबंध में इस परिचय से सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि इसकी रचना उन्हीं चामुण्डराय ने अथवा उनके नाम से किसी अन्य ने संग्रहरूप से की है, जिनके द्वारा बाहुबलि की मूर्ति श्रवण-बेलगोला में प्रतिष्ठित की गई थी, तथा जिनके निमित्त से नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार की रचना की थी। अतः इस ग्रन्थ का रचनाकाल ११ वीं शताब्दी निश्चित है। ग्रन्थ की उक्त पुष्पिका के अन्त में कहा गया है कि 'भावनासारसंग्रहे चारित्रसारे अनगारधर्मः समाप्तः' इस पर से ग्रन्थ का दूसरा नाम 'भावनासारसंग्रह' भी प्रतीत होता है।

आचार विषयक ग्रन्थों में अमृतचन्द्र सूरि कृत 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' (अपर नाम 'जिन-प्रवचन-रहस्य-कोष') कई बातों में अपनी विशेषता रखता है। यहां २२६ संस्कृत पद्यों मे रत्नत्रय का व्याख्यान किया गया है, जिसमें क्रमशः चारित्रविषयक अहिंसादि पांच व्रत, सात शील (३ गुणव्रत-४ शिक्षाव्रत), सल्लेखना, तथा सम्यक्त्व और सल्लेखना को मिलाकर चौदह व्रत-शीलों के ७० अतिचार, इनका स्वरूप समझाया है, और १२ तप ६ आवश्यक, ३ दंड, ५ समिति, १० धर्म, १२ भावना और २२ परीषह, इन सब का निर्देश किया है। यहां हिंसा और अहिंसा के स्वरूप पर सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया है, जैसा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। यही नहीं, किन्तु शेष व्रतों और शीलों में भी मूलतः अहिंसा की ही भावना स्थापित की है। आदि में आत्मा को ही पुरुष और परिणामी-नित्य बतलाकर उसके द्वारा समस्त

विवर्तों को पार कर पूर्ण स्व-चैतन्य की प्राप्ति को ही अर्थसिद्धि बतालाया है, और यही ग्रन्थ के नाम की सार्थकता है। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने एक पद्य में जैन अनेकान्त नीति को गोपी की उपमा द्वारा बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट किया है। ग्रन्थ की शैली आदि से अन्त तक विशद और विवेचनात्मक है। इस ग्रन्थ के कोई ६०-७० पद्य जयसेनकृत धर्म-रत्नाकर में उद्धृत पाये जाते हैं। धर्मरत्नाकर की रचना का समय स्वयं उसी की प्रशस्ति के अनुसार वि० सं० १०५५–ई० ९९८ है। अतएव यही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के रचनाकाल की उत्तरावधि है।

वीरनंदि कृत आचारसार में लगभग १००० संस्कृत श्लोकों में मुनियों के मूल और उत्तर गुणों का वर्णन किया गया है। इसके १२ अधिकारों के विषय हैं-मूलगुण, सामाचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, शुद्ध्यष्टक, षडावश्यक, ध्यान, जीवकर्म और दशधर्मशील। इसकी रचना वट्टकेर कृत प्राकृत मूलाचार के आधार से की गई प्रतीत होती है। ग्रन्थकर्ता ने अपने गुरु का नाम मेघचन्द्र प्रगट किया है। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ५० में इन दोनों गुरु-शिष्यों का उल्लेख है, एवं शिलालेख नं० ४७ में मेघचन्द्र मुनि के शक संवत् १०३७ (ई० १११५) में समाधिमरण का उल्लेख किया गया है। इस पर से प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल उक्त तिथि के आसपास सिद्ध होता है। उक्त लेखों में वीरनंदि को सैद्धांत-वेदी और लोकप्रसिद्ध, अमलचरित, योगि-जनाग्रणी आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है।

सोमप्रभ कृत सिन्दूरप्रकर, व शृंगार-वैराग्यतरंगिणी (१२वीं-१३वीं शती) ये दो नैतिक उपदेश पूर्ण रचनाएं हैं। दूसरी रचना विशेष रूप से प्रौढ़ काव्यात्मक है और उसमें कामशास्त्रानुसार स्त्रियों के हाव-भाव व लीलाओं का वर्णन कर उनसे सतर्क रहने का उपदेश दिया गया है।

श्रावकाचार-प्राकृत :

प्राकृत में श्रावकधर्म विषयक सर्वप्रथम स्वतंत्र रचना सावयपण्णत्ति है, जिसमें ४०१ गाथाओं द्वारा श्रावकों के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतों का प्ररूपण किया गया है। प्रथम व्रत अहिंसा का यहां सबसे अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन १७६ के लेकर २५९ तक की गाथाओं में किया गया है। इस ग्रंथ के कर्तृत्व के संबंध मे मतभेद है। कोई इसे उमास्वातिकृत मानते हैं, और कोई हरिभद्रकृत। उमास्वाति-कर्तृत्व का समर्थन अभयदेवसूरि कृत पंचाशकटीका के इस

उल्लेख से होता है जहां उन्होंने कहा है कि 'वाचकतिलकेन श्रीमदुमास्वतिवाचकेन श्रावकप्रज्ञप्तौ सम्यक्त्वादिः श्रावकधर्मो विस्तरेण अभिहितः'। उमास्वाति कृत श्रावक प्रज्ञप्ति का उल्लेख यशोविजय के धर्मसंग्रह तथा मुनिचन्द्रसूरि कृत धर्मबिंदु-टीका में बारहवें व्रत के संबंध में आया है। किन्तु स्वयं अभयदेवसूरि ने हरिभद्रसूरि कृत पंचाशक की ही वृत्ति में प्रस्तुत ग्रंथ की संपत्तदंसणाइ-आदि दूसरी गाथा को हरिभद्रसूरि के ही निर्देशपूर्वक उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत प्राकृत ग्रन्थ तो हरिभद्रकृत ही है। यदि उमास्वाति कृत कोई श्रावक-प्रज्ञप्ति रही हो तो संभव है कि वह संस्कृत में रही होगी। यही बात प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तः परीक्षण से भी सिद्ध होती है। इस ग्रन्थ में २८० से ३२८ गाथाओं के बीच जो गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का निर्देश और क्रम पाया जाता है वह त० सूत्र के ७,२१ में निर्दिष्ट क्रम से भिन्न है। त० सूत्र में दिग्, देश और अनर्थ दंड, ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और अतिथि-संविभाग, ये चार शिक्षाव्रत निर्दिष्ट किये हैं। परन्तु यहां दिग्व्रत, भोगोपभोग-परिमाण और अनर्थदंडविरति ये गुणव्रत, तथा सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास एवं अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं, जो हरिभद्रकृत समराइच्चकहा के प्रथम भव में वर्णित व्रतों के क्रम से ठीक मिलते हैं। यही नही, किन्तु समराइच्चकहा का उक्त समस्त प्रकरण श्रावक-प्रज्ञप्ति के प्ररूपण से बहुत समानता रखता है, यहां तक कि सम्यक्त्वोत्पत्ति के संबंध में जिस घंसण-घोलन निमित्त का उल्लेख श्रा० प्र० की ३१ वी गाथा में है, वही स० कहा के सम्यक्त्वोत्पत्ति प्रकरण में भी प्राकृत गद्य में प्रायः ज्यों का त्यों मिलता है। इससे यही सिद्ध होता है कि यह कृति हरिभद्रकृत ही है। इस पर उन्हीं की संस्कृत में स्वोपज्ञ टीका भी उपलम्य है।

श्रावकधर्म का प्रारम्भ सम्यक्त्व की प्राप्ति से होता है, और श्रावक-प्रज्ञप्ति के आदि (गाथा २) में ही श्रावक का लक्षण यह बतलाया है कि जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करके प्रतिदिन यतिजनों के पास से सदाचारात्मक उपदेश सुनता है, वही श्रावक होता है। तत्पश्चात् सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति को विधिवत् समझाया गया है। हरिभद्र की एक अन्य कृति दंसणसत्तरि अपर नाम 'सम्मत्त-सत्तरि' या 'दंसण-सुद्धि' में भी ७० गाथाओं द्वारा सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाया गया है। इस पर संघतिलक सूरि (१४ वीं शती) कृत टीका उपलम्य है (प्रकाशित १९१६)। हरिभद्र की एक और प्राकृत रचना सावयधम्मविहि नामक है जिसमें १२० गाथाओं द्वारा श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इस पर मानदेवसूरि कृत विवृति है (भावनगर १९२४)। हरिभद्रकृत

१९ प्रकरण ऐसे हैं, जिनमें प्रत्येक में ५० गाथाएं हैं, अतएव जो समष्टि रूप से पंचासग कहलाते हैं। ये प्रकरण हैं- (१) श्रावकधर्म (२) दीक्षाविधान (३) वन्दनविधि (चैत्यवंदन) (४) पूजाविधि (५) प्रत्याख्यानविधि (६) स्तवविधि (७) जिनभवन करण विधि (८) प्रतिष्ठाविधि (९) यात्राविधि (१०) उपासकप्रतिमा विधि (११) साधुधर्म (१२) सामाचारी (१३) पिंडविधि (१४) शीलाग विधि (१५) आलोचना विधि (१६) प्रायश्चित्त (१७) स्थितास्थित विधि (१८) साधु प्रतिमा और (१९) तपोविधि। इन प्रकरणों में श्रावक और मुनि आचार संबंधी प्रायः समस्त विषयों का समावेश हो गया है। पंचासग पर अभयदेवसूरि कृत शिष्यहिता नामक संस्कृत टीका है। (भावनगर १९१२; रतलाम १९४१)। पंचासग के समान अन्य २० प्रकरण इस प्रकार के हैं जिनमें प्रत्येक मे २० गाथाएं हैं। यह संग्रह वीसवीसीओ (विंशतिविंशिका) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन विंशिकाओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) अधिकार (२) अनादि (३) कुलनीति (४) चरमपरिवर्त (५) बीजादि (६) सद्धर्म (७) दान (८) पूजाविधि (९) श्रावकधर्म (१०) श्रावकप्रतिमा (११) यतिधर्म (१२) शिक्षा (१३) भिक्षा (१४) तदंतरायशुद्धिलिंग (१५) आलोचना (१६) प्रायश्चित्त (१७) योगविधान (१८) केवलज्ञान (१९) सिद्धविभक्ति और (२०) सिद्धसुख। इन विंशिकाओं में भी श्रावक और मुनिधर्म के सामान्य नियमों तथा नानाविधानों और साधनाओं का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ पर आनन्दसागर सूरि द्वारा एक टीका लिखी गई है। १७ वीं योगविधान नामक विंशिका पर श्री न्या० यशोविजयगणिकृत टीका भी है। (प्र० मूलमात्र, पूना, १९३२)

शान्तिसूरि (१२ वी शती) कृत धर्मरत्न-प्रकरण में १८१ गाथाओं द्वारा श्रावक पद प्राप्ति के लिये सौम्यता, पापभीरुता आदि २१ आवश्यक गुणों का वर्णन किया है तथा भावश्रमण के लक्षणो और शीलों का भी निरूपण किया है। इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी है।

प्राकृत गाथाओं द्वारा गृहस्थधर्म का प्ररूपण करनेवाला दूसरा ग्रन्थ वसुनंदिकृत उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) है, जिसमें ५४६ गाथाओं द्वारा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं अर्थात् दर्जो का विस्तार से वर्णन किया गया है। कर्ता ने अपना परिचय ग्रंथ की प्रशस्ति में दिया है, जिसके अनुसार उनकी गुरु-परम्परा कुंदकुंदाम्नाय मे क्रमशः श्रीनंदि, नयनंदि, नेमिचन्द्र और वसुनंदि, इसप्रकार पाई जाती है। उन्होंने यह भी कहा है कि मैंने अपने गुरु नेमिचन्द्र के प्रसाद से इस आचार्य-परम्परागत उपासकाध्ययन को वात्सल्य और आदरभाव से भव्यों के लिये रचा। ग्रंथ के आदि में उन्होंने यह भी कहा

है कि विपुलाचल पर्वत पर इन्द्रभूति ने जो श्रेणिक को उपदेश दिया था, उसीको गुरु परिपाटी से कहे जानेवाले इस ग्रंथ को सुनिये। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि द्वादशांगान्तर्गत सातवें श्रुतांग 'उपासक दशा' में हमें श्रावक की इन्हीं ग्यारह प्रतिमाओं का प्ररूपण मिलता है। भेद यह है कि वहां यह विषय आनंद श्रावक के कथानक के अन्तर्गत आया है, और यहां स्वतंत्र रूप से। इसमें की २६५-३०१ तक की, तथा इससे पूर्व की अन्य कुछ गाथाएं श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र से ज्यों की त्यों मिलती हैं। कुन्द कुन्दाचार्य कृत चारित्र पाहुड (गाथा २२) में ग्यारह प्रतिमाओं के नाम मात्र उल्लिखित हैं। उनका कुछ विस्तार से वर्णन कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३०५-३९० तक ८६ गाथाओं में किया गया है। इन सब से भिन्न वसुनंदि ने विशेषता यह उत्पन्न की है कि उन्होंने निशिभोजन-त्याग को प्रथम दर्शन प्रतिमा में ही आवश्यक बतलाकर छठवीं प्रतिमा में उसके स्थान पर दिवा-ब्रह्मचर्य का विधान किया है। ग्रंथ की रचना का काल निश्चित नहीं है, तथापि इस ग्रन्थ की अनेक गाथाएं देवसेन कृत भावसंग्रह के आधार से लिखी गईं प्रतीत होती हैं, जिससे इसकी रचना की पूर्वावधि वि० सं ९९० (ई० ९३३) अनुमान की जा सकती है। आशाधरकृत सागार-धर्मामृत टीका में वसुनंदि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जिससे उनके काल की उत्तरावधि वि० सं० १२९६ (ई० १२३९) सिद्ध होती है। इन्हीं सीमाओं के बीच सम्भवतः ११ वीं, १२वीं शती में यह ग्रन्थ लिखा गया होगा।

अपभ्रंश में श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ 'सावयधम्मदोहा' है। इसमें २२४ दोहों द्वारा श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं व बारह व्रतों का स्वरूप समझाया गया है। बारह व्रतों के नाम कुंदकुंद के अनुसार हैं, जिनमें देशव्रत सम्मिलित न होकर सल्लेखना का समावेश है। सप्तव्यसनों, अभक्ष्यों एवं कुसंगति, अन्याय, चुगलखोरी, झूठे व्यापार आदि दुर्गुणों के परित्याग का उपदेश दिया गया है। शैली बड़ी सरल, सुन्दर, व काव्य गुणात्मक है। प्रायः प्रत्येक दोहे की एक पंक्ति में धर्मोपदेश और दूसरी में उसका कोई सुन्दर, हृदय में चुभने वाला दृष्टान्त दिया गया है। इस ग्रन्थ के कर्तृत्व के संबंध में कुछ विवाद है। प्रकाशित ग्रन्थ (कारंजा १९३२) की भूमिका में उहापोह पूर्वक इसके कर्ता दसवी शताब्दी में हुए देवसेन को सिद्ध किया गया है। किन्तु कुछ हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में इसे योगीन्द्र कृत भी कहा गया है, और कुछ में लक्ष्मीचन्द्र कृत श्रुतसागर कृत षट्पाहुड टीका में इस ग्रन्थ के कुछ दोहे उद्धृत पाये जाते हैं जिन्हें लक्ष्मीचन्द्र कृत कहा गया है। यदि पूर्ण ग्रन्थ के कर्ता लक्ष्मीचन्द्र हैं तो यह १५ वीं, शती की रचना सिद्ध होती है। ग्रन्थ पर योगीन्द्र कृत परमात्म प्रकाश तथा देवसेन

कृत भावसंग्रह का बहुत प्रभाव पाया जाता है। इसकी एक प्राचीन प्रति जयपुर के पाटोदी जैन मंदिर में वि० सं० १५५५ (ई० सन् १४९८) की है, और इसकी पुष्पिका में "इति उपासकाचारे आचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्र-विरचिते दोहक-सूत्राणि समाप्तानि" ऐसा उल्लेख है।

श्रावकाचार-संस्कृत :

रत्नकरंड श्रावकाचार— संस्कृत में श्रावक धर्म विषयक बड़ी सुप्रसिद्ध रचना है। इसके १५० श्लोकों में क्रमशः सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का निरूपण किया गया है। चारित्र में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का विस्तार से वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् सल्लेखना का निरूपण किया गया है, और इसप्रकार कुंदकुंद के निर्देशानुसार (चारित्र पाहुड गा० २५-२६) सल्लेखना को भी श्रावक के व्रतों में स्वीकार कर लिया है। अन्त में ग्यारह श्रावक-पदों (प्रतिमाओं) का भी निरूपण कर दिया गया है। इसप्रकार यहां श्रावक धर्म का प्ररूपण, निरूपण की दोनों पद्धतियों के अनुसार कर दिया गया है। ग्रन्थ कर्ता ने इस कृति में अपना नाम प्रगट नहीं किया, किन्तु टीकाकार प्रभाचन्द्र ने इसे समन्तभद्र कृत कहा है, और इसी आधार पर यह उन्ही स्वामी समन्तभद्र कृत मान लिया गया है जिन्होंने आप्तमीमांसादि ग्रन्थों की रचना की। किन्तु शैली आदि भेदों के अतिरिक्त भी इसमें आप्तमीमांसा सम्मत आप्त के लक्षण से भेद पाया जाता है, दूसरे वादिराज के पार्श्वनाथ चरित्र की उत्थानिका में इस रचना को स्पष्टतः समन्तभद्र से पृथक् 'योगीन्द्र' की रचना कहा है; तीसरे इससे पूर्व इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नही मिलता; और चौथे स्वयं ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक में 'वीतकलंक', 'विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' शब्दों का उपयोग किया गया है जिससे अनुमान होता है कि अकलंककृत राजवार्तिक, और विद्यानंदि कृत श्लोक वार्तिक तथा पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, इन तीनों टीकाओं से ग्रन्थकार परिचित और उपकृत थे। इसके अनुसार यह रचना विद्यानंदि और वादिराज के कालों के बीच अर्थात् आठवीं से दसवीं-ग्यारहवीं शती तक किसी समय हुई होगी।

सोमदेवकृत यशस्तिलक चम्पू के पांच से आठवें तक के चार आश्वासों में चारित्र का वर्णन पाया जाता है। विशेषतः इसके सातवें और आठवें आश्वासों में श्रावक के बारह व्रतों का विस्तार से प्रौढ़ शैली में वर्णन किया है। यह ग्रन्थ शक सं० ८८१ (ई० सन् ६५६) में समाप्त हुआ था।

अमितगति कृत श्रावकाचार लगभग १५०० संस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है, और

वह १५ अध्यायों में विभाजित है, जिनमें धर्म का स्वरूप, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का भेद, सप्त तत्व, अष्ट मूलगुण, बारह व्रत और उनके अतिचार, सामायिक आदि छह आवश्यक, दान, पूजा व उपवास एवं बारह भावनाओं का सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है। अन्तिम अध्याय में ध्यान का वर्णन ११४ पद्यों में किया गया है, जिसमें ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानफल का निरूपण है। अमितगति ने अपने अनेक ग्रन्थों में उनके रचनाकाल का उल्लेख किया है, जिनमें वि० सं० १०५० से १०७३ तक के उल्लेख मिलते हैं। अतएव उक्त ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग १००० ई० सिद्ध होता है।

आशाधर कृत सागारधर्मामृत लगभग ५०० संस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है, और उसमें आठ अध्यायों द्वारा श्रावकधर्म का सामान्य वर्णन, अष्ट मूलगुण तथा ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया गया है। व्रत प्रतिमा के भीतर बारह व्रतों के अतिरिक्त श्रावक की दिनचर्या भी बतलाई गई है। अन्तिम अध्याय के ११० श्लोकों में समाधि-मरण का विस्तार से वर्णन हुआ है। रचनाशैली काव्यात्मक है। ग्रन्थ पर कर्ता की स्वोपज्ञ टीका उपलब्ध है, जिसमें उसकी समाप्ति का समय वि० सं० १२९६-ई० १२३९ उल्लिखित है। (प्र० बंबई, १९१५)

गुणभूषण कृत श्रावकाचार को कर्ता ने भव्यजन-चित्तवल्लभ श्रावकाचार कहा है। इसमें २६९ श्लोकों द्वारा दर्शन, ज्ञान और श्रावकधर्म का तीन उद्देशों में सरल रीति से निरूपण किया गया है। इसका रचनाकाल निश्चित नहीं है, किन्तु उस पर रत्नकरंड, वसुनंदि श्रावकाचार आदि की छाप पड़ी दिखाई देती है। अनुमानतः यह रचना १४वीं १५वीं शताब्दी की है।

श्रावकधर्म संबंधी रचनाओं की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती आई है जिसमें १७वीं शताब्दी में अकबर के काल मे राजमल्ल द्वारा रचित लाटी संहिता उल्लेखनीय है।

ध्यान व योग-प्राकृत :

मुनिचर्या में तप का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। तप के दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्तादि छह प्रभेदों में अन्तिम तप का नाम ध्यान है। अर्द्धमागधी आगम ग्रन्थों में और विशेषतः ठाणांग (अ० ४ उ० १) में आर्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल इन चारों ध्यानों और उनके भेदोपभेदों का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार निर्युक्तियों में और विशेषतः आवश्यक निर्युक्ति के कायोत्सर्ग अध्ययन (गा० १४६२-८६) में ध्यानों के लक्षण व भेद-प्रभेद वर्णित पाये जाते हैं। इस

आगम-प्रणाली के अनुसार ध्यान का निरूपण जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी ध्यानशतक नामक रचना में किया है।

वैदिक परम्परा में ध्यान का निरूपण योग दर्शन के भीतर पाया जाता है, जिसके आदि संस्थापक महर्षि पतञ्जलि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) माने जाते हैं। पातंजल 'योगसूत्र' में जो योग का लक्षण 'चित्तवृत्तिनिरोध' किया है, और उसके प्रथम अंग यम के अहिंसादि पांच भेद बतलाये हैं, इससे उस पर श्रमण परम्परा की संयम विधि की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। अष्टांग योग का सातवा अंग ध्यान है जिसके द्वारा मुनि अपने चित्त को बाह्य विषयों से खींचकर आत्मचिन्तन में लगाने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया का योग नाम से उल्लेख हमें कुन्दकुन्द कृत मोक्ष-पाहुड में मिलता है।

मोक्षपाहुड (गाथा १०६) में कुन्दकुन्द ने आदि में ही अपनी कृति को परम योगियों के उस परमात्मरूप परमपद का व्याख्यान करनेवाली कहा है, जिसको जानकर तथा निरन्तर अपनी साधना में योजित करके योगी अव्याबाध, अनन्त और अनुपम निर्वाण को प्राप्त करता है (गा० २-३)। यहां आत्मा के बहिः, अंतर और परम ये तीन भेद किये हैं, जिनके क्रमशः इन्द्रिय परायणता, आत्म चेतना और कर्मों से मुक्ति, ये लक्षण है (गा० ५)। परद्रव्य मे रति मिथ्यादृष्टि है और उससे जीव की दुर्गति होती है; एवं स्व-द्रव्य (आत्मा) मे रति सद्गति का कारण है। स्व-द्रव्य-रत श्रमण नियम से सम्यग्दृष्टि होता है। तप से केवल स्वर्ग ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु शाश्वत सुख रूप निर्वाण की प्राप्ति ध्यान योग से ही सम्भव है (गा० २३) कषायों, मान, मद, राग-द्वेष, व्यामोह, एवं समस्त लोक-व्यवहार से मुक्त और विरक्त होकर आत्मध्यान मे प्रवृत्त हुआ जा सकता है (गा० २७)। साधक को मन, वचन, काय से मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य, और पाप का परित्याग कर मौनव्रत धारण करना चाहिए (गा० २८)। योग की अवस्था मे समस्त आसवों का निरोध होकर, संचित कर्मों का क्षय होने लगता है (गा० ३०)। लोक व्यवहार के प्रति सुषुप्ति होने पर ही आत्मजागृति होती है (गा० ३१)। पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति और रत्नत्रय से युक्त होकर मुनि को सदैव ध्यान का अभ्यास करना चाहिये (गा० ३३)। तभी वह सच्चा आराधक बनता है, आराधना के विधान को साध सकता है, और आराधना का केवलज्ञान रूप फल प्राप्त कर सकता है (गा० ३४)। किन्तु कितने ही साधक आत्मज्ञानी होकर भी पुनः विषयविमोहित होकर सद्भाव से भ्रष्ट हो जाते हैं। जो विषय-विरक्त बने रहते हैं, वे चतुर्गति से मुक्त हो जाते हैं (गा० ६७-६८)।

सम्यक्त्वहीन, चारित्रहीन अभव्य और अज्ञानी ही कहते हैं कि यह दुस्समकाल ध्या
करने का नही है (गा० ७४-७६)। ध्यान दो प्रकार से किया जा सकता है, ए
तो शुद्ध आत्म-चिन्तन, जिसके द्वारा योगी अपने आप में सुरक्त हो जाता है। य
निश्चयात्मक ध्यानावस्था है। जिसमें यह योग्यता नहीं है वह आत्मा का पुरुषाक
रूप से ध्यान करे (गा० ८३-८४)। यह ध्यान श्रमणों का है। श्रावकों को तत्वचिन्त
रूप सम्यक्त्व का निष्कंप रूप से ध्यान करना चाहिए (गा० ८६)। ध्यानाभ्यास
बिना बहुत से शास्त्रों का पठन, और नानाविध चारित्र का पालन, बाल-श्रुत बाल
चरण ही है (गा० १००)। अन्त में दो गाथाओं (१०४-१०५) में पंचपरमेष्ठि
रत्नत्रय व तप की जिस आत्मा में प्रतिष्ठा है उसकी ही शरण संबंधी भावना क
निरूपण कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस प्रकार इस पाहुड में हमे जैन योग विष
यक अतिप्राचीन विचार दृष्टिगोचर होते हैं जिसका परवर्ती योग विषयक रचनाओं
तुलनात्मक अध्ययन करने योग्य है। यथार्थतः यह रचना योगशतक रूप से लिखी ग
प्रतीत होती है और उसको 'योग-पाहुड' नाम भी दिया जा सकता है। पातंजल यो
शास्त्र में योग के जिन यम नियमादि आठ अंगों का निरूपण किया गया है, उनमें
प्राणायाम को छोड़, शेष सात का विषय यहां स्फुटरूप से जैन परम्परानुसार वर्णि
पाया जाता है।

बारस अणुवेक्खा (गा० ९०-९१), में अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार
लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह भावनाओं का आरम्
में निर्देश और फिर क्रमशः उनका स्वरूप संक्षेप में वर्णन किया गया है। ग्यारहवं
धर्मभावना के निरूपण में श्रावकों के दर्शन व्रतादि ग्यारह प्रतिमाओं (गा० ६९) तथ
मुनियों के उत्तम क्षमादि दस धर्मों का (गा० ७०) निर्देश किया गया है, और फि
एक एक गाथा में इन दसों का स्वरूप बतलाया गया है। अन्तिम ९१ वीं गाथा मे
कुन्दकुन्द मुनिनाथ का नामोल्लेख है, किन्तु यह गाथा प्राचीन कुछ प्रतियों में नही
मिलती। इसकी कुछ गाथाएं मूलाचार और सर्वार्थ सिद्धि में पाई जाती हैं। इस रचना
में ऐसी कोई बात दिखाई नही देती जिसके कारण वह कुन्दकुन्द कृत मानी न जा
सके। तत्वार्थसूत्रानुसार अनुप्रेक्षा धार्मिक साधना का एक आवश्यक अंग है; वहां
बारह अनुप्रेक्षाओं का निर्देशन भी किया गया है। अतएव यह स्वाभाविक ही प्रतीत
होता है कि जब कुन्दकुन्द ने चारित्र सम्बन्धी सभी विषयों पर लिखा, तब उन्होंने
बारह अनुप्रेक्षाओं का निरूपण भी अवश्य किया होगा।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियों में कहीं संक्षेप और

कही विस्तार से श्रमणों और श्रावकों के चारित्र संबंधी प्रायः सभी विषयों का निर्देश व निरूपण आ गया है। उनकी इन कृतियों का आगे की साहित्य रचनाओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा दिखाई देता है, और उनमें उक्त विषयों को लेकर पल्लवित किया गया है।

कत्तिगेयाणुवेक्खा (कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा) में ४६१ गाथाओं द्वारा उन्ही बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनका संक्षिप्त निरूपण हमें कुन्दकुन्द के बारस अणुवेक्खा में प्राप्त होता है। किन्तु यहाँ उनका क्रम कुछ भिन्न प्रकार से पाया जाता है। यहा संसार भावना तीसरे, अशुचित्व छठे, और लोक दसवें स्थान में पाई जाती हैं। लोकानुप्रेक्षा का वर्णन ११५ से २८३ तक की १६६ गाथाओं में किया गया है; क्योंकि उसके भीतर समस्त त्रैलोक्य का स्वरूप और उनके निवासी जीवों का, जीवादि छह द्रव्यों का, द्रव्यों से उत्पादादि पर्यायों का तथा मति श्रुति आदि पांच ज्ञानों का भी प्ररूपण किया गया है, और इस प्रकार वह प्रकरण त्रिलोक-प्रज्ञप्ति का संक्षिप्त रूप बन गया है। उसी प्रकार धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन गा० ३०२ से गा० ४६७ तक की १८६गाथाओं में हुआ है. क्योंकि यहां श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं व बारह व्रतों का (गा० ३०५-३६१), साधु के क्षमादि दश धर्मों का (गा० ३६२-४०४), सम्यक्त्व के आठ अंगों का (गा० ४१४-४२२) एवं अनशनादि बारह तपों का (गा० ४४१-४८७) वर्णन भी पर्याप्त रूप से किया गया है। बारह व्रतों के निरूपण में गुण और शिक्षा-व्रतों का क्रम वही है, जो कुन्दकुन्द के चारित्रपाहुड (गा० २५-२६) में पाया जाता है। भेद केवल इतना है कि यहां अंतिम शिक्षाव्रत सल्लेखना नहीं, किन्तु देशावकाशिक ग्रहण किया गया है। यह गुण और शिक्षाव्रतो की व्यवस्था त० सू० से संख्या क्रम में भिन्न है, और श्रावक-प्रज्ञप्ति की व्यवस्था से मेल खाता है। ग्रन्थ की अन्तिम तीन गाथाओं में कर्ता ने ग्रन्थ को समाप्त करते हुए केवल इतना ही कहा है कि स्वामिकुमार ने इन अनुप्रेक्षाओं की रचना परम श्रद्धा से, जिन-वचनों की भावना तथा चंचल मन के अवरोध के लिये जिनागम के अनुसार की। अन्तिम गाथा में उन्होंने कुमारकाल में तपश्चरण धारण करनेवाले वासुपूज्य, मल्लि और अन्तिम तीन अर्थात् नेमि, पार्श्व और महावीर की वन्दना की है। इस पर से ग्रन्थकर्ता के विषय में इतना ही परिचय प्राप्त होता है कि वे स्वयं (ब्रह्मचारी) थे और उनका नाम स्वामिकुमार (कार्त्तिकेय) था। ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में अभी कोई अनुमान लगाना कठिन है। ग्रन्थ पर भट्टारक शुभचन्द्र कृत संस्कृत टीका (वि० सं० १६१३-ई० १५५६) में समाप्त हुई प्राप्त होती है।

कुंदकुंद के पश्चात् स्वतंत्ररूप से योग विषयक ग्रन्थकर्ता आ० हरिभद्र हैं, जिनकी योग विषयक स्वतंत्र तीन रचनाएं प्राप्त है—*योगशतक (प्राकृत)*, *योगबिन्दु* (संस्कृत) और योगदृष्टिसमुच्चय (सं०)। इनके अतिरिक्त उनकी विंशति विंशिका में एक (१७ वीं विंशिका) तथा षोडशक में १४ वां व १६ वां ये दो, इसप्रकार तीन छोटे छोटे प्रकरण भी हैं। योगशतक में १०१ प्राकृत गाथाओं द्वारा सम्यग्दर्शन आदि रूप निश्चय और व्यवहार योग का स्वरूप, योग के अधिकारी, योगाधिकारी के *लक्षण एवं ध्यान रूप योगावस्था का सामान्य रीति से जैन परम्परानुसार ही वर्णन* किया गया है। योगविंशति की बीस गाथाओं में अतिसंक्षिप्त रूप से योग की विकसित अवस्थाओं का निरूपण किया गया है, जिसमें कर्ता ने कुछ नये पारिभाषिक शब्दों का उपयोग किया हैं। यहां उन्होंने योग के पांच भेदों या अनुष्ठानों को स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन और अन्तर्लम्बन संज्ञाएं देकर (गा० २), पहले दो को कर्मयोग रूप और शेष *तीन को ज्ञानयोग रूप कहा है (गा० ३)*। तत्पश्चात् इन पांचों योग भेदों के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि, ये चार यम नामक प्रभेद किये हैं, और अन्त में इनकी प्रीति, भक्ति, वचन और असंग अनुष्ठान नामक चार चार अवस्थाएं स्थापित करके आलंबन और अनालंबन योग का स्वरूप समझाया है।

ध्यान व योग-अपभ्रंश :

यहां अपभ्रंश भाषा की कुछ रचनाओं का उल्लेख भी उचित प्रतीत होता है, क्योंकि वे अध्यात्म विषयक हैं। योगीन्द्र कृत परमात्म-प्रकाश ३४५ दोहों में तथा योगसार १०७ दोहों में समाप्त हुए हैं। इन दोनों रचनाओं में कुंदकुंद कृत मोक्षपाहुड के अनुसार आत्मा के बहिरात्म, अन्तरात्म और परमात्म इन तीन स्वरूपों का विस्तार से वर्णन किया गया है, और जीवों को संसार के विषयों से चित्त को हटाकर, उसे आत्मोन्मुख बनाने का नानाप्रकार से उपदेश दिया गया है। यह सब उपदेश योगीन्द्र ने अपने एक शिष्य भट्ट प्रभाकर के प्रश्नों के उत्तर में दिया है। इन रचनाओं का *काल संपादक ने ई० की छठी शती अनुमान किया है (प्रकाशित बम्बई १९३७)*। परमात्म प्रकाश के कुछ दोहे हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में उद्धृत पाये जाते हैं, जिससे इसकी रचना हेमचन्द्र से पूर्व काल की सुनिश्चित है।

रामसिंह मुनि कृत 'पाहुड दोहा' में २२२ दोहे हैं, और इनमें योगी रचयिता ने *बाह्य क्रियाकांड की निष्फलता तथा आत्म-संयम और आत्मदर्शन में ही सच्चे* कल्याण का उपदेश दिया है। झूठे जोगियों को ग्रन्थ में खूब फटकारा गया है। देह

को कुटी या देवालय और आत्मा को शिव तथा इन्द्रिय-वृत्तियों का शक्ति रूप से संबोधन अनेक जगह आया है। शैली में यह रचना एक ओर बौद्ध दोहाकोशों और चर्यापदों से समानता रखती है; और दूसरी ओर कबीर जैसे संतों की वाणियों से। दो दोहों (९९-१००) में देह और आत्मा अथवा आत्मा और परमात्मा का प्रेयसी और प्रेमी के रूपक में वर्णन किया गया है, जो पीछे के सूफी सम्प्रदाय की काव्य-धारा का स्मरण दिलाता हैं। इसके ४,५ दोहे अत्यल्प परिवर्तन के साथ हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण में उद्धृत पाये जाते हैं। अतएव इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ११०० से पूर्व सिद्ध होता है। (प्रकाशित, कारंजा, १९३३)

ध्यान व योग-संस्कृत:—कुंदकुंद के पश्चात् पूज्यपाद कृत योग विषयक दो संक्षिप्त संस्कृत रचनाएं उल्लेखनीय है। एक इष्टोपदेश है, जिसमें ५१ श्लोक हैं। यहां योग-साधक की उन भावनाओं का निरूपण किया गया है, जिनके द्वारा साधक अपनी इन्द्रियों को सासारिक विषयों से पराङ्-मुख करके मन को आत्मध्यान मे प्रवृत्त करता है, तथा उसमें ऐसी अध्यात्मवृत्ति जागृत हो जाती है कि वह समस्त जगत् को इन्द्र-जाल के समान देखने लगता है, एकान्तवास चाहता है, कार्यवश कुछ कहकर तुरन्त भूल जाता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता, चलता हुआ भी नही चलता, देखता हुआ भी नहीं देखता, यहां तक कि उसे स्वयं अपने देह का भी भान नहीं रहता (श्लोक० ३९-४२)। इसप्रकार व्यवहार से दूर हटकर व आत्मानुष्ठान में स्थित होकर योगी को परमानंद प्राप्त होता है (श्लो० ४७)। इस योगावस्था का वर्णन जीवन्मुक्त की अवस्था से मेल खाता है।

पूज्यपाद की दूसरी रचना समाधिशतक है, जिसमें १०५ संस्कृत श्लोक हैं। इसमें बहिरात्म, अन्तरात्म और परमात्म का स्वरूप बतला कर, अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा के ध्यान का स्वरूप बतलाया गया है। ध्यान-साधना में अविद्या, अभ्यास व संस्कार के कारण, अथवा मोहोत्पन्न रागद्वेष द्वारा चित्त में विक्षेप उत्पन्न होने पर साधक को प्रयत्नपूर्वक मन को खींचकर, आत्मतत्व में नियोजित करने का उपदेश दिया गया है। साधक को अव्रतों का त्याग कर व्रतों में निष्ठित होने, और आत्मपद प्राप्त करने पर उन व्रतों का भी त्याग करने को कहा गया है (श्लो० ८४) लिंग तथा जाति का आग्रह करने वालों को यहां परमपद प्राप्ति के अयोग्य बतलाया है (श्लोक० ८९)। आत्मा अपने से भिन्न आत्मा की उपासना करके उसी के समान परमात्मा बन जाता है, जिसप्रकार कि एक बाती अन्य दीपक के पास से ज्वाला ग्रहण कर उसीके सदृश भिन्न दीपक बन जाती है (श्लोक० ९७)। इस रचना के संबंध में

यह बात ध्यान देने योग्य है कि विषय की दृष्टि से इसका कुंदकुंद कृत मोक्षपाहुड से बहुत कुछ साम्य के अतिरिक्त उसकी अनेक गाथाओं का यहां शब्दशः अथवा किंचित् भेद सहित अनुवाद पाया जाता है, जैसा कि मोक्ष पा० गा० ५, ६, ८, ९, १०, ११, २९, ३१, ३२, ४२, व ६२ और समधि शतक श्लोक ५, ६, ७, १०, ११, १२, १९, ७८, ४८, ८३, व १०२ का क्रमशः मिलान करने पर स्पष्ट पता लग जाता है।

आचार्य हरिभद्र कृत षोडशक के १४ वें प्रकरण में १६ संस्कृत पद्यों में योग साधना में बाधक खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद, रुग्, और आसंग, इन आठ चित्त-दोषों का निरूपण किया गया है; तथा १६ वें प्रकरण में उक्त आठ दोषों के प्रतिपक्षी अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति इन आठ चित्तगुणों का निरूपण किया है; एवं योग साधना के द्वारा क्रमशः स्वानुभूति रूप परमानंद की प्राप्ति का निरूपण किया गया है।

योगबिंदु में ५२७ संस्कृत पद्यों में जैनयोग का विस्तार से प्ररूपण किया गया है। यहां 'मोक्ष प्रापक धर्मव्यापार' को योग और मोक्ष को ही उसका लक्ष्य बतलाकर, चरमपुद्गलपरावर्त काल में योग की संभावना, अपुनर्बंधक, भिन्नग्रंथि, देशविरत और सर्वविरत (सम्यग्दृष्टि) ये चार योगाधिकारियों के स्तर, पूजा, सदाचार, तप आदि अनुष्ठान, अध्यात्म, भावना, ध्यान आदि योग के पांच भेद; विष, गरलादि पांच प्रकार के सद् वा असद् अनुष्ठान, तथा आत्मा का स्वरूप परिणामी नित्य बतलाया गया है; और प्रसंगानुसार सांख्य, बौद्ध, वेदान्त आदि दर्शनों का समालोचन भी किया गया है। पातंजल योग और बौद्ध सम्मत योगभूमिकाओं के साथ जैन योग की तुलना विशेष उल्लेखनीय है।

योगदृष्टिसमुच्चय में २२७ संस्कृत पद्यों में कुछ योगबिंदु में वर्णित विषय की संक्षेप में पुनरावृत्ति की गई है; और कुछ नवीनता भी लाई गई है। यहां आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है, एक मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नामक आठ योग-दृष्टियों द्वारा; दूसरा इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्य योग इन तीन प्रकार के योग-भेदों द्वारा; तथा तीसरा गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी इन चार योगी भेदों द्वारा। प्रथम वर्गीकरण में निर्दिष्ट आठ योगदृष्टियों में ही १४ गुणस्थानों की योजना कर ली गई है। मुक्त तत्व की विस्तार से मीमांसा भी की गई है।

इन रचनाओं द्वारा हरिभद्र ने अपने विशेष चिन्तन, नवीन वर्गीकरण तथा अपूर्व पारिभाषिक शब्दावली द्वारा जैन परम्परा के योगात्मक विचारों को कुछ नये

रूप में प्रस्तुत किया है; और वैदिक तथा बौद्ध परम्परा सम्मत योगधाराओं से उसका मेल बैठाने का प्रयत्न किया है। योगदृष्टि-समुच्चय पर स्वयं हरिभद्रकृत, तथा यशोविजयगणि कृत टीका उपलब्ध है। यही नही, किन्तु यशोविजय जी ने मित्रा तारादि आठ योगदृष्टियों पर चार द्वात्रिंशिकाएं (२१-२४) भी लिखी है, और संक्षेप मे गुजराती में एक छोटी सी सज्झाय भी लिखी है।

गुणभद्र कृत आत्मानुशासन में २७ संस्कृत पद्यों द्वारा इन्द्रियों और मन की बाह्य वृत्तियों को रोककर आत्मध्यान परक बनने का उपदेश दिया गया है। और इस प्रकार इसे योगाभ्यास की पूर्व-पीठिका कह सकते है। यह कृति रचना में काव्य गुण युक्त है। इसके कर्ता वे ही गुणभद्राचार्य माने जाते हैं जो धवला टीकाकार वीरसेन के प्रशिष्य और जिनसेन के शिष्य थे, तथा जिन्होंने उत्तरपुराण की रचना ९ वी शताब्दी के मध्यभाग में पूर्ण की थी। अतएव प्रस्तुत रचना का भी लगभग यही काल सिद्ध होता है।

अमितगति कृत सुभाषित-रत्न-संदोह (१० वी, ११ वीं शती) एक सुभाषितों का संग्रह है जिसमें ३२ अध्यायों के भीतर उत्तम काव्य की रीति से नैतिक व धार्मिक उपदेश दिये गये है। प्रसंगवंश यत्रतत्र अन्यधर्मी मान्यताओ पर आलोचनात्मक विचार भी प्रकट किये गये हैं। अमितगति की एक दूसरी रचना योगसार है, जिसके ९ अध्यायों में नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश दिये गये है।

संस्कृत में आचार सम्बधी और प्रसंगवश योग का भी विस्तार से वर्णन करनेवाला एक ग्रन्थ ज्ञानार्णव है। इसके कर्ता शुभचन्द्र है, जो राजाभोज के समकालीन ११ वी शताब्दी में हुए माने जाते हैं। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति पाटन भंडार से सं० १२४८ की लिखी प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ में २००० से ऊपर श्लोक हैं, जो ४२ प्रकरणों में विभाजित हैं। इनमें जैन सिद्धान्त के प्रायः सभी विषयों का संक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है। आचार सम्बन्धी व्रतों का और भावनाओं आदि का भी विस्तार से प्ररूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त आसन, प्राणायाम आदि योग की प्रक्रियाओं का, तथा ध्यान के आज्ञा, विपाक व संस्थान विचयों का वर्णन किया गया है। यहां ध्यान के निरूपण में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत संज्ञाओं का प्रयोग मौलिक है, और इन ध्यान-भेदों का स्वरूप भी अपूर्व है। इक्कीसवें प्रकरण में शिवतत्व, गरुडतत्व और कामतत्व का वर्णन भी इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। ग्रन्थकर्ता ने प्राणायाम का निरूपण तो पर्याप्त किया है, किन्तु उसे ध्यान की सिद्धि में साधक नहीं, एक प्रकार से बाधक कहकर उसके अभ्यास का निषेध किया

है। यह वर्णन संस्कृत गद्य में किया गया है और उस पर श्रुतसागर कृत एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। इसमें वर्णित विषयों का इतना बाहुल्य है कि वे इसका ज्ञानार्णव नाम सार्थक सिद्ध करते हैं। दिगम्बर परम्परा में योग विषयक ध्यानसार और योग-प्रदीप नामक दो ग्रन्थ संस्कृत पद्यबद्ध रचनाएं भी मिलती हैं।

हेमचन्द्र (१२ वीं शती ई०) कृत योगशास्त्र में लगभग १००० संस्कृत श्लोक हैं। इनमें मुनि और श्रावक धर्मों का व तत्संबंधी व्रतों का क्रमवार निरूपण है। तत्पश्चात् यहां श्रावक की दिनचर्या, कषाय जय द्वारा मनःशुद्धि तथा अनित्य आदि बारह भावनाओं का स्वरूप बतलाकर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा; ध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत तथा आज्ञा-विचय, अपाय-विचय आदि धर्मध्यान, और शुक्लध्यान के चार भेद; केवलि समुद्घात और मोक्षप्राप्ति का वर्णन किया गया है। यह प्रायः समस्त वर्णन स्पष्ट रूप से शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव से कहीं शब्दशः और कहीं कुछ हेरफेर अथवा संकोच-विस्तार पूर्वक लिया गया है। यहाँ तक कि प्राणायाम का विस्तार पूर्वक कोई ३०० श्लोकों में प्ररूपण करने पर भी उसे ज्ञानार्णव के समान मोक्षप्राप्ति में बाधक कहा गया है। शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के काल की दृष्टि से पूर्वापरत्व और एक पर दूसरे की छाप इतनी सुस्पष्ट है कि हेमचन्द्र को शुभचन्द्र का इस विषय में ऋणी न मानने का कोई अवकाश नहीं।

आशाधर कृत अध्यात्म-रहस्य हाल ही प्रकाश में आया है। इसमें ७२ संस्कृत श्लोकों द्वारा आत्मशुद्धि और आत्मदर्शन एवं अनुभूति का योग की भूमिका पर प्ररूपण किया गया है। आशाधर ने अपनी अनगारधर्मामृत की टीका की प्रशस्ति में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रति की अन्तिम पुष्पिका में इसे धर्मामृत का 'योगोद्दीपन' नामक अठारहवां अध्याय कहा है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का दूसरा नाम योगोद्दीपन भी है और इसे कर्ता ने अपने धर्मामृत के अन्तिम उपसंहारात्मक अठारहवें अध्याय के रूप में लिखा था। स्वयं कर्ता के शब्दों में उन्होंने अपने पिता के आदेश से आरब्ध योगियों के लिये इस प्रसन्न, गम्भीर और प्रिय शास्त्र की रचना की थी।

स्तोत्र साहित्य :

जैन मुनियों के लिये जो छह आवश्यक क्रियाओं का विधान किया गया है, उनमें चतुर्विंशति-स्तव भी एक है। इस कारण तीर्थंकरों की स्तुति की परम्परा प्रायः उतनी ही प्राचीन है, जितनी जैन संघ की सुव्यवस्था। ये स्तुतियां पूर्व में

भक्त्यात्मक विचारों के प्रकाशन द्वारा की जाती थी, जैसाकि हम पूर्वोक्त कुंदकुंदाचार्य कृत प्राकृत व पूज्यपाद कृत संस्कृत भक्तियों में पाते हैं। तत् पश्चात् इन स्तुतियों का स्वरूप दो धाराओं में विकसित हुआ। एक ओर बुद्धिवादी नैयायिकों ने ऐसी स्तुतियां लिखी जिनमें तीर्थंकरों की, अन्यदेवों की अपेक्षा, उत्कृष्टता और गुणात्मक विशेषता स्थापित की गई हैं। इस प्रकार की स्तुतियां आप्तमीमांसादि समन्तभद्र कृत, द्वात्रिंशिकाएं सिद्धसेन कृत तथा हेमचन्द्र कृत अन्ययोग व अयोग-व्यवच्छेदिकाएं आदि हैं, जिनका उल्लेख ऊपर जैन न्याय के प्रकरण में किया जा चुका है।

दूसरी धारा का विकास, एक ओर चौबीसों तीर्थंकरों के नामोल्लेख और यत्र तत्र गुणात्मक विशेषणों की योजनात्मक स्तुतियों में हुआ। इसप्रकार की अनेक स्तुतियाँ हमे पूजाओं की जयमालाओं के रूप में मिलती है। क्रमशः स्तोत्रों में विशेषणों व पर्यायवाची नामों का प्राचुर्य बढ़ा। इस शैली के चरम विकास का उदाहरण हमें जिनसेन (९ वी शती) कृत 'जिनसहस्रनाम स्तोत्र' में मिलता है। इस स्तोत्र के आदि के ३४ श्लोकों में नाना विशेषणों द्वारा परमात्म तीर्थंकर को नमस्कार किया गया है, और फिर दश शतकों में सब मिलाकर जिनेन्द्र के १००८ नाम गिनाये गये हैं। इन नामों में प्रायः अन्य धर्मों के देवताओं जैसे ब्रम्हा, शिव, विष्णु, बुद्ध, बृहस्पति, इन्द्र आदि के नाम भी आ गये हैं। इसी के अनुसार पं० आशाधर (१३ वी शती), देवविजयगणि (१६ वीं शती), विनयविजय उपाध्याय (१७ वी शती) व सकलकीर्ति आदि कृत अनेक जिनसहस्रनाम स्तोत्र उपलब्ध हैं। सिद्धसेन दिवाकर कृत जिनसहस्रनामस्तोत्र का भी उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर काव्य प्रतिभाशाली स्तुतिकारो ने ऐसे स्तोत्र लिखे, जिनमें तीर्थंकरों का गुणानुवाद भक्ति भाव पूर्ण, छन्द, अलंकार व लालित्य युक्त कविता में पाया जाता है और इस प्रकार ये रचनायें जैन साहित्य में गीति-काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। प्राकृत में इस प्रकार का अति प्राचीन उवसग्गहर स्तोत्र है, जो भद्रबाहु कृत कहा जाता है। इसमें पांच गाथाओं द्वारा पार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति की गई है। धनपाल कृत ऋषभ पंचाशिका में ५० पद्यों द्वारा प्रथम तीर्थंकर के जीवन चरित्र संबंधी उल्लेख आये हैं। यह स्तुति कला और कल्पना पूर्ण है, और उसमें अलंकारों की अच्छी छटा पायी जाती है। कवि के शब्दों में जीवन एक महोदधि है, जिसमें ऋषभ भगवान् ही एक नौका हैं। जीवन एक चोर डाकुओं से व्याप्त वन है, जिसमें ऋषभ ही एक रक्षक हैं। जीवन मिथ्यात्व मय एक रात्रि है, जिसमें ऋषभ ही उदीयमान सूर्य हैं। जीवन यह रंगमंच है जहां से प्रत्येक पात्र को अन्त में प्रस्थान करना ही

एक पद्य में इसके कर्त्ता का नाम कुमुदचन्द्र सूचित किया गया है, जिसे कुछ लोग सिद्धसेन (लगभग ६ठी शती) का ही दूसरा नाम मानते हैं। दूसरे पद्य के अनुसार यह २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया है। भक्तामर के सदृश होते हुए भी यह स्तोत्र अपनी काव्य कल्पनाओं व शब्द योजना में मौलिक ही है। हे जिनेन्द्र, आप उन भव्यों को संसार से कैसे पार कर देते हैं, जो अपने हृदय में आपका नाम धारण करते हैं ? हां जाना, जो एक मशक (दृति) भी जल में तैर कर निकल जाती है, वह उसके भीतर भरे हुए पवन का ही तो प्रभाव है। हे जिनेश, आपके ध्यान से भव्य पुरुष क्षणमात्र में देह को छोड़कर परमात्म दशा को प्राप्त हो जाते हैं; क्यों न हो, तीव्र अग्नि के प्रभाव से नाना धातुएं अपने पाषाण भाव को छोड़कर शुद्ध सुवर्णत्व को प्राप्त कर लेती हैं। इस स्तोत्र का भी डा० जैकोबी ने सम्पादन व जर्मन भाषा में अनुवाद किया है। भक्तामर स्तोत्र के समान इस पर भी कोई २०, २५ टीकाएं व छाया स्तोत्र पाये जाते हैं।

धनंजय (७वीं शती, ८वी शती) कृत विषापहार स्तोत्र में ४० इन्द्रवज्रा छंद के पद्य हैं। अन्तिम पद्य का छंद भिन्न है, और उसमें कर्ता ने अपना नाम सूचित किया है। स्तोत्र के द्वितीय पद्य में इस स्तुति को प्रथम तीर्थंकर वृषभ की कहा गया है। इसमें अन्य देवों से पृथक् करने वाले तीर्थंकर के गुणों का वर्णन विशेष रूप से आया है। हे देव, जो यह कहकर आपका गुणानुवाद करते हैं कि आप अमुक के पुत्र हैं, अमुक के पिता हैं, व अमुक कुल के हैं, वे यथार्थतः अपने हाथ में आये हुए सुवर्ण को पत्थर समझकर फेंक देते हैं। हे देव, मैं यह स्तुति करके आपसे दीनता पूर्वक कोई वर नहीं मांगता हूं; क्योंकि आप उपेक्षा (मध्यस्थ भाव) रखते हैं। जो कोई छायापूर्ण वृक्ष का आश्रय लेता है, उसे छाया अपने आप मिलती ही है, फिर छाया मांगने से लाभ क्या ? और हे देव, यदि आपको मुझे कुछ देने की इच्छा ही है, और उसके लिये अनुरोध भी, तो यही वरदान दीजिये कि मेरी आपमें भक्ति दृढ़ बनी रहे। स्तोत्र का नाम उसके १४ वें पद्य के आदि में आये हुए विषापहार शब्द पर से पड़ा है, जिसमें कहा गया है कि हे भगवन् लोग विषापहार मणि, औषधियों, मंत्र और रसायन की खोज में भटकते फिरते हैं; वे यह नही जानते कि ये सब आपके ही पर्यायवाची नाम हैं। इस स्तोत्र पर नागचन्द्र और पार्श्वनाथ गोम्मट कृत टीकाएं हैं व एक अवचूरि तथा देवेन्द्रकीर्ति कृत विषापहार व्रतोद्यापन नामक रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं।

वादिराज (११ वी शती) कृत एकीभाव स्तोत्र में २६ पद्य मन्दाक्रान्ता छन्द के हैं। अन्तिम भिन्न छन्दात्मक पद्य में कर्ता के नाम के साथ उन्हें एक उत्कृष्ट शाब्दिक,

तार्किक काव्यकृत् और भव्यसहायक कहा गया है। इस स्तोत्र में भक्त के मन, वचन और काय को स्वस्थ और शुद्ध करनेवाले तीर्थंकर के गुणों की विशेष रूप से स्तुति की गई है। हे भगवन्, जो कोई आपके दर्शन करता है, वचन रूपी अमृत का भक्ति रूपी पात्रसे पान करता है, तथा कर्मरूपी मनसे आप जैसे असाधारण आनन्द के धाम, दुर्वार काम के मदहारी व प्रसाद की अद्वितीय भूमिरूप पुरुष मे ध्यान द्वारा प्रवेश करता है, उसे क्रूराकार रोग और कंटक कैसे सता सकते हैं ? हे देव, न आपमें कोप का आवेश है, और न किसी के प्रति प्रसन्नता; एवं आपका चित्त परम उपेक्षा से व्याप्त है। इतने पर भी भुवन मात्र आपकी आज्ञा के वश है, और आपके सामीप्य मात्र से वैर का अपहार हो जाता है; ऐसा भुवनोत्कृष्ट प्रभाव आपको छोड़कर और किसमें हैं ? इस स्तोत्र पर एक स्वोपज्ञ टीका, एक श्रुतसागर कृत टीका व एक अन्य टीका मिलती है, तथा जगत्कीर्ति कृत व्रतोद्यापन का भी उल्लेख मिलता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक स्तोत्र लिखे गये हैं, जिनकी संख्या सैकड़ों पर पहुंच जाती है, और जिनकी कुछ न कुछ छंद, शब्द-योजना, अलंकार व भक्तिभाव (१) बप्पभट्टिकृत सरस्वती स्तोत्र (९वीं शती) (२) भूपालकृत जिनचतुर्विंशतिका, (३) हेमचन्द्र कृत वीतराग स्तोत्र (१३वीं शती), संबंधी अपनी अपनी विशेषता है। इनमें से कुछ के नाम ये हैं: (४) आशाधर कृत सिद्धगुण स्तोत्र (१३ वी शती) स्वोपज्ञ टीका सहित, (५) धर्मघोष कृत यमक स्तुति व चतुर्विंशति जिन स्तुति, (६) जिनप्रभ सूरि कृत चतुर्विंशति जिनस्तुति (१४ वीं शती,) (७) मुनिसुन्दर कृत जिन स्तोत्र रत्नकोष (१४वीं शती), (८) सोमतिलक कृत सर्वज्ञ स्तोत्र, (९) कुमारपाल, (१०) सोमप्रभ, (११) जयानंद, और (१२) रत्नाकर कृत पृथक्, पृथक्, 'साधारण जिन स्तोत्र'; (१३) जिन वल्लभ कृत नंदीश्वर स्तवन, (१४) शान्तिचन्द्रगणि (१६ वीं शती) कृत ऋषभजिनस्तव' व 'अजितशान्ति स्तव' आदि। धर्मसिंह कृत सरस्वती भक्तामर स्तोत्र तथा भावरत्न कृत नेमिभक्तामर स्तोत्र विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इनकी रचना भक्तामर स्तोत्र पर से समस्यापूर्ति प्रणाली द्वारा हुई है, और इनमें क्रमशः सरस्वती व नेमि तीर्थंकर की स्तुति की गई है।

प्रथमानुयोग—प्राकृत पुराण :

जैनागम के परिचय में कहा जा चुका है कि बारहवें श्रुतांग दृष्टिवाद के पांच भेदों में एक भेद प्रथमानुयोग था, जिनमें अरहंत व चक्रवर्ती आदि महापुरुषों का चरित्र वर्णन किया गया था। यही जैन कथा साहित्य का आदि स्त्रोत माना जाता

है। चौथे श्रुतांग समवायांग के भीतर २४६ से २७५वें सूत्र तक जो कुलकरों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों का वर्णन आया है, उसका भी ऊपर निर्देश किया जा चुका है। समवायांग के उस वर्णन की अपनी निराली ही प्राचीन प्रणाली है। वहां पहले जम्बूद्वीप, भरत क्षेत्र में वर्तमान अवसर्पिणी काल में चौबीसों तीर्थंकरों के पिता, माता, उनके नाम, उनके पूर्वभव के नाम, उनकी शिविकाओं के नाम, निष्क्रमण भूमियां, तथा निष्क्रमण करने वाले अन्य पुरुषों की संख्या, प्रथम भिक्षादाताओं के नाम, दीक्षा से प्रथम आहार ग्रहण का कालान्तर, चैत्यवृक्ष व उनकी ऊंचाई तथा प्रथम शिष्य और प्रथम शिष्यनी, इन सबकी नामावलियां मात्र क्रम से दी गई हैं। तीर्थंकरों के पश्चात् १२ चक्रवर्तियों के पिता, माता, स्वयं चक्रवर्ती और उनके स्त्रीरत्न क्रमशः गिनाये गये हैं। तत्पश्चात् ९ बलदेव और ९ वासुदेवों के पिता, माता, स्वयं उनके नाम, उनके पूर्वभव के नाम व धर्माचार्य, वासुदेवों की निदान भूमियां और निदान कारण (स० २६३), इनके नाम गिनाये गये हैं। विशेषता केवल बलदेवों और वासुदेवों की नामावली में यह है कि उनसे पूर्व उत्तमपुरुष, प्रधान पुरुष, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, कान्त, सौम्य, सुभग आदि कोई सौ से भी ऊपर विशेषण लगाये गये हैं। तत्पश्चात् इनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेव) के नाम दिये गये हैं। इसके पश्चात् भविष्य काल के तीर्थंकर आदि गिनाये गये हैं। यहां यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यद्यपि उक्त नामावलियों में त्रेशठ पुरुषों का वृत्तान्त दिया गया है; तथापि उससे पूर्व १३२वें सूत्र में उत्तम पुरुषों की संख्या ५४ कही गई है, ६३ नहीं; अर्थात् ९ प्रतिवासुदेवों को उत्तम पुरुषों में सम्मिलित नहीं किया गया।

यतिवृषभ कृत तिलोय पण्णत्ति के चतुर्थ महा अधिकार में भी उक्त महापुरुषों का वृत्तान्त पाया जाता है। इस अधिकार की गाथा ४२१ से ५०९ तक चौदह मनुओं या कुलकरों का उल्लेख करके क्रमशः १४११वीं गाथा तक उनका यही वर्णन दिया गया है जो ऊपर बतलाया जा चुका है। किन्तु विशेषता यह है कि यहां अनेक बातों में अधिक विस्तार पाया जाता है, जैसे—तीर्थंकरों की जन्मतिथियां और जन्मनक्षत्र, उनके वंशों का निर्देश, जन्मान्तराल, आयुप्रमाण, कुमारकाल, उत्सेध, शरीर वर्ण, राज्यकाल, चिन्ह, राज्य पद, वैराग्य कारण व भावना; दीक्षा स्थान, तिथि, काल व नक्षत्र और वन तथा उपवासों के नाम-निर्देश; दीक्षा के पूर्व की उपवास-संख्या, पारणा के समय नक्षत्र और स्थान, केवलज्ञान का अन्तरकाल, समोसरण की रचना का विस्तार पूर्वक वर्णन (गाथा ७१० से ९३३ तक), यक्ष-यक्षिणी, केवलि-काल, गणधरों की संख्या, ऋद्धियों के भेद, ऋषियों की संख्या, सात गण, आर्यिकाओं की संख्या, मुख्य

आर्यिकाओं के नाम, श्रावकों की संख्या, मुक्ति की तिथि, काल व नक्षत्र, तथा साथ में मुक्त हुए जीवों की संख्या; मुक्ति से पूर्व का योग-काल, मुक्त होते समय के आसन, अनुबद्ध केवलियों की संख्या, अनुत्तर जानेवालों की संख्या, मुक्तिप्राप्त यति-गणों की संख्या, मुक्ति-प्राप्त शिष्यगणों का मुक्ति-काल, स्वर्ग-प्राप्त शिष्यों की संख्या, भाव श्रमणों की संख्या, आदि; और अन्तिम तीर्थंकरों का मुक्ति काल और परस्पर अन्तराल एवं तीर्थ-प्रवर्तन काल। यह सब विस्तार १२७८वीं गाथा में समाप्त होकर तत्पश्चात् चक्रवर्तियों का विवरण प्रारम्भ होता है, जिसमें उनके शरीरोत्सेध, आयु, कुमारकाल, मंडलीक-काल, दिग्विजय, विभव, राज्यकाल, संयमकाल और पर्यायान्तर प्राप्ति (पुनर्जन्म) का वर्णन गाथा १४१० तक किया गया है। इसके पश्चात् बलदेव, वासुदेव और उनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेवों) के नामों के अतिरिक्त वे किस-किस तीर्थंकर के तीर्थ में हुए इसका निर्देश किया गया है, और फिर उनके शरीर-प्रमाण, आयु, कुमार काल और मंडलीक काल; तथा शक्ति, धनुष आदि सात महारत्नों व मुसल आदि चार रत्नों के उल्लेख के पश्चात् गाथा १४३६ में कहा गया है कि समस्त बलदेव निदान रहित होने से मरण के पश्चात् ऊर्ध्वगामी व सब नारायण निदान सहित होने से अधोगामी होते हैं। यह गाथा कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ वही है जो समवायांग के २६३वें सूत्र के अन्तर्गत आई है। इसके पश्चात् उनके मोक्ष, स्वर्ग व नरक गतियों का विशेष उल्लेख है। गा० १४३७ में यह भी निर्देश किया गया है कि अन्तिम बलदेव, कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता, ब्रह्मस्वर्ग को गये हैं; और अगले जन्म में वे कृष्ण तीर्थंकर के तीर्थ में सिद्धि को प्राप्त होंगे। इसके पश्चात् ११ रुद्र, ९ नारद और २४ कामदेव, इनका वृत्तान्त गा० १४३९ से १४७२वीं गाथा तक दिया गया है। और तदनन्तर दुःषम काल का प्रवेश, अनुबुद्ध केवली, १४ पूर्वधारी, १० पूर्वधारी, ११ अंग-धारी, आचारांग के धारक, इनका काल-निर्देश करते हुए, शक राजा की उत्पत्ति, उसके वंश का राज्यकाल; गुप्तों और चतुर्मुख के राज्यकाल तक महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष तक की परम्परा; तथा दूसरी ओर महावीर-निर्वाण की रात्रि में राज्या-भिषिक्त हुए अवन्तिराज पालक, विजयवंश, मुरुण्ड वंश, पुष्यमित्र, वसुमित्र, अग्निमित्र, गन्धर्व, नरवाहन, भृत्यान्ध्र और गुप्तवंश तथा कल्कि चतुर्मुख के राज्यकाल की परम्परा द्वारा वीर-निर्वाण से वही १००० वर्ष का वृत्तान्त दिया गया है। बस यहीं पर तिलोय पण्णत्ति का पौराणिक व ऐतिहासिक वृत्तान्त समाप्त होता है (गा० १४७६–१५१४)।

जैन साहित्य में महापुरुषों के चरित्र को नवीन काव्य शैली में लिखने का

प्रारम्भ विमलसूरि ने किया। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में आदि काव्य वाल्मीकि कृत रामायण माना जाता है, उसी प्रकार प्राकृत का आदि काव्य भी विमलसूरि कृत पउमचरियं (पद्मचरितम्) है। इस काव्य के अन्त की प्रशस्ति में इसके कर्ता व रचना-काल का निर्देश पाया जाता है। यहां कहा गया है कि स्व-समय और पर-समय अर्थात् अपने धर्म तथा अन्यधर्म के ज्ञायक रोहू नामके आचार्य हुए। उनके शिष्य थे नाइल कुलवंशी विजय, और विजय के शिष्य विमलसूरि ने पूर्वगत में से नारायण और सीरि(बलदेव)के चरित्र सुनकर इस काव्य की रचना की, जिसकी समाप्ति महावीर के सिद्ध होने के उपरान्त दुषमाकाल के ५३० वर्ष व्यतीत होने पर हुई। त्रिलोक-प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों के अनुसार वीर निर्वाण से ३ वर्ष ८ मास और १ पक्ष व्यतीत होने पर दुषमाकाल का प्रारम्भ हुआ (ति० प० ४, १४७४)। अब यदि हम पहले कहे अनुसार महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५२७ की कार्तिक कृष्ण अमावास्या को मानते हैं, तो पउमचरिय की समाप्ति का काल आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा सन् ७ ई० सिद्ध होता है। किन्तु कुछ विद्वान, जैसे जैकोबी, ग्रन्थरचना के इस काल को ठीक नहीं मानते, क्योंकि एक तो ग्रन्थ की भाषा अधिक विकसित है, और उसमें दीनार, लग्न आदि ऐसे शब्द आये हैं जो यूनान से लिये गये प्रतीत होते हैं। दूसरे उसमें कुछ ऐसे छंदों का उपयोग हुआ है, जिनका आविष्कार संभवतः उस समय तक नहीं हुआ था। अतः विद्वान् इसका रचना-काल तीसरी-चौथी शती ई० अनुमान करते हैं। यथार्थतः ये मत बहुत कुछ काल्पनिक व अपर्याप्त प्रमाणों पर आधारित हैं। वस्तुतः अभी तक ऐसा कोई प्रमाण सम्मुख नहीं लाया जा सका, जिसके कारण ग्रन्थ में निर्दिष्ट समय पूर्णतः असिद्ध किया जा सके। यह बात अवश्य है कि इसकी भाषा में हमें महाराष्ट्री प्राकृत का प्रायः निखरा हुआ रूप दिखाई देता है; और महाराष्ट्री के विकास का काल लगभग ई० की दूसरी शताब्दी माना जाता है। दूसरी यह बात भी चिन्तनीय है कि जैन साहित्य में अन्य कोई इस शैली का प्राकृत काव्यछठी-सातवीं शती से पूर्व का नहीं मिलता।

पउमचरिय के कर्ता ने अपने ग्रन्थ विषयक आदि स्त्रोतों के विषय में यह सूचित किया है कि उन्होंने नारायण और बलदेव (लक्ष्मण और राम) का चरित्र पूर्वगत में से सुना था (उ० ११८, गा० ११८)। यद्यपि पूर्वों के प्राप्त परिचय में कथात्मक साहित्य का उल्लेख नहीं पाया जाता; तथापि १२वें श्रुतांग दृष्टिवाद के भेदों में प्रथमानुयोग और पूर्वगत, दोनों साथ साथ निर्दिष्ट हैं। पउमचरिय में यह भी कहा गया है कि जो पद्मचरित पहले नामावली निबद्ध और आचार्य परम्परागत था,

उसे उन्होंने अनुपूर्वी से संक्षेप में कहा है (१, ८)। यहां स्पष्टतः कर्ता का संकेत उन नामावली-निबद्ध चरित्रों से है, जो समवायांग व तिलोयपण्णत्ति में पाये जाते है। वे नामावलियां यथार्थतः स्मृति-सहायक मात्र हैं। उनके आधार से विशेष कथानक मौखिक गुरु-शिष्य परम्परा में अवश्य प्रचलित रहा होगा; और इसी का उल्लेख कर्ता ने आचार्य-परम्परागत कहकर किया है। जिन सूत्रों के आधार पर यह गाथात्मक काव्य रचा गया है, उनका निर्देश ग्रन्थ के प्रथम उद्देश में किया गया है। कवि को इस ग्रन्थ-रचना की प्रेरणा कहां से मिली, इसकी भी सूचना ग्रन्थ में पाई जाती है। श्रेणिक राजा ने गौतम के सम्मुख अपना यह सन्देह प्रकट किया कि वानरों ने अतिप्रबल राक्षसों का कैसे विनाश किया होगा? क्या सचमुच रावण आदि राक्षस और मांस-भक्षी थे? क्या सचमुच रावण का भाई कुम्भकर्ण छह महीने तक लगातार सोता था? और निद्रा से उठकर भूखवश हाथी और भैंसे निगल जाता था? क्या इन्द्र संग्राम में रावण से पराजित हो सका होगा? ऐसी विपरीत बातों से पूर्ण रामायण कवियों द्वारा रची गई है, क्या वह सच है? अथवा तथ्य कुछ अन्य प्रकार है? श्रेणिक के इस सन्देह के समाधानार्थ गौतम ने उन्हें यथार्थ रामायण का कथानक कहकर सुनाया (२, ३)। इस कथन से स्पष्ट है कि पउमचरिय के लेखक के सम्मुख वाल्मीकि कृत रामायण उपस्थित थी और उसी से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने पूर्व साहित्य व गुरु परम्परा से प्राप्त कथा-सूत्रों को पल्लवित करके प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया।

पउमचरिय में स्वयं कर्ता के कथनानुसार सात अधिकार हैं। स्थिति, वंशोत्पत्ति, प्रस्थान, रण, लवंकुश (लवणांकुश) उत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव। ये अधिकार उद्देशों मे विभाजित हैं, जिनकी संख्या ११८ है। समस्त रचना प्राकृत गाथाओं में है; किन्तु उद्देशों के अन्त में भिन्न भिन्न छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। रचना प्रायः सर्वत्र सरल, धारावाही कथा-प्रधान है; किन्तु यत्र-तत्र उपमा आदि अलंकारों, सूक्तियों व रस-भावात्मक वर्णनों का भी समावेश पाया जाता है। इन विशेषताओं के द्वारा उसकी शैली भाषाभेद होने पर भी संस्कृत के रामायण महाभारत आदि पुराणों की शैली से मेल रखती है। इसमें काव्य का वह स्वरूप विकसित हुआ दिखाई नहीं देता जिसमें अलंकारिक वर्णन व रस-भाव-निरूपण प्रधान, और कथा भाग गौण हो गया है। प्रथम २४ उद्देशों में मुख्यतः विद्याधर और राक्षस वंशों का विवरण दिया गया है। राम के जन्म से लेकर, उनके लंका से लौटकर राज्याभिषेक तक अर्थात्, रामायण का मुख्य भाग २५ से ८५ तक के ६१ उद्देशों में वर्णित है। ग्रन्थ के शेष भाग में सीता-निर्वासन (उद्देश ६४), लवणांकुश-उत्पत्ति, देश-विजय व

समागम, पूर्व भवों का वर्णन आदि विस्तार से करके अन्त में राम को केवलज्ञान की उत्पत्ति, और उनकी निर्वाण-प्राप्ति के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है। यहां राम का कथानक कई बातों में वाल्मीकि रामायण से अपनी विशेषता रखता है। यहां हनुमान सुग्रीव आदि वानर नहीं, किन्तु विद्याधर थे, जिनका ध्वज-चिन्ह वानर होने के कारण वे वानर कहलाने लगे। रावण के दशमुख नहीं थे; किन्तु उसके गले में पहनाये गये हार के मणियों में प्रतिबिम्बित नौ अन्य मुखों के कारण यह दशमुख कहलाया। सीता यथार्थतः जनक की ही औरस कन्या थी; और उसका एक भाई भामंडल भी था। रामने बर्बरों द्वारा किये गये आक्रमण के समय जनक की सहायता की; और उसी के उपलक्ष्य में जनक ने सीता का विवाह राम के साथ करने का निश्चय किया। सीता के भ्राता भामंडल को उसके बचपन में ही एक विद्याधर हर ले गया था। युवक होने पर तथा अपने सच्चे मातापिता से अपरिचित होने के कारण उसे सीता का चित्रपट देखकर उस पर मोह उत्पन्न हो गया था, और वह उसी से अपना विवाह करना चाहता था। इसी विरोध के परिहार के लिये धनुष-परीक्षा का आयोजन किया गया, जिसमें राम की विजय हुई। दशरथ ने जब वृद्धत्व आया जान राज्यभार से मुक्त हो, वैराग्यधारण करने का विचार किया; तभी गंभीर-स्वभावी भरत को भी वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया। इस प्रकार अपने पति और पुत्र दोनों के एक साथ वियोग की आशंका से भयभीत होकर कैकेयी ने अपने पुत्र को गृहस्थी में बांधे रखने की भावना से उसे ही राज्य पद देने के लिये दशरथ से एक मात्र वर मांगा; और राम, दशरथ की आज्ञा से नहीं, किन्तु स्वेच्छा से वन को गये। इस प्रकार कैकेयी को किसी दुर्भावना के कलंक से बचाया गया है। रावण के आधिपत्य को स्वीकार करने के प्रस्ताव को ठुकराकर वालि स्वयं अपने लघु भ्राता सुग्रीव को राज्य देकर प्रव्रजित हो गया था; राम ने उसे नहीं मारा। रावण को यहां ज्ञानी और व्रती चित्रित किया गया है। वह सीता का अपहरण तो कर ले गया; किन्तु उसने उसकी इच्छा के प्रतिकूल बलात्कार करने का कभी विचार या प्रयत्न नहीं किया; और प्रेम की पीड़ा से वह घुलता रहा। जब स्वयं उसकी पत्नी मंदोदरी ने रावण के सुधारने का दूसरा कोई उपाय न देख, सच्ची पत्नी के नाते उसे बलपूर्वक भी अपनी इच्छा पूर्ण कर लेने का सुझाव दिया; तब उसने यह कहकर उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि मैंने किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध कभी संभोग न करने का व्रत ले लिया है; जिसे मैं कभी भंग न करूंगा। रावण के स्वयं अपने मुख से इस व्रत के उल्लेख द्वारा कवि ने न केवल उसके चरित्र को ऊंचा उठाया है, किन्तु सीता के अखंड पातिव्रत का भी एक निस्संदेह

प्रमाण उपस्थित कर दिया है। रावण की मृत्यु यहां राम के हाथ से नहीं, किन्तु लक्ष्मण के हाथ से कही गई है। राम के पुत्रों के नाम यहां लवण और अंकुश पाये जाते हैं। इस प्रकार की अनेक विशेषताएं इस कथानक में पाई जाती है; जिनका उद्देश्य कथा को अधिक स्वाभाविक बनाना, और मानव चरित्र को सभी परिस्थितियों में ऊंचा उठाये रखना प्रतीत होता है। कथानक के बीच में प्रसंगवश नाना अवान्तर कथाएं व धर्मोपदेश भी गुंथे हुए हैं। पउमचरियं के अतिरिक्त विमलसूरि की और कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई; किन्तु शक संवत ७०० (ई० सन् ७७८) में बनी कुवलयमाला में उसके कर्ता उद्योतनसूरि ने कहा है कि—

बुहयण-सहस्स-वइयं हरिवंसुप्पत्ति-कारयं पढमं।
वंदामि वंदियं पि हु हरिवंसं चेव विमलपयं॥

अर्थात् मैं सहस्त्रों बुधजनों के प्रिय हरिवंशोत्पत्ति के प्रथम कारक अर्थात् रचयिता विमलपद हरिवंश की ही वन्दना करता हूं। इस उल्लेख पर से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः विमलसूरि ने हरिवंश-कथात्मक ग्रन्थ की भी रचना की थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि समवायांग सूत्र में यद्यपि नामावलियां समस्त त्रेसठ शलाका पुरुषों की निवद्ध की गई हैं, तथापि उनमें से ९ प्रतिवासुदेवों को छोड़कर शेष ५४ को ही उत्तमपुरुष कहा है। इन्हीं ५४ उत्तमपुरुषों का चरित्र शीलांकाचार्य ने अपने 'चउपन्नमहापुरिस-चरियं' में किया है; जिसकी रचना वि० सं० ९२५ ई०-सन् ८६८ में समाप्त हुई। यह ग्रन्थ प्राकृत गद्य में व यत्र तत्र पद्यों में रचा गया है। तीर्थंकरों व चक्रवर्तियों का चरित्र यहां पूर्वोक्त नामावलियों के आधार से जैन परम्परानुसार वर्णन किया गया है। किन्तु विशेष तुलना के लिये यहां राम का आख्यान ध्यान देने योग्य है। अधिकांश वर्णन तो संक्षेप से विमलसूरि कृत पउमचरियं के अनुसार ही है, किन्तु कुछ बातों में उल्लेखनीय भेद दिखाई देता है। जिस रावण की भगिनी को पउमचरियं में सर्वत्र चन्द्रनखा कहा गया है; उसका नाम यहां सूर्पनखा पाया जाता है। पउमचरियं में रावण ने लक्ष्मण के स्वर में सिंहनाद करके राम को धोखा देकर सीता का अपहरण किया; किन्तु यहां स्वर्णमयी मायामृग का प्रयोग पाया जाता है। पउमचरियं में वालि स्वयं सुग्रीव को राज्य देकर प्रव्रजित हो गया था; किन्तु यहां उसका राम के हाथ से वध हुआ कहा गया है। यहां सीता को अपहरण के पश्चात् सम्बोधन करने वाली त्रिजटा का उल्लेख आया है, जो पउमचरिय में नहीं है। इन भेदों से सुस्पष्ट है कि शीलांक की रचना में वाल्मीकि कृत रामायण का प्रभाव अधिक पड़ा है, यद्यपि ग्रन्थ के अन्त में शीलांक ने स्पष्टतः कहा है कि राम और लक्ष्मण का चरित्र जो पउमचरियं में

विस्तार से वर्णित है, उसे उन्होंने संक्षेप से कहा है।

भद्रेश्वर कृत 'कहावलि' में त्रेसठ महापुरुषों का चरित्र वर्णित है। भद्रेश्वर अभयदेव के गुरु थे। अभयदेव के शिष्य आषाढ़ का समय लगभग ११९१ ई० पाया जाता है; अतएव यह रचना १२ वीं शती के प्रारम्भ की सिद्ध होती है। समस्त रचना प्राकृत गद्य में लिखी गई है; केवल अत्र तत्र पद्य पाये जाते हैं। ग्रन्थ में कोई अध्यायों का विभाग नहीं है; किन्तु कथाओं का निर्देश 'रामकहा भण्णइ', 'वाणरकहा भण्णइ' इत्यादि रूपसे किया गया है। इस ग्रन्थ में रामायण की कथा विमलसूरि कृत 'पउमचरियं' के ही अनुसार है। जो थोड़ा-बहुत भेद यत्र-तत्र पाया जाता है, उसमें विशेष उल्लेखनीय सीता के निर्वासन का प्रसंग है। सीता गर्भवती है और उसे स्वप्न हुआ है कि वह दो पराक्रमी पुत्रों को जन्म देगी। सीता के इस सौभाग्य की बात से उसकी सपत्नियों को ईर्ष्या उत्पन्न होती है। उन्होंने सीता के साथ एक छल किया। उन्होंने सीता से रावण का चित्र बनाने का आग्रह किया। सीता ने यह कहते हुए कि मैंने उसके मुखादि अंग तो देखे नहीं, केवल उसके पैरों का चित्र बना दिया। इसे उन सपत्नियों ने राम को दिखाकर कहा कि सीता रावण में अनुरक्त हो गई है; और उसी की चरण-वंदना किया करती है। राम ने इसपर जब तत्काल कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाई; तब उन सपत्नियों ने जनता में यह अपवाद फैला दिया; जिसके परिणाम-स्वरूप राम सीता का निर्वासन करने के लिये विवश हुए। रावण के चित्र का वृत्तान्त हेमचन्द्र ने अपने त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित में भी निबद्ध किया है।

प्राकृत में तीर्थंकर चरित्र —

शीलांक कृत 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' के पश्चात् आगामी तीन चार शताब्दियों में नाना तीर्थंकरों के चरित्र प्राकृत में कहीं पद्यात्मक, कहीं गद्यात्मक और कहीं मिश्रित रूप से काव्यशैली में लिखे गये। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ नाथ पर अभयदेव के शिष्य वर्द्धमान सूरि ने सन् ११०३ ई० में ११००० श्लोक प्रमाण आदिणाह-चरियं की रचना की। पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ का चरित्र १२ वीं शती के मध्य में विजयसिंह के शिष्य सोमप्रभ द्वारा लगभग ६००० गाथाओं में रचा गया। छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ का चरित्र देवसूरि द्वारा १३ वीं शती में रचा गया। सातवें तीर्थंकर पर लक्ष्मण गणि कृत 'सुपासणाह-चरियं' एक सुविस्तृत और उत्कृष्ट कोटि की रचना है, जो वि०सं० ११९९ में समाप्त हुई है। इसमें लगभग ७० पद्य अपभ्रंश के भी समाविष्ट पाये जाते हैं। आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ पर यशोदेव कृत (सं० ११७८) तथा श्रीचन्द्र के शिष्य

हरिभद्रकृत (सं० १२२३), ११ वें श्रेयांस पर अजितसिंह कृत, और १२ वें वासुपूज्य पर चन्द्रप्रभ कृत चरित्र-ग्रन्थ पाये जाते हैं। १४ वें तीर्थंकर अनन्तनाथ का चरित्र नेमिचन्द्र द्वारा वि० सं० १२१३ में लिखा गया। १६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र देवचन्द्र सूरि द्वारा वि० सं० ११६० में तथा दूसरा मुनिभद्र द्वारा वि० सं० १३५२ में लिखा गया। देवसूरि कृत रचना लगभग १२००० श्लोक प्रमाण है। १६वें मल्लिनाथ तीर्थंकर के चरित्र पर दो रचनाएं मिलती हैं; एक श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिभद्र द्वारा सर्वदेवगणि की सहायता से; और दूसरी जिनेश्वर सूरि द्वारा। १२ वी शती में ही २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत का चरित्र श्रीचन्द्र द्वारा लगभग ११००० गाथाओं में लिखा गया। २२ वें नेमिनाथ पर भी तीन रचनायें उपलब्ध हैं, एक मलधारी हेमचन्द्र कृत, दूसरी जिनेश्वर सूरि कृत वि० सं० ११७५ की, और तीसरी रत्नप्रभ सूरि कृत वि० संवत् १२२३ की। २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र अभयदेव के प्रशिष्य देवभद्र सूरि द्वारा वि०सं० ११६८ में रचा गया। रचना गद्य-पद्य मिश्रित है। अन्तिम तीर्थंकर पर 'महावीर-चरियं' नामक तीन रचनाएं (प्रका० अमदावाद १६४५) उपलब्ध हैं; एक सुमति वाचक के शिष्य गुणचन्द्र गणिकृत, दूसरी देवेन्द्रगणि अपर नाम नेमिचन्द्र, और तीसरी देवभद्र सूरिकृत। इन सबसे प्राचीन महावीर चरित्र आचारांग व कल्पसूत्र में पाया जाता है। कल्पसूत्र में वर्णित चरित्र अपनी काव्यात्मक शैली में ललितविस्तर में वर्णित बुद्धचरित से मिलता है। यह रचना भद्रबाहु कृत कही जाती है।

उक्त समस्त रचनाओं की भाषा व शैली प्रायः एक सी है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है, किन्तु कहीं कहीं शौरसेनी की प्रवृत्तियां भी पाई जाती है। शैली प्रायः पौराणिक है; किन्तु कवि की प्रतिभानुसार उनमें छंद, अलंकार, रस-भाव आदि काव्य गुणों का तरतम भाव पाया जाता है। प्रत्येक रचना में प्रायः चरित्रनायक के अनेक पूर्व भवों का वर्णन किया गया है; जो ग्रन्थ के एक-तृतीय भाग से कहीं कहीं अर्द्ध-भाग तक पहुंच गया है। शेष भाग में भी उपाख्यानों और उपदेशों की बहुलता पाई जाती है। नायक के चरित्र वर्णन में जन्म-नगरी की शोभा, माता-पिता का वैभव, गर्भ और जन्म समय के देव-कृत अतिशय, कुमार-क्रीड़ा और शिक्षा-दीक्षा, प्रव्रज्या और तपस्या की कठोरता, परिषहों और उपसर्गों का सहन, केवलज्ञानोत्पत्ति, समवशरण-रचना धर्मोपदेश, देश-प्रदेश विहार, और अन्ततः निर्वाण, इनका वर्णन कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से; कहीं सरल रूप में और कहीं कल्पना, लालित्य और अलंकारों से भरपूर पाया जाता है।

प्राकृत में विशेष कथाग्रन्थ-पद्यात्मक—

तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त प्राकृत में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें किसी व्यक्तिविशेष के जीवन-चरित्र द्वारा जैनधर्म के किसी विशेष गुण, जैसे संयम, उपवास, पूजा, विधि-विधान, पात्र-दान आदि का माहात्म्य प्रकट किया गया है। ये रचनाएं अपनी शैली व प्रमाणादि की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं। एक वे ग्रन्थ हैं जिनमें प्राकृत पद्यात्मक रचनाएं ही पाई जाती हैं, एवं जिनमें छंद, अलंकार आदि का भी वैशिष्ट्य दिखाई देता है। अतएव इन्हें हम प्राकृत काव्य कह सकते हैं। दूसरी वे रचनाएं हैं जिनमें मुख्यतः प्राकृत गद्य शैली में किसी व्यक्ति विशेष का जीवन वृत्तान्त कहा गया है। तीसरे प्रकार के वे ग्रन्थ हैं जो बहुधा कथाकोष के नाम से प्रकट किये गये हैं; और जिनमें कहीं पद्य, और कहीं मिश्रित रूप से अपेक्षा कृत संक्षेप में धार्मिक स्त्री-पुरुषों के चरित्र वर्णित किये गये हैं।

सबसे अधिक प्राचीन प्राकृत काव्य पादलिप्तसूरि कृत तरंगवती कथा का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों, जैसे *अनुयोगद्वारसूत्र*, *कुवलयमाला*, *तिलकमंजरी* आदि में मिलता है। 'विसेसनिसीह चूर्णि,' में नरवाहनदत्त की कथा को लौकिक व तरंगवती और मगधसेना आदि कथाओं को लोकोत्तर कहा गया है। हालकृत गाथा-सप्तशती में पादलिप्त कृत गाथाओं का संकलन पाया जाता है। प्रभाचन्द्र कृत प्रभावक-चरित्र में (१३ वीं शती) पादलिप्तसूरि का जीवनवृत्त पाया जाता है, जिसमें उनके विद्याधर कुल व नागहस्ति गुरु का उल्लेख है। इन उल्लेखों पर से इस रचना का काल ई० सन् ५०० से पूर्व सिद्ध होता है। दुर्भाग्यतः यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु लगभग १५ वीं शती में वीरभद्र के शिष्य नेमिचन्द्र ने इसका संक्षेप तरंगलोला नाम से १६४२ गाथाओं में प्रस्तुत किया है, जो प्रकाश में आ चुका है। (नेमिविज्ञान ग्रन्थमाला वि० सं० २०००)। इसका जर्मन में प्रोफेसर लायमन द्वारा, तथा गुजराती में नरसिंह भाई पटेल द्वारा किये हुए अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। तरंगलोलाकार ने स्पष्ट कहा है कि तरंगवती कथा देशी-वचनात्मक, बड़ी विशाल और विचित्र थी, जिसमें सुन्दर कुलकों, कहीं गहन युगलों और कहीं दुर्गम षट्कलों का प्रयोग हुआ था। वह विद्वानों के ही योग्य थी; जनसाधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। अतएव उस रचना की गाथाओं को संक्षेपरूप से यहां प्रस्तुत किया जाता है, जिससे उक्त कथा का लोप न हो। इस कथा में तरंगवती नामकी एक साध्वी जब भिक्षा के लिये नगर में गई तब एक सेठानी ने उसके रूप से आकृष्ट होकर उसका जीवन-वृत्तान्त पूछा। साध्वी ने बतलाया कि जब वह युवती थी, तब एक चकवा पक्षी को देखकर

उसे अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया कि जब वह भी चकवी के रूप में गंगा के किनारे अपने प्रिय चकवे से साथ क्रीड़ा किया करती थी। वह एक व्याघ के वाण से विद्ध होकर मर गया, तब मैंने भी प्राण परित्याग कर यह जन्म धारण किया। यह जाति-स्मरण होने पर मैंने अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त का चित्रपट लिखकर कौमुदी महोत्सव के समय कौशाम्बी नगर के चौराहे पर रखवा दिया। इसे देख एक सेठ के पुत्र पद्मदेव को भी अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। हम दोनों का प्रेम बढ़ा, किन्तु पिताने उस युवक से मेरा विवाह नही किया; क्योंकि वह पर्याप्त धनी नहीं था। तब हम दोनो एक रात्रि नाव में बैठकर वहां से निकल भागे। घूमते भटकते हम एक चोरों के दल द्वारा पकड़े गये। चोरों ने कात्यायनी के सम्मुख हमारा वलिदान करना चाहा! किन्तु मेरे विलाप से द्रवित होकर चोरों के प्रधान ने हमें छुड़वा दिया। हम कौशाम्बी वापिस आये; और धूमधाम से हमारा विवाह हो गया। कुछ समय पश्चात् मैं चन्दनबाला की शिष्या बन गई, और उन्हीं के साथ विहार करती हुई यहां आ पहुंची। इस जीवन-वृत्तान्त से प्रभावित होकर सेठानी ने भी श्रावक-व्रत ले लिये। इस कथानक की अनेक घटनाएं सुबंधु, वाण आदि संस्कृत कवियों की रचनाओं से मेल खाती हैं। नरवलि का प्रसंग तो भवभूति के मालती-माधव में वर्णित प्रसंग से बहुत कुछ मिलता है।

हरिभद्रसूरि (८ वीं शती)कृत धूर्ताख्यान में ४८५ गथाएं हैं, जो पांच आख्यानों में विभाजित हैं। उज्जैनी के समीप एक उद्यान था, जिसमें एक बार पांच धूर्तों के दल संयोग वश आकर एकत्र हो गए। वर्षा लगातार हो रही थी, और खाने-पीने का प्रबन्ध करना कठिन प्रतीत हो रहा था। पांचों दलों के नायक एकत्र हुए, और उनमें से एक मूलदेव ने यह प्रस्ताव किया कि हम पांचों अपने-अपने अनुभव की कथा कहकर सुनायें। उसे सुनकर दूसरे अपने कथानक द्वारा उसे सम्भव सिद्ध करें। जो कोई ऐसा न कर सके, और आख्यान को असम्भव बतलावे, वही उस दिन समस्त धूर्तों के भोजन का खर्च उठावे। मूलदेव, कंडरीक, एलापाढ़ और शश नामक धूर्तराजों ने अपने अपने असाधारण अनुभव सुनाये; जिनका समाधान पुराणों के अलौकिक वृत्तान्तों द्वारा दूसरों ने कर दिया। पांचवा वृत्तान्त खंडपाना नामकी धूर्तनी का था। उसने अपने वृत्तान्त में नाना असम्भव घटनाओं का उल्लेख किया; जिनका समाधान क्रमशः उन धूर्तों ने पौराणिक वृत्तान्तों द्वारा कर दिया; तथापि खंडपाना ने उन्हें सलाह दी कि वे उसको अपनी स्वामिनी स्वीकार कर लें; तो यह उन्हें भोजन भी करावेगी और वे पराजय से भी बच जायेंगे। किन्तु अपनी यहां तक की विजय के उन्माद से

उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया; और उसे अपना अन्तिम आख्यान सुनाने की चुनौती दी। खंडपाना ने प्रसंग मिलाकर कहा कि उसके जो वस्त्र हवा में उड़ गये थे, व उसके चार नौकर भाग गये थे, आज उसकी पहचान में आ गये। तुम चारों वे ही मेरे सेवक हो; और मेरे उन्हीं वस्त्रों को पहने हुए हो। यदि यह सत्य है, तो मेरी चाकरी स्वीकार करो; और यदि यह असत्य है, तो सबको भोजन कराओ। तब सब धूर्तों ने उसे अपनी प्रधान नायिका स्वीकार कर लिया; और उसने स्वयं सब धूर्तों को भोजन कराना स्वीकार कर लिया। फिर वह श्मशान में गई और वहां से एक तत्काल मृतक बालक को लेकर नगरमें पहुंची। एक धनी सेठ से उसने सहायता मांगी और उसे उत्तेजित कर दिया। उसके नौकरों द्वारा ताड़ित होने पर वह चिल्ला उठी कि मेरे पुत्र को तुम लोगों ने मार डाला। सेठ ने उसे धन देकर अपना पीछा छुड़ाया। उस धन से खंडपाना ने सब धूर्तों को आहार कराया। यह रचना भारतीय साहित्य में अपने ढंग की अद्वितीय है; और पुराणों की अतिरंजित घटनाओं की व्यंग्यात्मक कड़ी आलोचना है। इसी के अनुकरण पर अपभ्रंश में हरिषेण और श्रुतकीर्ति कृत; तथा संस्कृत में अमितगति कृत धर्मपरीक्षा नामक ग्रन्थों की रचना हुई। (प्रका० बम्बई, १९४४)।

जिनेश्वर सूरि के शिष्य धनेश्वर सूरि कृत 'सुरसुन्दरी-चरियं' १६ परिच्छेदों में, तथा ४००० गाथाओं में समाप्त हुआ है। इसकी रचना चन्द्रावती नगरी में वि० सं० १०९५ में हुई थी। सुरसुंदरी कुशाग्रपुर के राजा नरवाहनदत्त की पुत्री थी। वह पढ़लिखकर बड़ी विदुषी युवती हुई। सुमित्रा नामक परिव्राजिका ने उसे नास्तिकता का पाठ पढ़ाना चाहा; किन्तु सुरसुन्दरी के तर्क से पराजित और रुष्ट होकर उसने उज्जैन के राजा शत्रुंजय को उसका चित्रपट दिखाकर उभाड़ा। शत्रुंजय ने उसके पिता से विवाह की मांग की, जो अस्वीकार कर दी गई। इस कारण दोनों राजाओं में युद्ध छिड़गया। इसी बीच वैताढ्य पर्वत के एक खेचर ने सुरसुंदरी का अपहरण कर लिया; और उसे लेजाकर एक कदलीगृह में रक्खा। सुरसुन्दरी ने आत्मघात की इच्छा से विषफल का भक्षण किया। दैवयोग से उसी बीच उसका सच्चे प्रेमी मकरकेतु ने वहां पहुंच कर उसकी रक्षा की; तथा वहां से जाकर उसने शत्रुंजय का भी वध किया। किन्तु एक वैरी विद्याधर ने स्वयं उसका अपहरण कर लिया। बड़ी कठिनाइयों और नाना घटनाओं के पश्चात् सुरसुंदरी और मकरकेतु का पुनर्मिलन और विवाह हुआ। दीर्घ काल तक राज्य भोगकर दोनों ने दीक्षा ली एवं केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया। यथार्थतः नायिका का नाम व

वृत्तान्त ११ वें परिच्छेद से प्रारम्भ होता है। उससे पूर्व हस्तनापुर के सेठ धनदत्त का घटनापूर्ण वृत्तान्त, और अन्ततः श्रीदत्ता से विवाह; और उसी घटनाचक्र के बीच विद्याधर चित्रवेग और कनकमाला; तथा चित्रगति और प्रियंगुमंजरी के प्रेमाख्यान समाविष्ट हैं। प्रायः समस्त रचना गाथा छंद में है; किन्तु यत्र-तत्र अन्य नाना छंदों का प्रयोग भी हुआ है। कवि प्रतिभावान् है; और समस्त रचना बड़े सरस और भावपूर्ण वर्णनों से भरी हुई है। प्राकृतिक दृश्यों, पुत्रजन्म व विवाहादि उत्सवों, प्रातः व संध्या, तथा वन एवं सरोवरों आदि के वर्णन बड़े कलापूर्ण और रोचक हैं। नृत्यादि के वर्णनों में हरिभद्र की समरादित्य कथा की छाप दिखाई देती है।

महेश्वर सूरि कृत 'णाणपंचमीकहा' की रचना का समय ई० सन् १०१५ से पूर्व अनुमान किया जाता है। इस रचना में स्वतंत्र १० कथाएं समाविष्ट हैं, जिनके नाम हैं–(१), जयसेन, (२) नंद, (३) भद्रा, (४) वीर, (५) कमल, (६) गुणानुराग, (७) विमल, (८) धरण, (९) देवी, और (१०) भविष्यदत्त। प्रथम और अन्तिम कथाएं कोई पांच-पांच सौ गाथाओं में, और शेष कोई १२५ गाथाओं में समाप्त हुई हैं। इस प्रकार समस्त गाथाओं की संख्या लगभग २००० है। दसों कथाएं ज्ञानपंचमी व्रत का माहात्म्य दिखलाने के लिये लिखी गई हैं। कथाएं बड़ी सुन्दर, सरल और धारावाही रीति से वर्णित हैं। यथास्थान रसों और भावों एवं लोकोक्तियों का भी अच्छा समावेश किया गया है, जिनसे इस रचना को काव्य पद प्राप्त होता है।

हेमचन्द्रकृत 'कुमारपाल-चरित' आठ सर्गों मे समाप्त हुआ है। हेमचन्द्र का जन्म वि० सं० ११४५ में और स्वर्गवास सं० १२२९ में हुआ। अतएव इसी बीच प्रस्तुत काव्य का रचना-काल आता है। कुमारपाल हेमचन्द्र के समय गुजरात के चालुक्यवंशी नरेश थे; और उन्हीं के प्रोत्साहन से कवि ने अपनी अनेक रचनाओं का निर्माण किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी एक बहुत बड़ी विशेषता रखता है। हेमचन्द्र ने अपना एक महान् शब्दानुशासन लिखा है, जिसके प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत के, एवं अन्तिम अष्टम अध्याय में प्राकृत के व्याकरण का सूत्रों द्वारा स्वयं अपनी वृत्ति सहित निरूपण किया है। इसी व्याकरण के नियमों के उदाहरणों के लिये उन्होंने द्व्याश्रय काव्य की रचना की है, जिसमें एक और कुमारपाल नरेश के वंश का काव्य की रीति से वर्णन किया गया है; और साथ ही साथ अपने सम्पूर्ण व्याकरण के सूत्रों के उसी क्रम से उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अट्टाईस सर्ग हैं, जिनमें प्रथम २० सर्गों में कुमारपाल के वंश व पूर्वजों का इतिहास, और संस्कृत व्याकरण के

प्रदर्शित किया है। १६ वें उद्देश में धनपाल ने नेमीश्वर की स्तुति पहले संस्कृत गद्य में की है जो समास प्रचुर है; और फिर एक ऐसे अष्टक स्तोत्र द्वारा जिसके प्रत्येक पद्य का एक चरण संस्कृत में, और दूसरा चरण प्राकृत में रचा गया है। विचारात्मक उक्तियों व उपमाओं से तो समस्त रचना भरी हुई है। (प्रका० अमदाबाद, वि० सं० १९८९)।

देवेन्द्रसूरि कृत कृष्णचरित्र ११६३ गाथाओं में पूर्ण हुआ है। यथार्थतः यह रचना कर्ता के श्राद्धदिनकृत्य नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत दृष्टान्त रूप से आई है; और वहीं से उद्धृत कर स्वतंत्र रूप में प्रकाशित की गई है। (रतनपुर, मालवा, १९३८)। इसमें वसुदेव के पूर्वभवों के वर्णन से प्रारम्भ कर क्रमशः वसुदेव के जन्म, भ्रमण, कृष्ण-जन्म, कंस-वध, द्वारिका-निर्माण, प्रद्युम्न-हरण, पांडव और द्रौपदी, जरासंध-युद्ध, नेमिनाथ-चरित्र, द्रौपदी-हरण, द्वारिका-दाह, बलदेव-दीक्षा, नेमिनिर्वाण और कृष्ण के भावी तीर्थंकरत्व का वर्णन किया गया है। वसुदेव-भ्रमण के वृत्तान्त में प्रसंगवश चारुदत्त और वसन्तसेना का उल्लेख भी आया है। समस्त कथा का आधार वसुदेव हिंडी एवं जिनसेन कृत हरिवंशपुराण है। रचना आद्यन्त कथा-प्रधान है।

रत्नशेखर सूरि कृत श्रीपालचरित्र में १३४२ गाथाएं हैं। ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि इसका संकलन वज्रसेन गणधर के पट्ट शिष्य, व प्रभु हेमतिलक सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि ने किया; और उनके शिष्य हेमचन्द्र साधु ने वि० सं० १४२८ में इसको लिपिबद्ध किया। यह कथा सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये लिखी गई है। उज्जैनी की राजकुमारी मदनसुंदरी ने अपने पिता की दी हुई समस्या की पूर्ति में अपना यह भाव प्रकट किया कि प्रत्येक को अपने पुण्य-पाप के अनुसार सुख-दुःख प्राप्त होता है; इसमें दूसरे व्यक्तियों का कोई हाथ नहीं। पिता ने इसे पुत्री का अपने प्रति कृतघ्नता-भाव समझा; और क्रुद्ध होकर उसका विवाह श्रीपाल नामक कुष्टरोगी से कर दिया। मदनसुंदरी ने अपनी पति-भक्ति तथा सिद्ध-चक्र पूजा के प्रभाव से उसे अच्छा कर लिया; और श्रीपाल ने नाना देशों का भ्रमण किया, तथा खूब धन और यश कमाया। ग्रन्थ के बीच बीच में अनेक अपभ्रंश पद्य भी पाये हैं, व नाना पद्य छंदों में स्तुतियां निबद्ध हैं। रचना आदि से अंत तक रोचक है।

जिनमाणिक्य कृत कुम्मापुत्त-चरियं छोटी सी कथा है जो १९५ गाथाओं में पूर्ण हुई है। कवि ने अपने गुरु का नाम हेमविमल प्रगट किया है। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार ये १६ वीं सदी में हुए पाये जाते हैं। [illegible] में दान, तप, शील और भावना, इन चार धर्म के भेदों [illegible]

उदाहरण कुम्मापुत्त का दिया; तथा इन्द्रभूति के पूछने पर उसका वृत्तान्त सुनाया। पूर्व जन्म में वह दुर्लभ नाम का राजपुत्र था, जिसे एक यक्षिणी अपने पूर्व जन्म का पति पहचान कर पाताल लोक में ले गई। वह अपनी अल्पायु समझकर दुर्लभ धर्मध्यान में लग गया; और दूसरे जन्म में राजगृह का राजकुमार हुआ। शास्त्र-श्रवण द्वारा उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया, और वह संसार से विरक्त हो गया। तथापि माता-पिता को शोक न हो, इस विचार से प्रवृजित न होकर घर में ही रहा; और भावकेवली होकर मोक्ष गया। पूर्वभव-वर्णन में मनुष्य जीवन की चिन्तामणि के समान दुर्लभता के उदाहरण रूप एक आख्यान कहा गया है, जिसमें एक रत्नपरीक्षक पुरुष ने चिन्तामणि पाकर भी अपनी असावधानी से उसे समुद्र में खो दिया। रचना सरल और सुन्दर है। (प्रका० पूना, १९३०)।

इन प्रकाशित पद्यात्मक प्राकृत कथाओं के अतिरिक्त अन्य भी अनेक रचनाएं जैन शास्त्र भंडारों की सूचियों में उल्लिखित पाई जाती हैं, जिनमें जिनेश्वर सूरि कृत निर्वाण लीलावती का उल्लेख हमें अनेक ग्रंथों में मिलता है। विशेषतः धनेश्वर कृत 'सुरसुन्दरी चरिय' (वि० सं० १०९५) में उसे अति सुललित, प्रसन्न, श्लेषात्मक व विविधालंकार-शोभित कहा गया है। दुर्भाग्यतः इस ग्रन्थ की प्रतियां दुर्लभ हो गई हैं, किन्तु उसका संस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर ६००० श्लोकों में जिनरत्न (१३ वी शती) कृत पाया जाता है; जबकि मूल ग्रन्थ के १८००० श्लोक प्रमाण होने का उल्लेख मिलता है।

प्राकृत कथाएं-गद्य-पद्यात्मक——

जैन कथा-साहित्य अपनी उत्कृष्ट सीमा पर उन रचनाओं में दिखाई देता है जो मुख्यतः गद्य में, व गद्य-पद्य मिश्रित रूप में लिखी गई हैं; अतएव जिन्हें हम चम्पू कह सकते हैं। इनमें प्राचीनतम ग्रन्थ है वसुदेव हिंडी, जो सौ लम्बकों में पूर्ण हुआ है। ये लम्बक दो भागों में विभक्त हैं। प्रथम खंड में २९ लम्बक हैं, और वह लगभग ११००० श्लोक-प्रमाण है। इसके कर्ता संघदासगणि वाचक हैं। दूसरे खंड में ७१ लम्बक १७००० श्लोक प्रमाण हैं और इसके कर्ता धर्मसेन गणि हैं। ग्रन्थ का रचना-काल निश्चित नहीं है, तथापि जिनभद्रगणि ने अपनी विशेषणवती में इसका उल्लेख किया है; जिससे इसका रचना-काल छठवीं शती से पूर्व सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ का अभी तक केवल प्रथम खंड ही प्रकाश में आया है। इसमें भी १९ और २० वें लम्बक अनुपलब्ध हैं तथा २८ वां अपूर्ण पाया जाता है। अंधकवृष्णि के पुत्रों में जेठे समुद्र

विजय और सबसे छोटे वसुदेव थे। समुद्रविजय के राजा होने पर वसुदेव नगर में घूमा करते थे, किन्तु इनके अतिशय रूप व कला-प्रावीण्य के कारण नगर में अनर्थ होते देख, राजा ने इनका बाहर जाना रोक दिया। इस पर वसुदेव गुप्त रूप से घर से निकलकर देश-विदेश भ्रमण करने लगे। इस भ्रमण में उन्हें नाना प्रकार के कष्ट भी हुए व अनेक लोमहर्षक घटनाओं का सामना करना पड़ा, जिनके वैचित्र्य के वर्णन से सारा ग्रन्थ भरा हुआ है। प्रसंगवश इसमें महाभारत, रामायण एवं अन्य विविध आख्यान आये हैं। यह ग्रंथ लुप्त बृहत्कथा के आधार व आदर्श पर रचित अनुमान किया जाता है। भाषा, साहित्य, इतिहास आदि अनेक दृष्टियों से यह रचना बड़ी महत्वपूर्ण है।

हरिभद्र कृत समरादित्य कथा (८ वीं शती) में ९ 'भव' नामक प्रकरण हैं, जिनमें क्रमशः परस्पर विरोधी दो पुरुषों के साथ साथ चलने वाले ९ जन्मांतरों का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ की उत्थानिका में मंगलाचरण के पश्चात् कथावस्तु को दिव्य, दिव्य-मानुष और मानुष के भेद से तीन प्रकार का बतलाया गया है। कथा-वस्तु चार प्रकार की कथाओं द्वारा प्रस्तावित की जा सकती है- अर्थ, काम, धर्म और संकीर्ण; जिनके अधम, मध्यम और उत्तम, ये तीन प्रकार के श्रोता होते हैं। ग्रन्थ-कर्ता ने प्रस्तुत रचना को दिव्य- मानुष वस्तुगत धर्म-कथा कहा है, और पूर्वाचार्यों द्वारा कथित आठ चरित-संग्रहणी गाथाएं उद्धृत की हैं, जिनमें नायक-प्रतिनायक के नौ भवांतरों के नाम, उनका परस्पर संबंध, उनकी निवास-नगरियां एवं उनके मरण के पश्चात् प्राप्त स्वर्ग-नरकों के नाम दिये गये हैं। अन्तिम भव में नायक समरादित्य मोक्षगामी हुआ और प्रतिनायक गिरिसेन अनन्त संसार-भ्रमण का भागी। प्रथम भव में ही इनके परस्पर वैर उत्पन्न होने का कारण यह बतलाया गया है कि राजपुत्र गुणसेन पुरोहित-पुत्र ब्राह्मण अग्नि-शर्मा की कुरूपता की हंसी उड़ाया करता था; जिससे विरक्त होकर अग्निशर्मा ने दीक्षा ले ली; और मासोपवास संयम का पालन किया। गुणसेन राजा ने तीन बार उसे आहार के लिये आमंत्रित किया, किन्तु तीनों बार विशेष कारणों से मुनि को बिना आहार लौटना पड़ा, जिससे क्रुद्ध होकर उसने मन में यह ठान लिया कि यदि मेरे तप का कोई फल हो तो मैं जन्म-जन्मान्तर में इस राजा को क्लेश दूं। इसी निदान-बंध के कारण उसकी उत्तरोत्तर अधोगति हुई, जब तक कि अन्त में उसे सम्बोधन नहीं हो गया। इन नौ ही भवों का वर्णन प्रतिभाशाली लेखक ने बड़ी उत्तम रीति से किया है, जिससे कथा-प्रसंगों, प्राकृतिक वर्णनों व भाव-चित्रण द्वारा कथानक को श्रेष्ठ रचना का पद प्राप्त हुआ है।

उद्योतन सूरि कृत कुवलयमाला की रचना ग्रन्थ के उल्लेखानुसार ही शक सं० ७०० (ई० सन् ७७८) में जावालिपुर (जालौर-राजस्थान) में हुई थी। लेखक ने अपना विरुद् दाक्षिण्यचिन्ह भी प्रगट किया है। चरित्र-नायिका कुवलयमाला के वैचित्र्यपूर्ण जीवनचरित्र मे गुम्फित नाना प्रकार के उपाख्यान, घटनाएं, सामाजिक व वैयक्तिक चित्रण, इस कृति की अपनी विशेषताएं है, जिनकी समतोल अन्यत्र पाना कठिन है। प्राकृत भाषा के नाना देशी रूप व शैलियों के प्रचुर उदाहरण इस ग्रन्थ में मिलते हैं। लेखक का ध्येय अपनी कथाओं द्वारा क्रोधादि कषायों व दुर्भावनाओं के दुष्परिणाम चित्रित करना है। घटना-वैचित्र्य व उपाख्यानों की प्रचुरता में यह वसुदेव-हिंडी के समान है। यथास्थान अपनी प्रौढ़ शैली में वह सुबंधु और बाण की संस्कृत रचनाओं की समता रखती है। समरादित्य कथा का भी रचना में बहुत प्रभाव दिखाई देता है। स्वयं कर्ता ने हरिभद्र को अपना सिद्धान्त व न्याय का गुरु माना है, तथा उनकी समरमियंका (समरादित्य) कथा का भी उल्लेख किया है।

देवेन्द्रगणि कृत रयणचूडरायचरियं में कर्ता ने अपनी गुरु-परम्परा देवसूरि से लेकर उद्योतन सूरि द्वि०तक बतलाई है, और फिर कहा है कि वे स्वयं उद्योतन सूरि के शिष्य उपाध्याय अम्बदेव के शिष्य थे, जिनका नाम नेमिचन्द्र भी था। उन्होंने यह रचना डंडिल पदनिवेश में प्रारम्भ की थी, और चड्डावलि पुरी में समाप्त की थी। नेमिचन्द्र, अपर नाम देवेन्द्र गणि, ने अपनी उत्तराध्ययन टीका वि० सं० ११२९ में तथा महावीर-चरियं वि० सं० ११४० में लिखे थे। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना इसी समय के लगभग की सिद्ध होती है। कथा में राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में गौतम गणधर ने कंचनपुर के बकुल नामक मालाकार के ऋषभ भगवान को पुष्प चढ़ाने के फलस्वरूप गजपुर में कमलसेन राजा के पुत्र रत्नचूड़ की उत्पत्ति का वृतान्त सुनाया। रत्नचूड़ ने एक मदोन्मत्त गज का दमन किया; किन्तु वह एक विद्याधर निकला, और राजकुमार का अपहरण कर ले गया। रत्नचूड़ ने नाना प्रदेशों का भ्रमण किया; विचित्र अनुभव प्राप्त किये; अनेक सुन्दरियों से विवाह किया; और ऋद्धि प्राप्त की; जिसका वर्णन बड़ा रोचक है। अन्त में वे राजधानी में लौट आये; और मुनि का उपदेश पाकर धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए मरणोपरान्त स्वर्गगामी हुए। कथा में अनेक उपाख्यानों का समावेश है। यह कथा 'नायाधम्मकहा' में सूचित देव-पूजा आदि के धर्मफल के दृष्टान्त रूप रची गई है। (प्रका० अमदावाद, १९४२)

कालकाचार्य की कथा सबसे प्राचीन निशीथचूर्णि, आवश्यक चूर्णि, बृहत्कल्प भाष्य आदि अर्द्धमागधी आगम की टीकाओं में पाई जाती है। इस पर स्वतंत्र रचनाएं

भी बहुत लिखी गई हैं। जैन ग्रंथावलि में प्राकृत में विनयचन्द्र, भावदेव, जयानंदि सूरि, धर्मप्रभ देवकल्लोल व महेश्वर; तथा संस्कृत में कीर्तिचन्द्र और समयसुन्दर कृत कालकाचार्य कथाओं का उल्लेख किया गया है। किन्तु इन सबसे प्राचीन, और साहित्यिक दृष्टि से अधिक सुन्दर कृति देवेन्द्रसूरि कृत कथानक-प्रकरण-वृत्ति में समाविष्ट पाई जाती है। इसका रचना काल वि० सं० ११४६ है। कालक एक राजपुत्र थे; किन्तु गुणाकर मुनि के उपदेश से वे मुनि हो गये। उनकी छोटी बहन सरस्वती भी आर्यिका हो गई। उस पर उज्जैनी का राजा गर्दभिल्ल मोहित हो गया; और उसने उसे पकड़वाकर अपने अन्तःपुर में रखा। राजा को समझाकर अपनी बहन को छुड़ाने के प्रयत्न में असफल होकर कालकाचार्य शक देश को गये; और गर्दभिल्ल को पकड़कर देश से निर्वासित कर दिया गया। कालकाचार्य ने सरस्वती को पुनः संयम में दीक्षित कर लिया। उज्जैन में एक राजवंश स्थापित होगया; जिसका उच्छेद राजा विक्रमादित्य ने करके अपना संवत् चलाया। कथा में आगे चलकर कालकाचार्य के भरुकच्छ और वहां से प्रतिष्ठान की ओर विहार करने का वृत्तान्त है। उनकी राजा सातवाहन से भेंट हुई; और उनके अनुरोध से उन्होंने भाद्रपद शुक्ला ४ से पर्यूषण मनाये जाने की अनुमति प्रदान कर दी; क्योंकि भाद्रपद शुक्ला ५ को इन्द्रमहोत्सव मनाया जाता था। अपने शिष्यों का सम्बोधन करते हुए अन्त में कालकाचार्य ने संलेखना विधि से स्वर्गवास प्राप्त किया। इस कथा में शकों के आगमन और तत्पश्चात् उनके विक्रमादित्य द्वारा मूलोच्छेदन के वृत्तान्त में बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होता है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है। (प्रका० अमदाबाद, १९४९)

सुमतिसूरि कृत जिनदत्ताख्यान में कर्त्ता ने अपना इतना ही परिचय दिया कि पाडिच्छय गच्छ के कल्पद्रुम श्री नेमिचन्द्र सूरि हुए जिन्हें श्री सर्वदेव सूरि ने उत्तम पद पर स्थापित किया। उनके शिष्य सुमति गणि ने यह जिनदत्त महर्षि चरित रचा। ग्रन्थ का रचना काल निश्चित नहीं है; तथापि एक प्राचीन प्रति में उसके अणहिलपाटन में सं० १२४६ में लिखाये जाने का उल्लेख है, जिससे ग्रन्थ की रचना उससे पूर्व होनी निश्चित है। कथानायक सेठ द्यूतक्रीड़ा में अपना सब धन खोकर विदेश यात्रा को निकल पड़ा। दधिपुर में राजकन्या श्रीमती को व्याधि-मुक्त करके उससे विवाह किया। समुद्र यात्रा में उसे एक अन्य व्यापारी ने समुद्र में गिरा दिया; और वह एक पटिए के सहारे तट पर पहुंचा। वहां से रथनूपुर चक्रवाल में पहुंचकर वहां की राजकन्या से विवाह किया। अन्त में वह पुनः चम्पानगर को लौट आया और वहां की राजकन्या

रतिसुन्दरी से भी विवाह किया। तत्पश्चात् अनेक सुख भोगकर उसने दीक्षा धारण कर ली, और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया। गद्य और पद्य दोनों में भाषा सुपरिमार्जित पाई जाती है; और यत्र तत्र काव्य गुण भी दिखाई देते हैं।

एक और जिनदत्ताख्यान नामक रचना पूर्वोक्त ग्रन्थ के साथ ही प्रकाशित हुई है (बम्बई, १९५३); जिसमें कर्ता का नाम नहीं मिलता। कथानक पूर्वोक्त प्रकार ही है; किन्तु उसकी अपेक्षा कुछ संक्षिप्त है। पूर्वोक्त कृति से यह प्राचीन हो, तो आश्चर्य नहीं। इसमें जिनदत्त का पूर्वभव अन्त में वर्णित है; प्रारम्भ में नहीं। इसकी हस्तलिखित प्रति में उसके चित्रकूट में मणिभद्र यति द्वारा सं० ११८६ में लिखे जाने का उल्लेख है।

रयणसेहरीकहा के कर्ता जिनहर्षगणि ने स्वयं कहा है कि वे जयचन्द्र मुनि के शिष्य थे; और उन्होंने यह कथा चित्रकूट नगर में लिखी। ग्रन्थ की पाटन भंडार की हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५१२ की है; अतएव रचना उससे पूर्व की होनी निश्चित है। यह कथा सांवत्सरिक, चातुर्मासिक एवं चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्वानुष्ठान के दृष्टान्त रूप लिखी गई है। रतनपुर का राजा किन्नरों से रत्नावती के रूप की प्रशंसा सुनकर उसपर मोहित हो गया। इस सुन्दरी का पता लगाने उनका मंत्री निकला। एक सघन वन में पहुंचकर उसकी एक यक्ष-कन्या से भेंट हुई, जिसके निर्देश से वह एक जलते हुए धूपकुंड में कूदकर पाताल में पहुंचा और उस यक्ष-कन्या को विवाहा। यक्ष ने रत्नावली का पता बतलाया कि वह सिंहल के राजा जयसिंह की कन्या है। यक्ष ने उसे अपने विद्याबल से सिंहल में पहुंचा भी दिया। वहां वह योगिनी के वेष में रत्नावली से मिला। रत्नावली ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब उसे अपना पूर्व मृग-जन्म का पति मिलेगा, तभी वह उससे विवाह करेगी। योगिनी ने भविष्य का विचार कर बतला दिया कि उसका वही पति उसे शीघ्र ही कामदेव के मंदिर में द्यूतक्रीड़ा करता हुआ मिलेगा। इस प्रकार रत्नावली को तैयार कर वह उसी यक्ष-विद्या द्वारा अपने राजा के पास पहुंचा, और उसे साथ लाकर कामदेव के मंदिर में सिंहल राजकन्या से उसकी भेंट करा दी। दोनों में विवाह हो गया। एक बार जब वे दोनों गीत काव्य कथादि विनोद में आसक्त थे, तब एक सूआ राजा के हाथ पर आ बैठा, और एक शुकी रानी के हाथ पर। सूए की वाणी से राजा ने जान लिया कि यह कोई विशेष धार्मिक प्राणी है। विद्वत्तापूर्ण वार्तालाप करते हुए शुक और शुकी दोनों मूर्च्छित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए। एक महाज्ञानी मुनि ने राजा को बतलाया कि वे उसके पूर्व पुरुष थे; जो अपना व्रत खंडित करने के पाप से पक्षियोनि में उत्पन्न हुए थे। उन

पाप से मुक्त होकर अब वे धरणेन्द्र और पद्मावती रूप देव-देवी हुए हैं। राजा रत्नशेखर और रानी रत्नावती धर्मपालन में उत्तरोत्तर दृढ़ होते हुये अन्त में मरकर स्वर्ग में देव-देवी हुए।

इस कथानक का विशेष महत्व यह है कि वह हिन्दी के सुप्रसिद्ध काव्य जायसी कृत पद्मावत की कथा का मूलाधार सिद्ध होता है। यहाँ नायक रत्नशेखर है, तो वहाँ रतनसेन; नायिका दोनों में सिंहल की राजकुमारी है; परस्पर प्रेमासक्ति का प्रकार भी वही है। यहाँ मंत्री जोगिनी बनकर सिंहल जाता है, तो वहाँ स्वयं नायक ही जोगी बनता है। दोनों में मिलने का स्थान देवालय है। तोता भी दोनों कथाओं में आता है; यद्यपि जायसी ने इसका उपयोग कथा के आदि से ही किया है। रत्नशेखरी के कर्ता चित्रकूट (चित्तौड़) के थे; और जायसी के नायक ही चित्तौड़ के राजा थे। रत्नशेखरी में राजा द्वारा कलिंगराज को जीतने का उल्लेख है; पद्मावत में कलिंग से जोगियों का जहाज रवाना होता है। दोनों कथानकों का रूपक व रहस्यात्मक भाग बहुत कुछ मिलता है। पद्मावत का रचनाकाल शेरशाह सुलतान के समय में होने से उक्त रचना से पीछे तो सिद्ध होता ही है; क्योंकि शेरशाह का राज्य ई० सन् १५४० में प्रारम्भ हुआ था।

जम्बूसामिचरिउ उपर्युक्त समस्त प्राकृत चरित्रों से अपनी विशेषता रखता है; क्योंकि उसकी रचना ठीक उसी प्रकार की अर्धमागधी प्राकृत में उसी गद्य-शैली से हुई है जैसी आगमों की; यहां तक कि वर्णन के संक्षेप के लिये यहां भी तदनुसार ही 'जाव', 'जहा' आदि का उपयोग किया गया है। इस पर से यह रचना वलभी वाचना काल (५वीं शती) के आसपास की प्रतीत होती है; जैसा कि सम्पादक ने अपने 'प्रवेशद्वार' में भी अनुमान किया है, (प्र० भावनगर, वि० २००४)। किन्तु ग्रन्थ के अन्त में जो एक गाथा में यह कहा गया है कि इसे विजयदया सूरीश्वर के आदेश से जिनविजय ने लिखा है, उस पर से उसका रचनाकाल वि० सं० १७८५ से १८०९ के बीच अनुमान किया गया है, क्योंकि तपागच्छ पट्टावली के अनुसार ६४ वें गुरु विजयदया सूरि का यही समय है। किन्तु संभव है यह उल्लेख ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने का हो, ग्रन्थ रचना का नहीं, विशेषतः जबकि ग्रन्थ के अन्त की पुष्पिका में पुनः अलग से उसके लिखे जाने का काल सं० १८१४ निर्दिष्ट है। यदि आगे गवेषणा द्वारा अन्य प्राचीन प्रतियों के बल से यही रचनाकाल सिद्ध हो तो समझना चाहिये कि १८वीं शती में आगम शैली से यह ग्रन्थ लिखकर उक्त लेखक ने एक असाधारण कार्य किया।

कथानायक जम्बूस्वामी महावीर तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य थे; और उनके

निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् तक जीवित रहे । जैन आगम की परम्परा में उनका महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उपलम्य द्वादशांग का बहुभाग सुधर्म स्वामी द्वारा उन्हीं को उपदिष्ट किया गया है। प्रस्तुत रचनानुसार जम्बू का जन्म राजगृह में हुआ था। उनकी वैराग्य-वृति को रोकने के लिये उनके आठ विवाह किये गये; तथापि उनकी धार्मिक प्रवृति रुकी नही, बढ़ती ही गई । उन्होंने अपनी पत्नियों का संबोधन कर, और उनकी समस्त तर्कों व युक्तियों का खंडन कर दीक्षा ले ली; यहां तक कि जो प्रभव नामक बड़ा डाकू उनके घर में चोरी के लिये घुसा था, वह भी चुपचाप उनका उपदेश सुनकर संसार से विरक्त हो गया।

एक और जम्बूचरियं महाराष्ट्री प्राकृत में है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ । इसके कर्ता नाइलगच्छीय गुणपाल हैं, जो संभवतः वे ही हैं जिनके प्राकृत ऋषिदत्ता चरित्र का उल्लेख जैनग्रन्थावली में पाया जाता है, और उसका रचना काल वि० सं० १२६४ अंकित किया गया है । यह जम्बूचरित्र सोलह उद्देशों में पूर्ण हुआ है । मुख्य कथा व अवान्तर कथाएं भी प्रायः वे ही हैं जो पूर्वोक्त कृतिमें भी अपेक्षाकृत संक्षेप रूप में पाई जाती हैं । पद्मसुन्दर कृत जम्बूचरित अकबर के काल में सं० १६३२ में रचा गया मिला है।

गुणचन्द्र सूरि कृत णरविक्कमचरियं यथार्थतः ग्रन्थकार की पूर्वोक्त रचना 'महावीरचरियं' मे से उद्धृत कर पृथक् रूप से संस्कृत छाया सहित प्रकाशित हुआ है (नेमि विज्ञान ग्र० मा० २० वि०सं० २००८)। छत्ता नगरी के जितशत्रु राजा के पुत्र नन्दन को उपदेश देते हुए पोट्टिल स्थाविर ने विषयासक्ति में धर्मोपदेश द्वारा प्रवृज्या धारण करनेवाले राजा नरसिंह और उसके पुत्र नरवाहनदत्त का चरित्र वर्णन किया । कथा के गद्य और पद्य दोनों भाग रचना की दृष्टि से प्रौढ़ और काव्य गुणोंसे युक्त हैं।

इनके अतिरिक्त इसी प्रकार की अन्य अनेक प्राकृत रचायें उपलब्ध हैं, जो अभी तक प्रकाशित नही हुई । इनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं:— विजयसिंह कृत भुवनसुन्दरी (१० वी शती), वर्धमान कृत मनोरमाचरियं (११वीं शती), ऋषिदत्ता चरित (१३ वी शती) प्रद्युम्नचरित, मलयसुन्दरी कथा, नर्मदासुन्दरी कथा, धन्य सुन्दरी कथा और नरदेव कथा । (देखिये जैन ग्रन्थावली)

प्राकृत कथाकोष—

धर्मोपदेश के निमित्त लघु कथाओं का उपदेश श्रमण-परम्परा में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है । द्वादशांग आगम के णायाधम्मकहाओ मे इसका एक रूप

पाप से मुक्त होकर अब वे धरणेन्द्र और पद्मावती रूप देव-देवी हुए हैं। राजा रत्नशेखर और रानी रत्नावली धर्मपालन में उत्तरोत्तर दृढ़ होते हुये अन्त में मरकर स्वर्ग में देव-देवी हुए।

इस कथानक का विशेष महत्व यह है कि वह हिन्दी के सुप्रसिद्ध काव्य जायसी कृत पद्मावत की कथा का मूलाधार सिद्ध होता है। यहां नायक रत्नशेखर है, तो वहां रतनसेन; नायिका दोनों में सिंहल की राजकुमारी है; परस्पर प्रेमासक्ति का प्रकार भी वही है। यहां मंत्री जोगिनी बनकर सिंहल जाता है, तो वहां स्वयं नायक ही जोगी बनता है। दोनों में मिलने का स्थान देवालय है। तोता भी दोनों कथाओं में आता है; यद्यपि जायसी ने इसका उपयोग कथा के आदि से ही किया है। रत्नशेखरी के कर्ता चित्रकूट (चित्तौड़) के थे; और जायसी के नायक ही चित्तौड़ के राजा थे। रत्नशेखरी में राजा द्वारा कलिंगराज को जीतने का उल्लेख है; पद्मावत में कलिंग से जोगियों का जहाज रवाना होता है। दोनों कथानकों का रूपक व रहस्यात्मक भाग बहुत कुछ मिलता है। पद्मावत का रचनाकाल शेरशाह सुलतान के समय में होने से उक्त रचना से पीछे तो सिद्ध होता ही है; क्योंकि शेरशाह का राज्य ई० सन् १५४० में प्रारम्भ हुआ था।

जम्बूसामिचरित्त उपर्युक्त समस्त प्राकृत चरित्रों से अपनी विशेषता रखता है; क्योंकि उसकी रचना ठीक उसी प्रकार की अर्धमागधी प्राकृत में उसी गद्य-शैली से हुई है जैसी आगमों की; यहां तक कि वर्णन के संक्षेप के लिये यहां भी तदनुसार ही 'जाव', 'जहा' आदि का उपयोग किया गया है। इस पर से यह रचना वलभी वाचना काल(५वी शती)के आसपास की प्रतीत होती है; जैसा कि सम्पादक ने अपने 'प्रवेशद्वार' में भी अनुमान किया है, (प्र० भावनगर, वि० २००४)। किन्तु ग्रन्थ के अन्त में जो एक गाथा में यह कहा गया है कि इसे विजयदया सूरीश्वर के आदेश से जिनविजय ने लिखा है, उस पर से उसका रचनाकाल वि० सं० १७८५ से १८०६ के बीच अनुमान किया गया है, क्योंकि तपागच्छ पट्टावली के अनुसार ६४ में गुरु विजयादया सूरि का यही समय है। किन्तु संभव है यह उल्लेख ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने का हो, ग्रन्थ रचना का नहीं, विशेषतः जबकि ग्रन्थ के अन्त की पुष्पिका में पुनः अलग से उसके लिखे जाने का काल सं० १८१४ निर्दिष्ट है। यदि आगे खोजशोध द्वारा अन्य प्राचीन प्रतियों के बल से यही रचनाकाल सिद्ध हो तो समझना चाहिये कि १८वीं शती में आगम शैली से यह ग्रन्थ लिखकर उक्त लेखक ने एक असाधारण कार्य किया।

कथानायक जम्बूस्वामी महावीर तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य थे; और उनके

निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् तक जीवित रहे । जैन आगम की परम्परा में उनका महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उपलभ्य द्वादशांग का बहुभाग सुधर्म स्वामी द्वारा उन्ही को उपदिष्ट किया गया है । प्रस्तुत रचनानुसार जम्बू का जन्म राजगृह में हुआ था । उनकी वैराग्य-वृति को रोकने के लिये उनके आठ विवाह किये गये; तथापि उनकी धार्मिक प्रवृति रुकी नही, बढ़ती ही गई । उन्होंने अपनी पत्नियों का संबोधन कर, और उनकी समस्त तर्कों व युक्तियों का खंडन कर दीक्षा ले ली; यहां तक कि जो प्रभव नामक बड़ा डाकू उनके घर में चोरी के लिये घुसा था, वह भी चुपचाप उनका उपदेश सुनकर संसार से विरक्त हो गया ।

एक और जम्बूचरियं महाराष्ट्री प्राकृत में है, जो अभी तक प्रकाशित नही हुआ । इसके कर्ता नाइलगच्छीय गुणपाल हैं, जो संभवतः वे ही हैं जिनके प्राकृत ऋषिदत्ता चरित्र का उल्लेख जैनग्रन्थावली मे पाया जाता है, और उसका रचना काल वि० सं० १२६४ अंकित किया गया है । यह जम्बूचरित्र सोलह उद्देशों में पूर्ण हुआ है । मुख्य कथा व अवान्तर कथाएं भी प्रायः वे ही हैं जो पूर्वोक्त कृतिमें भी अपेक्षाकृत संक्षेप रूप में पाई जाती हैं । पद्मसुन्दर कृत जम्बूचरित अकबर के काल में सं० १६३२ में रचा गया मिला है ।

गुणचन्द्र सूरि कृत णरविक्कमचरियं यथार्थतः ग्रन्थकार की पूर्वोक्त रचना 'महावीरचरियं' मे से उद्धृत कर पृथक् रूप से संस्कृत छाया सहित प्रकाशित हुआ है (नेमि विज्ञान ग्र० मा० २० वि०सं० २००८) । छत्ता नगरी के जितशत्रु राजा के पुत्र नन्दन को उपदेश देते हुए पोट्टिल स्थाविर ने विषयासक्ति में धर्मोपदेश द्वारा प्रवृज्या धारण करनेवाले राजा नरसिंह और उसके पुत्र नरवाहनदत्त का चरित्र वर्णन किया । कथा के गद्य और पद्य दोनों भाग रचना की दृष्टि से प्रौढ़ और काव्य गुणोंसे युक्त हैं।

इनके अतिरिक्त इसी प्रकार की अन्य अनेक प्राकृत रचायें उपलब्ध हैं, जो अभी तक प्रकाशित नही हुई । इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं:— विजयसिंह कृत भुवनसुन्दरी (१० वीं शती), वर्धमान कृत मनोरमाचरियं (११वी शती), ऋषिदत्ता चरित (१३ वीं शती) प्रद्युम्नचरित, मलयसुन्दरी कथा, नर्मदासुन्दरी कथा, धन्य सुन्दरी कथा और नरदेव कथा । (देखिये जैन ग्रन्थावली)

प्राकृत कथाकोष—

धर्मोपदेश के निमित्त लघु कथाओं का उपदेश श्रमण-परम्परा में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है । द्वादशांग आगम के णायाधम्मकहाओ में इसका एक रूप

अपभ्रंश भाषा का विकास—

भारत में आर्यभाषा का विकास मुख्य तीन स्तरों में विभाजित पाया जाता है। पहले स्तर की भाषा का स्वरूप वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों व रामायण, महाभारत आदि पुराणों व काव्यों में पाया जाता है, जिसे भाषा-विकास का प्राचीन युग माना जाता है। ईसवी पूर्व छठवीं शती में महावीर और बुद्ध द्वारा उन भाषाओं को अपनाया गया जो उस समय पूर्व भारत की लोक भाषायें थीं; और जिनका स्वरूप हमें पालि त्रिपिटक व अर्धमागधी जैनागम में दिखाई देता है। तत्पश्चात् की जो शौरसेनी व महाराष्ट्री रचनायें मिलती हैं उनकी भाषा को मध्ययुग के द्वितीय स्तर की माना गया है, जिसका विकास-काल ईस्वी की दूसरी शती से पांचवीं शती तक पाया जाता है। तत्पश्चात् मध्ययुग का जो तीसरा स्तर पाया जाता है, उसे अपभ्रंश का नाम दिया गया है। भाषा के संबंध मे सर्वप्रथम अपभ्रंश का उल्लेख पातंजल महाभाष्य (ई० पू० दूसरी शती) में मिलता है; किन्तु वहां उसका अर्थ कोई विशेष भाषा न होकर, शब्द का वह रूप है जो संस्कृत से अपभ्रष्ट, विकृत या विकसित हुआ है, जैसे गौ का गावी, गोणी, गोपोतलिका आदि देशी रूप। इसी मतानुसार दण्डी (छठी शती) ने अपने काव्यादर्श में कहा है कि शास्त्र मे संस्कृत से अन्य सभी शब्द अपभ्रंश कहलाते हैं, किन्तु काव्य में आभीरों आदि की बोलियों को अपभ्रंश माना गया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी के काल अर्थात् ईसा की छठी शती मे अपभ्रंश काव्य-रचना प्रचलित थी। अपभ्रंश का विकास दसवीं शती तक चला और उसके साथ आर्य भाषा के विकास का द्वितीय स्तर समाप्त होकर तृतीय स्तर का प्रादुर्भाव हुआ; जिसकी प्रतिनिधि हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि आधुनिक भाषायें हैं। इसप्रकार अपभ्रंश एक ओर प्राचीन प्राकृतों, और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी है। वस्तुतः अपभ्रंश से ही हिन्दी आदि भाषाओं का विकास हुआ है; और इस दृष्टि से इस भाषा के स्वरूप का बड़ा महत्व है। प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश का मुख्य लक्षण यह है कि जहां अकारान्त शब्दों के कर्ता कारक की विभक्ति संस्कृत में विसर्ग व प्राकृत में ओ पाई जाती है, और कर्म कारक में अम् दोनों भाषाओं में होता है, वहां अपभ्रंश में वह 'उ' के रूप में परिवर्तित हो गई; जैसे संस्कृत का 'रामः वनं गतः', प्राकृत में 'रामो वणं गओ' व अपभ्रंश में 'रामु वणु गयउ' के रूप में दिखाई देता है। इसीलिये भरत मुनि ने इस भाषा को 'उकार-बहुल' कहा है। दूसरी विशेषता यह भी है कि अपभ्रंश में कुछ-कुछ परसर्गों का उपयोग होने लगा, जिसके प्रतीक 'तण' और 'केर' बहुतायत से दिखाई देते हैं। भाषा यद्यपि अभी भी प्रधानतया योगात्मक है, तथापि अयोगात्मकता

की ओर उसकी प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। कारक विभक्तियां तीन-चार ही रह गई हैं; और क्रियाओं का प्रयोग बन्द सा हो गया है। उनके स्थान पर क्रियाओं से सिद्ध विशेषणों का उपयोग होने लगा है। व्याकरण की इन विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य-रचना की बिलकुल नई प्रणालियां और नये छंदों का प्रयोग पाया जाता है। दोहा और पद्धडिया छंद अपभ्रंश काव्य की अपनी वस्तु हैं; और इन्हीं से हिन्दी के दोहों व चौपाइयों का आविष्कार हुआ है। इस भाषा का प्रचुर साहित्य जैन साहित्य की अपनी विशेषता है।

अपभ्रंश पुराण—

जिसप्रकार प्राकृत मे प्रथमानुयोग काव्य का आरम्भ रामकथा से होता है; उसी प्रकार अपभ्रंश में भी। अबतक प्रकाश में आये हुए अपभ्रंश कथा-साहित्य में स्वयम्भू कृत पउमचरिउ सर्वप्रथम है। इसमें विद्याधर, अयोध्या, सुन्दर, युद्ध और उत्तर, ये पांच कांड हैं, जिनके भीतर की समस्त संधियों (परिच्छेदों) की संख्या ९० है। ग्रन्थ के आदि में कवि ने अपने पूर्ववर्ती भरत, पिंगल, भामह और दंडी, एवं पांच महाकाव्य, इनका उल्लेख किया है। यह भी कहा है कि यह रामकथा रूपी नदी वर्द्धमान के मुख कुहर से निकली; और गणधर देवों ने उसे बहते हुए देखी। पश्चात् यह इन्द्रभूति आचार्य, फिर सुधर्म व कीर्तिधर द्वारा प्रवाहित होती हुई, रविषेणाचार्य के प्रसाद से कविराज (स्वयम्भू) को प्राप्त हुई। अपने वैयक्तिक परिचय में कवि ने अपनी माता पद्मिनी और पिता मारुतदेव तथा अमृताम्बा और आदित्याम्बा, इन दो पत्नियों का उल्लेख किया है; और यह भी बतला दिया है कि वे शरीर से कृश और कुरूप थे; तथा उनकी नाक चपटी और दांत विरल थे। उन्होंने अपने आश्रयदाता धनंजय का भी उल्लेख किया है। पुष्पदंत कृत महापुराण में जहां स्वयंभू का उल्लेख आया है, वहां पर प्राचीन प्रति में 'सयंभुट्ठ पद्धडिबंधकर्ता आपलीसंघीयह' ऐसा टिप्पण पाया जाता है; जिससे अनुमान होता है कि वे यापिनीयसंघ के अनुयायी थे। कवि द्वारा उल्लिखित रविषेणाचार्य ने अपना पद्मचरित वीर नि० सं० १२०३ अर्थात् ई० सन् ६७६ में पूर्ण किया था; एवं स्वयम्भूदेव का उल्लेख सन् ९५९ ई० में प्रारम्भ किये गये अपभ्रंश महापुराण में उसके कर्ता पुष्पदंत ने किया है। अतएव पउमचरिउ की रचना इन दोनों अवधियों के मध्यकाल की सिद्ध होती है। उनकी कालावधि को और भी सीमित करने का एक आधार यह भी है कि जैसा उन्होंने अपने पउमचरिउ में रविषेण का उल्लेख किया है, वैसा संस्कृत हरिवंशपुराण व उसके कर्ता जिनसेन का

नहीं किया; अतएव सम्भवतः वे संस्कृत हरिवंश के रचनाकाल, अर्थात् ई० सन् ७८३ के पूर्व ही हुए होंगे। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल ई० सन् ७०० के लगभग सिद्ध होता है। स्वयम्भूदेव ने यह रचना ८२ या ८३ वीं संधि पर्यंत ही की है; और सम्भवतः वही उन्होंने अपनी रचना को पूर्ण समझा था। किन्तु उनके सुपुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू ने शेष रूप से सात-आठ और सर्ग रचकर उसे पद्मचरित में वर्णित विषयों के अनुसार पूर्ण किया। समस्त ग्रन्थ का कथाभाग संस्कृत पद्मचरित के ही समान है। हां, इस रचना में वर्णन विशेषरूप से काव्यात्मक पाये जाते हैं। स्थान-स्थान पर छंदों का वैचित्र्य, अलंकारों की छटा, रसभाव-निरूपण आदि संस्कृत काव्यशैली की उत्कृष्ट रीति के अनुसार हुआ है।

स्वयम्भू की दूसरी अपभ्रंश कृति 'रिट्ठणेमि चरिउ' या 'हरिवंशपुराण' है। इसकी उत्थानिका में कवि ने भरत, पिंगल, भामह और दंडी के अतिरिक्त व्याकरण-ज्ञान के लिये इन्द्र का, घन-घन अक्षराडम्बर के लिये बाण का, तथा पद्धडिया छंद के लिये चतुर्मुख का ऋण स्वीकार किया है। अन्तमें कथा की परम्परा को महावीर के पश्चात् गौतम, सुधर्म, विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु से होती हुई संक्षेप में सूत्र रूप सुनकर, उन्होंने पद्धडिया बंध मे मनोहरता से निबद्ध की, ऐसा कहा है। ग्रन्थ में तीन कांड हैं — यादव, कुरु और युद्ध; और उनमें कुल ११२ संधियां हैं। इसकी भी प्रथम ९९ संधियां स्वयंभूकृत हैं; और शेष उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभूकृत। इन अन्तिम संधियों मे से चार की पुष्पिकाओं में मुनि यशःकीर्ति का भी नाम आता हैं; जिससे अनुमान होता है कि उन्होंने भी इस ग्रन्थ में कुछ संशोधन, परिवर्द्धन किया होगा। ग्रन्थ का कथाभाग प्रायः वही है जो जिनसेन कृत हरिवंश में पाया जाता है। यादव कांड में कृष्ण के जन्म, बाल-क्रीड़ा, विवाह आदि संबंधी वर्णन बड़ी काव्यरीति से किया गया है। उसीप्रकार कुरु-कांड में कौरवों-पांडवों के जन्म, कुमारकाल, शिक्षण, परस्पर विरोध, द्यूतक्रीडा व वनवास का वर्णन, तथा युद्धकांड में कौरव-पांडवों के युद्धका वर्णन रोचक व महाभारत के वर्णन से तुलनीय है।

अपभ्रंश में एक और हरिवंशपुराण धवल कवि कृत मिला है, जो १२२ संधियों में समाप्त हुआ है। कवि विप्र वर्ण के थे; और उनके पिता का नाम सूर, माता का केसुल्ल और गुरु का नाम अम्बसेन था। ग्रन्थ की उत्थानिका में उन्होंने अनेक आचार्यों और उनकी ग्रन्थ-रचनाओं का उल्लेख किया है, जिनमें महासेन कृत सुलोचनाचरित, रविषेण कृत पद्मचरित, जिनसेन कृत हरिवंश, जटिलमुनि कृत

वरांगचरित, असगकृत वीरचरित, जिनरक्षित श्रावक द्वारा विख्यापित जयधवल एवं चतुर्मुख और द्रोण के नाम सुपरिचित, तथा कवि के काल-निर्णय में सहायक होते हैं। उनमें काल की दृष्टि से सब से अन्तिम असग कवि हैं, जिन्होंने अपना वीरचरित शक संवत् ९१०, अर्थात् ई० सन् ९८८ में समाप्त किया था। अतएव यही कवि के काल की पूर्वावधि है। उनकी उत्तरावधि निश्चित करने का कोई साधन प्राप्त नहीं है। सम्भवतः इस रचना का काल १० वीं, ११ वीं शती होगा। विशेष उल्लेखनीय एक बात यह है कि अपने कवि-कीर्तन में कवि ने महान् श्वेताम्बर कवि गोविन्द और उनके सनत्कुमार चरित का उल्लेख किया है (सणकुमार जें विरइउ मणहरु, कइ-गोविंदु पवरु सेयंबरु)। अपने विषय वर्णन के लिये कवि ने जिनसेन कृत हरिवंश पुराण का आश्रय लिया है; और इस ऋण का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख कर दिया है (जह जिणसेणेण कयं, तह विरयमि किं पि उद्देसं)। संधियों की संख्या संस्कृत हरिवंश से दुगुनी से कुछ कम है; किन्तु निर्दिष्ट प्रमाण ठीक ड्योढ़ा है; क्योंकि संस्कृत हरिवंश का प्रमाण १२ हजार श्लोक और इसका १८००० आंका गया है। अधिक विस्तार वर्णन-वैचित्र्य के द्वारा हुआ प्रतीत होता है। अपभ्रंश काव्य परम्परानुसार काव्य गुणों की भी इस ग्रन्थ में अपनी विशेषता है। छंद-वैचित्र्य भी बहुतायत से पाया जाता है।

अपभ्रंश में और भी अनेक कवियों द्वारा हरिवंश पुराण की रचना की गई है। ऊपर स्वयम्भू कृत हरिवंश पुराण के परिचय में कहा जा चुका है कि उस ग्रन्थ की अन्तिम संधियों में यशःकीर्ति द्वारा भी कुछ संवर्द्धन किया गया है। यशःकीर्ति कृत एक स्वतंत्र हरिवंशपुराण भी वि० संवत् १५०० या १५२० में रचित पाया जाता है। यह योगिनीपुर (दिल्ली) में अग्रवाल वंशी व गर्गगोत्री दिउढा साहू की प्रेरणा से लिखा गया था। यह ग्रन्थ १३ संधियों या सर्गों में समाप्त हुआ है। कथानक का आधार जिनसेन व स्वयंभू तथा पुष्पदंत की कृतियां प्रतीत होती हैं। एक और हरिवंश पुराण श्रुतिकीर्ति कृत मिला है; जो वि० सं० १५५३ में पूर्ण हुआ है। इसमें ४४ संधियों द्वारा पूर्वोक्त कथा-वर्णन पाया जाता है।

जिस प्रकार प्राकृत में 'चउपन्न-महापुरुषचरित' की तथा संस्कृत में त्रेसठ शलाका पुरुष चरितों की रचना हुई, उसी प्रकार अपभ्रंश में महाकवि पुष्पदंत द्वारा 'तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार' महापुराण की रचना पाई जाती है। इसकी रचना शक सं० ८८१ सिद्धार्थ संवत्सर से प्रारम्भ कर, ८८७ क्रोधन संवत्सर तक ६ वर्ष में पूर्ण हुई थी। उस समय मान्यखेटमें राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (तृतीय) का राज्य था। उन्हीं के मंत्री

भरत की प्रेरणा से कवि ने इस रचना में हाथ लगाया था। महापुराण की एक संधिके प्रारम्भ में कवि ने मान्यखेट पुरी को धारानाथ द्वारा जलाये जाने का उल्लेख किया है। धनपाल कृत 'पाइय-लच्छी-नाममाला' के अनुसार धारानगरी धाराधीश हर्षदेव द्वारा वि० सं० १०२९ में लूटी और जलाई गई थी। इसप्रकार इस दुर्घटना का काल महापुराण की समाप्ति के छह-सात वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है। अतएव अनुमानतः संधि के प्रारम्भ में उक्त संस्कृत श्लोक ग्रन्थ-रचना के पश्चात् निबद्ध किया गया होगा। इस ग्रन्थ में तथा अपनी अन्य रचनाओं में कवि ने बहुत कुछ अपना वैयक्तिक परिचय भी दिया है, जिसके अनुसार उनके पिता का नाम केशव और माता का मुग्धा देवी था, जो प्रारम्भ मे शैव थे, किन्तु पीछे जैन धर्मावलम्बी हो गये थे। कवि कहीं अन्यत्र से भटकते हुए मान्यखेट पहुंचे, और वहां भरत ने उन्हें आश्रय देकर काव्य-रचना के लिये प्रेरित किया। वे शरीर से कृश और कुरूप थे; किन्तु उनकी *कव्व-पिसल्ल* (काव्य पिशाच) कवि कुल-तिलक, काव्यरत्नाकर, सरस्वती-निलय आदि उपाधियां उनकी काव्य-प्रतिभा की परिचायक हैं, जो उनकी रचना के सौन्दर्य और सौष्ठव को देखते हुए सार्थक सिद्ध होती है। समस्त महापुराण १०२ संधियों में पूर्ण हुआ है। प्रथम ३७ संधियों का कथाभाग उतना ही है, जितना संस्कृत आदिपुराण का; अर्थात् प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती का जीवन-चरित्र। शेष संधियों में उत्तरपुराण के समान अन्य शलाका पुरुषों का जीवनचरित्र वर्णित है। संधि ६९ से ७९ तक की ११ संधियो मे राम की कथा आई है, जिसमे उत्तरपुराण में वर्णित कथा का अनुसरण किया गया है। किन्तु यहा आदि में गौतम द्वारा रामायण के विषय में वे ही शंकाएं उठाई गई हैं, जो प्राकृत पउमचरियं व संस्कृत पद्मपुराण, तथा स्वयंभूकृत पउमचरिउ में पाई जाती हैं। संधि ८१ से ९२ तक की १२ संधियों मे कृष्ण और नेमिनाथ एवं कौरव-पांडवों का वृत्तान्त संस्कृत हरिवंश पुराण के अनुसार वर्णित है। किन्तु यह समस्त वर्णन कवि की असाधारण काव्य-प्रतिभा द्वारा बहुत ही सुन्दर, रोचक और मौलिक बन गया है। इसमें आये हुए नगरों, पर्वतों, नदियों, ऋतुओं, सूर्य चन्द्र के अस्त व उदय, युद्धों, विवाहों, वियोग के विलापों, विवाहादि उत्सव एवं शृंगारादि रसों के वर्णन किसी भी संस्कृत व प्राकृत के उत्कृष्टतम काव्य से हीन नहीं उतरते। कवि ने स्वयं एक संस्कृत पद्य द्वारा अपनी इस रचना के गुण प्रगट किये हैं, वे कहते हैं—

अत्र प्राकृत-लक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्छन्दसा-
मर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्वार्थनिर्णीतयः ॥

किंचान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते।
द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्धं ययोरीदृशम्॥

यहां कवि ने जो यह दावा किया है कि अन्यत्र ऐसी कोई वस्तु नही है, जो इस जैन चरित्र में न आ गई हो, वह उनके विषय और काव्य की सीमाओं को देखते हुए असिद्ध प्रतीत नहीं होता है।

अपभ्रंश में तीर्थंकर-चरित्र—

पुष्पदंत कृत महापुराण के पश्चात् संस्कृत के समान अपभ्रंश में भी विविध तीर्थंकरों के चरित्र पर स्वतंत्र काव्य लिखे गये। 'चंदप्पह-चरिउ' यशःकीर्त्ति द्वारा हूंमड़ कुल के सिद्धपाल की प्रार्थना से ११ संधियों में रचा गया है। ये यशःकीर्ति वे ही हैं, जिनके हरिवंशपुराण का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। अतएव इसका रचना काल भी वही १५ वीं शती ई० है। 'सांतिनाह-चरिउ' की रचना महीचन्द्र द्वारा वि० सं० १५८७ मे योगिनीपुर (दिल्ली) में बाबर बादशाह के राज्यकाल में हुई। कवि ने अपनी गुरु-परम्परा में माथुर संघ, पुष्करगण के यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रसूरि का उल्लेख किया है; तथा अग्रवाल वंश के गर्ग-गोत्रीय भोजराज के पौत्र, व ज्ञानचन्द्र के पुत्र 'साधारण' के कुल का विस्तार से वर्णन किया है। णेमिणाह चरिउ की रचना हरिभद्र ने वि० १२१६ में की। इसका अभीतक केवल एक अंश 'सनत्कुमार चरित' सुसंपादित होकर प्रकाश में आया है। एक और णेमिणाह-चरिउ लखमदेव (लक्ष्मणदेव) कृत पाया जाता है, जिसमें चार संधियां व ८३ कडवक हैं। कवि ने आरम्भ में अपने निवास-स्थान मालव देश व गोनंद नगर का वर्णन, और अपने पुरवाड वंश का उल्लेख किया है। रचनाकाल का निश्चय नहीं है, किन्तु इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५१० की मिली है, जिससे उसके रचनाकाल की उत्तरावधि सुनिश्चित हो जाती है। पासणाह-चरिउ की रचना पद्मकीर्ति ने वि० सं० ९९२ में १८ संधियों में पूर्ण की थी। कवि ने अपनी गुरु-परम्परा में सेन संघ के चन्द्रसेन, माधवसेन और जिनसेन का उल्लेख किया है। दूसरा पासणाह-चरिउ १२ संधियों में कवि श्रीधर द्वारा वि०सं० ११८९ में रचा गया है। कवि के पिता का नाम गोल्ल और माता का नाम बील्हा था। वे हरियाणा से चलकर जमना पार दिल्ली आये; और वहां अग्रवाल वंशी नट्टल साहू की प्रेरणा से उन्होंने यह रचना की। तीसरा पासणाह-चरिउ कवि असवाल कृत पाया जाता है, जो १३ संधियों में समाप्त हुआ है। संधि के अन्त में उल्लेख मिलता है कि यह ग्रन्थ संघाधिप सोनी (सोणिग?)

के कर्णाभरणरूप अर्थात् उनकी प्रेरणा से उन्हें सुनाने के लिये रचा गया था। इसका रचनाकाल अनुमानतः १५ वीं शती या उसके आसपास होगा। अंतिम तीर्थंकर पर जयमित्र हल्ल कृत वड्ढमाण-कव्वु मिलता है, जिसमें ११ संधियां हैं। यह काव्य देवराय के पुत्र संघाधिप होलिवर्म के लिये लिखा गया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५४५ की मिली है; अतएव ग्रन्थ इससे पूर्व रचा गया है। इस काव्य की अंतिम ६ संधियों में राजा श्रेणिक का चरित्र वर्णित है, जो अपने रूप में पूर्ण है; और पृथक् रूप से भी मिलता है। रयधू-कृत सम्मइणाह-चरिउ दस संधियों में समाप्त हुआ है। इसमें कवि ने अपने गुरु का नाम यशःकीर्ति प्रकट किया है; अतएव इसका रचनाकाल वि० सं० १५०० के आसपास होना चाहिए। नरसेन कृत वड्ढमाणकहा वि० सं० १५१२ के लगभग लिखी गई है। जैन ग्रंथावली में जिनेश्वर सूरि के शिष्य द्वारा रचित अपभ्रंश महावीर-चरित का उल्लेख है।

अपभ्रंश चरितकाव्य—

तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त अपभ्रंश में जो अन्य चरित्र काव्य की रीति से लिखे गये, वे निम्नप्रकार हैं :—

'तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार' के महाकवि पुष्पदन्त कृत अन्य रचनाएं हैं— जसहर-चरिउ और णायकुमार-चरिउ। यशोधर का चरित्र जैन साहित्य में हिंसा के दोष और अहिंसा का प्रभाव दिखलाने के लिये बड़ा लोकप्रिय हुआ है, और उस पर संस्कृत में सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू से लगाकर, १७वीं शती तक लगभग ३० ग्रन्थ रचे गये पाये जाते हैं। इनमें काव्यकला की दृष्टि से संस्कृत में सोमदेव की कृति और अपभ्रंश में पुष्पदंत कृत जसहर चरिउ सर्वश्रेष्ठ हैं। ये दोनों रचनाएं १० वीं शताब्दी में पांच-सात वर्ष के अन्तर से प्रायः एक ही समय की हैं। जसहरचरिउ चार संधियों में विभाजित है। यौधेय देश की राजधानी राजपुर में मारिदत्त राजा की एक कापालिकाचार्य भैरवानंद से भेंट हुई; और उनके आदेशानुसार आकाशगामिनी विद्या प्राप्त करने के लिये राजा ने नरबलि यज्ञ का आयोजन किया। इसके लिये राजा के सेवक जैन मुनि सुदत्त के शिष्य अभयरुचि और उसकी बहन अभयमती को पकड़ लाये। राजा ने उनके रूप से प्रभावित होकर उनका वृत्तान्त पूछा। इस पर अभयरुचि ने अपने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया:— अवन्ती देश में उज्जैनी के राजा यशोबंधुर का पौत्र व यशोर्ह का पुत्र मैं यशोधर नामका राजा था (१ सं०)। यशोधर ने अपनी रानी अमृतमति को एक कुबड़े से व्यभिचार करते देखा,

और विरक्त होकर मुनिदीक्षा लेने का विचार किया; किन्तु उसकी मां ने उसे रोका। अमृतमति ने दोनों को विष देकर मार डाला। तत्पश्चात् मां-बेटों ने नाना पशु-योनियों में परिभ्रमण किया; जिनमें स्वयं उसके पुत्र जसवइ व व्यभिचारिणी पत्नी ने उनका घात किया (२ सं०)। अनेक पशुयोनियों में दुःखभोग कर अन्त में वे दोनों जसवइ के पुत्र और पुत्री रूप से उत्पन्न हुए। एक बार जसवइ आखेट करने वन में गया था, वहां उसे सुदत्त मुनि के दर्शन हुए, और उसने उन पर अपने कुत्ते छोड़े। किन्तु मुनि के प्रभाव से कुत्ते उनके सम्मुख विनीतभाव से नमन करने लगे। एक सेठ ने राजा को मुनि का माहात्म्य समझाया, तब राजा को सम्बोधन हुआ। मुनि को अवधिज्ञानी जान राजा ने उनसे अपने पूर्वभूत माता-पिता व मातामही का वृत्तान्त पूछा। मुनि ने उनके भव-भ्रमण का सब वृत्तान्त सुनाकर बतला दिया कि उसका पिता और उसकी मातामही ही अब अभयरूचि और अभयमति के रूप में उसके पुत्र-पुत्री हुए हैं (३ सं०)। यह वृत्तान्त सुनकर और संसार की विचित्रता एवं असारता को समझकर जसवइ ने दीक्षा ले ली। उसके पुत्र-पुत्रियों को भी अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया; और वे क्षुल्लक के व्रत लेकर सुदत्त मुनि के साथ विहार करते हुए मारिदत्त के राजपुरुषों द्वारा पकड़ कर वहां लाये गये। यह वृत्तान्त सुनकर राजा मारिदत्त, उनकी देवी चंडमारी व पुरोहित भैरवानंद आदि सभी को वैराग्य हो गया; और उन्होंने सुदत्त मुनि से दीक्षा ले ली (सं० ४)। इस कथानक को पुष्पदंत ने बड़े काव्य-कौशल के साथ प्रस्तुत किया है। (कारंजा, १९३२)

णायकुमार-चरिउ में पुष्पदंत ने श्रुत-पंचमी कथा के माहात्म्य को प्रगट करने के लिये कामदेव के अवतार नागकुमार का चरित्र ९ संधियों में वर्णन किया है। मगधदेश के कनकपुर नगर में राजा जयंधर और रानी विशालनेत्रा के श्रीधर नामक पुत्र हुआ। पश्चात् राजा ने सौराष्ट्र देश में गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वीदेवी का चित्र देख, और उस पर मोहित हो, उसे भी विवाह लिया (सं० १)। यथासमय पृथ्वीदेवी ने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जो शैशव में जिनमंदिर की वापिका में गिर पड़ा। वहां नागों ने उसकी रक्षा की; और उसीसे उसका नाम नागकुमार रखा गया (सं० २)। नागकुमार नाना विद्याएं सीखकर यौवन को प्राप्त हुआ। उस पर मनोहरी और किन्नरी नामक नर्तकियां मोहित हो गईं; और उसने उन्हें विवाह लिया। उसकी माता और विमाता में विद्वेष बढ़ा; और उसका सौतेला भाई श्रीधर भी उससे द्वेष करके उसे मरवा डालने का प्रयत्न करने लगा। इसीसमय एक मदोन्मत्त हाथी के आक्रमण से समस्त नगर व्याकुल हो उठा। श्रीधर उसे दमन

करने में असफल रहा; किन्तु नागकुमार ने अपने पराक्रम द्वारा उसे वश में कर लिया। इससे दोनों का विद्वेष और अधिक बढ़ा (सं० ३)। नागकुमार के पराक्रम की ख्याति बढ़ी, और मथुरा का राजकुमार व्याल एक भविष्य वाणी सुनकर उसका अनुचर बन गया। श्रीधर ने अब नागकुमार को अपना परमशत्रु समझ मार डालने की चेष्टा की। पिता ने संकट-निवारणार्थ नागकुमार को कुछ काल के लिये देशान्तर गमन का आदेश दे दिया (स० ४)। नागकुमार राजधानी से निकलकर मथुरा पहुंचा, जहां उसने कान्यकुब्ज के राजा विनयपाल की कन्या शीलवती को बंदीगृह से छुड़ाकर उसके पिता के पास भिजवा दिया। यहां से चलकर वह काश्मीर गया, जहां उसने राजा नंद की पुत्री त्रिभुवनरति को वीणावाद्य में पराजित करके विवाहा। यहां से वह रम्यक वन में गया; और वहां कालगुफावासी भीमासुर ने उसका स्वागत किया (सं० ५)। अपने पथ-प्रदर्शक शबर की सहायता से वह कांचन गुफा में पहुंचा; जहां उसने नाना विद्याएं प्राप्त कीं, व काल-वैतालगुफा से राजा जितशत्रु द्वारा संचित विशाल धनराशि प्राप्त की। तत्पश्चात् उसकी भेंट गिरिशिखर के राजा वनराज से हुई, जिसकी पुत्री लक्ष्मीमति से उसने विवाह किया। यहां मुनि श्रुतिधर से उसने सुना कि वनराज किरात नहीं, किन्तु पुण्ड्रवर्द्धन के राजवंश का है; जहां से तीन पीढ़ी पूर्व उसके पूर्वजों को उनके एक दायाद ने निकाल भगाया था। नागकुमार के आदेश से व्याल पुण्ड्रवर्द्धन गया; और वनराज पुनः वहां का राजा बना दिया गया (सं० ६)। तत्पश्चात् नागकुमार ऊर्जयन्त पर्वत की ओर गया। बीच में गिरिनगर पर सिंध के राजा चंडप्रद्योत के आक्रमण का समाचार पाकर वहां गया, और वहां उसने अपने मामा की शत्रु से रक्षा की, एवं उसकी पुत्री गुणवती से विवाह किया। वहां से निकलकर उसने अलंघनगर के अत्याचारी राजा सुकंठ का वध किया, और उसकी पुत्री रुक्मिणी को विवाहा। वहां से चलकर वह गजपुर आया, और वहां राजा अभिचन्द्र की पुत्री चन्द्रा से विवाह किया (सं० ७)। वहां व्याल के द्वारा उज्जैन की अद्वितीय राजकन्या का समाचार पाकर नागकुमार वहां आया, और उस राजकन्या से विवाह किया। वहां से वह फिर किष्किन्धमलय को गया, जहां मृदंग वाद्य में राजकन्या को पराजित कर विवाहा। वहां से वह तोयावली द्वीप को गया, और अपनी विद्याओं की सहायता से वहां की बंदिनी कन्याओं को छुड़ाया (सं० ८)। पांड्य देश से निकलकर नागकुमार आन्ध्रदेश के दन्तीपुर में आया और वहां की राजकन्या से विवाह किया। फिर उसकी भेंट मुनि पिहिताश्रव से हुई जिनके मुख से उसने अपने व अपनी प्रिय पत्नी लक्ष्मीमति के पूर्वभव की कथा तथा

श्रुतपंचमी व्रत के उपवास के फल का वर्णन सुना। इसी समय उसके पिता का मंत्री नयंधर उसे लेने आया। उसके भ्राता श्रीधर ने दीक्षा ले ली थी। माता-पिता भी नागकुमार को राजा बनाकर दीक्षित हो गये। नागकुमार ने दीर्घकाल तक राज्य किया। अन्त में अपने पुत्र देवकुमार को राज्य देकर उसने व्याल आदि सुभटों सहित दिगम्बरी दीक्षा ली, और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया (सं० ९)। पुष्पदंत ने इस जटिल कथानक को नाना वर्णनों, विविध छंद-प्रयोगों एवं रसों और भावों के चित्रणों सहित अत्यन्त रोचक बनाकर उपस्थित किया है। (कारंजा, १९३३)

भविसयत्त-कहा (भविष्यदत्त कथा) के कर्त्ता धनपाल वैश्य जाति के धक्कड वंश में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम माएसर (महेश्वर ?) और माता का नाम धनश्री था। इनके समय का निश्चय नहीं, किन्तु दसवीं शती अनुमान किया जाता है। यह कथा २२ संधियों में विभाजित है। चरित्रनायक भविष्यदत्त एक वणिक् पुत्र है। वह अपने सौतेले भाई बंधुदत्त के साथ व्यापार हेतु परदेश जाता है, धन कमाता है, और विवाह भी कर लेता है। किन्तु उसका सौतेला भाई उसे बार-बार धोखा देकर दुःख पहुंचाता है; यहां तक कि उसे एक द्वीप में अकेला छोड़कर उसकी पत्नी के साथ घर लौट आता है, और उससे विवाह करना चाहता है। किन्तु इसी बीच भविष्यदत्त भी एक यक्ष की सहायता से घर लौट आता है, अपना अधिकार प्राप्त करता, और राजा को प्रसन्न कर राजकन्या से विवाह करता है। अन्त में मुनि के द्वारा धर्मोपदेश व अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनकर, विरक्त हो, पुत्र को राज्य दे, मुनि हो जाता है। यह कथानक भी श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य प्रकट करने के लिये लिखा गया है। ग्रन्थ के अनेक प्रकरण बड़े सुन्दर और रोचक हैं। बालक्रीड़ा, समुद्र-यात्रा, नौका-भंग, उजाड़ नगर, विमान-यात्रा, आदि वर्णन पढ़ने योग्य हैं। कवि के समय में विमान हों या न हों, किन्तु उसने विमान का वर्णन बहुत सजीव रूप में किया है। (गायकवाड़ ओरि. सीरीज, बड़ौदा)

करकंडचरिउ के कर्त्ता मुनि कनकामर ने अपना स्वयं परिचय दिया है कि वे द्विजवंशी व चन्द्रर्षि गोत्रीय थे। वे वैराग्य से दिगम्बर हो गये थे, उनके गुरु का नाम बुध मंगलदेव था, तथा उन्होंने आसाई नगरी में एक राजमंत्री के अनुराग से यह चरित्र लिखा। राजमंत्री के विषय में उन्होंने यह भी कहा है कि वह विजयपाल नराधिप का स्नेहभाजन, नृपभूपाल या निजभूपाल का मनमोहक व कर्णनरेन्द्र का मानसरंजक था, उसके आहुल, रल्हु और राहुल, ये तीन पुत्र भी मुनि के चरणों के भक्त थे। सम्भवतः मुनि द्वारा उल्लिखित कर्ण उस नामका कलचुरि वंशीय राजा व विजयपाल

उसका सम-सामयिक चंदेल वंशीय राजा था। तदनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल १०५० ई० के लगभग सिद्ध होता है। कवि ने जो स्वयम्भू और पुष्पदंत का उल्लेख किया है, उससे उनका ई० सन् ६६५ के पश्चात् होना निश्चित है। यह रचना १० संधियों में पूर्ण हुई है। कथानायक करकंड जैन व बौद्ध परम्परा में एक प्रत्येकबुद्ध माने गये हैं। वे अंग देश में चंपानगरी के राजा धाड़ीवाहन और रानी पद्मावती के पुत्र थे, किन्तु एक दुष्ट हाथी द्वारा रानी के अपहरण के कारण उनका जन्म दंतीपुर के समीप श्मशान-भूमि में हुआ था। उसका परिपालन व शिक्षण एक मातंग के द्वारा हुआ। दन्तीपुर के राजा के मरने पर दैवयोग से वह वहां का राजा बनाया गया। चंपा के राजा धाडीवाहन ने उसके पास अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव भेजा, जिसे ठुकरा कर उसने चंपापुर पर आक्रमण किया। पिता-पुत्र के बीच जब घमासान युद्ध हो रहा था, तब उसकी माता पद्मावती ने प्रकट होकर युद्ध का निवारण और पिता-पुत्र की पहचान कराई। अब करकंडु चंपापुर का राजा बन गया। उसने दक्षिण के चोड, चेर व पांड्य देशों की विजय के लिये यात्रा की। मार्ग में तेरापुर के समीप की पहाड़ी पर एक प्राचीन जैन गुफा का पता लगाया व एक दो नये लयण बनवाये। फिर उन्होंने सिंहल द्वीप तक विजय की, और नाना राजकुमारियों से विवाह किया। अंत में शीलगुप्त मुनि से धर्म श्रवण कर, तपस्या धारण की, और मोक्ष प्राप्त किया। इस कथानक में अनेक छोटी-छोटी उपकथाएं करकंडु के शिक्षण के लिये मातंग द्वारा सुनाई गई हैं। तीन अवान्तर कथाएं इतनी बड़ी बड़ी हैं कि वे पूर्ण एक एक संधि को घेरे हुए हैं। पांचवीं संधि में तेरापुर की प्राचीन गुफा बनने व पहाड़ी पर जिनमूर्ति के स्थापित किये जाने का वृत्तान्त है। छटी संधि में करकंड की प्रिय पत्नी मदनावली का एक दुष्ट हाथी द्वारा अपहरण होने पर उनकी वियोग-पीड़ा के निवारणार्थ राजा नरवाहनदत्त का आख्यान कहा गया है, एवं आठवीं संधि में करकंड की पत्नी रतिवेगा को उसके पतिवियोग में संबोधन के लिये देवी द्वारा अरिदमन और रत्नलेखा के वियोग और पुनर्मिलन का आख्यान सुनाया गया है। ग्रन्थ में श्मशान का, गंगानदी का, प्राचीन जिनमूर्ति के भूमि से निकलने का एवं रतिवेगा के विलाप आदि का वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़ा है। (कारंजा,१६३४).

पउमसिरि-चरिउ (पद्मश्री चरित) के कर्ता धाहिल ने अपने विषय में इतना बतलाया है कि उनके पिता का नाम पार्श्व व माता का महासती सूराई (सूरादेवी?) था, और वे शिशुपाल काव्य के कर्ता माघ के वंश में उत्पन्न हुए थे। समय का निर्देश नहीं, किन्तु इस कृति की जो एक प्राचीन प्रति वि० सं० ११६१ की मिली है, उससे

इस रचना की उत्तरावधि भी निश्चित हो जाती है। यह रचना चार संधियों में पूर्ण हुई है। नायिका पदमश्री अपने पूर्व जन्म मे एक सेठ की पुत्री थी, जो बाल विधवा होकर अपना जीवन अपने दो भाइयों और उनकी पत्नियों के बीच एक ओर ईर्ष्या और सन्ताप, तथा दूसरी ओर धर्मसाधना में बिताती रही। दूसरे जन्म में पूर्व पुण्य के फल से वह राजकुमारी हुई। किन्तु जो पापकर्म शेष रहा था, उसके फलस्वरूप उसे पति द्वारा परित्याग का दुख भोगना पड़ा। तथापि संयम और तपस्या के बल से अन्त में उसने केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया। काव्य में देशों व नगरों का वर्णन, हृदय की दाह का चित्रण, सन्ध्या व चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक वर्णन बहुत सुन्दर हैं। (सिंघी जैन सीरीज, बम्बई)

सणकुमार-चरिउ (सनत्कुमार चरित) के कर्ता हरिभद्र श्रीचन्द्र के शिष्य व जिनचन्द्र के प्रशिष्य थे, और उन्होने अपने णेमिणाह-चरिउ की रचना वि० सं० १२१६ में समाप्त की थी। प्रस्तुत रचना उसी के ४४३ से ७८५ तक के ३४३ रड्डा छंदात्मक पद्यों का काव्य है, जो पृथक्रूप से सुसंपादित और प्रकाशित हुआ है। कथा-नायक सनत्कुमार गजपुर नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। वे एक बार मदनोत्सव के समय वेगवान् अश्व पर सवार होकर विदेश में जा भटके। राजधानी में हाहाकार मच गया। उनके मित्र खोज में निकले और मानसरोवर पर पहुंचे। वहां एक किन्नरी के मुख से अपने मित्र का गुणगान सुनकर उन्होंने उनका पता लगा लिया। इसी बीच सनत्कुमार ने अनेक सुन्दर कन्याओं से विवाह कर लिया था। मित्र के मुख से माता पिता के शोक-संताप का समाचार पाकर वे गजपुर लौट आये। पिता ने उन्हें राज्य सौंपकर दीक्षा ले ली। सनत्कुमार ने अपने पराक्रम और विजय द्वारा चक्रवर्तीपद प्राप्त किया व अन्त में तपस्या धारण कर ली। इसी सामान्य कथानक को कर्ता ने अपनी काव्य-प्रतिभा द्वारा खूब चमकाया है। यहां ऋतुओं आदि का वर्णन बहुत अच्छा हुआ है। (डॉ. जैकोबी द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, जर्मनी)

इन प्रकाशित चरित्रों के अतिरिक्त अनेक अपभ्रंश चरित ग्रन्थ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में नाना जैन शास्त्रभंडारों में सुरक्षित पाये जाते हैं, और संपादन प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं। इनमें कुछ विशेष रचनाएं इसप्रकार हैं। वीर कृत जंबूस्वामि-चरिउ (वि० सं० १०७६), नयनंदि कृत 'सुदंसण-चरिउ' (वि सं० ११००), श्रीधर कृत सुकुमाल-चरिउ (वि० सं० १२०८), देवसेन गणि कृत सुलोचना-चरित, सिंह (या सिद्ध) कृत पज्जुण्ण-चरिउ (१२वीं-१३वींशती), लक्ष्मणकृत जिनदत्त-चरिउ (वि० सं० १२७५), धनपाल कृत बाहुबलि-चरिउ (वि० सं० १४५४), रयधू कृत

सुकौसल-चरिउ, धन्नकुमार-चरिउ, मेहेसर-चरिउ और श्रीपाल-चरिउ (१५ वीं शती), नरसेन कृत सिरिवाल-चरिउ (व० सं० १५७६) व णायकुमार च० (वि०सं० १५७६), तथा भगवतीदास कृत ससिलेहा या मृगांकलेखा-चरिउ (वि० सं० १७००) उल्लेखनीय हैं। हरिदेव कृत मयण-पराजय और जिनप्रभसूरि कृत मोहराज-विजय ऐसी कवितायें हैं, जिनमें तप, संयम आदि भावों को मूर्तिमान् पात्रों का रूप देकर मोहराज और जिनराज के बीच युद्ध का चित्रण किया गया है।

अपभ्रंश लघुकथाएं—

जैसा पहले कहा जा चुका है, ये चरित्र-काव्य किसी न किसी जैन व्रत के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये लिखे गये हैं। इसी उद्देश्य से अनेक लघु कथाएं भी लिखी गई हैं। विशेष लघुकथा-लेखक और उनकी रचनाएं ये हैं:—नयनंदि कृत 'सकलविधिविधानकहा' (वि० सं० ११००), श्रीचन्द्र कृत कथाकोष और रत्नकरंड-शास्त्र (वि० सं० ११२३), अमरकीर्ति कृत छक्कम्मोवएसु (वि० सं० १२४७), लक्ष्मण कृत अणुवय-रयण-पईउ (वि० सं० १३१३), तथा रयधू कृत पुण्णासवकहाकोसो (१५ वी शती)। इनके अतिरिक्त अनेक व्रतकथाएं स्फुट रूप से भी मिलती हैं: जैसे बालचन्द्र कृत सुगंधदहमीकहा एवं णिद्दहसत्तमीकहा, विनयचन्द्र कृत णिज्झरपंचमी कहा, यशःकीर्ति कृत जिणरत्तिविहाणकहा व रविव्रतकहा, तथा अमरकीर्ति कृत पुरंदरविहाणकहा, इत्यादि। इनमें से कुछ, जैसे विनयचन्द्र कृत णिज्झर-पंचमी-कहा, अपभ्रंश में गीतिकाव्य के बहुत सरस और सुन्दर उदाहरण हैं।

एक अन्य प्रकार की अपभ्रंश कथाएं भी उल्लेखनीय हैं। हरिभद्र ने प्राकृत में धूर्ताख्यान नामसे जो कथाएं लिखी हैं, उनमें अनेक पौराणिक अतिरंजित बातों पर व्यंगात्मक आख्यान लिखे हैं। इसके अनुकरण पर अपभ्रंश में हरिषेण ने धम्मपरिक्खा नामक ग्रन्थ ११ संधियों में लिखा है, जिसकी रचना वि० सं० १०४४ में हुई है। इसी के अनुसार श्रुतकीर्ति ने भी धम्मपरिक्खा नामक रचना १५ वीं शती में की।

प्रथमानुयोग-संस्कृत—

जिसप्रकार प्राकृत में कथात्मक साहित्य का प्रारम्भ रामकथा से होता है, उसीप्रकार संस्कृत में भी पाया जाता है। रविषेण कृत पद्मचरित की रचना स्वयं ग्रन्थ के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण के १२०३ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० सन् ६७६ में हुई। यह ग्रन्थ विमलसूरि कृत 'पउमचरियं' को सम्मुख रखकर रचा गया प्रतीत होता

है। इसकी रचना प्रायः अनुष्टुप् श्लोकों में हुई है। विषय और वर्णन प्रायः ज्यों का त्यों अध्याय-प्रतिअध्याय और बहुतायत से पद्य-प्रतिपद्य मिलता जाता है। हां, वर्णन-विस्तार कहीं कहीं पद्मचरित में अधिक दिखाई देता है, जिससे उसका प्रमाण प्राकृत पउमचरियं से ड्योढ़े से भी अधिक हो गया है। (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, से प्रकाशित)

पद्मचरित के पश्चात् संस्कृत में दूसरी पौराणिक रचना जिनसेन कृत हरिवंश पुराण है, जो शक सं० ७०५ अर्थात् ई० सन् ७८३ में समाप्त हुई थी, जबकि उत्तर भारत में इन्द्रायुध, दक्षिण में कृष्ण का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व में अवन्ति नृप तथा पश्चिम में वत्सराज, एवं सौरमंडल में वीरवराह राजाओं का राज्य था। इसमें ६६ सर्ग हैं, जिनका कुल प्रमाण १२००० श्लोक है। यहां भी सामन्यतः अनुष्टुप छंद का प्रयोग हुआ है। किन्तु कुछ सर्गों के अन्त में द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, शार्दूल-विक्रीडित आदि छंदों का प्रयोग भी हुआ है। ग्रन्थ का मुख्य विषय हरिवंश में उत्पन्न हुए २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णन करना है। किन्तु इसके प्रस्तावना रूप से ग्रन्थमें अन्य सभी शलाका पुरुषों का कीर्तन किया गया है, तथा त्रैलोक्य व जीवादि द्रव्यों का वर्णन भी आया है। हरिवंश की एक शाखा यादवों की थी। इस वंश में शौरीपुर के एक राजा वसुदेव की रोहिणी और देवकी नामक दो पत्नियों से क्रमशः बलदेव और कृष्ण का जन्म हुआ। वसुदेव के भ्राता समुद्रविजय की शिवा नामक भार्या ने अरिष्टनेमि को जन्म दिया। युवक होने पर इनका विवाह-सम्बन्ध राजीमती नामक कन्या से निश्चित हुआ। विवाह के समय यादवों के मांस भोजन के लिये एकत्र किये गये पशुओं को देखकर करुणा से नेमिनाथ का हृदय विह्वल और संसार से विरक्त हो गया, और बिना विवाह कराये ही उन्होंने प्रवृज्या धारण कर ली। ये ही केवलज्ञान प्राप्त करके २२ वें तीर्थंकर हुए। प्रसंगवश कौरवों और पाण्डवों का, तथा बलराम और कृष्ण के वंशजो का भी वृत्तान्त आया है। ग्रंथ में वसुदेव के भ्रमण का वृत्तान्त विस्तार से आया है, जो वसुदेव-हिंडी का स्मरण कराता है। किन्तु नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन इससे पूर्व अन्यत्र कहीं स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में दिखाई नहीं देता। उत्तराध्ययन सूत्र के 'रहनेमिज्जं' नामक २२ वें अध्ययन में अवश्य यह चरित्र वर्णित पाया जाता है, किन्तु वह अति संक्षिप्त केवल ४६ गाथाओं में है। विमलसूरि कृत पउमचरियं के परिचय में ऊपर कहा जा चुका है कि सम्भवतः उसी ग्रंथकार की एक रचना 'हरिवंश चरित्र' भी थी, जो अब अप्राप्य है। यदि वह रही हो तो प्रस्तुत रचना उस पर आधारित अनुमान की जा सकती है। ग्रंथ में जो चारुदत्त और वसन्तसेना का

वृत्तान्त विस्तार से आया है, आश्चर्य नहीं, वही मृच्छकटिक नाटक का आधार रहा हो। (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, से प्रकाशित)

सकलकीर्ति (वि० सं० १४५०-१५१०) कृत हरिवंश पुराण ३९ सर्गों में समाप्त हुआ है। इसके १५ से अन्त तक के सर्ग उनके शिष्य जिनदास द्वारा लिखे गये है। इसमें रविषेण और जिनसेन का उल्लेख है, और उन्हीं की कृतियों के आधार से यह ग्रंथ-रचना हुई प्रतीत होती है। शुभचन्द्र कृत पाण्डवपुराण (१५५१ ई०) जैन महाभारत भी कहलाता है, और उसमें जिनसेन व गुणभद्र कृत पुराणों के आधार से कथा वर्णन की गई है।

मलधारी देवप्रभसूरि कृत पाण्डव-चरित्र (ई० १२०० के लगभग) में १८ सर्ग हैं, और उनमें महाभारत के १८ पर्वों का कथानक संक्षेप में वर्णित है। छठे सर्ग मे द्यूत-क्रीडा का वर्णन है, और यहां विदुर द्वारा द्यूत के दुष्परिणाम के उदाहरण रूप नल-कूवर (नल-दमयन्ती) की कथा कही गई है। कूवर नल का भाई था। १६ वें सर्ग में अरिष्टनेमि तीर्थंकर का चरित्र आया है, और १८वें में उनके व पाण्डवों के निर्वाण तथा बलदेव के स्वर्ग-गमन का वृत्तान्त है। इस पुराण का गद्यात्मक रूपान्तर राजविजय सूरि के शिष्य देवविजय गणी (१६०३ ई०) कृत पाया जाता है। इसमें यत्र-तत्र देवप्रभ की कृति से तथा अन्यत्र से कुछ पद्य भी उद्धृत किये गये हैं।

संस्कृत में तीसरी महत्वपूर्ण पौराणिक रचना महापुराण है। इसके दो भाग हैं—एक आदिपुराण और दूसरा उत्तरपुराण। आदिपुराण में ४७ पर्व या अध्याय हैं, जो समस्त १२००० श्लोक प्रमाण हैं। इनमें के ४२ पर्व और ४३ वें पर्व का कुछ भाग जिनसेन कृत है, और शेष आदि पुराण तथा उत्तरपुराण की रचना उनके शिष्य गुणभद्र द्वारा की गई है। यह समस्त रचना शक संवत् ८२० से पूर्व समाप्त हो चुकी थी। आदिपुराण की उत्थानिका में पूर्वगामी सिद्धसेन,समन्तभद्र, श्रीदत्त, प्रभाचन्द्र, शिवकोटि, जटाचार्य, काणभिक्षु, देव (देवनंदि पूज्यपाद) भट्टाकलंक, श्रीपाल, पात्रकेसरि, वादीभसिंह, वीरसेन, जयसेन और कवि परमेश्वर, इन आचार्यों की स्तुति की गई है। गुणाढ्य कृत वृहत्कथा का भी उल्लेख पाया है। आदिपुराण पूरा ही प्रथम तीर्थंकर आदि-नाथ के चरित्र-वर्णन में ही समाप्त हो गया है। इसमें समस्त वर्णन बड़े विस्तार से हुए हैं, तथा भाषा और शैली के सौष्ठव एवं अलंकारादि काव्य गुणों से परिपूर्ण हैं। जैनधर्म संबंधी प्रायः समस्त जानकारी यहां निबद्ध कर दी गई है, जिसके कारण ग्रंथ एक ज्ञानकोष ही बन गया है। शेष तेईस तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषों का चरित्र उत्तरपुराण में अपेक्षाकृत संक्षेप से वर्णित है। इस प्रकार सर्वप्रथम

इस ग्रंथ में त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र विधिवत् एक साथ वर्णित पाया जाता है। उत्तर पुराण के ६८ वें पर्व में राम का चरित्र आया है, जो विमलसूरि कृत पउमचरियं के वर्णन से बहुत बातों में भिन्न है। उत्तरपुराण के अनुसार राजा दशरथ काशी देश में वाराणसी के राजा थे, और वहीं राम का जन्म रानी सुबाला से तथा लक्ष्मण का जन्म कैकेयी के गर्भ से हुआ था। सीता मंदोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी, किन्तु उसे अनिष्टकारिणी जान रावण ने मंजूषा में रख कर मरीचि के द्वारा मिथिला में जमीन के भीतर गड़वा दिया, जहां से वह जनक को प्राप्त हुई। दशरथ ने पीछे अपनी राजधानी अयोध्या में स्थापित कर ली थी। जनक ने यज्ञ में निमंत्रित करके राम के साथ सीता का विवाह कर दिया। राम के वनवास का यहां कोई उल्लेख नहीं। राम अपने पूर्व पुरुषों की भूमि बनारस को देखने के लिये सीता सहित वहां आये, और वहां के चित्रकूट वन से रावण ने सीता का अपहरण किया। यहां सीता के आठ पुत्रों का उल्लेख है,किन्तु उनमें लव-कुश का कहीं नाम नहीं। लक्ष्मण एक असाध्य रोग से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए, तब राम ने उन्हीं के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजा तथा अपने पुत्र अजितंजय को युवराज बनाकर सीतासहित जिन दीक्षा धारण कर ली। इसप्रकार इस कथा का स्रोत पउमचरिय से सर्वथा भिन्न पाया जाता है। इसकी कुछ बातें बौद्ध व वैदिक परम्परा की रामकथाओं से मेल खाती हैं; जैसे पालि की दशरथ जातक में भी दशरथ को वाराणसी का राजा कहा गया है। अद्भुत रामायण के अनुसार भी सीता का जन्म मंदोदरी के गर्भ से हुआ था। किन्तु यह गर्भ उसे रावण की अनुपस्थिति में उत्पन्न होने के कारण, छुपाने के लिये वह विमान में बैठकर कुरुक्षेत्र गई, और उस गर्भ को वहां जमीन में गड़वा दिया। वहीं से वह जनक को प्राप्त हुई। उत्तरपुराण की अन्य विशेष बातों के स्रोतों का पता लगाना कठिन है। इस रचना में संभव जितने महापुरुषों के नाम वैदिक पुराणों के अनुसार ही हैं, और नाना संस्कारों की व्यवस्था पर भी उस परम्परा की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। जयधवला की प्रशस्ति में जिनसेन ने अपना बड़ा सुन्दर वर्णन दिया है। उनका कर्ण-छेदन ज्ञान की शलाका से हुआ था। वे शरीर से कृश थे, किन्तु तप से नहीं। वे आकार से बहुत सुन्दर नहीं थे, तो भी सरस्वती उनके पीछे पड़ी थीं, जैसे उसे अन्यत्र कहीं आश्रय न मिलता हो। उनका समय निरन्तर ज्ञान की आराधना मे व्यतीत होता था, और तत्वदर्शी उन्हें ज्ञान का पिंड कहते थे। इत्यादि। (हिन्दी अनुवाद सहित,भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, से प्रकाशित)

इसके पश्चात् हेमचन्द्र द्वारा त्रिषष्ठिशलाका-पुरुष-चरित नामक पुराण-काव्य

की रचना हुई। यह गुजरात नरेश कुमारपाल की प्रार्थना से लिखा गया था, और ई० सन् ११६० व ११७२ के बीच पूर्ण हुआ। इसमें दस पर्व हैं, जिनमें उक्त चौबीस तीर्थंकरादि त्रेसठ महापुरुषों का चरित्र वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के सातवें पर्व में राम-कथा वर्णित है, जिसमें प्राकृत 'पउमचरियं' तथा संस्कृत पद्मपुराण का अनुसरण किया गया है। दसवें पर्व में महावीर तीर्थंकर का जीवन चरित्र वर्णित है, जो स्वतंत्र प्रतियों के रूप में भी पाया जाता है। इसमें सामान्यतः आचारांग व कल्पसूत्र में वर्णित वृत्तान्त समाविष्ट किया गया है। हां, मूल घटनाओं का विस्तार व काव्यत्व हेमचन्द्र का अपना है। यहां महावीर के मुख से वीर निर्वाण से १६६९ वर्ष पश्चात् होनेवाले आदर्श नरेश कुमारपाल के संबंध की भविष्य वाणी कराई गई है। इसमें राजा श्रेणिक, युवराज अभय एवं रौहिणेय चोर आदि की उपकथाएं भी अनेक आई हैं। इस ग्रन्थ का अन्तिम भाग परिशिष्ट पर्व यथार्थतः एक स्वतंत्र ही रचना है, और वह ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। इसमें महावीर के पश्चात् उनके केवली शिष्यों तथा दशपूर्वी आचार्यों की परम्परा पाई जाती है। इस भाग को 'स्थविरावली चरित' भी कहते हैं। यह केवल आचार्यों की नामावली मात्र नहीं है, किन्तु यहां उनसे संबद्ध नाना लम्बी लम्बी कथाएं भी कही गई हैं, जो उनने पूर्व आगमों की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि टीकाओं से, और कुछ सम्भवतः मौखिक परम्परा पर से संकलित की गई हैं। इनमें स्थूलभद्र और कोशा वेश्या का उपाख्यान, कुबेरसेना नामक गणिका के कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता नामक पुत्र-पुत्रियों में परस्पर प्रेम की कथा, आर्य स्वयम्भव द्वारा अपने पुत्र मनक के लिये दशवैकालिक सूत्र की रचना का वृत्तान्त, तथा आगम के संकलन से संबंध रखनेवाले उपाख्यान, नंद राजवंश संबंधी कथानक एवं चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा उस राजवंश के मूलोच्छेद का वृत्तान्त आदि अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। ग्रन्थकर्ता ने अपने इस पुराण को महाकाव्य कहा है। यद्यपि रचना का बहुभाग कथात्मक है, और पुराणों की स्वाभाविक सरल शैली का अनुसरण करता है, तथापि उसमें अनेक स्थलों पर रस, भाव व अलंकारों का ऐसा समावेश है, जिससे उसका महाकाव्य पद भी प्रमाणित होता है।

तेरहवीं शती में मालवा के सुप्रसिद्ध लेखक पंडित आशाधर कृत 'त्रिषष्टि-स्मृति-शास्त्र' में भी उपर्युक्त ६३ शलाका पुरुषों का चरित्र अपेक्षाकृत संक्षेप से वर्णन किया गया है, जिसमें प्रधानतः जिनसेन और गुणभद्र कृत महापुराण का अनुसरण पाया जाता है।

वायडगच्छीय जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र कृत चतुर्विंशति-जिनचरित

(१३ वी शती) में १८०२ श्लोक २४ अध्यायों में विभाजित है, और उनमें क्रमशः २४ तीर्थंकारों का चरित्र वर्णन किया गया है। अमरचन्द्र की एक और रचना बालभारत भी है (प्र० बम्बई, १९२६)।

मेरुतुंग कृत महापुराण-चरित के पांच सर्गों में ऋषभ, शांति, नेमि, पार्श्व और वर्द्धमान, इन पांच तीर्थंकरों का चरित्र वर्णित है। इस पर एक टीका भी है, जो सम्भवतः स्वोपज्ञ है और उसमें उक्त कृति को 'काव्योपदेश शतक' व 'धर्मोपदेश शतक' भी कहा गया है। मेरुतुंग की एक अन्य रचना प्रबन्ध-चिन्तामणि १३०६ ई० में पूर्ण हुई थी, अतएव वर्तमान रचना भी उसी समय के आसपास लिखी गई होगी। पद्मसुन्दर कृत रायमल्लाभ्युदय (वि० सं० १६१५) अकबर के काल में चौधरी रायमल्ल की प्रेरणा से लिखा गया है, और उसमे २४ तीर्थंकरों का चरित्र वर्णित है। एक दामनन्दि कृत पुराणसार-संग्रह भी अभी दो भागों में प्रकाशित हुआ है, जिसमें शलाका पुरुषों का चरित्र अतिसंक्षेप में संस्कृत पद्यों में कहा गया है। तीर्थंकरों के जीवन-चरित संबंधी कुछ पृथक्-पृथक् संस्कृत काव्य इस प्रकार हैं :—प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का जीवनचरित्र चतुर्विशति-जिनचरित के कर्ता अमरचन्द्र ने अपने पद्मानंद काव्य में १९ सर्गों में लिखा है। काव्य को उक्त नाम देने का कारण यह है कि वह पद्म नामक मंत्री की प्रार्थना से लिखा गया था। काव्य मे कुल ६२८१ श्लोक हैं। (प्र० बड़ौदा, १९३२)आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ पर वीरनंदि, वासुपूज्य पर वर्द्धमान सूरि, और विमलनाथ पर कृष्णदास रचित काव्य मिलते हैं। १५ वें तीर्थंकर धर्मनाथ पर हरिचन्द्र कृत 'धर्मशर्माभ्युदय' एक उत्कृष्ट संस्कृत काव्य है, जो सुप्रसिद्ध संस्कृत काव्य माघकृत 'शिशुपाल वध' का अनुकरण करता प्रतीत होता है, तथा उस पर प्राकृत काव्य 'गउडवहो' एवं संस्कृत 'नैषधीय चरित' का भी प्रभाव दिखाई देता है। यह रचना ११ वी-१२ वी शती की अनुमान की जाती है। १६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र असग कृत (१० वीं शती), देवसूरि (१२८२ ई०) के प्रशिष्य अजितप्रभ कृत, माणिक्यचंद्र कृत (१३ वी शती) सकलकीर्ति कृत (१५ वी शती), तथा श्रीभूषण कृत (वि० सं० १६५९) उपलब्ध हैं। विनयचन्द्र कृत मल्लिनाथ चरित ४००० से अधिक श्लोकप्रमाण पाया जाता है। २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र सूराचार्य कृत (११ वी शती) और मलधारी हेमचंद्र कृत (१३ वी शती) पाये जाते हैं। वाग्भट्ट कृत नेमि-निर्वाण काव्य (१२ वी शती) एक उत्कृष्ट रचना है, जो १५ सर्गों में समाप्त हुई है। मंगल के पुत्र विक्रम कृत नेमिदूतकाव्य एक विशेष कलाकृति है, जिसमें राजीमती के विलाप का वर्णन किया

गया है। यह एक समस्यापूर्ति काव्य है, जिसमें कालिदास कृत मेघदूत की पंक्तियां प्रत्येक पद्य के अन्तचरण में निबद्ध कर ली गई हैं। पार्श्वनाथ पर प्राचीन संस्कृत काव्य जिनसेन कृत (९ वीं शती) पार्श्वाभ्युदय है। इसमें उत्तम काव्य रीति से समस्त मेघदूत के एक-एक या दो-दो चरण प्रत्येक पद्य में समाविष्ट कर लिये गये हैं। पार्श्वनाथ का पूर्ण चरित्र वादिराजकृत (१०२५ ई०) पार्श्वनाथ चरित में पाया जाता है। इसी चरित्र पर १३ वीं व १४ वीं शती में दो काव्य लिखे गये, एक माणिक्यचन्द्र द्वारा (१२१९ ई०) और दूसरा भावदेव सूरि द्वारा (१३५५ ई०)। भावदेव कृत चरित का अनुवाद अंग्रेजी में भी हुआ है। १५ वीं शती में सकलकीर्ति ने व १६ वीं शती में पद्मसुन्दर और हेमविजय ने संस्कृत में पार्श्वनाथ चरित्र बनाये। १६ वीं शती में ही श्रीभूषण के शिष्य चन्द्रकीर्ति ने पार्श्वपुराण की रचना की। विनयचन्द्र और उदयवीरगणी कृत पार्श्वनाथ चरित्र मिलते हैं। इनमें से उदयवीर की रचना संस्कृत गद्य में हुई है। महावीर के चरित्र पर १८ सर्गों का सुन्दर संस्कृत काव्य वर्धमान चरित्र (शक ९१०) असग कृत पाया जाता है। गुणभद्र कृत उत्तरपुराण में तथा हेमचन्द्र कृत त्रिषष्ठि शलाका पुरुष च० के दसवें पर्व में जो महावीर चरित्र वर्णित है, वह स्वतंत्र प्रतियों में भी पाया और पढ़ा जाता है। सकलकीर्ति कृत वर्धमान पुराण (वि० सं० १५१८) १९ सर्गों में है। पद्मनन्दि, केशव और वाणीवल्लभ कृत वर्धमान पुराण भी पाये जाते हैं।

जैन तीर्थंकरों के उपर्युक्त चरित्रों में से अधिकांश संस्कृत महाकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनकी विषयात्मक रूप-रेखा का विवरण उनके प्राकृत चरित्रों के प्रकरण में दिया जा चुका है। भाव और शैली में वे उन सब गुणों से संयुक्त पाये जाते हैं, जो कालिदास, भारवि, माघ, आदि महाकवियों की कृतियों में पाये जाते हैं, तथा जिनका निरूपण काव्यादर्श आदि साहित्य-शास्त्रों में किया गया है; जैसे, उनका सर्ग-बन्ध होना, आशीः, नमस्क्रिया या वस्तुनिर्देश पूर्वक उनका प्रारम्भ किया जाना, तथा उनमें नगर, वन, पर्वत, नदियों तथा ऋतुओं आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन, जन्म विवाहादि सामाजिक उत्सवों एवं रसों, शृंगारात्मक हाव, भाव, विलासों; तथा संपत्ति-विपत्ति में व्यक्ति के सुख-दुखों के चढ़ाव-उतार का कलात्मक हृदयग्राही चित्रण का समावेश किया जाना। विशेषता इन काव्यों में इतनी और है कि उनमें यथास्थान धार्मिक उपदेश का भी समावेश किया गया है। तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त नाना अन्य धार्मिक महापुरुषों व स्त्रियों को चरित्र-चित्रण के नायक-नायिका बनाकर व यथासंभव भाषा, शैली व भावों में काव्यत्व की रक्षा करते हुए जो अनेक

रचनायें जैन साहित्य में पाई जाती हैं, वे कुछ पूर्णरूप से पद्यात्मक हैं, कुछ गद्य और पद्य दोनों के उपयोग सहित चम्पू की शैली के हैं, और कुछ बहुलता से गद्यात्मक हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

सोमदेव सूरि कृत यशस्तिलक चम्पू (शक ८८१) उत्कृष्ट संस्कृत गद्य-पद्यात्मक रचना है। इसका कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण से लिया गया है, और पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश-जसहर चरिउ के परिचय में दिया जा चुका है। अन्तिम तीन अध्यायों में गृहस्थ धर्म का सविस्तर निरूपण है, और उपासकाध्ययन के नाम से एक स्वतन्त्र रचना बन गई है। इसी कथानक पर वादिराज सूरि कृत यशोधर चरित (१०वीं शती) चार सर्गात्मक काव्य, तथा वासवसेन (१३वीं शती) सकलकीर्ति (१५वीं शती) सोमकीर्ति (१५वीं शती) और पद्मनाभ (१६-१७वी शती) कृत काव्य पाये जाते हैं। माणिक्यसूरि (१४वी शती) ने भी यशोधर-चरित संस्कृत पद्य में रचा है, और अपनी कथा का आधार हरिभद्र कृत कथा को बतलाया है। क्षमाकल्याण ने यशोधर-चरित की कथा को संस्कृत गद्य में संवत् १८३९ में लिखा और स्पष्ट कहा है कि यद्यपि इस चारित्र को हरिभद्र मुनीन्द्र ने प्राकृत मे तथा दूसरों ने संस्कृत पद्य में लिखा है, किन्तु उनमें जो विषमत्व है, वह न रहे; इसलिये मैं यह रचना गद्य में करता हूं। हरिभद्र कृत प्राकृत यशोधर चरित के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि कर्ता के सम्मुख वह रचना थी, किन्तु आज वह अनुपलभ्य है। हरिचन्द्र कृत जीवंधर चम्पू (१५वीं शती) में वही कथा काव्यात्मक संस्कृत गद्य-पद्य में वर्णित है, जो गुणभद्र कृत उत्तरपुराण (पर्व ७५), पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश पुराण(संधि ९८), तथा ओडेयदेव वादीभसिंह कृत गद्यचिन्तामणि एवं वादीभसिंह कृत क्षत्रचूडामणि में पाई जाती है। इस अन्तिम काव्य के अनेक श्लोक प्रस्तुत रचना में प्रायः ज्यों के त्यों भी पाये जाते हैं। अन्य बातों में भी इस पर उसकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि के कर्ता दोनों वादीभसिंह एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न, यह अभी तक निश्चयतः नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में कुछ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें कर्ता के नाम के साथ ओडेयदेव का व गुरुपुष्पसेन का उल्लेख नहीं है। रचनाशैली व शब्द-योजना भी दोनों ग्रंथों की भिन्न है। गद्यचिन्तामणि की भाषा ओजपूर्ण है; जबकि क्षत्र चूडामणि की बहुत सरल, प्रसादगुणयुक्त है; और प्रायः प्रत्येक श्लोक के अर्धभाग में कथानक और द्वितीयार्ध में नीति का उपदेश रहता है।

विजयकीर्ति के शिष्य शुभचन्द्र कृत जीवंधर-चरित्र (वि० सं० १५९६) पाया

शती) कृत हम्मीर-काव्य १४ सर्गों में समाप्त हुआ है, और उसमें उस हम्मीर वीर का चरित्र वर्णन किया गया है, जो सुलतान अलाउद्दीन से युद्ध करता हुआ सन् १३०१ में वीरगति को प्राप्त हुआ। काव्य लिखने का कारण स्वयं कवि ने यह बतलाया है कि तोमर वीरम की सभा में यह कहा गया था कि प्राचीन कवियों के समान काव्य-रचना की शक्ति अब किसी में नहीं है। इसी बात के खंडन के लिये कवि ने शृंगार, वीर और अद्भुत रसों से पूर्ण तथा अमरचन्द्र के सदृश लालित्य व श्रीहर्ष की वक्रिमा से युक्त यह काव्य लिखा। जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र सूरि कृत चतुर्विंशति-जिन-चरित, पद्मानन्द-काव्य और बाल-भारत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

ब्रह्मनेमिदत्त कृत श्रीपाल-चरित (सन् १५२८ ई०) में ९ सर्गों में राजकुमारी मदनसुन्दरी के कुष्ट व्याधि से पीड़ित श्रीपाल के साथ विवाह, और सिद्धचक्र विधान के माहात्म्य से उसके निरोग होने की कथा है, जिसका परिचय इसी नामके प्राकृत काव्य के संबंध में दिया जा चुका है। श्रीपाल का कथानक जैन समाज में इतना लोकप्रिय हुआ है कि उस पर प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत की कोई ३०-४० रचनायें मिलती हैं। (देखिये जिनरत्नकोश - डॉ. वेलंकर कृत)

नागेन्द्र गच्छीय विजयसेन सूरि के शिष्य उदयप्रभ कृत धर्माभ्युदय चौदह सर्गों का महाकाव्य है, जिसमें गुजरात के राजा वीरधवल के सुप्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल के चरित्र का सुन्दरता से वर्णन किया गया है। सिद्धर्षि कृत उपमितिभव-प्रपंचकथा (९०६ ई०) संस्कृत गद्य की एक अनुपम रचना है, जिसमें भावात्मक संज्ञाओं को मूर्तिमान् स्वरूप देकर धर्मकथा व नाना अवान्तर कथाएं कही गई हैं। उदाहरण के लिये-यहां नगर अनन्तपुर व निर्वृतिपुर है; राजा कर्मपरिणाम; रानी काल-परिणति; साधु सदागम; व अन्य व्यक्ति संसारी निष्पुण्यक आदि। इसे पढ़ते हुए अंग्रेजी की जॉन बनयन कृत 'पिलिग्रिम्स प्रोग्रेस' का स्मरण हो आता है, जिसमें रूपक की रीति से धर्मबुद्धि, और उसमें आनेवाली विघ्न-बाधाओं की कथा कही गई है। इस कृति का जैन संसार में बड़ा आदर व प्रचार हुआ, और उसके सार रूप अनेक रचनाएं निर्मित हुईं, जैसे वर्धमानसूरि कृत उपमिति-भवप्रपंचा-सार-समुच्चय (११ वीं शती) देवेन्द्रकृत उ० सारोद्धार (१३ वीं शती), हंसरत्नसूरि कृत सारोद्धार आदि।

संस्कृत गद्यात्मक आख्यानों में धनपाल कृत तिलकमंजरी (९७० ई०) की भाषा व शैली बड़ी ओजस्विनी है। अमरसुन्दर कृत अंबडचरित्र बड़ी विलक्षण कथा है। कथानायक अंबड क्षत्रियपुत्र है और मंत्र-तंत्र के बल से गोत्रदेवी द्वारा

देष्ट सात दुष्कर कार्य सम्पन्न कर दिखाता, ३२ सुन्दरियों से विवाह करता और
ार धन व राज्य पाता है। अंततः उपदेश पाकर वह जैन धर्म में दीक्षित और
जित होकर सल्लेखना विधि से मरण करता है। अंबड नाम के तांत्रिक का नाम
वाइय उपांग मे आता है, किन्तु उक्त कथानक इसी कर्ता की कल्पना है।
रसुन्दर का नाम वि० सं० १४५७ में सूरिपद प्राप्त करनेवाले सोमसुन्दर गणी
शिष्यों में आता है, और वहां उन्हें 'संस्कृत-जल्प-पटु' कहा गया है। इस कथानक
जर्मन अनुवाद चार्लस क्राउस ने किया है। यही कथा हर्ष समुद्र वाचक (१६ वीं
ी) व जयमेरु कृत भी मिलती है।

ज्ञानसागर सूरि कृत रत्नचूड कथा (१५ वीं शती) का यद्यपि देवेन्द्रसूरि कृत
कृत कथा से नामसाम्य है, तथापि यह कथा उससे सर्वथा भिन्न है। यहां अनीतपुर
अन्यायी राजा और दुर्बुद्धि मंत्री का वृत्तान्त है। उस नगरी में चोरों और धूर्तों
सिवाय कोई धार्मिक व्यक्ति नही रहते। कथा में नाना उपकथानक भरे हैं।
ाहक अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा जैसे दुष्कर कार्य करके दिखलाता है, उनसे पालि
ो महा-उम्मग्ग जातक मे वर्णित महोसध नामक पुरुष के अद्भुत कारनामों का
मरण हो आता है। रत्नचूड के विदेश के लिये प्रस्थान करते समय उसके पिता के
ारा दिये गये उपदेशों में एक ओर व्यवहारिक चातुरी, और दूसरी ओर अन्धविश्वासों
ा मिश्रण है। महापुरुष के ३२ चिह्न भी इसमें गिनाये गये हैं।

अघटकुमार-कथा में जिनकीर्ति कृत चम्पक-श्रेष्ठि-कथानक के सदृश पत्र-
विनिमय द्वारा नायक के मृत्यु से बचने की घटना आई है। इसका जर्मन अनुवाद
ार्लीस क्राउस ने किया है। इसके दो पद्यात्मक संस्करण भी मिलते हैं, किन्तु किसी
े भी कर्ता का नाम नहीं मिलता, और रचना काल भी अनिश्चित है। यह अनुमानतः
१५-१६ वीं शती की रचना है।

जिनकीर्ति कृत चम्पकश्रेष्ठिकथानक (१५ वी शती) का आख्यान सुप्रसिद्ध है।
इसमें ठीक समय पर पत्र मिल जाने से सौभाग्यशाली नायक मृत्यु के मुख में से बच
जाता है। कथा के भीतर तीन और सुन्दर उपाख्यान हैं। यह कथा मेरुतुंग की प्रबन्ध
चिन्तामणि व अन्य कथाकोषों में भी मिलती है। इसका सम्पादन व प्रकाशन अंग्रेजी
में हर्टेल द्वारा हुआ है। जर्मन अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

जिनकीर्ति की इसीप्रकार की दूसरी रचना पाल-गोपालकथानक है, जिसमें
उक्त नाम के दो भ्राताओं के परिभ्रमण व नानाप्रकार के साहसों व प्रलोभनों को पार
कर, अन्त में धार्मिक जीवन व्यतीत करने का रोचक वृत्तान्त है। माणिक्यसुन्दर कृत

शती) कृत हम्मीर-काव्य १४ सर्गों में समाप्त हुआ है, और उसमें उस हम्मीर वीर का चरित्र वर्णन किया गया है, जो सुलतान अलाउद्दीन से युद्ध करता हुआ सन् १३०१ में वीरगति को प्राप्त हुआ। काव्य लिखने का कारण स्वयं कवि ने यह बतलाया है कि तोमर वीरम की सभा में यह कहा गया था कि प्राचीन कवियों के समान काव्य-रचना की शक्ति अब किसी में नहीं है। इसी बात के खंडन के लिये कवि ने शृंगार, वीर और अद्भुत रसों से पूर्ण तथा अमरचन्द्र के सदृश लालित्य व श्रीहर्ष की वक्रिमा से युक्त यह काव्य लिखा। जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र सूरि कृत चतुर्विंशति-जिन-चरित, पद्मानन्द-काव्य और बाल-भारत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

अर्हद्देनेमिदत्त कृत श्रीपाल-चरित (सन् १५२८ ई०) में ६ सर्गों में राजकुमारी मदनसुन्दरी के कुष्ट व्याधि से पीड़ित श्रीपाल के साथ विवाह, और सिद्धचक्र विधान के माहात्म्य से उसके निरोग होने की कथा है, जिसका परिचय उसी नामके प्राकृत काव्य के संबंध में दिया जा चुका है। श्रीपाल का कथानक जैन समाज में इतना लोकप्रिय हुआ है कि इस पर प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत की कोई ३०-४० रचनायें मिलती हैं। (देखिये जिनरत्नकोश - डॉ. वेलंकर कृत)

नागेन्द्र गच्छीय विजयसेन सूरि के शिष्य उदयप्रभ कृत धर्माभ्युदय चौदह सर्गों का महाकाव्य है, जिसमें गुजरात के राजा वीरधवल के सुप्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल के चरित्र का सुन्दरता से वर्णन किया गया है। सिद्धर्षि कृत उपमितिभव-प्रपंचकथा (९०६ ई०) संस्कृत गद्य की एक अनुपम रचना है, जिसमें भावात्मक संज्ञाओं को मूर्तिमान् स्वरूप देकर धर्मकथा व नाना अवान्तर कथाएं कही गई हैं। उदाहरण के लिये-यहां नगर अनन्तपुर व निर्वृतिपुर हैं; राजा कर्मपरिणाम; रानी काल-परिणति; साधु सदागम; व अन्य व्यक्ति संसारी निष्पुण्यक आदि। इसे पढ़ते हुए अंग्रेजी की जॉन बनयन कृत 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' का स्मरण हो आता है, जिसमें रूपक की रीति से धर्मबुद्धि, और उसमें आनेवाली विघ्न-बाधाओं की कथा कही गई है। इस कृति का जैन संसार में बड़ा आदर व प्रचार हुआ, और उसके सार रूप अनेक रचनाएं निर्मित हुईं, जैसे वर्धमानसूरि कृत उपमिति-भवप्रपंचा-सार-समुच्चय (११ वीं शती) देवेन्द्रकृत उ० सारोद्धार (१३ वीं शती), हंसरत्नसूरि कृत सारोद्धार आदि।

संस्कृत गद्यात्मक आख्यानों में धनपाल कृत तिलकमंजरी (९७० ई०) की भाषा व शैली बड़ी ओजस्विनी है। अमरसुन्दर कृत अंबडचरित्र बड़ी विलक्षण कथा है। कथानायक अंबड बीरचर्या है और मंत्र-तंत्र के बल से गोरखा देवी द्वारा

निर्दिष्ट सात दुष्कर कार्य सम्पन्न कर दिखाता, ३२ सुन्दरियों से विवाह करता और अपार धन व राज्य पाता है। अंततः उपदेश पाकर वह जैन धर्म में दीक्षित और प्रवृजित होकर सल्लेखना विधि से मरण करता है। अंबड नाम के तांत्रिक का नाम ओवाइय उपांग में आता है, किन्तु उक्त कथानक इसी कर्ता की कल्पना है। अमरसुन्दर का नाम वि० सं० १४५७ में सूरिपद प्राप्त करनेवाले सोमसुन्दर गणी के शिष्यों में आता है, और वहां उन्हें 'संस्कृत-जल्प-पटु' कहा गया है। इस कथानक का जर्मन अनुवाद चार्लस क्राउस ने किया है। यही कथा हर्ष समुद्र वाचक (१६ वीं शती) व जयमेरु कृत भी मिलती है।

ज्ञानसागर सूरि कृत रत्नचूड कथा (१५ वीं शती) का यद्यपि देवेन्द्रसूरि कृत प्राकृत कथा से नामसाम्य है, तथापि यह कथा उससे सर्वथा भिन्न है। यहां अनीतपुर के अन्यायी राजा और दुर्बुद्धि मंत्री का वृत्तान्त है। उस नगरी में चोरों और धूर्तों के सिवाय कोई धार्मिक व्यक्ति नही रहते। कथा में नाना उपकथानक भरे हैं। रोहक अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा जैसे दुष्कर कार्य करके दिखलाता है, उनसे पालि की महा-उम्मग्ग जातक में वर्णित महोसध नामक पुरुष के अदुभुत कारनामों का स्मरण हो आता है। रत्नचूड के विदेश के लिये प्रस्थान करते समय उसके पिता के द्वारा दिये गये उपदेशों में एक ओर व्यवहारिक चातुरी, और दूसरी ओर अन्धविश्वासों का मिश्रण है। महापुरुष के ३२ चिह्न भी इसमें गिनाये गये हैं।

अघटकुमार-कथा में जिनकीर्ति कृत चम्पक-श्रेष्ठि-कथानक के सदृश पत्र-विनिमय द्वारा नायक के मृत्यु से बचने की घटना आई है। इसका जर्मन अनुवाद चार्लेस क्राउस ने किया है। इसके दो पद्यात्मक संस्करण भी मिलते हैं, किन्तु किसी के भी कर्ता का नाम नही मिलता, और रचना काल भी अनिश्चित है। यह अनुमानतः १५-१६ वीं शती की रचना है।

जिनकीर्ति कृत चम्पकश्रेष्ठिकथानक (१५ वी शती) का आख्यान सुप्रसिद्ध है। इसमें ठीक समय पर पत्र मिल जाने से सौभाग्यशाली नायक मृत्यु के मुख में से बच जाता है। कथा के भीतर तीन और सुन्दर उपाख्यान हैं। यह कथा मेरुतुंग की प्रबन्ध चिन्तामणि व अन्य कथाकोषों में भी मिलती है। इसका सम्पादन व प्रकाशन अंग्रेजी में हर्टेल द्वारा हुआ है। जर्मन अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

जिनकीर्ति की इसीप्रकार की दूसरी रचना पाल-गोपालकथानक है, जिसमें उक्त नाम के दो भ्राताओं के परिभ्रमण व नानाप्रकार के साहसों व प्रलोभनों को पार कर, अन्त में धार्मिक जीवन व्यतीत करने का रोचक वृत्तान्त है। माणिक्यसुन्दर कृत

महाबल-मलयसुन्दरी कथा (१५ वीं शती) संस्कृत गद्य में लिखी गई है और उपाख्यानों का भंडार है।

जयविजय के शिष्य मानविजय कृत पापबुद्धि-धर्मबुद्धि-कथा का दूसरा नाम कामघट कथा है। इस संस्कृत गद्यात्मक कथानक के रचयिता हीरविजय सूरि द्वारा स्थापित विजयशाखा में हुए प्रतीत होते हैं, अतएव उनका काल १६-१७ वीं शती अनुमान किया जा सकता है। इसके कथानायक सिद्धर्षिकृत उपमिति भव प्रपंचा कथा के अनुसार भावात्मक व कल्पित हैं। वे क्रमशः राजा और मंत्री हैं। राजा धन और ऐश्वर्य को ही सब कुछ समझता है, और मंत्री धर्म को। अन्ततः मुनि के उपदेश से वे सम्बोधित और प्रव्रजित होते हैं। यह कथानक यथार्थतः कर्ता की बड़ी रचना धर्म-परीक्षा का एक खंडमात्र है। इसका सम्पादन व इटेलियन अनुवाद लोवरिनी ने किया है।

कुछ रचनाएं पृथक् उल्लेखनीय हैं क्योंकि उनमें तीर्थ आदि स्थानों व पुरुषों के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक वृत्तान्त भी पाया जाता है जो प्राचीन इतिहास-निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ऐसी कुछ कृतियां निम्नप्रकार हैं :—

धनेश्वरसूरि कृत शत्रुंजय-माहात्म्य (७-८ वीं शती) स्वयं कर्ता के अनुसार सौराष्ट्र नरेश शीलादित्य के अनुरोध से वलभी में लिखा गया था। इसमें १४ सर्ग हैं, और वैदिक परम्परा के पुराणों की शैली पर शत्रुंजय तीर्थ का माहात्म्य वर्णन किया गया है। लोक-वर्णन के पश्चात् तीर्थंकर ऋषभ व उनके भरत और बाहुबली पुत्रों का तथा भरत द्वारा मन्दिरों की स्थापना का वृत्तान्त है। ९ वें सर्ग में रामकथा व १० से १३ वें सर्ग तक पांडवों, कृष्ण और नेमिनाथ का चरित, और १४ वें में पार्श्व और महावीर का चरित्र पाया है। यहां भीमसेन के संबंध का बहुत सा वृत्तान्त ऐसा है, जो महाभारत से सर्वथा भिन्न और नवीन है।

प्रभाचन्द्र कृत प्रभावक-चरित्र (१२७७ ई०) में २२ जैन आचार्यों व कवियों के चरित वर्णित हैं, जिनमें हरिभद्र, सिद्धर्षि, बप्पभट्टि, मानतुंग, शान्तिसूरि और हेमचन्द्र भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार यह हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व की पूरक रचना कही जा सकती है, और ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी है। इस का भी संशोधन प्रद्युम्न सूरि द्वारा किया गया था।

प्रभाचन्द्र के प्रभावक-चरित की परम्परा को मेरुतुंग ने अपने प्रबन्ध-चिन्तामणि (१३०६ ई०) तथा राजशेखर ने प्रबन्धकोष (१३४९ ई०) द्वारा प्रचलित रखा। इनमें बहुभाग तो काल्पनिक है, तथापि कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक बातें भी पाई

जाती हैं, विशेषतः लेखकों के समीपवर्ती काल की। राजशेखर की कृति में २४ व्यक्तियों के चरित्र वर्णित हैं, जिनमें राजा श्रीहर्ष और आचार्य हेमचन्द्र भी हैं। जिसप्रकार प्रभाचन्द्र, मेरुतुंग और राजशेखर के प्रबन्धों में हमें ऐतिहासिक पुरुषों का चरित्र मिलता है, उसी प्रकार जिनप्रभसूरि कृत तीर्थकल्प या कल्पप्रदीप और राज-प्रासाद (लगभग १३३० ई०) में जैन तीर्थों के निर्माण, उनके निर्माता व दानदाताओं आदि का वृत्तान्त मिलता है। रचना में संस्कृत व प्राकृत का मिश्रण है।

जैन लघुकथाओं का संग्रह बहुलता से कथा-कोषों में पाया जाता है, और उनमें पद्य, गद्य या मिश्ररूप से किसी पुरुष-स्त्री का चरित्र संक्षेप से वर्णित कर, उसके सांसारिक सुख-दुखों का कारण उसके स्वयं कृत पुण्य-पापों का परिणाम सिद्ध किया गया है। ऐसे कुछ कथाकोष ये हैं :—

हरिषेण कृत कथाकोष (शक ८५३) संस्कृत पद्यों में रचा गया है, और उपलभ्य समस्त कथाकोषो में प्राचीन सिद्ध होता है। इसमें १५७ कथायें हैं जिनमें चाणक्य, शकटाल, भद्रबाहु, वररुचि, स्वामि कार्तिकेय आदि ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र भी हैं। इस कथा के अनुसार भद्रबाहु उज्जैनी के समीप भाद्रपद (भदावर ?) में ही रहे थे, और उनके दीक्षित शिष्य राजा चन्द्रगुप्त, अपरनाम विशाखाचार्य, संघ सहित दक्षिण के पुन्नाट देश को गये थे। कथाओं में कुछ नाम व शब्द, जैसे मेदज्ज (मेतार्य), विज्जदाढ़ (विद्युद्दंष्ट्र) प्राकृत रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिससे अनुमान होता है कि रचयिता कथाओं को किसी प्राकृत कृति के आधार से लिख रहा है। उन्होंने स्वयं अपने कथाकोष को 'आराधनोद्धृत' कहा है, जिससे अनुमानतः भगवती-आराधना का अभिप्राय हो। हरिषेण उसी पुन्नाट गच्छ के थे, जिसके आचार्य जिनसेन; और उन्होंने उसी वर्धमानपुर में अपनी ग्रंथ-रचना की थी, जहां हरिवंशपुराण की रचना जिनसेन ने शक ७०५ में की थी। इससे सिद्ध होता है कि वहां पुन्नाट संघ का आठवीं शताब्दी तक अच्छा केन्द्र रहा। यह कथाकोष बृहत्कथाकोष के नाम से प्रसिद्ध है। अनुमानतः उसके पीछे रचे जानेवाले कथाकोषों से पृथक् करने के लिये यह विशेषण जोड़ा गया है।

अमितगति कृत धर्मपरीक्षा की शैली का मूल स्रोत यद्यपि हरिभद्र कृत प्राकृत धूर्ताख्यान है, तथापि यहां अनेक छोटे-बड़े कथानक सर्वथा स्वतंत्र व मौलिक हैं। ग्रंथ का मूल उद्देश्य अन्य धर्मों की पौराणिक कथाओं की असत्यता को उनसे अधिक कृत्रिम, असंभव व ऊटपटांग आख्यान गढ़ कर सिद्ध करके, सच्चा धार्मिक श्रद्धान उत्पन्न करना है। इनमें धूर्तता और मूर्खता की कथाओं का बाहुल्य है।

प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष (१३ वीं शती) संस्कृत गद्य में लिखा गया है। इसमें भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त समन्तभद्र और अकलंक के चरित्र भी वर्णित हैं। नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष (१६ वीं शती) पद्यात्मक है और प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष का कुछ विस्तृत रूपान्तर है। इसी प्रकार का एक अन्य संग्रह रामचन्द्र मुमुक्षु कृत पुण्याश्रव कथाकोष है।

राजशेखर कृत अन्तर्कथा-संग्रह (१४ वीं शती) की कथाओं का संकलन आगम की टीकाओं पर से किया गया है। इसकी ८ कथाएं पुल्ले द्वारा इटालियन भाषा में अनुवादित हुई हैं। इसकी एक कथा का 'जजमेंट ऑफ सोलोमन' नाम से टेसीटोरी ने अंग्रेजी अनुवाद किया है। (इं० एन्टी० ४२)। उसके साथ नन्दिसूत्र की मलयगिरि टीका की कथा भी है, और बतलाया है कि उक्त कथा का ही यूरोप की कथाओं में रूपान्तर हुआ है।

लक्ष्मीसागर के शिष्य शुभशीलगणी (१५ वीं शती) कृत पंचशती प्रबोध-सम्बन्ध में लगभग ६०० धार्मिक कथाएं हैं, जिनमें नन्द, सातवाहन, भर्तृहरि, भोज, कुमारपाल, हेमसूरि आदि ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र भी हैं। इसी कर्ता का एक अन्य कथाकोष 'भरतादिकथा' नामक है।

जिनकीर्ति कृत दानकल्पद्रुम (१५ वीं शती) में दान की महिमा बतलाने वाली रोचक और विनोदपूर्ण अनेक लघु कथाओं का संस्कृत पद्यों में संग्रह है। उदय धर्म कृत धर्मकल्पद्रुम (१५-वीं शती) में पद्यात्मक कथाएं हैं।

सम्यक्त्व-कौमुदी लघु कथाओं का एक कोश है। अर्हद्दास सेठ अपनी आठ पत्नियों को सुनाता है कि उसे किसप्रकार सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, और वे फिर पति को अपने अनुभव सुनाती हैं। इस चौखट्टे के भीतर बहुत से कथानक गूंथे गये हैं। सम्यक्त्व-कौमुदी नामकी अनेक रचनायें उपलब्ध हैं, जैसे जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्ष गणी कृत (वि० सं० १४८७), गुणाकरसूरि कृत (वि० सं० १५०४) मल्लिभूषण कृत (वि० सं० १५४४ के लगभग) सिंहदत्तसूरि के शिष्य सोमदेवसूरि कृत (वि० सं० १५७३) शुभचन्द्र कृत (वि० सं० १५८० के लगभग), एवं अज्ञात समय की वत्सराज, धर्मकीर्ति, मंगरस, यशः कीर्ति व वादिभूषण कृत।

हेमविजय कृत कथा-रत्नाकर (१६०० ई०) में २५८ कथानक हैं जिनमें अधिकांश उत्तम गद्य में, और कुछ थोड़े से पद्य में वर्णित हैं। यत्र-तत्र प्राकृत और अपभ्रंश पद्य भी पाये जाते हैं। इस रचना की विशेषता यह है कि प्रायः आदि अन्त में धार्मिक उपदेश की कड़ी जोड़नेवाले पदों के अतिरिक्त कथाओं में वैराग्य

का उल्लेख नहीं पाया जाता। कथाएं व नीति वाक्य पंचतंत्र के ढाचे के हैं।

नाटक—

जैन मुनियों के लिये नाटक आदि विनोदों में भाग लेना निषिद्ध है, और यही कारण है कि जैन साहित्य में नाटक की कृतियां बहुत प्राचीन नहीं मिलतीं। पश्चात् जब उक्त मुनि-चर्या का बंधन उतना दृढ़ नहीं रहा, अथवा गृहस्थ भी साहित्य-रचना में भाग लेने लगे, तब १३ वीं शती से कुछ संस्कृत नाटकों का सर्जन हुआ, जिनका कुछ परिचय निम्नप्रकार है :—

रामचन्द्रसूरि (१३ वी शती) हेमचन्द्र के शिष्य थे। कहा जाता है कि उन्होंने १०० प्रकरणों (नाटकों) की रचना की, जिनमें से **निर्भय-भीम-व्यायोग, नलविलास, और कौमुदी-मित्रानन्द** प्रकाशित हो चुके हैं। **रघुविलास** नाटक की प्रतियां मिली हैं, तथा **रोहिणीमृगांक** व **वनमाला** के उल्लेख कर्ता की एक अन्य रचना **नाट्यदर्पण** में मिलते हैं। **निर्भय-भीम-व्यायोग** एक ही अंक का है, और इसमें भीम द्वारा बक के वध की कथा है। **नलविलास** १० अंकों का प्रकरण है, जिसमें नल-दमयन्ती का चरित्र-चित्रण किया गया है। तीसरे नाटक में नायिका कौमुदी और उसके पति मित्रानन्द सेठ के साहसपूर्ण भ्रमण का कथानक है। यह मालती-माधव के जोड़ का प्रकरण है।

हस्तिमल्ल कृत (१३वीं शती) चार नाटक प्रकाशित हो चुके हैं–**विक्रान्तकौरव, सुभद्रा, मैथिलीकल्याण,** और **अंजनापवनंजय**। कवि ने प्रस्तावना में अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे, किन्तु उनके पिता गोविन्द, समन्तभद्र कृत देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) के प्रभाव से, जैनधर्मी हो गये थे। कवि ने अपने समय के पाण्ड्य राजा का उल्लेख किया है, पर नाम नहीं दिया। इतना ही कहा है कि वे कर्नाटक पर शासन करते थे। प्रथम दो नाटक महाभारत और शेष दो रामायण पर आधारित हैं, तथा कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण के चरित्रानुसार है। हस्तिमल्ल के **उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज** और **मेघेश्वर**, इन चार अन्य नाटकों के उल्लेख मिलते हैं।

जिनप्रभ सूरि के शिष्य रामभद्र (१३ वी शती) द्वारा रचित **प्रबुद्ध-रौहिणेय** के छह अंकों में नायक की चौर-वृत्ति व उपदेश पाकर धर्म में दीक्षित होने का वृत्तान्त चित्रित किया गया है। यह नाटक चाहमान (चौहान) नरेश समरसिंह द्वारा निर्मापित ऋषभ जिनालय में उत्सव के समय खेला गया था।

यशःपाल कृत **मोहराज-पराजय** (१३ वीं शती) में भावात्मक पात्रों के

प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष (१३ वीं शती) संस्कृत गद्य में लिखा गया है। इसमें भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त समन्तभद्र और अकलंक के चरित्र भी वर्णित हैं। नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष (१६ वीं शती) पद्यात्मक है और प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष का कुछ विस्तृत रूपान्तर है। इसी प्रकार का एक अन्य संग्रह रामचन्द्र मुमुक्षु कृत पुण्याश्रव कथाकोष है।

राजशेखर कृत अन्तर्कथा-संग्रह (१४ वीं शती) की कथाओं का संकलन आगम की टीकाओं पर से किया गया है। इसकी ८ कथाएं पुल्ले द्वारा इटालियन भाषा में अनुवादित हुई हैं। इसकी एक कथा का 'जजमेंट आफ सोलोमन' नाम से टेसीटोरी ने अंग्रेजी अनुवाद किया है। (इं० एन्टी० ४२)। उसके साथ नन्दिसूत्र की मलयगिरि टीका की कथा भी है, और बतलाया है कि उक्त कथा का ही यूरोप की कथाओं में रूपान्तर हुआ है।

लक्ष्मीसागर के शिष्य शुभशीलगणी (१५ वीं शती) कृत पंचशती प्रबोध-सम्बन्ध में लगभग ६०० धार्मिक कथाएं हैं, जिनमें नन्द, सातवाहन, भर्तृहरि, भोज, कुमारपाल, हेमसूरि आदि ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र भी हैं। इसी कर्ता का एक अन्य कथाकोष 'भरतादिकथा' नामक है।

जिनकीर्ति कृत दानकल्पद्रुम (१५ वीं शती) में दान की महिमा बतलाने वाली रोचक और विनोदपूर्ण अनेक लघु कथाओं का संस्कृत पद्यों में संग्रह है। उदय धर्म कृत धर्मकल्पद्रुम (१५ वीं शती) में पद्यात्मक कथाएं हैं।

सम्यक्त्व-कौमुदी लघु कथाओं का एक कोष है। अर्हद्दास सेठ अपनी आठ पत्नियों को सुनाता है कि उसे किसप्रकार सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, और वे फिर पति को अपने अनुभव सुनाती हैं। इस चौखट्टे के भीतर बहुत से कथानक गूंथे गये हैं। सम्यक्त्व-कौमुदी नामकी अनेक रचनायें उपलब्ध हैं, जैसे जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्ष गणी कृत (वि० सं० १४८७), गुणाकरसूरि कृत (वि० सं० १५०४) मल्लिभूषण कृत (वि० सं० १५४४ के लगभग) सिंहदत्तसूरि के शिष्य सोमदेवसूरि कृत (वि० स० १५७३) शुभचन्द्र कृत (वि० सं० १६८० के लगभग), एवं अज्ञात समय की वत्सराज, धर्मकीर्ति, मंगरस, यशःकीर्ति व वादिभूषण कृत।

हेमविजय कृत कथा-रत्नाकर (१६०० ई०) में २५८ कथानक हैं जिनमें अधिकांश उत्तम गद्य में, और कुछ थोड़े से पद्य में वर्णित हैं। यत्र-तत्र प्राकृत और अपभ्रंश पद्य भी पाये जाते हैं। इस रचना की विशेषता यह है कि प्रायः आदि अन्त में धार्मिक उपदेश की कड़ी जोड़नेवाले पद्यों के अतिरिक्त कथाओं में जैनत्व

का उल्लेख नहीं पाया जाता। कथाएं व नीति वाक्य पंचतंत्र के ढांचे के हैं।

नाटक—

जैन मुनियों के लिये नाटक आदि विनोदों में भाग लेना निषिद्ध है, और यही कारण है कि जैन साहित्य में नाटक की कृतियां बहुत प्राचीन नही मिलतीं। पश्चात् जब उक्त मुनि-चर्या का बंधन उतना दृढ़ नहीं रहा, अथवा गृहस्थ भी साहित्य-रचना में भाग लेने लगे, तब १३ वीं शती से कुछ संस्कृत नाटकों का सर्जन हुआ, जिनका कुछ परिचय निम्नप्रकार है :—

रामचन्द्रसूरि (१३ वी शती) हेमचन्द्र के शिष्य थे। कहा जाता है कि उन्होंने १०० प्रकरणों (नाटकों) की रचना की, जिनमें से निर्भय-भीम-व्यायोग, नलविलास, और कौमुदी-मित्रानन्द प्रकाशित हो चुके हैं। रघुविलास नाटक की प्रतियां मिली हैं, तथा रोहिणीमृगांक व वनमाला के उल्लेख कर्ता की एक अन्य रचना नाट्यदर्पण में मिलते हैं। निर्भय-भीम-व्यायोग एक ही अंक का है, और इसमें भीम द्वारा बक के वध की कथा है। नलविलास १० अंकों का प्रकरण है, जिसमें नल-दमयन्ती का चरित्र-चित्रण किया गया है। तीसरे नाटक में नायिका कौमुदी और उसके पति मित्रानन्द सेठ के साहसपूर्ण भ्रमण का कथानक है। यह मालती-माधव के जोड़ का प्रकरण है।

हस्तिमल्ल कृत (१३वीं शती) चार नाटक प्रकाशित हो चुके हैं-विक्रान्तकौरव, सुभद्रा, मैथिलीकल्याण, और अंजनापवनंजय। कवि ने प्रस्तावना में अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे, किन्तु उनके पिता गोविन्द, समन्तभद्र कृत देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) के प्रभाव से, जैनधर्मी हो गये थे। कवि ने अपने समय के पाण्ड्य राजा का उल्लेख किया है, पर नाम नही दिया। इतना ही कहा है कि वे कर्नाटक पर शासन करते थे। प्रथम दो नाटक महाभारत और शेष दो रामायण पर आधारित हैं, तथा कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण के चरित्रानुसार है। हस्तिमल्ल के उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर, इन चार अन्य नाटकों के उल्लेख मिलते हैं।

जिनप्रभ सूरि के शिष्य रामभद्र (१३ वीं शती) द्वारा रचित प्रबुद्ध-रौहिणेय के छह अंकों में नायक की चौर-वृत्ति व उपदेश पाकर धर्म में दीक्षित होने का वृत्तान्त चित्रित किया गया है। यह नाटक चाहमान (चौहान) नरेश समरसिंह द्वारा निर्मापित ऋषभ जिनालय में उत्सव के समय खेला गया था।

यशःपाल कृत मोहराज-पराजय (१३ वी शती) में भावात्मक पात्रों के

अतिरिक्त राजा कुमारपाल भी आते हैं। राजा धर्मपरिवर्तन द्वारा जैन धर्म में दीक्षित व कृपासुन्दरी से विवाहित होकर राज्य में अहिंसा की घोषणा, तथा निस्संतान व्यक्तियों के मरने पर उनके धन के अपहरण का निषेध कर देता है। राजा का विवाह करानेवाले पुरोहित हेमचन्द्र हैं। यह नाटक शाकंबरी के चौहान राजा अजयदेव के समय में रचा गया है।

वीरसूरि के शिष्य जयसिंह सूरि कृत हम्मीरमदमर्दन के पांच अंकों में राजा वीरधवल द्वारा म्लेच्छ राजा हम्मीर (अमीर-शिकार-सुल्तान समसुद्दुनिया) की पराजय का, और साथ ही वस्तुपाल और तेजपाल मंत्रियों के चरित्र का वर्णन है। इसमें राजनीति का घटनाचक्र मुद्राराक्षस जैसा है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १२८६ की मिली है, अतः रचनाकाल इससे कुछ पूर्व का सिद्ध होता है।

पद्मचन्द्र के शिष्य यशश्चन्द्र कृत मुद्रित-कुमुदचन्द्र नाटक में पांच अंक हैं, जिनमें अणहिलपुर में जयसिंह चालुक्य की सभा मे (वि० सं० ११८१) श्वेताम्बराचार्य देवसूरि व दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के बीच शास्त्रार्थ कराया गया है। वाद के अन्त में कुमुदचन्द्र का मुख मुद्रित हो गया। रचनाकाल का निश्चय नहीं। संभवतः कर्ता के गुरु वे ही पद्मचन्द्र हैं, जिनका नाम लघु पट्टावली (पट्टावली-समुच्चय, पृ० २०४) में आया है, और जिनका समय अनुमानतः १४-१५ वीं शती है।

मुनिसुन्दर के शिष्य रत्नशेखर सूरि कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक में भावात्मक पात्रों द्वारा चित्रण किया गया है। यह इसी नामके कृष्ण मिश्र रचित नाटक (११ वीं शती) का अनुकरण प्रतीत होता है इसमें प्रबोध, विद्या, विवेक आदि नामक पात्र उपस्थित किये गये हैं।

मेघप्रभाचार्य कृत धर्माभ्युदय स्वयं कर्ता के उल्लेखानुसार एक छाया नाट्य-प्रबन्ध है, जो पार्श्वनाथ जिनालय में महोत्सव के समय खेला गया था। इसमें दशर्णभद्र मुनि का वृत्तान्त चित्रित किया गया है। इसका जर्मन भाषा में भी अनुवाद हुआ है।

हरिभद्र के शिष्य बालचन्द्र कृत करुणावज्रायुध नाटक में वज्रायुध नृप द्वारा श्येन को अपने शरीर का मांस देकर कपोत की रक्षा करने की कथा चित्रित है, जैसा कि हिन्दू पुराणों में राजा शिवि की कथा में पाया जाता है।

साहित्य-शास्त्र —

साहित्य के आनुषंगिक शास्त्र हैं व्याकरण, छंद और कोश। जैन परम्परा में इन शास्त्रों पर भी महत्वपूर्ण रचनाएं पाई जाती हैं।

व्याकरण-प्राकृत —

महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में यह प्रश्न उठाया है कि जब लोक-प्रचलित भाषा का ज्ञान लोक से स्वयं प्राप्त हो जाता है, तब उसके लिये शब्दानुशासन लिखने की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बतलाया है कि बिना शब्दानुशासन के शब्द और अपशब्द में भेद स्पष्टतः समझ में नहीं आता, और इसके लिये शब्दानुशासन शास्त्र की आवश्यकता है। जैन साहित्य का निर्माण आदितः जनभाषा में हुआ, और बहुत काल तक उसके अनुशासन के लिये स्वभावतः किसी व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। साहित्य में वचन-प्रयोगों के लिये इतना ही पर्याप्त था कि वैसे प्रयोग लोक में प्रचलित हों। धीरे-धीरे जब एक ओर बहुतसा साहित्य निर्माण हो गया, और दूसरी ओर नाना देशों में प्रचलित नाना प्रकार के प्रयोग सम्मुख आये, तथा कालानुक्रम से भी प्रयोगों में भेद पड़ता दिखाई देने लगा, तब उसके अनुशासन की आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्राकृत के उपलम्य व्याकरणों मे चंड (चन्द्र) कृत प्राकृत-लक्षण सर्व-प्राचीन सिद्ध होता है। इसका सम्पादन रॉडल्फ हार्नले साहब ने करके विवलिओथिका-इंडिका में १८८० ई० में छपाया था, और उसे एक जैन लेखक की कृति सिद्ध किया था। तथापि कुछ लोगों ने इसके सूत्रों को वाल्मीकि कृत माना है, जो स्पष्टतः असम्भव है। ग्रन्थ के आदि में जो वीर (महावीर) तीर्थंकर को प्रणाम किया गया है, व वृत्तिगत उदाहरणों में अर्हन्त (सू० ४६ व २४), जिनवर (सू० ४८), का उल्लेख आया है; उससे यह निःसंदेह जैन कृति सिद्ध होती है। ग्रन्थ के सूत्रकार और वृत्तिकार अलग-अलग हैं, इसके कोई प्रमाण नहीं। मंगलाचरण में जो वृद्धमत के आश्रय से प्राकृत व्याकरण के निर्माण की सूचना दी गई है, उससे यह अभिप्राय निकालना कि सूत्रकार और वृत्तिकार भिन्न-भिन्न हैं, सर्वथा निराधार है। अधिक से अधिक उसका इतना ही अभिप्राय प्रतीत होता है कि प्रस्तुत रचना के समय भी सूत्रकार के सम्मुख कोई प्राकृत व्याकरण अथवा व्याकरणात्मक मतमतान्तर थे, जिनमें से कर्ता ने अपने नियमों में प्राचीनतम प्रणाली की रक्षा करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि प्राकृत-लक्षण के रचना-काल संबंधी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तथापि ग्रंथ के अन्तःपरीक्षण से उसका कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसमें कुल सूत्रों की संख्या ९९ या १०३ है, और इस प्रकार यह उपलम्य व्याकरणों में संक्षिप्ततम है। प्राकृत सामान्य का जो निरूपण यहां पाया जाता है, वह अशोक की धर्मलिपियों की भाषा और वररुचि द्वारा 'प्राकृत-प्रकाश' में वर्णित प्राकृत के बीच का

प्रतीत होता है। वह अधिकांश अश्वघोष व अल्पांश भास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों से मिलता हुआ पाया जाता है, क्योंकि इसमें मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों की बहुलता से रक्षा की गई है, और उनमें से प्रथम वर्णों में केवल क, व तृतीय वर्णों में ग के लोप का एक सूत्र में विधान किया गया है, और इस प्रकार च ट त प वर्णों की, शब्द के मध्य में भी, रक्षा की प्रवृत्ति सूचित की गई है। इस आधार पर प्राकृतलक्षण का रचना-काल ईसा की दूसरी-तीसरी शती अनुमान करना अनुचित नही।

प्राकृत-लक्षण ४ पादों में विभक्त है। आदि में प्राकृत शब्दों के तीन रूप सूचित किये गये हैं तद्भव, तत्सम और देशी; तथा संस्कृतवत् तीनों लिंगों और विभक्तियों का विधान किया गया है। तत्पश्चात् इनमें क्वचिद् व्यत्यय की चौथे सूत्र में सूचना करके, प्रथम पाद के अन्तिम ३५ वें सूत्र तक संज्ञाओं और सर्वनामों के विभक्ति रूपों का विधान किया गया है। इनमें यद् और इदम् के षष्ठी का रूप 'से' और अहम् का कर्ता कारक 'हउं' ध्यान देने योग्य है। जैसा कि हम जानते हैं, हउं अपभ्रंश भाषा का विशेष रूप माना जाता है, किन्तु सूत्रकार के समय में उसका प्रयोग तो प्रचलित हो गया था, फिर भी वह अभी तक अपभ्रंश का विशेष लक्षण नहीं बना था। द्वितीय पाद के २९ सूत्रों मे प्राकृत में स्वर-परिवर्तनो, शब्दादेशों व अव्ययों का वर्णन किया गया है। यहां गो का गावी आदेश व पूर्वकालिक रूपों के लिये केवल तु, त्ता, च्च, ट्ट, तु, तूण, ओ और प्पि विभक्तियों का विधान किया गया है। ढूण, उण, व य का यहां निर्देश नही है। तीसरे पाद के ३५ सूत्रों में व्यंजनों के विपरिवर्तनों का विधान है। इनमें ध्यान देने योग्य नियम हैं—प्रथम वर्ण के स्थान में तृतीय का आदेश, जैसे एकं=एगं, पिशाची=विसाजी, कृतं=कदं, प्रतिपिद्धं=पदिसिद्धं। पाद के अन्तिम सूत्र में कह दिया गया है कि शिष्टप्रयोगाद् व्यवस्था अर्थात् शेष व्यवस्थाएं शिष्ट प्रयोगानुसार समझनी चाहिये। इस पाद के अन्त में सूत्रों की संख्या ९९ पूर्ण हो जाती है, और हार्नले साहब द्वारा निरीक्षित एक प्राचीन प्रति के आदि मे ग्रन्थ में ९९ सूत्रों की ही सूचना मिलती है। सम्भव है मूल व्याकरण यहीं समाप्त हुआ हो। किन्तु अन्य प्रतियों में ४ सूत्रात्मक चतुर्थ पाद भी मिलता है, जिसके एक-एक सूत्र में क्रमशः अपभ्रंश का लक्षण अधोरेफ का लोप न होना, पैशाची में र् और स् के स्थान पर ल् और न् का आदेश, मागधिका में र् और स् के स्थान पर ल् और श् आदेश; तथा शौरसैनी में त् के स्थान पर विकल्प से द् का आदेश बतलाया गया है। प्राकृत-लक्षण का पूर्वोक्त स्वरूप निश्चयतः उसके विस्तार, रचना व भाषा-स्वरूप की दृष्टि से उसे उपलभ्य समस्त प्राकृत व्याकरणों में प्राचीनतम सिद्ध

करता है। इस व्याकरण का आगामी समस्त प्राकृत व्याकरणों पर बड़ा गंभीर प्रभाव पड़ा है, और रचनाशैली व विषयानुक्रम में वहां इसी का अनुसरण किया गया है। चंड ने प्राकृत व्याकरणकारों के लिये मानो एक आदर्श उपस्थित कर दिया। वररुचि, हेमचन्द्र आदि व्याकरणकारों ने जो संस्कृतभाषा में प्राकृत व्याकरण लिखे, आदि में प्राकृत के सामान्य लक्षण दिये, और अन्त में शौरसैनी आदि विशेष प्राकृतों के एक-एक के विशेष लक्षण बतलाये, वह सब चंड का ही अनुकरण है। हेमचन्द्र ने तो चंड के ही अनुसार अपने व्याकरण को चार पादों में ही विभक्त किया है, और चूलिका पैशाची को छोड़ शेष उन्हीं चार प्राकृतों का व्याख्यान किया है, जिनका चंड ने किया, और चंड के समान स्वयं सूत्रों की वृत्ति भी लिखी।

प्राकृत-लक्षण के पश्चात् दीर्घकाल तक का कोई जैन प्राकृत व्याकरण नहीं मिलता। समन्तभद्र कृत प्राकृत व्याकरण का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका। समन्तभद्र की एक व्याकरणात्मक रचना का उल्लेख देवनंदि पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण में भी पाया जाता है, जिससे उनके किसी संस्कृत व्याकरण का अस्तित्व सिद्ध होता है। आश्चर्य नहीं जो समन्तभद्र ने ऐसा कोई व्याकरण लिखा हो, जिसमें क्रमशः संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का अनुशासन किया गया हो, जैसा कि आगे चलकर हेमचन्द्र की कृति में पाया जाता है।

हेमचन्द्र (१२ वी शती) ने शब्दानुशासन नामक व्याकरण लिखा, जिसके प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत, तथा आठवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण का निरूपण किया गया है। यह व्याकरण उपलम्य समस्त प्राकृत व्याकरणों में सबसे अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित स्वीकार किया गया है। इसके चार पाद हैं। प्रथम पाद के २७१ सूत्रों में संधि, व्यंजनान्त शब्द, अनुस्वार, लिंग, विसर्ग, स्वर-व्यत्यय और व्यंजन-व्यत्यय; इनका क्रमसे निरूपण किया गया है। द्वितीय पाद के २१८ सूत्रों में संयुक्त व्यंजनों के विपरिवर्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्ण-विपर्यय, शब्दादेश तद्धित, निपात और अव्यय; एवं तृतीय पाद के १८२ सूत्रों में कारक-विभक्तियों तथा क्रिया-रचना संबंधी नियम बतलाये गये हैं। चौथे पाद में ४४८ सूत्र हैं, जिनमें से प्रथम २५९ सूत्रों मे धात्वादेश और फिर शेष में क्रमशः शौरसैनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं के विशेष लक्षण बतलाये गये हैं। अन्त के २ सूत्रों में यह भी कह दिया गया है कि प्राकृतों में उक्त लक्षणों का व्यत्यय भी पाया जाता है; तथा जो बात यहां नहीं बतलाई गई, वह संस्कृतवत् सिद्ध समझनी चाहिये। सूत्रों के अतिरिक्त उसकी वृत्ति भी स्वयं हेमचन्द्र कृत ही है, और इसके द्वारा उन्होंने सूत्रगत लक्षणों को

बड़ी विशदता से उदाहरण दे-देकर समझाया है। आदि के प्रास्ताविक सूत्र अथ प्राकृतम् की वृत्ति विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें ग्रन्थकार ने प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति यह दी है कि प्रकृति संस्कृत है, और उससे उत्पन्न व आगत प्राकृत। स्पष्टतः यहां उनका अभिप्राय यह है कि प्राकृत शब्दों का अनुशासन संस्कृत के रूपों को आदर्श मानकर किया गया है। उन्होंने यहां प्राकृत के तत्सम, तद्भव व देशी, इन तीन प्रकार के शब्दों को भी सूचित किया है, और उनमें से संस्कृत और देश्य को छोड़कर तद्भव शब्दों की सिद्धि इस व्याकरण के द्वारा बतलाने की प्रतिज्ञा की है। उन्होंने तृतीय सूत्र में व अन्य अनेक सूत्रों की वृत्ति में आर्ष प्राकृत का उल्लेख किया है और उसके उदाहरण भी दिये हैं। आर्ष से उनका अभिप्राय उस अर्द्धमागधी प्राकृत से है, जिसमें जैन आगम लिखे गये हैं।

हेमचन्द्र से पूर्वकालीन चंडकृत प्राकृत-लक्षण और वररुचि कृत प्राकृत-प्रकाश नामक व्याकरणों से हेमव्याकरण का मिलान करने पर दोनों की रचनाशैली व विषयक्रम प्रायः एकसा ही पाया जाता है। तथापि 'हैम' व्याकरण में प्रायः सभी प्रक्रियाएं अधिक विस्तार से बतलाई गई हैं, और उनमें अनेक नई विधियों का समावेश किया गया है, जो स्वाभाविक है; क्योंकि हेमचन्द्र के सम्मुख वररुचि की अपेक्षा लगभग पांच-छह् शतियों का भाषात्मक विकास और साहित्य उपस्थित था, जिसका उन्होंने पूरा उपयोग किया है। चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश का उल्लेख वररुचि ने नहीं किया। हेमचन्द्र ने इन प्राकृतों के भी लक्षण बतलाये हैं, तथा अपभ्रंश भाषा का निरूपण अन्तिम ११८ सूत्रों में बड़े विस्तार से किया है; और इससे भी बड़ी विशेषता यह है कि इन नियमों के उदाहरणों में उन्होंने अपभ्रंश के पूरे पद्य उद्धृत किये हैं, जिनसे उस काल तक के अपभ्रंश साहित्य का भी अनुमान किया जा सकता है।

हेमचन्द्र के पश्चात् त्रिविक्रम, श्रुतसागर और शुभचन्द्र द्वारा लिखित प्राकृत व्याकरण पाये जाते हैं। किन्तु ये सब रचना, शैली व विषय की अपेक्षा हेमचन्द्र से आगे नहीं बढ़ सके। अपभ्रंश का निरूपण तो उतनी पूर्णता से कोई भी नहीं कर पाया। हां, उदाहरणों की अपेक्षा त्रिविक्रम कृत व्याकरण में कुछ मौलिकता पाई जाती है।

व्याकरण-संस्कृत—

जैन साहित्य में उपलभ्य संस्कृत व्याकरणों में सबसे अधिक प्राचीन जैनेन्द्र व्याकरण है, जिसके कर्ता देवनन्दि पूज्यपाद कदम्बवंशी राजा दुर्विनीत के समकालीन,

अतएव ५ वीं-६ वी शती में हुए सिद्ध होते हैं। यह व्याकरण पांच अध्यायों में विभक्त है, और इस कारण पंचाध्यायी भी कहलाता है। इसमें एकशेष प्रकरण न होने के कारण, कुछ लेखकों ने उसका अनेकशेष व्याकरण नाम से भी उल्लेख किया है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि, अकलंककृत तत्वार्थ राजवार्तिक और विद्यानन्दि-कृत श्लोकवार्तिक में इस व्याकरण के सूत्र उल्लिखित पाये जाते हैं। प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है, जिनमे कुल मिलाकर ३००० सूत्र पाये जाते हैं। इसकी रचना-शैली और विषयक्रम पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण के ही समान है। जिस प्रकार पाणिनि ने पूर्वत्रासिद्धम् सूत्र द्वारा अपने व्याकरण को सपाद-सप्ताध्यायी और त्रिपादी, इन दो भागों मे विभक्त किया है, उसी प्रकार उसी सूत्र (५-३-२७) के द्वारा यह व्याकरण भी सार्धद्विपाद-चतुराध्यायी और सार्धैकपादी में विभाजित पाई जाती है। तथापि इस व्याकरण में अपनी भी अनेक विशेषताएं हैं। इसमें वैदिकी और स्वर प्रकिया इन दो प्रकरणों को छोड़ दिया गया है। परन्तु पाणिनि के सूत्रों में जो अपूर्णता थी, और जिसकी पूर्ति कात्यायन व पतंजलि ने वार्तिकों व भाष्य द्वारा की थी उसकी यहां सूत्रपाठ मे पूर्ति कर दी गई है। अनेक संज्ञाएं भी नयी प्रविष्ट की गई हैं; जैसे पाणिनीय व्याकरण की प्रथमा, द्वितीया आदि कारक-विभक्तियों के लिये यहां वा, इप् आदि; निष्ठा के लिये त, आत्मनेपद के लिये द, प्रगृह्यके लिये दि, उत्तरपद के लिये द्य आदि एक ध्वन्यात्मक नाम नियत किये गये हैं। इन बीजाक्षरों द्वारा सूत्रों में अल्पाक्षरता तो अवश्य आ गई है, किन्तु साथ ही उनके समझने में कठिनाई भी बढ़गई है।

जैनेन्द्र व्याकरण पर स्वभावतः बहुत सा टीका-साहित्य रचा गया। श्रुतकीर्ति कृत पंचवस्तु-प्रक्रिया (१३ वीं शती) के अनुसार यह व्याकरण रूपी प्रासाद सूत्ररूपी स्तंभो पर खड़ा है; न्यास इसकी रत्नमय भूमि है; वृत्ति रूप उसके कपाट हैं; भाष्य इसका शय्यातल हैं; और टीकायें इसके माले (मंजिलें) हैं; जिनपर चढ़ने के लिये यह पंचवस्तुक रूपी सोपन-पथ निर्मित किया जाता है। पंचवस्तु-प्रक्रिया के अतिरिक्त इस व्याकरण पर अभयनन्दि कृत महावृत्ति (८ वी शती), प्रभचन्द कृत शब्दाम्भोज-भास्कर न्यास (११ वी शती), और नेमिचन्द्रकृत प्रक्रियावतार पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त और कोई टीका-ग्रंथ इस पर नही मिलते, किन्तु भाष्य और प्राचीन टीकाएं होना अवश्य चाहिये। महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र, वंशीधर कृत जैनेन्द्र-प्रक्रिया व पं० राजकुमार कृत जैनेन्द्रलघुवृत्ति हाल ही की कृतियां हैं। उपलभ्य टीकाओं में अभय-नन्दि कृत महावृत्ति बारह हजार श्लोक-प्रमाण हैं, और बहुत महत्वपूर्ण हैं। उसमें

अनेक नये उदाहरण पाये जाते हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इनमें शालिभद्र, समन्तभद्र, सिहनन्दि सिद्धसेन, अभयकुमार, श्रेणिक आदि नामों का समावेश करके ग्रन्थ में जैन वातावरण निर्माण कर दिया गया है। उन्होंने श्रीदत्त का नाम, जो सूत्र में भी आया है, वारंवार इस प्रकार लिया है जिससे वे उनसे पूर्व के कोई महान् और सुविख्यात वैयाकरण प्रतीत होते हैं। विद्यानन्दि ने अपने तत्वार्थ-श्लोक-वार्तिक में श्रीदत्त कृत जल्पनिर्णय का उल्लेख किया है, जिसमें जल्पके दो प्रकार बतलाये गये थे। जिनसेन ने आदिपुराण में भी उन्हें 'तपःश्रीदीप्तमूर्ति' व 'वादीभकण्ठीरव' कहकर नमस्कार किया है।

जैनेन्द्र व्याकरण का परिवर्धित रूप गुणनन्दि कृत शब्दार्णव मे पाया जाता है, जिसमें ३७०० सूत्र अर्थात् मूल से ७०० अधिक सूत्र हैं। जैनेन्द्र सूत्रों में जो अनेक कमियां थीं, उनकी पूर्ति अभयनन्दि ने अपनी महावृत्ति के वार्तिकों द्वारा की। गुणनन्दि ने अपने संस्करण में उन सब के भी सूत्र बनाकर जैनेन्द्र व्याकरण को अपने काल तक के लिये अपने-आप में पूर्ण कर दिया है। यहां वह एकशेष प्रकरण भी जोड़ दिया गया है, जिसके अभाव के कारण चन्द्रिका टीका के कर्ता ने मूल ग्रंथ को 'अनेकशेष व्याकरण' कहा है। यद्यपि गुणनन्दि नाम के बहुत से मुनि हुए हैं; तथापि शब्दार्णव के कर्ता ये ही गुणनन्दि प्रतीत होते है, जो श्रवण बेलगोल के अनेक शिलालेखों के अनुसार बलाकपिच्छ के शिष्य, तथा गृध्रपिच्छ के प्रशिष्य थे, एवं तर्क, व्याकरण और साहित्य के महान् विद्वान थे। वादिराजसूरि ने अपने पार्श्व-चरित में इनका स्मरण किया है। आदिपंप के गुरु देवेन्द्र इनके शिष्य थे। इनका समय कर्नाटक-कवि-चरित के अनुसार वि० सं० ९५७ ठीक प्रतीत होता है।

शब्दार्णव की अभी तक दो टीकायें प्राप्त हुई हैं--एक सोमदेव मुनि कृत शब्दार्णव-चन्द्रिका है जो शक सं० ११२७ में शिलाहार वंशीय राजा भोजदेव द्वि० के काल में खर्जुरिका नामक ग्राम के जिन मन्दिर में लिखी गई थी। लेखक के कथनानुसार उन्होंने इसे मेघचन्द्र के शिष्य नागचन्द्र (भुजंगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यति के लिये रचा था।

दूसरी टीका शब्दार्णव-प्रक्रिया है, जो भ्रम-वश जैनेन्द्रप्रक्रिया के नाम से प्रकाशित हुई है। इसमें कर्ता ने अपना नाम प्रकट नहीं किया; किन्तु अपने को श्रुतकीर्तिदेव का शिष्य सूचित किया है। अनुमानतः ये श्रुतकीर्ति वे ही हैं, जिनकी श्रवणबेल्गोला के १०८ वें शिलालेख में बड़ी प्रशंसा की गई है, और जिनका समय वि० सं० ११८० माना गया है। अनुमानतः इनके शिष्य चारुकीर्ति पंडिताचार्य ही शब्दार्णव-प्रक्रिया के

कर्ता हैं। उपर्युक्त पंचवस्तुप्रक्रिया के कर्ता श्रुतकीर्ति भी इस कर्ता के गुरु हो सकते हैं। इसमें पं० नाथूराम जी प्रेमी ने केवल यह आपत्ति प्रकट की है कि प्रस्तुत प्रक्रिया के कर्ता ने अपने गुरु को कविपति बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं। किन्तु यह कोई बड़ी आपत्ति नहीं।

देवनन्दि के पश्चात् दूसरे संस्कृत के महान् जैन वैयाकरण शाकटायन हुए जिन्होंने शब्दानुशासन की रचना राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के समय में की, और जिसका रचना-काल शक सं० ७३६ व ७८९ के बीच सिद्ध होता है। एक टीकाकार तथा पार्श्वनाथचरित के कर्ता वादिचन्द्र ने इस व्याकरण के कर्ता का पाल्यकीर्ति नाम भी सूचित किया है। यह नाम उन्होंने संभवतः इस कारण लिया जिससे पाणिनि द्वारा स्मृत प्राचीन वैयाकरण शाकटायन से भ्रान्ति न हो। इस शब्दानुशासन में कर्ता ने उन सब कमियों व त्रुटियों की पूर्ति कर दी है, जो मूल जैनेन्द्रव्याकरण में पाई जाती थीं। अनेक बातें यहां मौलिक भी हैं। उदाहरणार्थ, आदि में ही इसके प्रत्याहार सूत्र पाणिनीय-परम्परा से कुछ भिन्न हैं। ऋलृक् के स्थान पर केवल ऋक् पाठ है, क्योंकि ऋ और लृ में अभेद स्वीकार किया गया है। हयवरट् और लण् को मिलाकर, व ट् को हटाकर यहां एक सूत्र बना दिया गया है, तथा उपान्त्य सूत्र श ष स र् में विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का भी समावेश कर दिया गया है, इत्यादि। जैनेन्द्र-सूत्र व महावृत्ति में 'प्रत्याहार' सूत्र पाणिनीय ही स्वीकार करके चला गया है; किन्तु जैनेन्द्र परम्परा की शब्दार्णवचन्द्रिका में ये शाकटायन 'प्रत्याहार' सूत्र स्वीकार किये गये हैं। जैनेन्द्र का टीकासाहित्य शाकटायन की कृति से बहुत उपकृत हुआ पाया जाता है; और जान पड़ता है इस अधिक पूर्ण व्याकरण के होते हुए भी उन्होंने जैनेन्द्र की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के हेतु उसे इस आधार से अपने कालतक संपूर्ण बनाना आवश्यक समझा है।

शाकटायन ने स्वयं अपने सूत्रों पर वृत्ति भी लिखी है, जिसे उन्होंने अपने समकालीन अमोघवर्ष के नामसे अमोघवृत्ति कहा है। इस वृत्ति का प्रमाण १८००० श्लोक माना गया है। इसका ६००० श्लोक प्रमाण संक्षिप्त रूप यक्षवर्मा कृत चिन्तामणि नामक लघीयसीवृत्ति में मिलता है। इसके विषय में कर्ता ने स्वयं यह दावा किया है कि इन्द्र, चन्द्रादि शाब्दों ने जो भी शब्द का लक्षण कहा है, वह सब इसमें है; और जो यहां नहीं है, वह कहीं भी नहीं। इसमें गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन, उणादि आदि निःशेष प्रकरण हैं। इस निःशेष विशेषण द्वारा संभवतः उन्होंने अनेकशेष जैनेन्द्र व्याकरण की अपूर्णता की ओर संकेत किया है। यक्षवर्मा का यह भी दावा है कि

उपस्थित किये हैं। ऐसी रचना पर अन्य लेखकों द्वारा टीका-टिप्पणी के लिये अवकाश शेष नहीं रहता। फिर भी इसपर मुनिशेखरसूरि कृत लघुवृत्तिढुंढिका, कनकप्रभकृत लघुन्यास पर दुर्गपदव्याख्या, विद्याकरकृत बृहद-वृत्तिदीपिका, धनचन्द्र कृत लघुवृत्ति-अवचूरि, अभयचन्द्र कृत बृहद्वृत्ति-अवचूरि एवं जिनसागर कृत दीपिका आदि कोई दो दर्जन नाना प्रकरणों की टीकायें उपलब्ध हैं, जिनसे इस कृति की रचना के प्रति विद्वानों का आदर व लोकप्रचार और प्रसिद्धि का अनुमान किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक संस्कृत व्याकरण लिखे गये हैं, जैसे मलयगिरि कृत शब्दानुशासन अपर नाम मुष्टिव्याकरण स्वोपज्ञ टीका सहित; दानविजय कृत शब्दभूषण, आदि। किन्तु उनमें पूर्वोक्त ग्रन्थों का ही अनुकरण किया गया है, और कोई रचना या विषय संबंधी मौलिकता नही पाई जाती।

छंदःशास्त्र-प्राकृत—

जैन परम्परा में उपलभ्य छंदःशास्त्र विषयक रचनाओं में नन्दिताढ्य कृत गाथा-लक्षण, प्राकृत व्याकरण में चण्डकृत प्राकृत-लक्षण के समान, सर्वप्राचीन प्रतीत होता है। ग्रन्थ में कर्ता के नाम के अतिरिक्त समयादि संबंधी कोई सूचना नही पाई जाती, और न अभी तक किसी पिछले लेखकों द्वारा उनका नामोल्लेख सम्मुख आया, जिससे उनकी कालावधि का कुछ अनुमान किया जा सके। तथापि कर्ता के नाम, उनकी प्राकृत भाषा, ग्रन्थ के विषय व रचना शैली पर से वे अति प्राचीन अनुमान किये जाते हैं। आरंभ में गाथा के मात्रा, अंश आदि सामान्य गुणों का विधान किया गया है, जिसमे शर आदि संज्ञाओं का प्रयोग पिंगल, विरहांक आदि छंदःशास्त्रियों से भिन्न पाया जाता है। तत्पश्चात् गाथा के पथ्या, विपुला और चपला, तथा चपला के तीन प्रभेद और फिर उनके उदाहरण दिये गये हैं। फिर एक अन्य प्रकार से वर्णों के ह्रस्वदीर्घत्व के आधार पर गाथा के विप्रा, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा, ये चार भेद और उनके उदाहरण बतलाये हैं। इसके पश्चात् अक्षर-संख्यानुसार गाथा के छब्बीस भेदों के कमला आदि नाम गिनाकर फिर उनके लक्षण दिये गये हैं, और गाथा के लघु-गुरुत्व तौल, प्रस्तार, संख्या, नक्षत्र-ग्रह आदि प्रत्यय बतलाये गये हैं। अन्त में गाथा में मात्राओं की कमीवढ़ी से उत्पन्न होने वाले उसके गाथा, विगाथा, उग्गाथा, गाथिनी और स्कंधक, इन प्रभेदों को समझाया गया है। ये प्रथम तीन नाम हेमचन्द्र आदि द्वारा प्रयुक्त उपगीति, उग्दीति और गीति नामों की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं।

ग्रन्थ का इतना विषय उसका अभिन्न और मौलिक अंश प्रतीत होता है जो लगभग ७० गाथाओं में पूरा आ गया है। किन्तु डा० वेलंकर द्वारा सम्पादित पाठ में ९६ गाथाएं हैं। अधिक गाथाओं में गाथा के कुछ उदाहरण, तथा ७५ वीं गाथा से आगे के पद्धडिया आदि अपभ्रंश छंदों के लक्षण और उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें विद्वान् सम्पादक ने मूल ग्रन्थ के अंश न मानकर, सकारण पीछे जोड़े गये सिद्ध किया है। किन्तु उन्होंने जिन दो गाथाओं को मौलिक मानकर उन पर कुछ आश्चर्य किया है, उनका यहां विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। ३८ वें पद्य में गाथा के दश भेद गिनाये गये हैं; किन्तु यथार्थ में उपर्युक्त भेद तो नौ ही होते हैं। दसवां मिश्र नामका भेद वहां बनता ही नहीं है। उसका जो उदाहरण दिया गया है, वह मिश्र का कोई उदाहरण नहीं, और उसे सम्पादक ने ठीक ही प्रक्षिप्त अनुमान किया है। मेरे मतानुसार दस भेदों को गिनाने वाली गाथा भी प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये। जब ऊपर नौ भेद लक्षणों और उदाहरणों द्वारा समझाये जा चुके, तब यहां उन्हें पुनः गिनाने की और उनमें भी एक अप्रासंगिक भेद जोड़ देने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। कर्ता की संक्षेप रचना-शैली में उसके लिये कोई अवकाश भी नहीं रह जाता। उक्त भेदों का मिश्र रूप भी कुछ होता ही होगा, इस भ्रान्त धारणा से किसी पाठक ने उसे जोड़ कर ग्रन्थ को पूरा कर देना उचित समझा, और उसका मनचाहा, भले ही अयुक्त, वह उदाहरण दे दिया होगा।

गाथा ३१ में कहा गया है कि जैसे वैश्याओं के स्नेह, और कामीजनों के सत्य नहीं होता; वैसे ही नन्दिताढ्य द्वारा उक्त प्राकृत में जिह, किह, तिह, नहीं हैं। स्वयं ग्रन्थकार द्वारा अपने ऊपर ही इस अनुचित उपमा पर डा० वेलंकर ने स्वभावतः आश्चर्य प्रकट किया है, तथापि उसे ग्रन्थ का मौलिक भाग मानकर अनुमान किया है कि ग्रन्थकार जैन यति होता हुआ आगमोक्त गाथा छंद का पक्षपाती था, और अपभ्रंश भाषा व छंदों की ओर तिरस्कार दृष्टि रखता था। किन्तु मेरा अनुमान है कि यह गाथा भी ग्रन्थ का मूलांश नहीं, और वह अपभ्रंश का तिरस्कार करने वाले द्वारा नहीं, किन्तु उसके किसी विशेष पक्षपाती द्वारा जोड़ी गई है, जिसे अपने काल के लोकप्रिय और वास्तविक अपभ्रंश रूपों का इस रचना में अभाव खटका, और उसने कर्ता पर यह व्यंग मार दिया कि उनका प्राकृत एक वेश्या व कामुक के सदृश उक्त प्रयोगों की प्रियता और सत्यता से हीन पाया जाता है। इस प्रकार उक्त पद्य का अनौचित्य दोष पुष्टार्थता गुण में परिवर्तित हो जाता है, और ग्रन्थकर्ता अपभ्रंश के प्रति अनुचित और अप्रासंगिक विद्वेष के अपराध से बच जाते हैं। इस ग्रन्थ की दो टीकाएं मिली हैं, एक

रत्नचन्द्रकृत और दूसरी अज्ञातकर्तृक अवचूरि। इन दोनों में समस्त प्रक्षिप्त अनुमान की जाने वाली गाथाएं स्वीकार की गई हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे उनसे पूर्व समाविष्ट हो गई थी। अन्य प्राचीन प्रतियों की बड़ी आवश्यकता है।

प्राकृत में छंदःशास्त्र का कुछ सर्वांगीण निरूपण करने वाले सुप्राचीन कवि स्वयंभू पाये जाते हैं, जिनके पउमचरिउ और हरिवंशचरिउ नामक अपभ्रंश पुराणों का परिचय पहले कराया जा चुका है, और जिसके अनुसार उनका रचनाकाल ७-८ वीं शती सिद्ध होता है। स्वयंभूछंदस् का पता हाल ही में चला है, और उस एक मात्र हस्तलिखित प्रति में आदि के २२ पत्र न मिल सकने से ग्रन्थ का उतना भाग अनुपलब्ध है। यह ग्रन्थ मुख्यतः दो भागों में विभाजित है, एक प्राकृत और दूसरा अपभ्रंश विषयक। प्राकृत छंदों का निरूपण तीन परिच्छेदों में किया गया है आदिविधि, अर्धसम और विसमवृत्त; तथा अपभ्रंश का निरूपण उच्छाहादि छप्पअजाति, चउप्पअ, दुवअ, शेष द्विपदी और उत्थक्क आदि। इस प्रकार इसमें कुल ६ परिच्छेद हैं। प्राकृत छंदों में प्रथम परिच्छेद के भीतर शक्वरी आदि १३ प्रकार के ६३ छंदों का निरूपण किया गया है, जिनमें १४ अक्षरों से लेकर २६ अक्षरों तक के चार चरण होते हैं। १ से १३ अक्षरों तक के वृत्तों का स्वरूप अप्राप्त अंश में रहा होगा। इससे अधिक अक्षरों के वृत्त दण्डक कहे गये हैं। दूसरे परिच्छेद में वेगवती आदि अर्धसम वृत्तों का निरूपण किया गया है, जिनके प्रथम और द्वितीय चरण परस्पर भिन्न व तीसरे और चौथे के सदृश होते हैं। तीसरे परिच्छेद में उद्गतादि विषम वृत्तों का वर्णन है, जिनके चारों चरण परस्पर भिन्न होते हैं। अपभ्रंश छंदों में पहले उत्साह, दोहा और उसके भेद, मात्रा, रड्डा आदि १२ वृत्तों का, फिर पांचवें परिच्छेद में छह पदों वाले ध्रुवक, जाति, उपजाति आदि २४ छंदों का, छठे में सो अर्धसम और आठ सर्वसम, ऐसे १२ चतुष्पदी ध्रुवक छंदों का, सातवें में ४० प्रकार की द्विपदी का, आठवें में चार से दस मात्राओं तक की शेष दस द्विपदियों का, और अन्त में उत्थक्क, ध्रुवक, छड्डनिका और घत्ता आदि वृत्तों का निरूपण किया गया है।

स्वयंभू-छंदस् की अपनी अनेक विशेषताएं हैं। एक तो उसकी समस्त रचना और समस्त उदाहरण प्राकृत-अपभ्रंशात्मक हैं। दूसरे, उन्होंने मात्रा गणों के लिये अपनी मौलिक संज्ञाएं जैसे द, त, च आदि प्रयुक्त की हैं। तीसरे, उन्होंने अक्षर और मात्रा गणों में कोई भेद नहीं किया; तथा संस्कृत के अक्षर-गण वृत्तों को भी प्राकृत के व मात्रा-गण के रूप में दर्शाया है। चौथे, स्वयंभू ने पाद के बीच यति के सम्बन्ध में दो परम्पराओं का उल्लेख किया है, जिनमें से मांडव्य, भरत, कश्यप, और सैतव ने यति

नहीं मानी। स्वयंभू ने अपने को इसी परम्परा का प्रकट किया है। और पांचवें, उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, वे उनके समय के प्राकृत लोक-साहित्य में से, बिना किसी धार्मिक व साम्प्रदायिक भेद भाव के लिये हैं, और अधिकांश के साथ उनके कर्ताओं का भी उल्लेख कर दिया है। कुल उदाहरणात्मक पद्यों की संख्या २०६ है, जिनमें से १२८ प्राकृत के, और शेष अपभ्रंश के हैं। उल्लिखित कवियों की संख्या ५८ है, जिनमें सबसे अधिक पद्यों के कर्ता सुद्धसहाव (शुद्धस्वभाव) और सुद्धसील पाये जाते हैं। आश्चर्य नही, वे दोनों एक ही हों। शेष में कुछ परिचित नाम हैं—कालिदास, गोविन्द, चउमुह, मयूर, वेताल, हाल आदि। दो स्त्री कवियों के नाम राहा और विज्जा ध्यान देने योग्य हैं। अपभ्रंश के उदाहरणों में गोविन्द और चतुर्मुख की कृतियों की प्रधानता है, और उन पर से उनकी क्रमशः हरिवंश और रामायण विषयक रचनाओं की संभावना होती है। उपर्युक्त प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम पद्य में स्वयंभू ने अपनी रचना को पंचंससारभूतं कहा है, जिससे उनका अभिप्राय है कि उन्होंने अपनी इस रचना में गणों का विधान द्विमात्रिक से लेकर छह मात्रिक तक पांच प्रकार से किया है।

कविदर्पण नामक प्राकृत छंद-शास्त्र के कर्ता का नाम अज्ञात है। इसका सम्पादन एक मात्र ताडपत्र प्रति पर से किया गया है, जिसके आदि और अन्त के पत्र अप्राप्त होने से दोनों ओर का कुछ भाग अज्ञात है। कर्ता का भी प्राप्त अंश से कोई पता नहीं चलता। साथ मे संस्कृत टीका भी मिली है, किन्तु उसके भी कर्ता का कोई पता नहीं। तथापि नन्दिषेणकृत अजित-शान्तिस्तव के टीकाकार जिनप्रभ सूरि ने इस ग्रन्थ का जो नामोल्लेख व उसके ३४ पद्य उद्धृत किये हैं, उस पर से इतना निश्चित है कि उसका रचनाकाल वि० स० १३६५ से पूर्व है। ग्रन्थ में रत्नावली के कर्ता हर्षदेव, हेमचन्द्र, सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल आदि के नाम आये हैं, जिनसे ग्रन्थ की पूर्वावधि १३ वीं शती निश्चित हो जाती है। अर्थात् यह ग्रन्थ ईस्वी सन् ११७२ और १३०८ के बीच कभी लिखा गया है। ग्रन्थ में छह उद्देश हैं। प्रथम उद्देश में मात्रा और वर्ण गणों का, दूसरे मे मात्रा छंदों का, तीसरे में वर्ण-वृत्तों का, चौथे में २६ जातियों का, पांचवें में वैतालीय आदि ११ उभयछंदों का और छठे में छह प्रत्ययों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर २४ सम, १५ अर्धसम और १३ मिश्र अर्थात् ५२ प्राकृत छंदों का यहां निरूपण है, जो स्पष्ट ही अपूर्ण है; विशेषतः जब कि इसकी रचना स्वयंभू और हेमचन्द्र की कृतियों के पश्चात् हुई है। तथापि लेखक का उद्देश्य संपूर्ण छंदों का नही, किन्तु उनके कुछ सुप्रचलित रूपों मात्र का प्ररूपण करना प्रतीत होते हैं। उदाहरणों की संख्या ६६ है, जो सभी स्वयं ग्रन्थकार

के स्वनिर्मित प्रतीत होते हैं। टीका में अन्य ६१ उदाहरण पाये जाते हैं, जो अन्यत्र से उद्धृत हैं। द्वितीय उद्देश अन्तर्गत मात्रावृत्तों का निरूपण अहुत कुछ तो हेमचन्द्र के अनुसार है, किन्तु कहीं कहीं कुछ मौलिकता पाई जाती है।

छंदःकोश के कर्ता रत्नशेखर नागपुरीय तपागच्छ के हेमतिलकसूरि के शिष्य थे, जिनका जन्म, पट्टावली के अनुसार, वि० सं० १३७२ में हुआ था, तथा जिनकी अन्य दो रचनायें श्रीपालचरित्र (वि० सं० १४२८) और गुणस्थान-क्रमारोह (वि० सं० १४४७) प्रकाशित हो चुकी हैं। ग्रन्थ में कुल ७४ प्राकृत व अपभ्रंश पद्य हैं और इनमें क्रमशः लघु-गुरु अक्षरों व अक्षर गणों का, आठ वर्णवृत्तों का, ३० मात्रा-वृत्तों का, और अन्त में गाथा व उसके भेदप्रभेदों का निरूपण किया गया है। प्राकृत-पिंगल में जो ४० मात्रावृत्त पाये जाते हैं, उनसे प्रस्तुत ग्रन्थ के १५ वृत्त सर्वथा नवीन हैं। इनके लक्षण व उदाहरण सब अपभ्रंश में हैं, व एक ही पद्य में दोनों का समावेश किया गया है। गाथाओं के लक्षण आदि प्राकृत गाथाओं में हैं। अपभ्रंश छंदों के निरूपक पद्यों में बहुत से पद्य अन्यत्र से उद्धृत किये हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनके साथ उनके कर्ताओं के नाम, जैसे गुल्ह, अर्जुन, पिंगल आदि जुड़े हुए हैं। इनमें पिंगल के नाम पर से सहज ही अनुमान होता है कि छंदःकोश के कर्ता ने वे पद्य उपलभ्य प्राकृतपिंगल में से लिये होंगे, किन्तु बात ऐसी नहीं है। वे पद्य इस प्राकृत पिंगल में नहीं मिलते। कुछ पद्य ऐसे भी हैं जो यहां गुल्ह कवि कृत या बिना किसी कर्ता के नाम के पाये जाते हैं, और वे ही पद्य प्राकृत पिंगल में पिंगल के नाम-निर्देश सहित विद्यमान हैं। इससे विद्वान् सम्पादक डा० वेलनकर ने यह ठीक ही अनुमान किया है कि यथार्थतः दोनों ने ही उन्हें अन्यत्र से लिया है; किन्तु रत्न-शेखर ने उन्हें सचाई से ज्यों का त्यों रहने दिया है, और पिंगल ने पूर्व कर्ता का नाम हटाकर अपना नाम समाविष्ट कर दिया है। पिंगल की वर्तमान रचना में से रत्न-शेखर द्वारा अवतरण लिये जाने की यों भी संभावना नहीं रहती, क्योंकि पिंगल में रत्नशेखर से पश्चात्कालीन घटनाओं का भी उल्लेख पाया जाता है। अतएव सिद्ध होता है कि पिंगल की जिस रचना का छन्दःकोश में उपयोग किया गया है, वह वर्तमान प्राकृत पिंगल से पूर्व की कोई भिन्न ही रचना होगी, जैसा कि अन्य अनेक पिंगल सम्बन्धी उल्लेखों से भी प्रमाणित होता है।

संस्कृत में रचित हेमचन्द्र कृत छंदोनुशासन (१२ वीं शती) का उल्लेख छंद चूड़ामणि नाम से भी आता है। यह रचना आठ अध्यायों में विभक्त है और उसपर स्वोपज्ञ टीका भी है। इस रचना में हेमचन्द्र ने, जैसा उन्होंने अपने व्याकरणादि ग्रन्थों

में किया है, यथाशक्ति अपने समय तक आविष्कृत तथा पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित समस्त संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश छंदों का समावेश कर देने का प्रयत्न किया है, भले ही वे उनके समय में प्रचार में रहे हों या नही। भरत और पिंगल के साथ उन्होने स्वयंभू का भी आदर से स्मरण किया है। माण्डव्य, भरत, काश्यप, सैतव, जयदेव, आदि प्राचीन छंदःशास्त्र प्रणेताओं के उल्लेख भी किये हैं। उन्होंने छंदों के लक्षण तो संस्कृत में लिखे हैं, किन्तु उनके उदाहरण उनके प्रयोगानुसार संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में दिये हैं। उदाहरण उनके स्वनिर्मित हैं; कही से उद्धृत किये हुए नही। हेमचन्द्र ने अनेक ऐसे प्राकृत छंदों के नाम, लक्षण और उदाहरण भी दिये हैं, जो स्वयंभू-छंदस् में नही पाये जाते। स्वयंभू ने जहां १ से २६ अक्षरों तक के वृत्तों के लगभग १०० भेद किये हैं, वहां हेमचन्द्र ने उनके २८६ भेद-प्रभेद बतलाये हैं, जिनमे दण्डक सम्मिलित नही हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के समस्त प्रकार के छंदों के शास्त्रीय लक्षणों व उदाहरणो के लिये यह रचना एक महाकोष है।

छंदःशास्त्र-संस्कृत—

संस्कृत मे अन्य भी अनेक छंद विषयक ग्रन्थ पाये जाते हैं, जैसे नेमि के पुत्र वाग्भट्ट कृत ५ अध्यायात्मक छंदोनुशासन, जिसका उल्लेख काव्यानुशान में पाया जाता है; जयकीर्ति कृत छंदोनुशासन जो वि० सं० ११९२ की रचना है। जिनदत्तके शिष्य अमरचन्द्र कृत छंदो-रत्नावली, रत्नमंजूषा अपरनाम छंदों-विचिति के कुल १२ अध्यायों में आठ अध्यायों पर टीका भी मिलती है, आदि। इन रचनाओं में भी अपनी कुछ विशेताएं हैं, तथापि शास्त्रीय दृष्टि से उनके सम्पूर्ण विषय का प्ररूपण पूर्वोक्त ग्रथों में समाविष्ट पाया जाता है।

कोश-प्राकृत —

प्राकृत कोषों में सर्वप्राचीन रचना धनपाल कृत पाइयलच्छी-नाममाला है, जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार कर्ता ने अपनी कनिष्ठ भगिनी सुन्दरी के लिये धारा-नगरी में वि० सं० १०२९ में लिखी थी, जबकि मालव नरेन्द्र द्वारा मान्यखेट लूटा गया था। यह घटना अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से भी सिद्ध होती है। धारानरेश हर्षदेव के एक शिलालेख में उल्लेख है कि उसने राष्ट्रकूट राजा खोटिगदेव की लक्ष्मी का अपहरण किया था। इस कोष में अमरकोष की रीति से प्राकृत पद्यों में लगभग १००० प्राकृत शब्दों के पर्यायवाची शब्द कोई २५० गाथाओं में दिये गये हैं। प्रारंभ में कमलासनादि

१८ नाम-पर्याय एक-एक गाथा में, फिर लोकाग्र आदि १६७ तक नाम आधी-आधी गाथा में, तत्पश्चात् ५६७ तक एक-एक चरण में, और शेष छिन्न अर्थात् एक गाथा में कहीं चार, कहीं पांच और कहीं छह नाम कहे गये हैं। ग्रन्थ के ये ही चार परिच्छेद कहे जा सकते हैं। अधिकांश नाम और उनके पर्याय तद्भव हैं। सच्चे देशी शब्द अधिक से अधिक पंचमांश होंगे।

दूसरा प्राकृत कोष हेमचन्द्र कृत देशी-नाम-माला है। यथार्थतः इस ग्रन्थ का नाम स्वयं कर्ता ने कृति के आदि व अन्त में स्पष्टतः देशी-शब्द-संग्रह सूचित किया है, तथा अन्त की गाथा में उसे रत्नावली नाम से कहा है। किन्तु ग्रन्थ के प्रथम सम्पादक डा० पिशैल ने कुछ हस्तलिखित प्रतियों के आधार से उक्त नाम ही अधिक सार्थक समझकर स्वीकार किया है, और पीछे प्रकाशित समस्त संस्करणों में इसका यही नाम पाया जाता है। इस कोष में अपने ढंग की एक परिपूर्ण क्रम-व्यवस्था का पालन किया गया है। कुल गाथाओं की संख्या ७८३ है, जो आठ वर्गों में विभाजित हैं, और उनमें क्रमशः स्वरादि, कवर्गादि, चवर्गादि, टवर्गादि, तवर्गादि, पवर्गादि, यकारादि और सकारादि शब्दों को ग्रहण किया गया है। सातवें वर्ग के आदि में कोषकार ने कहा है कि इस प्रकार की नाम-व्यवस्था व्याकरण में प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध है; और उसी का यहां आदर किया गया है। इन वर्गों के भीतर शब्द पुनः उनकी अक्षर-संख्या अर्थात् दो, तीन, चार, व पांच अक्षरों वाले शब्दों के क्रम से रखे गये हैं, और उक्त संख्यात्मक शब्दों के भीतर भी अकारादि वर्णानुक्रम का पालन किया गया है। इस क्रम से एकार्थवाची शब्दों का आख्यान हो जाने पर फिर उन्हीं अकारादि खंडों के ही भीतर इसी क्रम से अनेकार्थवाची शब्दों का आख्यान किया गया है। इस क्रमपद्धति को पूर्णता से समझने के लिये प्रथम वर्ग का उदाहरण लीजिये। इसमें आदि की छठी गाथा तक दो, १६ तक तीन, ३७ तक चार और ४६ वीं गाथा तक पांच अक्षरों वाले अकारादि शब्द कहे गये हैं। फिर ६० तक अकारादि, शब्दों के दो अक्षरादि क्रम से उनके अनेकार्थ शब्द संग्रहीत हैं। फिर ७२ तक एकार्थवाची और ७६ तक अनेकार्थवाची आकारादि शब्द हैं। फिर इसी प्रकार ८३ तक इकारादि, ८४ में ईकारादि, १३६ तक उकारादि, १४३ में ऊकारादि, १४८ तक एकारादि, और अन्तिम १७४ वीं गाथा तक ओकारादि शब्दों के क्रम से एकार्थ व अनेकार्थवाची शब्दों का चयन किया गया है। यही क्रम शेष सब वर्गों में भी पाया जाता है। मुद्र-पत्रक प्रणाली (कार्डिग सिस्टेम) के बिना यह क्रम-परिपालन असंभव सा प्रतीत होता है; अतएव यह पद्धति ज्योतिष शास्त्रियों और हेमचन्द्र व उनकी प्रणाली के पालन

व्याकरणों में अवश्य प्रचलित रही होगी।

देशीनाममाला में शब्दों का चयन भी एक विशेष सिद्धान्तानुसार किया गया है। कर्ता ने आदि मे कहा है कि—

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउडलक्खणासत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा ॥३॥

अर्थात् जो शब्द न तो उनके संस्कृत-प्राकृत व्याकरण के नियमों द्वारा सिद्ध होते, न संस्कृत कोषों में मिलते, और न अलंकार-शास्त्र-प्रसिद्ध गौडी लक्षणा शक्ति से अभीष्ट अर्थ देते, उन्हें ही देशी मानकर इस कोष में निबद्ध किया है। इस पर भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या देश-देश की नाना भाषाओं में प्रचलित व उक्त श्रेणियों में न आने वाले समस्त शब्दों के संग्रह करने की यहां प्रतिज्ञा की गई है? इसका उत्तर अगली गाथा में ग्रन्थकार ने दिया है कि—

देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणंतया हुंति।
तम्हा अणाइ-पाइय-पयट्ट-भासाविसेसओ देसी ॥४॥

अर्थात् भिन्न भिन्न देशों में प्रसिद्ध शब्दों के आख्यान में लग जायं, तब तो वे शब्द अनन्त पाये जाते हैं। अतएव यहां केवल उन्हीं शब्दों को देशी मानकर ग्रहण किया गया है जो अनादिकाल से प्रचलित व विशेषरूप से प्राकृत कहलाने वाली भाषा में पाये जाते हैं। इससे कोषकार का देशी से अभिप्राय स्पष्टतः उन शब्दों से है जो प्राकृत साहित्य की भाषा और उसकी बोलियों में प्रचलित हैं, तथापि न तो व्याकरणों से या अलंकार की रीति से सिद्ध होते, और न संस्कृत के कोषों में पाये जाते हैं। इस महान् कार्य में उद्यत होने की प्रेरणा उन्हें कहां से मिली, उसका भी कर्ता ने दूसरी गाथा और उसकी स्वोपज्ञ टीका में स्पष्टीकरण कर दिया है। जब उन्होंने उपलभ्य निःशेष देशी शास्त्रों का परिशीलन किया, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि कोई शब्द है तो साहित्य का, किन्तु उसका प्रचार में कुछ और ही अर्थ हो रहा है, किसी शब्द में वर्णों का अनुक्रम निश्चित नहीं है; किसी के प्राचीन और वर्तमान देश-प्रचलित अर्थ में विसंवाद (विरोध) है; तथा कहीं गतानुगति से कुछ का कुछ अर्थ होने लगा है। तब आचार्य को यह आकुलता उत्पन्न हुई कि अरे, ऐसे अपभ्रष्ट शब्दों की कीचड़ में फंसे हुए लोगों का किस प्रकार उद्धार किया जाय? बस, इसी कुतूहलवश वे इस देशी शब्द-संग्रह के कार्य में प्रवृत्त हो गये।

देशी शब्दों के संबंध की इन सीमाओं का कोषकार ने बड़ी सावधानी से पालन किया है; जिसका कुछ अनुमान हमें उनकी स्वयं बनाई हुई टीका के अवलोकन

पर से होता है। उदाहरणार्थ; ग्रन्थ के प्रारंभ में ही 'अज्ज' शब्द ग्रहण किया है और उसका प्रयोग 'जिन' के अर्थ में बतलाया है। टीका में प्रश्न उठाया है कि 'अज्ज' तो स्वामी का पर्यायवाची आर्य शब्द से सिद्ध हो जाता है? इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि उसे यहां ग्रन्थ के आदि में मंगलवाची समझकर ग्रहण कर लिया है। १८ वीं गाथा मे 'अविणयवर' शब्द जार के अर्थ में ग्रहण किया गया है। टीका में कहा है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति 'अविनय-वर' से होते हुए भी संस्कृत में उसका यह अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, और इसलिये उसे यहां देशी माना गया है। ६७ वीं गाथा में 'आरणाल' का अर्थ कमल बतलाया गया है। टीका में कहा गया है कि उसका वाचिक अर्थ यहां इसलिये नहीं ग्रहण किया क्योंकि यह संस्कृतोद्भव है। 'आसियम' लोहे के घड़े के अर्थ में बतलाकर टीका में कहा है कि कुछ लोग इसे अयस् से उत्पन्न आयसिक का अपभ्रंश रूप भी मानते हैं, इत्यादि। इन टिप्पणों पर से कोषकार के अपने पूर्वोक्त सिद्धान्त के पालन करने की निरन्तर चिन्ता का आभास मिल जाता है। उनकी संस्कृत टीका में इस प्रकार से शब्दों के स्पष्टीकरण व विवेचन के अतिरिक्त गाथाओं के द्वारा उक्त देशी शब्दों के प्रयोग के उदाहरण भी दिये हैं। ऐसी कुल गाथाओं की संख्या ६३४ पाई जाती है। इनमें ७५ प्रतिशत गाथाएं शृंगारात्मक हैं। लगभग ६५ गाथाएं कुमारपाल की प्रशंसा विषयक हैं, और शेष अन्य। ये सब स्वयं हेमचन्द्र की बनाई हुई प्रतीत होती है। शब्द विवेचन के संबंध में अभिमानचिन्ह, अवन्तिसुन्दरी, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल, पाठोदूखल, पादलिप्ताचार्य, राहुलक, शाम्ब, शीलांक और सातवाहन, इन १२ शास्त्रकारों तथा सारसरदेशी और अभिमानचिन्ह, इन दो देशी शब्दों के सूत्र-पाठों के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देशी शब्दों के अनेक कोष ग्रन्थकार के सम्मुख उपस्थित थे। आदि की दूसरी गाथा की टीका में लेखक ने बतलाया है कि पादलिप्ताचार्य आदि द्वारा विरचित देशी शास्त्रों के होते हुए भी उन्होंने किस प्रयोजन से यह ग्रन्थ लिखा। उपर्युक्त नामों में से धनपाल कृत 'पाइय-लच्छी-नाममाला' कोष तो मिलता है, किन्तु शेष का कोई पता नहीं चलता। टीका में कुछ अवतरण ऐसे भी हैं जो धनपाल कृत कहे गये हैं; किन्तु वे उनकी उपलभ्य कृति में नहीं मिलते। मृच्छकटिक के टीकाकार लाला दीक्षित ने 'देशी-प्रकाश' नामक देशी कोष का अवतरण दिया है, तथा क्रमदीश्वर ने अपने संक्षिप्त-सार में 'देशीसार'नामक देशी कोष का उल्लेख किया है। किन्तु दुर्भाग्यतः ये सब महत्वपूर्ण ग्रन्थ अब नहीं मिलते। देशी-नाममाला के प्रथम सम्पादक डा० पिशल ने इस कोष की उदाहरणात्मक गाथाओं के भ्रष्ट पाठों की बड़ी शिकायत की थी। प्रो० मुरलीधर बनर्जी ने अपने संस्करण में पाठों का

बहुत कुछ संशोधित रूप उपस्थित किया है, किन्तु अनेक गाथाओं के संशोधन की अभी भी आवश्यकता है। कोप में संग्रहीत नामों की संख्या प्रोफे० बनर्जी के अनुसार ३६७८ है, जिनमें वे यथार्थ देशी केवल १५०० मानते हैं। शेप मे १०० तत्सम, १८५० तद्भव और ५२८ संशयात्मक तद्भव शब्द बतलाते हैं। उक्त देशी शब्दों में उनके मतानुसार ८०० शब्द तो भारतीय आर्य भाषाओं मे किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं, किन्तु शेप ७०० के स्रोत का कोई पता नही चलता।

कोश-संस्कृत—

संस्कृत के प्राचीनतम जैन कोपकार धनंजय पाये जाते हैं। इनकी दो रचनाएं उपलब्ध हैं एक नाममाला और दूसरी अनेकार्थनाममाला। इनकी बनाई हुई नाममाला के अन्त में कवि ने अकंलक का प्रमाण, पूज्यपाद का लक्षण (व्याकरण) और द्विसंधान कर्ता अर्थात् स्वयं का काव्य, इस रत्नत्रय को अपूर्व कहा है। इस उल्लेख पर से कोप के रचनाकाल की पूर्वावधि आठवी शती निश्चित हो जाती है। अनेकार्थ नाममाला का 'हेतावेवं प्रकारादि' श्लोक वीरसेन कृत धवला टीका में उद्धृत पाया जाता है, जिसका रचनाकाल शक सं० ७३८ है। इस प्रकार इन कोपों का रचनाकाल ई० सन् ७८०-८१६ के बीच सिद्ध होता है। नाममाला में २०६ श्लोक हैं, और इनमें संग्रहीत एकार्थवाची शब्दों की संख्या लगभग २००० है। कोपकार ने अपनी सरल और सुन्दर शैली द्वारा यथासम्भव अनेक शब्द-समूहों की सूचना थोड़े से शब्दों द्वारा कर दी है। उदाहरणार्थ, श्लोक ५ और ६ में भूमि आदि पृथ्वी के २७ पर्यायवाची नाम गिनाये हैं, और फिर सातवें श्लोक में कहा है—

तत्पर्यायधरः शैलः तत्पर्यायपतिर्नृपः।
तत्पर्यायरुहो वृक्षः शब्दमन्यच्च योजयेत्॥

इस प्रकार इस एक श्लोक द्वारा कोपकार ने पर्वत, राजा, और वृक्ष, इनके २७-२७ पर्यायवाची ८१ नामों की सूचना एक छोटे से श्लोक द्वारा कर दी है। इसी प्रकार १५वें श्लोक में जल के १८ पर्यायवाची नाम गिनाकर १६वें श्लोक में उक्त नामों के साथ चर जोड़कर मत्स्य, द जोड़कर धन, ज जोड़कर पद्म और धर जोड़कर समुद्र, इनके १८-१८ नाम बना लेने की सूचना कर दी है। अनेकार्थ-नाममाला में कुल ४६ श्लोक हैं, जिनमें लगभग ६० शब्दों के अनेक अर्थों का निरूपण किया गया है।

जैन साहित्य के इस संक्षिप्त परिचय से ही स्पष्ट हो जायगा कि उनके द्वारा

भारतीय साहित्य की किस प्रकार परिपुष्टि हुई है। उसका शेष भारतीय धारा से मेल भी है, और भाषा, विषय व शैली संबंधी अपना महान् वैशिष्ट्य भी है जिसको जाने बिना हमारा ज्ञान अधूरा रह जाता है। जैन साहित्य अभी भी न तो पूरा-पूरा प्रकाश में आया और न अवगत हुआ। शास्त्र-भंडारों में सैकड़ों, आश्चर्य नहीं सहस्त्रों, ग्रंथ अभी भी ऐसे पड़े हैं जो प्रकाशित नहीं हुए, व जिनके नाम का भी पता नहीं है। प्रकाशित साहित्य के भी आलोचनात्मक अध्ययन, अनुवादादि के क्षेत्र में विद्वानों के प्रयास के लिये पर्याप्त अवकाश है।

जिन प्राकृत भाषाओं—अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश-का उल्लेख जैन साहित्य के परिचय में यथास्थान किया व स्वरूप समझाया गया है उनके कुछ साहित्यिक अवतरण अनुवाद सहित यहां प्रस्तुत किये जाते हैं।

अवतरण—१

अर्धमागधी प्राकृत

पुच्छिंसु णं समणा माहणा य अगारिणो य परतित्थिया य।
से केइ नेगन्तहियं धम्ममाहु अणेलिसं साहु समिक्खयाए ॥१॥
कहं च नाणं कह दंसणं से सीलं कहं नायसुयस्स आसि।
जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं अहासुयं बूहि जहा निसंतं ॥२॥
खेयन्नए से कुसलासुपन्ने अनन्तनाणी य अनन्तदंसी।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥३॥
उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा।
से निच्चनिच्चेहि समिक्ख पन्ने दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥४॥
से सव्वदंसी अभिभूयनाणी निरामगंधे धिइमं ठियप्पा।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं गंथा अईए अभए अणाऊ ॥५॥
से भूइपन्ने अणिएअचारी ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू।
अणुत्तरं तप्पइ सूरिए वा वइरोयणिंदे व तमं पणासे ॥६॥

(सूयगडं, १, ६, १-६)

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२॥
णागफणीए मूलं णाइणि-तोएण गब्भणागेण।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण ॥३॥
कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥४॥
झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहिं ॥५॥
भुज्जंतस्स वि दव्वे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये विविहे।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्हगो कादु ॥६॥
तह णाणिस्स दु विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुज्जंतस्स वि णाणं णवि सक्कदि रागदो(णाणदो) णेदुं ॥७॥

(कुन्दकुन्दः समयसार २२९-२३५)

(अनुवाद)

ज्ञानी सब द्रव्यों के राग को छोड़कर कर्मों के मध्य में रहते हुए भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता, जैसे कर्दम के बीच सुवर्ण। किन्तु अज्ञानी समस्त द्रव्यों में रक्त हुआ कर्मों के मध्य पहुंच कर कर्म-रज से लिप्त होता है, जैसे कर्दम में पड़ा लोहा। नागफणी का मूल, नागिनी तोय गर्भनागसे मिश्रित कर (लोहे को) भस्त्रिका की धौंकने अग्नि में तपाने पर शुद्ध सुवर्ण बन जाता है। कर्म कीट है, और रागादि विभाव उसकी कालिमा। इनको दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही परम औषधि जानना चाहिये। ध्यान अग्नि है, तपश्चरण धौंकनी (भस्त्रिका) कहा गया है। जीव लोहा है जो परम योगियों द्वारा धौंका जाता है, (और इस प्रकार परमात्मा रूपी सुवर्ण-बना लिया जाता है)। सचित्त, अचित्त, व मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से भी शंख की सफेदी काली नहीं की जा सकती। उसी प्रकार ज्ञानी के सचित्त, अचित्त व मिश्र रूप विविध द्रव्यों का उपभोग करने पर भी राग द्वारा उसके ज्ञान स्वभाव का अपहरण नहीं किया जा सकता (अर्थात् ज्ञान को अज्ञान रूप परिणत नहीं किया जा सकता)।

अवतरण—४

शौरसेनी प्राकृत

जीवो णाणसहावो जह अग्गी उण्हवो सहावेण।
अत्थंतर-भूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ॥१॥
जदि जीवादो भिण्णं सव्व-पयारेण हवदि तं णाणं।
गुण-गुणि-भावो य तहा दूरेण पणस्सदे दुण्हं ॥२॥
जीवस्स वि णाणस्स वि गुणि-गुण-भावेण कीरए भेओ।
जं जाणदि तं णाणं एवं भेओ कहं होदि ॥३॥
णाणं भूय-वियारं जो मण्णदि सो वि भूद-गहिदव्वो।
जीवेण विणा णाणं किं केण वि दीसदे कत्थ ॥४॥
सच्चेयण-पच्चक्खं जो जीवं णेव मण्णदे मूढो।
सो जीवं ण मुणंतो जीवाभावं कहं कुणदि ॥५॥
जदि ण य हवेदि जीवो ता को वेदेदि सुक्ख-दुक्खाणि।
इंदिय-विसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ॥६॥
सकप्प-मओ जीवो सुह-दुक्खमयं हवेइ संकप्पो।
तं चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥७॥
देह-मिलिदो हि जीवो सव्व-कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
तम्हा पवट्टमाणो एयत्तं बुज्झदे दोण्हं ॥८॥

(कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, १७८-१८५)

(अनुवाद)

जीव ज्ञान स्वभावी है, जैसे अग्नि स्वभाव से ही उष्ण है। ऐसा नहीं है कि किसी पदार्थान्तर रूप ज्ञान के संयोग से जीव ज्ञानी बना हो। यदि ज्ञान सर्वप्रकार से जीव से भिन्न है, तो उन दोनों का गुणगुणी भाव सर्वथा नष्ट हो जाता है (अर्थात् उनके बीच गुण और गुणी का संबंध नहीं बन सकता)। जीव और ज्ञान के बीच यदि गुणी और गुण के भाव से भेद किया जाय, तो जब जो जानता है वही ज्ञान है, यह ज्ञान का स्वरूप होने पर दोनों में भेद कैसे बनेगा? जो ज्ञान को भूत-विकार (जड़तत्त्व का

रूपान्तर) मानता है, वह स्वयं भूत-गृहीत (पिशाच से प्राविष्ट) है, ऐसा समझना चाहिये। क्या किसी ने कहीं जीव के बिना ज्ञान को देखा है? जीव के स्वचेतन (स्वसंवेदन) प्रत्यक्ष होने पर भी जो मूर्ख उसे नहीं मानता, वह जीव नहीं है, ऐसा विचार करता हुआ, जीव का अभाव कैसे स्थापित कर सकता है? (अर्थात् वस्तु के सद्भाव या अभाव का विचार करना, यही तो जीव का स्वभाव है)। यदि जीव नहीं तो सुख और दुःख का वेदन कौन करता है, एवं समस्त इन्द्रियों के विषयों को विशेष रूप से कौन जानता है? जीव संकल्पमय है, और संकल्प सुख-दुःख मय है। उसी को सर्वत्र देह से मिला हुआ जीव वेदन करता है। क्योंकि देह से मिला हुआ जीव ही समस्त कर्म करता है, इसीकारण दोनों में प्रवर्तमान एकत्व दिखाई देता है।

अवतरण—५

महाराष्ट्री प्राकृत

एए रिवू महाजस, जिणमि अहं न एत्थ संदेहो।
वच्च तुमं अइतुरिओ, कन्तापरिरक्खणं कुणसु ॥१॥
एव भणिओ णियत्तो, तूरन्तो पाविओ तमुद्देसं।
न य पेच्छइ जणयसुयं, सहसा ओमुच्छिओ रामो ॥२॥
पुणरवि य समासत्थो, दिट्ठी निक्खिवइ तत्थ तरुगहणे।
घणपेम्माउलहियओ, भणइ तओ राहवो वयणं ॥३॥
एहेहि इओ सुन्दरि, वाया मे देहि, मा चिरावेहि।
दिट्ठा सि रुक्खगहणे, किं परिहासं चिरं कुणसि ॥४॥
कन्ताविओगदुहिओ, तं रण्णं राहवो गवेसन्तो।
पेच्छइ तओ जडागिं, केकायन्तं महिं पडियं ॥५॥
पक्खिस्स कण्णजावं, देइ मरन्तस्स सुहयजाएणं।
मोत्तूण पूइदेहं, तत्थ जडाऊ सुरो जाओ ॥६॥
पुणरवि सरिऊण पियं, मुच्छा गन्तूण तत्थ आसत्थो।
परिभमइ गवेसन्तो, सीयासीयाकउल्लावो ॥७॥

भो भो मत्त महागय, एत्थारण्णे तुमे भमन्तेणं ।
महिला सोमसहावा, जइ दिट्ठा किं न साहेहि ॥८॥
तरुवर तुमं पि वच्चसि, दूरुन्नयवियडपत्तलच्छाय ।
एत्थं अपुव्वविलया, कह ते नो लक्खिया रण्णे ॥९॥
सोऊण चक्कवाई, वाहरमाणी सरस्स मज्झत्था ।
महिलासंकाभिमुहो, पुणो वि जाओ च्चिय निरासो ॥१०॥

(पउमचरियं, ४४, ५०-५९)

(अनुवाद)

(रावण के सिंहनाद को लक्ष्मण का समझकर जब राम खरदूषण की युद्ध भूमि में पहुंचे, तब उन्हें देख लक्ष्मण ने कहा)—हे महायश, इन शत्रुओं को जीतने के लिये तो मैं ही पर्याप्त हूं, इसमें संदेह नहीं; आप अतिशीघ्र लौट जाइये और सीता का परिरक्षण कीजिये। लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर राम वहां से लौटे, और जल्दी-जल्दी अपनी कुटी पर आये; किन्तु उन्हें वहां जनक-सुता दिखाई न दी। तब वे सहसा मूर्च्छित हो गये। फिर चेतना जागृत होने पर वे वृक्षों के वन में अपनी दृष्टि फेंकने लगे, और सघन प्रेम से व्याकुल हृदय हो कहने लगे—हे सुंदरी, जल्दी यहां आओ, मुझसे बोलो, देर मत करो; मैंने तुम्हें वृक्षों की बीहड़ में देख लिया है, अब देर तक परिहास क्यों कर रही हो? कान्ता के वियोग में दुखी राघव ने उस अरण्य में ढूंढ़ते-ढूंढ़ते जटायु को देखा, जो पृथ्वी पर पड़ा तड़फड़ा रहा था। राम ने उस मरते हुए पक्षी के कान में णमोकार मंत्र का जाप सुनाया। उस शुभयोग से जटायु अपने उस अशुचि देह को छोड़कर देव हुआ। राम फिर भी प्रिया का स्मरण कर मूर्च्छित हो गये, व आश्वस्त होने पर–हाय सीता, हाय सीता, ऐसा प्रलाप करते हुए उनकी खोज में परिभ्रमण करने लगे। हाथी को देखकर वे कहते हैं—हे मत्त महागज, तुमने इस अरण्य में भ्रमण करते हुए एक सौम्य-स्वभाव महिला को यदि देखा है, तो मुझे बतलाते क्यों नहीं? हे तरुवर, तुम तो खूब उन्नत हो, विकट हो और पत्रों की छाया युक्त हो; तुमने यहां कहीं एक अपूर्व स्त्री को देखा हो तो मुझे कहो? राम ने सरोवर के मध्य से चकवी की ध्वनि सुनी, वे वहां अपनी पत्नी की शंका (आशा) से उस ओर बढ़े, किन्तु फिर भी वे निराश ही हुए।

अवतरण—६

महाराष्ट्री प्राकृत

जत्थ चुलुक्क-निवाणं परिमल-जम्मो जसो कुसुम-दामं ।
महमिव सव्व-गम्रो दिस-रमणीए सिराई सुरहेइ ॥१॥
सव्व-वयाणं मज्झिम-वयं व सुमणाण जाइ-सुमणं व ।
सम्माण मुत्ति-सम्मं व पुहइ-नयराण जं सेयं ॥२॥
चम्मं जाण न अच्छी णाणं अच्छीइँ ताण वि मुणीण ।
विअसन्ति जत्थ नयणा किं पुण अन्नाण नयणाइं ॥३॥
गुरुणो वयणा वयणाइं ताव माहप्पमवि य माहप्पो ।
ताव गुणाइ पि गुणा जाव न जस्सिं बुहे निमइ ॥४॥
हरि-हर-विहिणो देवा जत्थन्नाइँ वसन्ति देवाइं ।
एयाए महिमाए हरिम्रो महिमा सुर-पुरीए ॥५॥
जत्थञ्जलिणा कणयं रयणाइँ वि अञ्जलीइ देइ जणो ।
कणय-निही अक्खीणो रयण-निही अक्खया तह वि ॥६॥
तत्थ सिरि-कुमारवालो बाहाए सव्वम्रो वि धरिम्र-धरो ।
सुपरिट्ठ-परीयारो सुपइट्ठो आसि राइन्दो ॥७॥

(कुमारपाल-चरित, १, २२-२८)

(अनुवाद)

उस अणहिलपुर नगर में चालुक्य-वंशी राजाओं का यश आकाश की समस्त दिशाओं में ऐसा फैल रहा था, जैसे मानों दिशा रूपी रमणियों के मस्तकों को उनके जूड़े की पुष्पमाला का परिमल सुगंधित कर रहा हो। जैसे सब वयों में मध्यम-वय (यौवन), पुष्पों में चमेली का पुष्प व सुखों में मोक्ष का सुख श्रेष्ठ माना गया, उसी प्रकार पृथ्वी भर के नगरों में अणहिलपुर श्रेष्ठ था। जिनके चर्म चक्षु नहीं हैं, केवल ज्ञान रूपी आंखें हैं, ऐसे मुनियों के नेत्र भी उस नगर को देखने के लिये विकसित हो उठते थे, दूसरों के नेत्रों की तो बात ही क्या? गुरु (बृहस्पति) के वचन तभी तक वचन थे, माहात्म्य भी तभी तक माहात्म्य था, और गुण भी तभी तक गुण थे, जब तक किसी ने इस नगरी के विद्वानों को नहीं देखा। यहां विष्णु, महादेव, ब्रह्मा एवं

अन्य भी अनेक देवता निवास करते थे, जिससे इसकी महिमा ने (एकमात्र इन्द्रदेव वाली) सुर-पुरी की महिमा को तिरस्कृत किया था। यहां लोग अंजलि भरभर कर सुवर्ण और रत्न दान करते थे, तो भी उनके सुवर्ण और रत्नों की निधियां अक्षय बनी हुई थी। ऐसे उस अनहिलपुर नगर में अपने बाहु पर समस्त धरा को धारण किये हुए सुप्रतिष्ठ परिवार सहित राजेन्द्र श्री कुमारपाल सुप्रतिष्ठित थे।

अवतरण—७

अपभ्रंश

सहुं दोहिं मि गेहणिहिं तुरंगें सहुं वीरेण तेण मायंगें।
गउ झसचिंधु णवर कस्सीरहो कस्सीरय-परिमिलियसमीरहो।
कस्सीरउ पट्टणु संपाइउ चामरछत्तभिच्चरह - राइउ।
णंदु राउ सवडंमुहुं आइउ णारिहे पेम्मजरुल्लउ लाइउ।
का वि कंत झूरवइ दुचित्ती का वि अणंगपलोयणे रत्ती।
पाएं पडइ मूढ़ जामायहो धोयइ पाय घएं घरु आयहो।
घिवइ तेल्लु पाणिउ मण्णेप्पिणु कुट्टु देइ छुडु दारु भणेप्पिणु।
अइ अण्णमण डिंभु चिंतेप्पिणु गय मज्जारयपिल्लउ लेप्पिणु।
धूवइ खीरु का वि जलु मथइ का वि असुत्तउ मालउ गुंथइ।
ढोयइ सुहयहो सुहइं जणेरी भासइ हउं पिय दासि तुहारी।

(णायकुमारचरिउ-५, ८, ६-१५)

(अनुवाद)

नागकुमार अपनी दोनों गृहिणियों, घोड़े, और उस व्याल नामक वीर के साथ उस काश्मीर देश को गया जहां का पवन केशर की गंध से मिश्रित था। काश्मीर-पट्टण में पहुंचने पर वहां का राजा नंद चंवर, छत्र, सेवक व रथादि से विराजमान स्वागत के लिए सम्मुख आया। उधर नगर-नारियों को प्रेम का ज्वर चढ़ा। कोई कान्ता दुविधा में पड़ी झूरने लगी, और कोई उस कामदेव के अवतार नागकुमार के दर्शन में तल्लीन हो गई। कोई मूढ़ अवस्था में अपने घर आये हुए जामाता के पांव पड़कर उन्हें घृत से धोने लगी। पानी के धोखे पीने के लिये तेल ले आई, और पान में कत्थे

की जगह लकड़ी का बुरादा डाल दिया। कोई प्रति मन्मनरका बालक समझकर बिल्ली के पिल्ले को उठाकर ले चली। कोई मट्ठा समझकर दूध को ही धूमायित करती थी। कोई जल को ही दूध समझकर मथने लगी, और कोई बिना सूत के माला गूंथने लगी। कोई सुभग नागकुमार के पास जाकर सुख की इच्छा से कहने लगी—हे प्रिय, मैं तुम्हारी दासी हूं।

अवतरण—८

अपभ्रंश

तं तेहउ धणकंचणपउरु दिट्ठु कुमारि वरणयरु।
सियवंतु वियणु विच्छायमइवि णं विणु णीरि कमलसरु॥
तं पुर पविस्समाणएण तेण दिट्ठयं।
तं ण तित्थु किं पि जं ण लोयणाण इट्ठयं॥१॥
वाविकूवमुप्पहूवमुप्पसण्णवण्णयं।
मढविहारदेहुरेहिं सुट्ठु तं रवण्णयं॥२॥
देवमंदिरेसु तेसु अंतरं णियच्छए।
सो ण तित्थु जो कयाइ पुज्जिऊण पिच्छए॥३॥
सुरहिगंधपरिमलं पमूमएहिं फंसए।
सो ण तित्थु जो करेण गिण्हिऊण वासए॥४॥
पिक्कसालिधण्णयं पणट्ठयम्मि ताणए।
सो ण तित्थु जो घरम्मि लेवि तं पराणए॥५॥
सरवरम्मि पंकयाइं भमिरभमरकंदिरे।
सो ण तित्थु जो सुहेवि णेइ ताइं मंदिरे॥६॥
हट्टमग्गिज्जवरफलाइं विमएण पिक्कए।
केण कारणेण को वि सोडिउं ण भक्खए॥७॥
पिच्छिऊण परघणाइं सुन्भए ण लुब्भए।
अप्पणम्मि धण्णए वियण्णए गुणित्तए॥८॥
(भविसयत्तकहा-४, ७,)

(अनुवाद)

भविष्यदत्त कुमार ने उस धनकंचन से पूर्ण समृद्ध नगर को निर्जन होने के कारण ऐसा शोभाहीन देखा, जैसे मानों जलरहित कमल-सरोवर हो। कुमार ने नगर में प्रवेश किया, और देखा कि वहां ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो लोचनों को इष्ट न हो। वापी और कूप वहां खूब स्वच्छ जल से पूर्ण थे। मठों, विहारों व देवगृहों से नगर खूब रमणीक था। उसने देवालयों में प्रवेश किया, किन्तु वहां उसे ऐसा कोई नहीं दिखाई दिया जो पूजा करना चाहता हो। फूलों की खूब सुगंध आ रही थी; किन्तु वहां ऐसा कोई नहीं था,जो उन्हें हाथसे तोड़कर सूघना चाहे। पकाहुआ शालिधान्य खेतोंमेंही नष्ट हो रहा था, कोई उन्हें बचाकर घर ले जाने वाला वहां नहीं था। सरोवर में भौंरों के भ्रमण और गुजार से युक्त कमल विद्यमान थे, किन्तु वहां कोई ऐसा नही था, जो उन्हें तोड़कर मंदिर में ले जावे। उसने विस्मय से देखा कि वहां उत्तम फल लगे हैं, जो हाथ से ही तोड़े जा सकते हैं; किन्तु न जाने किस कारण से कोई उन्हें तोड़कर नहीं खाता। वहां पराये धन को देखकर क्षुब्ध या लुब्ध होने वाला कोई नहीं था। नगर की ऐसी निर्जन अवस्था देखकर कुमार अपने आप में विकल्प और चिन्तन करने लगा।

व्याख्यान—३

जैन दर्शन

तत्व-ज्ञान—

समस्त जैनदर्शन का परिचय संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है। विश्व के मूल में जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्व हैं। इनका परस्पर संपर्क पाया जाता है, और इस संपर्क के द्वारा ऐसे बन्धनों या शक्तियों का निर्माण होता है, जिनके कारण जीव को नाना प्रकार की दशाओं का अनुभव होता है। यदि यह संपर्क की धारा रोक दी जाय, और उत्पन्न हुए बन्धनों को जर्जरित या विनष्ट कर दिया जाय, तो जीव अपनी शुद्ध, बुद्ध व मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकता है। ये ही जैन दर्शन के सात तत्व हैं, जिनके नाम हैं-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव और अजीव, इन दो प्रकार के तत्वों का निरूपण जैन तत्वज्ञान का विषय है। आस्रव और बंध का विवेचन जैन कर्म-सिद्धान्त मे आता है, और वही उसका मनोविज्ञान-शास्त्र है। संवर और निर्जरा चारित्र विषयक हैं, और यही जैन धर्म गत आचार-शास्त्र कहा जा सकता है, तथा मोक्ष जैन-धर्मानुसार जीवन की वह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है जिसे प्राप्त करना समस्त धार्मिक क्रिया व आचरण का अन्तिम ध्येय है। यहां जैन दर्शन की इन्हीं मुख्य शाखाओं का क्रमशः परिचय व विवेचन करने का प्रयत्न किया जाता है।

जीव तत्व—

संसार में नाना प्रकार की वस्तुओं और उनकी अगणित अवस्थाओं का दर्शन होता है। दृश्यमान समस्त पदार्थों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता

जीव के और भी अनेक गुण हैं। उसमें कर्तृत्व-शक्ति है, और उपभोग का सामर्थ्य भी। वह अमूर्त है; और जिस शरीर में वह रहता है उसके समस्त अंग-प्रत्यंगों को व्याप्त किये रहता है—

> जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो।
> भोत्ता संसारत्थो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई॥
>
> (द्रव्यसंग्रह, गा०-२)

संसार में इसप्रकार के जीवों की संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर में विद्यमान जीव अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है, और उस अस्तित्व का कभी संसार में या मोक्ष में विनाश नहीं होता। इस प्रकार जीव के संबंध में जैन विचारधारा वेदान्त दर्शन से भिन्न है, जिसके अनुसार ब्रह्म एक है, और उसका दृश्यमान अनेकत्व सत्य नहीं, माया-जाल है।

जैन दर्शन में संसारवर्ती अनन्त जीवों को दो भागों में विभाजित किया गया है—साधारण और प्रत्येक। प्रत्येक जीव वे हैं, जो एक-एक शरीर में एक-एक रहते हैं, और वे इन्द्रियों के भेदानुसार पांच प्रकार के हैं—एकेन्द्रिय जीव वे हैं जिनके एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय होती है। इनके पांच भेद हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। स्पर्श और रसना जिन जीवों के होता है, वे द्वीन्द्रिय हैं, जैसे लट आदि। इसी प्रकार चींटी वर्ग के स्पर्श, रसना और घ्राण युक्त प्राणी त्रीन्द्रिय, भ्रमरवर्ग के नेत्र सहित चतुरिन्द्रिय, एवं शेष पशु, पक्षी व मनुष्य वर्गों के श्रोत्रेन्द्रिय सहित पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर और द्वीन्द्रियादि इतर सब जीवों को त्रस संज्ञा दी गई है। इन एक-एक शरीर-धारी वृक्षादि समस्त प्राणियों के शरीरों में ऐसे साधारण जीवों की सत्ता मानी गई है, जिनको आहार, श्वासोच्छ्वास आदि जीवन-क्रियाएं सामान्य अर्थात् एक साथ होती है। उन के इस सामान्य शरीर को निगोद कहते हैं, और प्रत्येक निगोद में एक साथ जीने व मरने वाले जीवों की संख्या अनन्त मानी गई है—

> एग-णिगोद-सरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
> सिद्धेहि अनन्तगुणा, सव्वेण [illegible] ॥
>
> [illegible] जी० १९४)

इन निगोदवर्ती जीवों [illegible] अत्यन्त [illegible] यहां तक कि एक श्वासोच्छ्वास काल में उनका [illegible] जीवन [illegible] है। यही वह जीवों की अनन्त राशि है। [illegible]

व मुक्त जीवों के संसार से निकलते जाने पर भी संसारी जीवनधारा को अनन्त बनाये रखते हैं। इस प्रकार के साधारण जीवों की मान्यता जैन सिद्धान्त की अपनी विशेषता है। अन्य दर्शनों में इस प्रकार की कोई मान्यता नहीं पाई जाती। वर्तमान वैज्ञानिक मान्यतानुसार एक मिलीमीटर ($\frac{1}{25}''$)प्रमाण रक्त में कोई ५० लाख जीवकोष(सेल्स) गिने जा चुके हैं। आश्चर्य नहीं जो जैन दृष्टाओं ने इसी प्रकार के कुछ ज्ञान के आधार पर उक्त निगोद जीवों का प्ररूपण किया हो। उक्त समस्त जीवों के शरीरों को भी दो प्रकार का माना गया है--सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म शरीर वह है जो अन्य किसी भी द्रव्य से बाधित नहीं होता, और जो बाधित होता है, वह बादर (स्थूल) शरीर कहा गया है। पूर्वोक्त पंचेन्द्रिय जीवों के पुनः दो भेद किये गये हैं—एक संज्ञी अर्थात् मन सहित, और दूसरे असंज्ञी अर्थात् मनरहित।

इन समस्त संसारी जीवों की दृश्यमान दो गतियां मानी गई हैं--एक मनुष्यगति और दूसरी पशु-पक्षि आदि सब इतर प्राणियों की तिर्यंचगति। इनके अतिरिक्त दो और गतियां मानी गयी हैं—एक देवगति और दूसरी नरकगति। मनुष्य और तिर्यंच गति-वाले पुण्यवान् जीव अपने सत्कर्मों का सुफल भोगने के लिये देवगति प्राप्त करते हैं, और पापी जीव अपने दुष्कर्मों का दंड भोगने के लिये नरक गति में जाते हैं। जो जीव पुण्य और पाप दोनों से रहित होकर वीतराग भाव और केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे संसार की इन चारों गतियों से निकल कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। संसारी जीवों की शरीर-रचना में भी विशेषता है। मनुष्य और तिर्यंचों का शरीर औदारिक अर्थात् स्थूल होता है, जिसमें उसी जीवन के भीतर कोई विपरिवर्तन संभव नहीं। किन्तु देवों और नरकवासी जीवों का शरीर वैक्रियिक होता है, अर्थात् उसमें नाना प्रकार की विक्रिया या विपरिवर्तन संभव है। इन शरीरों के अतिरिक्त संसारी जीवों के दो और शरीर माने गये हैं—तैजस और कार्मण। ये दोनों शरीर समस्त प्राणियों के सदैव विद्यमान रहते हैं। मरण के पश्चात् दूसरी गति में जाते समय भी जीव से इनका संग नहीं छूटता। तैजस शरीर जीव और पुद्गल प्रदेशोंमें संयोग स्थापित किये रहता है, तथा कार्मण शरीर उन पुद्गल परमाणुओं का पुंज होता है, जिन्हें जीव निरन्तर अपने मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा संचित करता रहता है। इन दो शरीरों को हम जीव का सूक्ष्म शरीर कह सकते हैं। इन चार शरीरों के अतिरिक्त एक और विशेष प्रकार का शरीर माना गया है, जिसे आहारक शरीर कहते हैं। इसका निर्माण ऋद्धिधारी मुनि अपनी शंकाओं के निवारणार्थ दुर्गम प्रदेशों में विशेष ज्ञानियों के पास जाने के लिये अथवा तीर्थवन्दना के हेतु करते हैं।

शरीरधारी संसारी जीव अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न लिंगधारी होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के तिर्यंच एवं नारकी जीव नियम से नपुंसक होते हैं। पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच पुरुष-वेदी, स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदी तीनों प्रकार के होते हैं। देवों में नपुंसक नहीं होते। उनके केवल देव और देवियां, ये दो ही भेद हैं।

जीवों का शरीरधारण रूप जन्म भी नानाप्रकार से होता है। मनुष्य व तिर्यंच जीवों का जन्म दो प्रकार से होता है—गर्भ से या सम्मूर्छन से। जो प्राणी माता के गर्भ से जरायु-युक्त अथवा अंडे या पोत (जरायु रहित अवस्था) रूप में उत्पन्न होते हैं, वे गर्भज हैं, और जो गर्भ के विना बाह्य संयोगों द्वारा शीत उष्ण आदि अवस्थाओं में जीवों की उत्पत्ति होती है, उसे संमूर्छन जन्म कहते हैं। देव और नारकी जीवों की उत्पत्ति उक्त दोनों प्रकारों से भिन्न उपपाद रूप बतलाई गई है।

अजीव तत्व—

अजीव द्रव्यों के पांच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें रूपवान् द्रव्य पुद्गल है, और शेष सब अरूपी हैं। जितने भी मूर्तिमान् पदार्थ विश्व में दिखाई देते हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य के ही नाना रूप हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चारों तत्व, तथा वृक्षों, पशु-पक्षी आदि जीवों व मनुष्यों के शरीर, ये सब पुद्गल के ही रूप हैं। पुद्गल का सूक्ष्मतम रूप परमाणु है, जो अत्यन्त लघु होने के कारण इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता। अनेक परमाणुओं के संयोग से उनमें परिमाण उत्पन्न होता है; और उनमें स्पर्श, रस, गंध व वर्ण—ये चार गुण प्रकट होते हैं, तभी वह पुद्गल-स्कन्ध (समूह) इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, अन्धकार, छाया, व प्रकाश, ये सब पुद्गल द्रव्य के ही विकार माने गये हैं। पुद्गलों का स्थूलतम रूप महान् पर्वतों व पृथिवियों के रूप में दिखाई देता है। इनसे लेकर सूक्ष्मतम परम-परमाणुओं तक पुद्गल द्रव्य के असंख्यात भेद और रूप पाये जाते हैं। पुद्गल स्कन्धों का भेद और संघात निरन्तर होता रहता है। और इसी पूरण व गलन के कारण इसका पुद्गल नाम सार्थक होता है। पुद्गल शब्द का उपयोग जैन सिद्धान्त के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों में भी पाया जाता है, किन्तु वहां उसका अर्थ केवल शरीरी जीवों से है। अचेतन जड़ पदार्थों के लिये वहां पुद्गल शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता।

धर्म-द्रव्य—

दूसरा अजीवद्रव्य धर्म है। यह अरूपी है, और समस्त लोक में व्याप्त है। इसी

द्रव्य की व्याप्ति के कारण जीवों व पुद्गलों का एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन सम्भव होता है, जिसप्रकार कि जल मछली के गमनागमन का माध्यम बनता है। इस प्रकार 'धर्म' शब्द का यह प्रयोग शास्त्रीय है, और उसकी नैतिक आचरण आदि अर्थवाचक 'धर्म' से भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये।

अधर्म-द्रव्य—

जिसप्रकार धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों के स्थानान्तरण रूप गमनागमन का माध्यम है, उसीप्रकार अधर्म-द्रव्य चलायमान पदार्थ के रुकने में सहायक होता है, जिसप्रकार कि वृक्ष की छाया श्रान्त पथिक को रुकने में निमित्त होती है।

आकाश-द्रव्य—

चौथा अजीवद्रव्य आकाश है, और उसका गुण है—जीवादि अन्य सब द्रव्यों को अवकाश प्रदान करना। आकाश अनन्त है; किन्तु जितने आकाश में जीवादि अन्य द्रव्यों की सत्ता पाई जाती है वह लोकाकाश कहलाता है, और वह सीमित है। लोकाकाश से परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है, उसे अलोकाकाश कहा गया है। उसमें अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व न है, और न हो सकता; क्योंकि वहां गमनागमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है। आकाश द्रव्य का अस्तित्व सभी दर्शनों तथा आधुनिक विज्ञान को भी मान्य है। किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्यों की कल्पना जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। द्रव्य की आकाश में स्थिति होती है, गमन होता है और रुकावट भी होती है। सामान्यतः ये तीनों अर्थक्रियाएं आकाश गुण द्वारा ही सम्भव मानी जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म विचारानुसार एक द्रव्य द्वारा अपने शुद्ध रूप में एक ही प्रकार की क्रिया सम्भव मानी जा सकती है। विशेषतः जब ये क्रियाएं परस्पर कुछ विभिन्नता को लिये हुए हों, तब हमें यह मानना ही पड़ेगा कि उनके कारण व साधनभूत द्रव्य भिन्न भिन्न होंगे। इसी विचारधारानुसार लोकाकाश में उक्त तीन अर्थ-क्रियाओं के साधनरूप तीन पृथक्-पृथक् द्रव्य अर्थात् आकाश, धर्म और अधर्म की कल्पना की गई है। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों का एक ऐसा भी मत है कि आकाश में जहांतक भौतिक तत्वों की सत्ता पाई जाती है, उसके परे उनके गमन में वह आकाश रुकावट उत्पन्न करता है। जैन सिद्धान्तानुसार यह परिस्थिति इस कारण उत्पन्न होती है, क्योंकि उस अलोकाकाश में गमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है।

काल-द्रव्य—

पांचवां अजीव द्रव्य काल है, जिसका स्वरूप दो प्रकार से निरूपण किया गया है—एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहारकाल। निश्चयकाल अपनी द्रव्यात्मक सत्ता रखता है, और वह धर्म और अधर्म द्रव्यों के समान समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। तथापि उक्त समस्त द्रव्यों से उसकी अपनी एक विशेषता यह है कि वह उनके समान अस्तिकाय अर्थात् बहुप्रदेशी नहीं है, उसके एक-एक प्रदेश एकत्र रहते हुए भी अपने-अपने रूप में पृथक् हैं; जिसप्रकार कि एक रत्नों की राशि, अथवा बालुकापुंज, जिसका एक-एक कण पृथक्-पृथक् ही रहता है, और जल या वायु के समान एक काय निर्माण नहीं करता। ये एक-एक काल-प्रदेश समस्त पदार्थों में व्याप्त हैं, और उनमें परिणमन अर्थात् पर्याय-परिवर्तन किया करते हैं। पदार्थों में क्रमरूप सूक्ष्मतम विपरिवर्तन होने में अथवा पुद्गल के एक परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने के लिये जितना अध्वान या अवकाश लगता है, वह व्यवहार काल का एक समय है। ऐसे असंख्यात समयों की एक आवलि, संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास, सात उच्छ्वासों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, ३८½ लवों की एक नाली, २ नालियों का एक मुहूर्त और ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है। अहोरात्र को २४ घंटे का मानकर उक्त क्रम से १ उच्छ्वास का प्रमाण एक सेकंड का २८८०/३७७३ वां भाग अर्थात् लगभग ३/४ सेकंड होता है। इसीके अनुसार एक मिनट में उच्छ्वासों की संख्या ७८·६ आती है, जो आधुनिक वैज्ञानिक व प्रायोगिक मान्यता के अनुसार ही है। आवलि व समय का प्रमाण सेकन्ड से बहुत अधिक सूक्ष्म सिद्ध होता है। अहोरात्र से अधिक की कालगणना -पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत आदि क्रम से अचलप्र तक की गई है जो ८४ को ८४ से ३१ बार गुणा करने के बराबर आती है। ये सब संख्यात-काल के भेद हैं, जिसका उत्कृष्ट प्रमाण इससे कई गुणा बड़ा है। तत्पश्चात् असंख्यात-काल प्रारम्भ होता है, और उसके भी जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट भेद बतलाये गये हैं। उसके ऊपर अनन्तकाल का प्ररूपण किया गया है, और उसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद बतलाये गये हैं। जिसप्रकार यह व्यवहार-काल का प्रमाण उत्कृष्ट अनन्त (अनन्तानन्त) तक कहा गया है, उसी प्रकार आकाश के प्रदेशों का, समस्त द्रव्यों के अविभागी प्रतिच्छेदों का, एवं केवल ज्ञानी के ज्ञान का प्रमाण भी अनन्तानन्त कहा गया है।

द्रव्यों के सामान्य लक्षण—

जैन दर्शनानुसार ये ही जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल नामक छह मूलद्रव्य हैं, जिनसे विश्व के समस्त सत्तात्मक पदार्थों का निर्माण हुआ है। इस निर्माण मे जो वैचित्र्य दिखलाई देता है यह द्रव्य की अपनी एक विशेपता के कारण सम्भव है। द्रव्य वह है जो अपनी सत्ता रखता है (सद् द्रव्य-लक्षणम्)। किन्तु जैन सिद्धान्त मे सत् का लक्षण वेदान्त के समान कूटस्थ-नित्यता नही माना गया। यहां सत्का स्वरूप यह बतलाया गया है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इन तीनों लक्षणों से युक्त हो (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्)। तदनुसार उक्त सत्तात्मक द्रव्यों में प्रतिक्षण कुछ न कुछ नवीनता आती रहती है, कुछ न कुछ क्षीणता होती रहती है, और इस पर भी एक ऐसी स्थिरता भी बनी रहती है जिसके कारण वह द्रव्य अपने द्रव्य-स्वरूप से च्युत नही हो पाता। द्रव्य की यह विशेपता उसके दो प्रकार के धर्मों के कारण सम्भव है। प्रत्येक द्रव्य गुणों और पर्यायों से युक्त है (गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्) गुण वस्तु का वह धर्म है, जो उससे कभी पृथक् नहीं होता, और उसकी ध्रुवता को सुरक्षित रखता है। किन्तु पर्याय द्रव्य का एक ऐसा धर्म है जो निरन्तर बदलता है, और जिसके कारण उसके स्वरूप में सदैव कुछ नवीनता और कुछ क्षीणता रूप परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ—सुवर्ण धातु के जो विशेष गुरुत्व आदि गुण हैं, वे कभी उससे पृथक् नही होते। किन्तु उसके मुद्रा, कुंडल, कंकरण आदि आकार व संस्थान रूप पर्याय बदलते रहते हैं। इसप्रकार दृश्यमान जगत् के समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का परिपूर्ण निरूपण जैन दर्शन में पाया जाता है; और उसमें अन्य दर्शनों में निरूपित द्रव्य के आंशिक स्वरूप का भी समावेश हो जाता है। जैसे, बौद्ध दर्शन में समस्त वस्तुओं को क्षणध्वंसी माना गया है, जो जैन दर्शनानुसार द्रव्य मे निरन्तर होनेवाले उत्पाद-व्यय रूप धर्मों के कारण है; तथा वेदान्त मे जो सत् को कूटस्थ नित्य माना गया है, वह द्रव्य की ध्रौव्य गुणात्मकता के कारण है।

आस्रव-तत्त्व—

जैन सिद्धान्त के सात तत्त्वों में प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव तत्त्वों का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। अब यहां तीसरे और चौथे आस्रव व बंध नामक तत्त्वों की व्याख्या की जाती है। यह विषय जैन कर्म-सिद्धान्त का है, जिसे हम आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में जैन मनोविज्ञान (साइकोलोजी) कह सकते हैं। सचेतन

कर्मों के इन दस करणों के स्वरूप से स्पष्ट है कि जैन कर्म-सिद्धान्त नियति-वादी नहीं है, और सर्वथा स्वच्छन्दवादी भी नहीं है। जीव के प्रत्येक कर्म द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जो अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती; और साथ ही जीव का स्वातन्त्र्य भी कभी इस प्रकार अवरुद्ध व कुंठित नहीं होता कि वह अपने कर्मों की दशाओं में सुधार-बिगाड़ करने में सर्वथा असमर्थ हो जाय। इस प्रकार जैन सिद्धान्त में मनुष्य के अपने कर्मों के उत्तरदायित्व तथा पुरुषार्थ द्वारा अपनी परिस्थितियों को बदल डालने की शक्ति, इन दोनों का भली-भांति समन्वय स्थापित किया गया है।

कर्म-प्रकृतियां—

(ज्ञानावरणकर्म)

बंधे हुए कर्मों से उत्पन्न होनेवाली प्रकृतियां दो प्रकार की हैं—मूल और उत्तर। मूल प्रकृतियां आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। इन आठ मूल प्रकृतियों की अपनी-अपनी भेदरूप विविध उत्तर प्रकृतियां बतलाई गई हैं। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है जिसके कारण संसारावस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं होने पाता; जिस प्रकार कि वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। इसकी ज्ञानों के भेदानुसार पांच उत्तर प्रकृतियां हैं, जिनसे क्रमशः जीव का मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान व केवलज्ञान आवृत होता है।

दर्शनावरणकर्म—

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत करता है। इस कर्म की निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि; तथा चक्षुदर्शना-वरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवल दर्शनावरणीय, ये नौ उत्तर प्रकृतियां हैं। निद्रा कर्मोदय से जीव को निद्रा आती है। उसकी गाढ़तर अवस्था अथवा पुनः पुनः सुप्ति को निद्रा-निद्रा कहते हैं। प्रचला कर्म के उदय से मनुष्य को ऐसी निद्रा आती है कि वह सोते-सोते चलने-फिरने अथवा नाना इन्द्रिय व्यापार करने लगता है। प्रचला-प्रचला इसी का गाढ़तर रूप है, जिसमें उक्त क्रियाएं बार-बार व अधिक तीव्रता से होती हैं। स्त्यानगृद्धि कर्मोदय के कारण जीव स्वप्नावस्था में ही उन्मत्त होकर नाना रौद्र कर्म कर डालता है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के कारण

नेत्रेन्द्रिय की दर्शनशक्ति क्षीण होती है। अचक्षुदर्शनावरणीय से शेष इन्द्रियों की शक्ति मन्द पड़ती है; तथा अवधि व केवल दर्शनावरणीयों द्वारा उन-उन दर्शनों के विकास में बाधा उपस्थित होती है। उक्त भिन्न-भिन्न ज्ञानों व दर्शनों के स्वरूप का वर्णन आगे किया जायगा।

मोहनीय कर्म—

मोहनीय कर्म जीव के मोह अर्थात् उसकी रुचि व चारित्र में अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। इसके मुख्य भेद दो हैं—एक दर्शन-मोहनीय और दूसरा चारित्र-मोहनीय, जो क्रमशः दर्शन व चारित्र में उक्त प्रकार दूषण उत्पन्न करते हैं। दर्शन मोहनीय की उत्तरप्रकृतियां तीन हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। चारित्र-मोहनीय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों ही प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेदानुसार चार-चार प्रकार के होते हैं, जिनकी कुल मिलाकर सोलह उत्तरप्रकृतियां होती हैं। इनमें हास्य, रति, अरति, खेद, भय, ग्लानि एवं पुरुष, स्त्री व नपुंसक वेद— ये ६ नोकषाय मिलाने से मोहनीय कर्म की समस्त उत्तर-प्रकृतियों की संख्या अट्ठाइस हो जाती है। मोहनीय कर्म सब से अधिक प्रबल व प्रभावशाली पाया जाता है, और प्रत्येक प्राणी के मानसिक जीवन में अत्यन्त व्यापक व उसके लोक-चारित्र के निर्माण में समर्थ सिद्ध होता है। जीवन को क्रियाओं का आदि स्रोत जीव की मनोवृत्ति है। विशुद्ध मनोवृत्ति व दृष्टि का नाम ही सम्यग्दर्शन है। इस दर्शन की, विकार की तरतमतानुसार, अगणित अवस्थाएं होती हैं, जिन्हें मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया गया है। एक सर्वथा वह मूढ अवस्था जिसमें वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा नहीं होती, एवं वस्तु को विपरीत भाव से ग्रहण करने की संभावना होती है; यह दर्शन-मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति है। दूसरे, जहां इस मिथ्यात्व प्रकृति की जटिलता क्षीण होकर, उसमें सम्यग्दृष्टि का भी प्रादुर्भाव हो जाता है, तब उसे दर्शन-मोहनीय की मिश्र या सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति कहा जाता है। और तीसरी, जहां मिथ्यात्व क्षीण होकर दृष्टि शुद्ध हो जाती है, यद्यपि उसमें कुछ चांचल्य, मालिन्य व अगाढ़त्व बना रहता है, तब उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहा जाता है। धार्मिक जीवन को समझने के लिये इन तीन मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान बड़ा आवश्यक है, क्योंकि मूलतः ये ही अवस्थाएं चारित्र को सदोष व निर्दोष बनाती हैं। चारित्र में स्पष्ट विकार उत्पन्न करने वाले मानसिक भाव अनन्त हैं। किन्तु उन्हें हम दो सुस्पष्ट वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक राग

कर्मों के इन दश करणों के स्वरूप से स्पष्ट है कि जैन कर्म-सिद्धान्त नियतिवादी नहीं है, और सर्वथा स्वच्छन्दवादी भी नहीं है। जीव के प्रत्येक कर्म द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जो अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती; और साथ ही जीव का स्वातन्त्र्य भी कभी इस प्रकार अवरुद्ध व कुंठित नहीं होता कि वह अपने कर्मों की दशाओं मे सुधार-बधार करने में सर्वथा असमर्थ हो जाय। इस प्रकार जैन सिद्धान्त में मनुष्य के अपने कर्मों के उत्तरदायित्व तथा पुरुषार्थ द्वारा अपनी परिस्थितियों को बदल डालने की शक्ति, इन दोनों का भली-भांति समन्वय स्थापित किया गया है।

कर्म-प्रकृतियां—

(ज्ञानावरणकर्म)

बंधे हुए कर्मों में उत्पन्न होनेवाली प्रकृतियां दो प्रकार की हैं—मूल और उत्तर। मूल प्रकृतियां आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। इन आठ मूल प्रकृतियो की अपनी-अपनी भेदरूप विविध उत्तर प्रकृतियां बतलाई गई हैं। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है जिसके कारण संसारावस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं होने पाता; जिस प्रकार कि वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। इसकी ज्ञानो के भेदानुसार पांच उत्तर प्रकृतियां हैं, जिससे क्रमशः जीव का मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान व केवलज्ञान आवृत होता है।

दर्शनावरणकर्म—

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत करता है। इस कर्म की निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि; तथा चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवल-दर्शनावरणीय, ये नौ उत्तर प्रकृतियां हैं। निद्रा कर्मोदय से जीव को निद्रा आती है। उसकी गाढ़तर अवस्था अथवा पुनः पुनः वृत्ति को निद्रा-निद्रा कहते हैं। प्रचला कर्म के उदय से मनुष्य को ऐसी निद्रा आती है कि वह सोते-सोते चलने-फिरने अथवा नाना इन्द्रिय व्यापार करने लगता है। प्रचला-प्रचला इसी का गाढ़तर रूप है, जिसमें उक्त क्रियाएं बार-बार व अधिक तीव्रता से होती हैं। स्त्यानगृद्धि कर्मोदय के कारण जीव स्वप्नावस्था में ही उन्मत्त होकर नाना रौद्र कर्म कर डालता है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के कारण

नेत्रेन्द्रिय की दर्शनशक्ति क्षीण होती है। अचक्षुदर्शनावरणीय से शेष इन्द्रियों की शक्ति मन्द पड़ती है; तथा अवधि व केवल - दर्शनावरणीयों द्वारा उन-उन दर्शनों के विकास में बाधा उपस्थित होती है। उक्त भिन्न-भिन्न ज्ञानों व दर्शनों के स्वरूप का वर्णन आगे किया जायगा।

मोहनीय कर्म—

मोहनीय कर्म जीव के मोह अर्थात् उसकी रुचि व चारित्र में अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। इसके मुख्य भेद दो हैं—एक दर्शन-मोहनीय और दूसरा चारित्र-मोहनीय, जो क्रमशः दर्शन व चारित्र में उक्त प्रकार दूषण उत्पन्न करते हैं। दर्शन मोहनीय की उत्तरप्रकृतियां तीन हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। चारित्र-मोहनीय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों ही प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेदानुसार चार-चार प्रकार के होते हैं, जिनकी कुल मिलाकर सोलह उत्तरप्रकृतियां होती हैं। इनमें हास्य, रति, अरति, खेद, भय, ग्लानि एवं पुरुष, स्त्री व नपुंसक वेद— ये ९ नोकषाय मिलाने से मोहनीय कर्म की समस्त उत्तर-प्रकृतियों की संख्या अट्ठाइस हो जाती है। मोहनीय कर्म सब से अधिक प्रबल व प्रभावशाली पाया जाता है, और प्रत्येक प्राणी के मानसिक जीवन में अत्यन्त व्यापक व उसके लोक-चारित्र के निर्माण में समर्थ सिद्ध होता है। जीवन की क्रियाओं का आदि स्रोत जीव की मनोवृत्ति है। विशुद्ध मनोवृत्ति व दृष्टि का नाम ही सम्यग्दर्शन है। इस दर्शन की, विकार की तरतमतानुसार, अगणित अवस्थाएं होती हैं, जिन्हें मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया गया है। एक सर्वथा वह मूढ़ अवस्था जिसमें वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा नहीं होती, एवं वस्तु को विपरीत भाव से ग्रहण करने की संभावना होती है; यह दर्शन-मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति है। दूसरे, जहां इस मिथ्यात्व प्रकृति की जटिलता क्षीण होकर, उसमें सम्यग्दृष्टि का भी प्रादुर्भाव हो जाता है, तब उसे दर्शन-मोहनीय की मिश्र या सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति कहा जाता है। और तीसरी, जहां मिथ्यात्व क्षीण होकर दृष्टि शुद्ध हो जाती है, यद्यपि उसमें कुछ चांचल्य, मालिन्य व अगाढ़त्व बना रहता है, तब उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहा जाता है। धार्मिक जीवन को समझने के लिये इन तीन मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान बड़ा आवश्यक है, क्योंकि मूलतः ये ही अवस्थाएं चारित्र को सदोष व निर्दोष बनाती हैं। चारित्र में स्पष्ट विकार उत्पन्न करने वाले मानसिक भाव अनन्त हैं। किन्तु उन्हें हम दो सुस्पष्ट वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक राग

जो पर पदार्थ की ओर मनको आकर्षित व आसक्त करता है। इसे शास्त्र में पेज्ज (सं० प्रेयस्) कहा गया है; और दूसरा द्वेष जो भिन्न पदार्थों से घृणा उत्पन्न करता है। यथार्थतः ये ही दो मूलकषाय या कषाय-भाव हैं, और इन्हीं के प्रभेद रूप क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय माने गये हैं। इनमें से प्रत्येक की तीव्रता और मन्दतानुसार अगणित भेद हो सकते हैं, किन्तु सुविधा के लिये चार भेद माने गये हैं, जो भौतिक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट समझे जा सकते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध पाषाण की रेखा के समान बहुत स्थायी होता है। उसका अप्रत्याख्यान रूप पृथ्वी की रेखा के सदृश, प्रत्याख्यान रूप धूलि की रेखा के समान; और संज्वलन, जल की रेखा के समान क्रमशः तीव्रतम से लेकर मन्दतम होता है। इसीप्रकार मान की चार अवस्थाएं, उसकी कठोरता व लचीलेपन के अनुसार, पाषाण, अस्थि, काष्ठ और वेत्र के समान; माया की, उसकी वक्रता की जटिलता व हीनता के अनुसार, बांस की जड़, मेढ़े के सींग, गोमूत्र तथा खुरपे के सदृश; एवं लोभ कषाय की कृमिराग, कीट (ओंगन), शरीमल और हलदी के समान तीव्रता से मन्दता की ओर उक्त अनन्तानुबन्धी आदि चार चार अवस्थाएं होती हैं।

'नो' का अर्थ होता है—ईषत् या अल्प। तदनुसार नोकषाय वे मानसिक विकार कहे गये हैं, जो उक्त कषायों के प्रभेद रूप होते हुए भी अपनी विशेषता व जीवन में स्पष्ट पृथक् स्वरूप के कारण अलग से गिनाये गये हैं। इन नोकषायों का स्वरूप उनके नाम से ही स्पष्ट है। इसप्रकार मोहनीय कर्म की उन अट्ठाइस उत्तर प्रकृतियों के भीतर अपनी एक विशेष व्यवस्थानुसार उन सब मानसिक अवस्थाओं का अन्तर्भाव हो जाता है, जो अन्यत्र रस व भावों के नाम से संक्षेप या विस्तार से वर्णित पाई जाती हैं। इन्हीं मोहनीय कर्मों की तीव्र व मन्द अवस्थाओं के अनुसार वे आध्यात्मिक भूमिकाएं विकसित होती हैं जिन्हें गुणस्थान कहते हैं जिनका वर्णन आगे किया जावेगा।

अन्तरायकर्म—

जो कर्म जीव के बाह्य पदार्थों के आदान-प्रदान और भोगोपभोग तथा स्वकीय पराक्रम के विकास में विघ्न-बाधा उत्पन्न करता है, वह अन्तराय कर्म कहा गया है। उसकी पांच उत्तर प्रकृतियां हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। ये क्रमशः जीव के दान करने, लाभ लेने, भोज्य व भोग्य पदार्थों का एक बार में, अथवा अनेक बार में, सुख लेने, एवं किसी भी परिस्थिति का सामना करने योग्य सामर्थ्य रूप गुणों के विकास में बाधक होते हैं।

वेदनीय कर्म—

जो कर्म जीव को सुख या दुःख रूप वेदन उत्पन्न करता है, उसे वेदनीय कहते हैं। इसकी उत्तर प्रकृतियां दो हैं—साता वेदनीय, जो जीव को सुख का अनुभव कराता है; और असाता वेदनीय, जो दुःख का अनुभव कराता है। यहां अन्तराय कर्म की भोग और उपभोग प्रकृतियां, तथा वेदनीय की साता-असाता प्रकृतियों के फलोदय में भेद करना आवश्यक है। किसी मनुष्य को भोजन, वस्त्र, गृह आदि की प्राप्ति नहीं हो रही; इसे उसके लाभान्तराय कर्म का उदय कहा जायेगा। इनका लाभ होने पर भी यदि किसी परिस्थितिवश वह उनका भोग या उपभोग नहीं कर पाता, तो वह उसके भोग-उपभोगान्तराय कर्म का उदय माना जायेगा; और यदि उक्त वस्तुओं की प्राप्ति और उनका उपयोग होने पर भी उसे सुख का अनुभव न होकर, दुःख ही होता है, तो यह उसके असाता वेदनीय कर्म का फल है। सम्भव है किसी व्यक्ति के लाभान्तराय कर्म के उपशमन से उसे भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति हो गई हो, पर वह उनका सुख तभी पा सकेगा जब साथ ही उससे साता-वेदनीय कर्म का उदय हो। यदि असाता-वेदनीय कर्म का उदय है, तो उन वस्तुओं से भी उसे दुःख ही होगा।

आयु कर्म—

जिस कर्म के उदय से जीव की देव, नरक, मनुष्य या तिर्यंच गति में आयु का निर्धारण होता है, वह आयु कर्म है; और उसकी ये ही चार अर्थात् देवायु, नरकायु, मनुष्यायु व तिर्यंचायु, उत्तर प्रकृतियां हैं।

गोत्र कर्म—

लोकव्यवहार संबंधी आचरण को गोत्र माना गया है। जिस कुल में लोकपूजित आचरण की परम्परा है, उसे उच्चगोत्र, और जिसमें लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे नीचगोत्र नाम दिया गया है। इन कुलों में जन्म दिलानेवाला कर्म गोत्र कर्म कहलाता है, और उसकी तदनुसार उच्चगोत्र व नीचगोत्र, ये दो ही उत्तर प्रकृतियां हैं। यद्यपि गोत्र शब्द का वैदिक परम्परा में भी प्रयोग पाया जाता है, तथापि जैन कर्म सिद्धान्त में उसकी उच्चता और नीचता में आचरण की प्रधानता स्वीकार की गई है।

नाम कर्म—

जिसप्रकार मोहनीय कर्म के द्वारा विशेषरूप से प्राणियों के मानसिक गुणों व

विकारों का निर्माण होता है; उसीप्रकार उसके शारीरिक गुणों के निर्माण में नामकर्म विशेष समर्थ कहा गया है। नामकर्म के मुख्यभेद ४२, तथा उनके उपभेदों की अपेक्षा ६३ उत्तर प्रकृतियां मानी गई हैं, जो इसप्रकार हैं :—

(१) चार गति (नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव), (२) पांच जाति (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय), (३) पांच शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण), (४-५) औदारिकादि पांचों शरीरों के पांच बन्धन व उन्हीं के पाच सघात, (६) छह शरीर संस्थान (समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्ज, वामन और हुण्ड), (७) तीन शरीरांगोपांग (औदारिक, वैक्रियिक और आहारक), (८) छह संहनन (वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलित, और असंप्राप्तासृपाटिका), (९) पांच वर्ण (कृष्ण, नील, रक्त, हरित और शुक्ल), (१०) दो गंध (सुगन्ध और दुर्गन्ध), (११) पांच रस (तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर), (१२) आठ स्पर्श (कठोर, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण), (१३) चार आनुपूर्वी (नरकगतियोग्य, तिर्यंगतियोग्य, मनुष्यगतियोग्य और देवगतियोग्य), (१४) अगुरुलघु, (१५) उपघात, (१६) परघात, (१७) उच्छ्वास, (१८) आतप, (१९) उद्योत, (२०) दो विहायोगति (प्रशस्त और अप्रशस्त), (२१) त्रस, (२२) स्थावर, (२३) बादर, (२४) सूक्ष्म, (२५) पर्याप्त, (२६) अपर्याप्त, (२७) प्रत्येक शरीर, (२८) साधारण शरीर, (२९) स्थिर, (३०) अस्थिर, (३१) शुभ, (३२) अशुभ, (३३) सुभग, (३४) दुर्भग, (३५) सुस्वर, (३६) दुःस्वर, (३७) आदेय, (३८) अनादेय, (३९) यशःकीर्ति, (४०) अयशःकीर्ति, (४१) निर्माण और (४२) तीर्थंकर।

उपर्युक्त कर्म प्रकृतियों में से अधिकांश का स्वरूप उनके नामों पर से अथवा पूर्वोक्त उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है। शेष का स्वरूप इस प्रकार है—पांच प्रकार के शरीरों के जो पांच प्रकार के बन्धन बतलाये गये हैं, उनका कर्त्तव्य यह है कि वे शरीर नामकर्म के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल परमाणुओं में परस्पर बन्धन व संश्लेष उत्पन्न करते हैं, जिसके अभाव में वह परमाणुपुंज रत्नराशिवत् विरल (पृथक्) रह जायगा। बन्धन प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुए संश्लिष्ट शरीर में संघात अर्थात् निश्छिद्र ठोसपन लाना संघात प्रकृति का कार्य है। संस्थान नामकर्म का कार्य शरीर की आकृति का निर्माण करना है। जिस शरीर के समस्त भाग उचित प्रमाण से निर्माण होते हैं, वह समचतुरस्र कहलाता है। जिस शरीर का नाभि से ऊपर का भाग अति स्थूल, और नीचे का भाग अति लघु हो, उसे न्यग्रोधपरिमण्डल (अर्थात् वटवृक्षाकार) संस्थान कहा

जाता है। इससे विपरीत, अर्थात् ऊपर का भाग अत्यन्त लघु और नीचे का अत्यन्त विशाल हो, वह स्वाति (अर्थात् वल्मीक के आकार का) संस्थान कहलाता है। कुबड़े शरीर को कुब्ज, सर्वांग ह्रस्व शरीर को वामन, तथा सर्व अंगोपांगों में विषमाकार (टेढ़ेमेढ़े) शरीर को हुण्ड संस्थान कहते हैं। इन्हीं छह भिन्न शरीर-आकृतियों का निर्माण कराने वाली छह संस्थान प्रकृतियां मानी गई हैं। उपर्युक्त औदारिकादि पांच शरीर-प्रकृतियों में से तैजस और कार्मण, इन दो प्रकृतियों द्वारा किन्ही भिन्न शरीरों व अंगोपांगों का निर्माण नही होता। इसलिये उन दो को छोड़कर अंगोपांग नामकर्म की शेष तीन ही प्रकृतियां कही गई हैं। वृषभ का अर्थ अस्थि, और नाराच का अर्थ कील होता है। अतएव जिस शरीर की अस्थियां व उन्हें जोड़नेवाली कीलें वज्र के समान दृढ़ होती है, वह शरीर वज्र-वृषभ-नाराच संहनन कहलाता है। जिस शरीर की केवल नाराच अर्थात् कीलें वज्रवत् होती हैं, उसे वज्र-नाराच संहनन कहा जाता है। नाराच संहनन में कीलें तो होती हैं, किन्तु वज्र समान दृढ़ नहीं। अर्द्धनाराच संहनन वाले शरीर में कील पूरी नहीं, किन्तु आधी रहती है। जिस शरीर में अस्थियों के जोड़ों के स्थानों में दोनों ओर अल्प कीलें लगी हों, वह कीलक संहनन है; और जहां अस्थियों का बन्ध,कीलों से नही, किन्तु स्नायु, मांस आदि से लपेट कर संघटित हो, वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन कहा गया है। इन्ही छह प्रकार के शरीर-संहननों के निर्माण के लिये उक्त छह प्रकृतियां ग्रहण की गई हैं। मृत्युकाल में जीव के पूर्व शरीराकार का विनाश हुए विना उसकी नवीन गति की ओर ले जाने वाली शक्ति को देने वाली प्रकृति का नाम आनुपूर्वी है, जिसके गतियों के अनुसार चार भेद हैं। शरीर के अंग-प्रत्यंगों की ऐसी रचना जो स्वयं उसी देहधारी जीव को क्लेशदायक हो, उसे उपघात; और जिससे दूसरों को क्लेश पहुंचाया जा सके, उसे परघात कहते हैं। इन प्रवृत्तियों को उत्पन्न करनेवाली प्रकृतियों के नाम भी क्रमशः उपघात और परघात हैं। बड़े सींग, लम्बे स्तन, विशाल तोंद एवं वात, पित्त, कफ आदि दूषण उपघात कर्मोदय के; तथा सर्प की डाढ व बिच्छू के डंक का विष, सिंह व्याघ्रादि के नख और दंत आदि परघात कर्मोदय के उदाहरण हैं। आतप का अर्थ है उष्णता सहित, तथा उद्योत का अर्थ है उष्णता रहित प्रकाश, जैसा कि सूर्य और चन्द्र में पाया जाता है। जीव-शरीरों में इन धर्मों को प्रकट करने वाली प्रकृतियों को आतप व उद्योत कहा है, जैसा कि क्रमशः सूर्यमण्डलवर्ती पृथ्वीकायिक शरीर व खद्योत। स्थानान्तरण का नाम गति है, जो विहायस् अर्थात् आकाश-अवकाश में होती है। किन्हीं जीवों की गति प्रशस्त अर्थात् सुन्दर व उत्तम मानी गई है, जैसे हाथी, हंस आदि की; और किन्हीं की अप्रशस्त,

मनुष्य आयु का; तथा संयम व तप देवायु का बंध कराते हैं। इनमें देव और मनुष्य आयु का बंध शुभ, व नरक और तिर्यंच आयु का बंध अशुभ कहा गया है। पर-निंदा, आत्म-प्रशंसा, सद्भूतगुणों का आच्छादन तथा असद्भूत गुणों का उद्भावन, ये नीचगोत्र; तथा इनसे विपरीत प्रवृत्ति, एवं मान का अभाव और विनय, ये उच्चगोत्र बंध के कारण हैं। यहां पर स्पष्टतः उच्चगोत्र का बंध शुभ व नीच गोत्र का बंध अशुभ होता है। नामकर्म की जितनी उत्तर प्रकृतिया बतलाई गई हैं, वे उनके स्वरूप से ही स्पष्टतः दो प्रकार की हैं—शुभ व अशुभ। इनमें अशुभ नामकर्म-बंध का कारण सामान्य से मन-वचन-काय योगों की वक्रता व कुत्सित क्रियाएं; और साथ-साथ मिथ्याभाव, पैशुन्य, चित्त की चचलता, झूठे नाप-तौल रखकर दूसरो को ठगने की वृत्ति आदि रूप बुरा आचरण है, और इनसे विपरीत सदाचरण शुभ नाम कर्म के बंध का कारण है। नामकर्म के भीतर तीर्थंकर प्रकृति बतलाई गई है, जो जीव के शुभतम परिणामो से उत्पन्न होती है। ऐसे १६ उत्तम परिणाम विशेष रूप से तीर्थंकर गोत्र के कारण बतलाये गये हैं; जो इसप्रकार हैं—

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, विनय-संपन्नता, शीलों और व्रतों का निर्दोष परिपालन, निरन्तर ज्ञान-साधना, मोक्ष की ओर प्रवृत्ति, शक्ति अनुसार त्याग और तप, भले प्रकार समाधि, साधु जनों का सेवा-सत्कार, पूज्य आचार्य विशेष विद्वान व शास्त्र के प्रति भक्ति, आवश्यक धर्मकार्यों का निरन्तर परिपालन; धार्मिक-प्रोत्साहन व धर्मीजनों के प्रति वात्सल्य-भाव।

स्थितिवन्ध—

ये कर्म-प्रकृतियां जब बंध को प्राप्त होती हैं, तभी उनमें जीव के कषायों की मंदता व तीव्रता के अनुसार यह गुण भी उत्पन्न हो जाता है कि वे कितने काल तक सत्ता में रहेंगे, और फिर अपना फल देकर झड़ जायेंगे। इसे ही कर्मों का स्थितिबंध कहते हैं। यह स्थिति जीव के परिणामानुसार तीन प्रकार की होती है जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, व अन्तराय, इन तीन कर्मों की जघन्य अर्थात् कम कम से स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की होती है। वेदनीय की जघन्यस्थिति वारह मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की। मोहनीय कर्म की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त, और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की। आयुकर्म की क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और ३३ सागर की; तथा नाम और गोत्र इन दोनों की आठ अन्तर्मुहूर्त

और २० कोड़ाकोड़ी सागर की कही गई है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की समस्त स्थितियां मध्यम कहलाती हैं। एक मुहूर्तकाल का प्रमाण आधुनिक कालगणनानुसार ४८ मिनट होता है। एक मूहूर्त में एक समय हीन काल को भिन्नमुहूर्त और भिन्नमुहूर्त से एक समय हीन काल से लेकर एक आवलि तक के काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। १ आवलि १ सेकेन्ड के अल्पांश के बराबर होता है। सागर अथवा सागरोपम एक उपमा प्रमाण है, जिसकी संख्या नहीं की जा सकती, अर्थात् संख्यातीत वर्षों के काल को सागर कहते हैं। कोड़ाकोड़ी का अर्थ है १ करोड़ का वर्ग (१ करोड़ × १ करोड़)। इस प्रकार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति जो २०,३०,३३ या ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की बतलाई गई है, वह हमें केवल उनकी परस्पर दीर्घता या अल्पता का बोध मात्र कराती है। सामान्यतः सभी कर्मों की उत्कृष्ट स्थितियां अप्रशस्त मानी गई हैं, क्योंकि उनका बंध संक्लेश रूप परिणामों से होता है। संक्लेश में जितनी मात्रा में हीनता और विशुद्धि की वृद्धि होगी, उसी अनुपात से स्थिति-बंध हीन होता जाता है; और जघन्यस्थिति का बंध उत्कृष्ट विशुद्धि की अवस्था में होता है। विशुद्धि और संक्लेश का लक्षण धवलाकार ने बतलाया है कि साता-वेदनीय कर्म के बंध योग्य परिणाम को विशुद्धि, और असाता-वेदनीय के बंध योग्य परिणाम को संक्लेश मानना चाहिये।

अनुभाग बंध—

कर्मप्रकृतियों में स्थिति-बन्ध के साथ-साथ जो उनमें तीव्र या मन्द रसदायिनी शक्ति भी उत्पन्न होती है, उसी शक्ति का नाम अनुभाग बन्ध है; जिसप्रकार कि किसी फल में उसके मिठास व खटास की तीव्रता व मन्दता भी पाई जाती है। यह अनुभाग बन्ध भी बन्धक जीवों के भावानुसार उत्पन्न होता है। विशुद्ध परिणामों द्वारा साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है; और असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियों का जघन्य। तथा संक्लिष्ट परिणामों से असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है, व साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियों का जघन्य। इसप्रकार स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध का परस्पर यह संबंध पाया जाता है कि जहां स्थिति बन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता क्रमशः संक्लेश और विशुद्धि के अधीन है, वहां अनुभाग बन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता, प्रशस्त व अप्रशस्त प्रकृतियों में भिन्न प्रकार से उत्पन्न होती है। प्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग विशुद्धि के अधीन है, और अप्रशस्त का संक्लेश के; एवं जघन्यता इसके विपरीत।

र २० कोड़ाकोड़ी सागर की कही गई है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच समस्त स्थितियां मध्यम कहलाती है। एक मुहूर्तकाल का प्रमाण आधु- क कालगणनानुसार ४८ मिनट होता है। एक मूहूर्त में एक समय हीन काल को भ्रमुहूर्त और भिन्नमुहूर्त से एक समय हीन काल से लेकर एक आवलि तक के ल को अन्तर्मुहूर्त कहते है। १ आवलि १ सेकेन्ड के अल्पाश के बराबर होता है। गर अथवा सागरोपम एक उपमा प्रमाण है, जिसकी संख्या नही की जा सकती, र्यात् संख्यातीत वर्षों के काल को सागर कहते है। कोड़ाकोड़ी का अर्थ है १ करोड़ ा वर्ग (१ करोड़ × १ करोड़)। इस प्रकार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति जो २०,३०,३३ ा ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की बतलाई गई है, वह हमें केवल उनकी परस्पर दीर्घता ा अल्पता का बोध मात्र कराती है। सामान्यतः सभी कर्मों की उत्कृष्ट स्थितिया प्रशस्त मानी गई हैं, क्योंकि उनका बंध संक्लेश रूप परिणामों से होता है। संक्लेश ं जितनी मात्रा में हीनता और विशुद्धि की वृद्धि होगी, उसी अनुपात से स्थिति-बंध ीन होता जाता है; और जघन्यस्थिति का बंध उत्कृष्ट विशुद्धि की अवस्था में होता है। विशुद्धि और संक्लेश का लक्षण धवलाकार ने बतलाया है कि साता-वेदनीय कर्म के बंध योग्य परिणाम को विशुद्धि, और असाता-वेदनीय के बंध योग्य परिणाम को संक्लेश मानना चाहिये।

अनुभाग बंध—

कर्मप्रकृतियों में स्थिति-बन्ध के साथ-साथ जो उनमें तीव्र या मन्द रसदायिनी शक्ति भी उत्पन्न होती है, उसी शक्ति का नाम अनुभाग बन्ध है; जिसप्रकार कि किसी फल मे उसके मिठास व खटास की तीव्रता व मन्दता भी पाई जाती है। यह अनुभाग बन्ध भी बन्धक जीवों के भावानुसार उत्पन्न होता है। विशुद्ध परिणामों द्वारा साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है; और असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियों का जघन्य। तथा संक्लिष्ट परिणामों से असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है, व साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियों का जघन्य। इसप्रकार स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध का परस्पर यह संबंध पाया जाता है कि जहां स्थिति बन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता क्रमशः संक्लेश और विशुद्धि के अधीन है, वहा अनुभाग बन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता, प्रशस्त व अप्रशस्त प्रकृतियों में भिन्न प्रकार से उत्पन्न होती है। प्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग विशुद्धि के अधीन है, और अप्रशस्त का संक्लेश के; एवं जघन्यता इसके विपरीत।

कर्मों की यह अनुभाग रूप फलदायिनी शक्ति उदाहरणों द्वारा समझायी जा सकती है। जिस प्रकार लता, काष्ठ, अस्थि और पाषाण में कोमलता से कठोरता की ओर उत्तरोत्तर वृद्धि पाई जाती है, उसी प्रकार घातिया कर्मों का अनुभाग मन्दता से तीव्रता की ओर बढ़ता जाता है। लता भाग से लेकर काष्ठ के कुछ अंश तक घातिया कर्मों की शक्ति देशघाती कहलाती है, क्योंकि इस अवस्था में वह जीव के गुणों का आंशिक रूप से घात या आवरण करती है। और काष्ठ से आगे पाषाण तक की शक्ति सर्वघाति होती है—अर्थात् उस अनुभाग के उदय में आने पर आत्मा के गुण पूर्णता से ढक जाते हैं। अघातिया कर्मों में से प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग गुड़, खांड, मिश्री और अमृत के समान; तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का नीम, कांजी, विष और हालाहल के समान कहा गया है, जिसका बंध उपर्युक्त विशुद्धि व संक्लेश की व्यवस्थानुसार उत्तरोत्तर तीव्र व मंद होता है।

प्रदेशबन्ध—

पहले कहा जा चुका है कि मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा जीव आत्म-प्रदेशों के संपर्क में कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं को ले आता है, और उनमें विविध प्रकार की कर्मशक्तियां उत्पन्न करता है। इसप्रकार पुद्गल परमाणुओं का जीव-प्रदेशों के साथ संबंध होना ही प्रदेश-बन्ध है। जिन पुद्गल परमाणुओं को जीव ग्रहण करता है, वे अत्यन्त सूक्ष्म माने गये हैं; और प्रतिसमय बंधनेवाले परमाणुओं की संख्या अनन्त मानी गयी है। जितना कर्मद्रव्य बंध को प्राप्त होती है उसका बटवारा जीव के परिणामानुसार आठ मूल प्रकृतियों में हो जाता है। इनमें आयु कर्म का भाग सब से अल्प, उससे अधिक नाम और गोत्र का परस्पर समान; उससे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, इन तीन घातिया कर्मों का परस्पर में समान; उससे अधिक मोहनीय का, और उससे अधिक वेदनीयका भाग होता है। इस अनुपात का कारण इस प्रकार प्रतीत होता है—आयुकर्म जीवन में केवल एक बार बंधता है, और सामान्यतः उसमें घटा-बढ़ी न होकर जीवन भर क्रमशः क्षरण होता रहता है, इसलिये उसका द्रव्यपुंज सब से अल्प माना गया है। नाम और गोत्र कर्मों की घटा-बढ़ी जीवन में आयुकर्म की अपेक्षा कुछ अधिक होती है; किन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की अपेक्षा उस द्रव्य का हानिलाभ कम ही होता है। मोहनीयकर्म संबंधी कषायों का उदय, उत्कर्ष और अपकर्ष उक्त कर्मों की अपेक्षा अधिक होता है; और उससे भी अधिक सुख-दुःख अनुभवन रूप वेदनीय कर्म का कार्य पाया जाता है। इसी

कारण इन कर्मों के भाग का द्रव्य उक्त क्रम से हीनाधिक कहा गया है। जिसप्रकार प्रतिसमय अनन्त परमाणुओं का पुद्गल-पुंज बंध को प्राप्त होता है, उसीप्रकार पूर्व संचित कर्म-द्रव्य अपनी-अपनी स्थिति पूरी कर उदय में आता रहता है, और अपनी अपनी प्रकृति अनुसार जीव को नानाप्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल अनुभव कराता रहता है। इसप्रकार इस कर्म-सिद्धान्तानुसार जीव की नानादशाओं का मूल कारण उसका अपने द्वारा उत्पादित पूर्व कर्म-बन्ध है। तात्कालिक भिन्न-भिन्न द्रव्यात्मक व भावात्मक परिस्थितियां कर्मों की फलदायिनी शक्ति में कुछ उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि विशेषताएं अवश्य उत्पन्न किया करती हैं; किन्तु सामान्य रूप से कर्मफल-भोग की धारा अविच्छिन्न रूप से चला करती है; और यह गीतानुसार भगवान् कृष्ण के शब्दों मे पुकार कर कहती रहती है कि —

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः ॥(भ०गी० ६, ५)

कर्मसिद्धान्त की विशेषता—

यह है संक्षेप मे जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त। 'जैसी करनी, तैसी भरनी' 'जो जस करहि तो तस फल चाखा'(As you sow, so you reap) एक अति प्राचीन कहावत है। प्रायः सभ्यता के विकास के आदिकाल में ही मानव ने प्रकृति के कार्य-कारण संबंध को जान लिया था; क्योंकि वह देखता था कि प्रायः प्रत्येक कार्य किसी कारण के आधार से ही उत्पन्न होता है; और वह कारण उसी कार्य को उत्पन्न करता है। जहां उसे किसी घटना के लिये कोई स्पष्ट कारण दिखाई नही दिया, वहां उसने किसी अदृष्ट कारण की कल्पना की; और घटना जितनी अद्भुत व असाधारण सी दिखाई दी, उतना ही अद्भुत व असाधारण उसका कारण कल्पित करना पड़ा। इसी छुपे हुए रहस्यमय कारण ने कहीं भूत-प्रेत का रूप धारण किया; कहीं ईश्वर या ईश्वरेच्छा का, कहीं प्रकृति का; और कहीं, यदि वह घटना मनुष्य से सम्बद्ध हुई तो, उसके भाग्य अथवा पूर्वकृत अदृष्ट कर्मों का। जैन दर्शन में इस अन्तिम कारण को आधारभूत मानकर अपने कर्म-सिद्धान्त में उसका विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्य अधिकांश धर्मों में ईश्वर को यह कर्तृत्व सौंपा गया है; जिसके कारण उनमे कर्म-सिद्धान्त जैसी मान्यता या तो उत्पन्न ही नहीं हुई, या उत्पन्न होकर भी विशेष विकसित नही हो पाई। वेदान्त दर्शन में ईश्वर को मानकर भी उसके कर्तृत्व के संबंध में कुछ दोष उत्पन्न होते हुए दिखाई दिये। बादरायण के सूत्रों में और उनके शंकराचार्य कृत भाष्य(२,१,३४)में स्पष्ट कहा

गया है कि यदि ईश्वर को मनुष्य के सुख-दुःखों का कर्ता माना जाय तो वह पक्षपात और क्रूरता का दोषी ठहरता है; क्योंकि वह कुछ मनुष्यों को अत्यन्त सुखी बनाता है, और दूसरों को अत्यन्त दुःखी। इस बात का विवेचन कर अन्ततः इसी मत पर पहुंचा गया है कि ईश्वर मनुष्य के विषय मे जो कुछ करता है, वह उस-उस व्यक्ति के पूर्व कर्मानुसार ही करता है। किन्तु ऐसी परिस्थिति में ईश्वर का कोई कर्तृत्व-स्वातंत्र्य नहीं ठहरता। जैन कर्म सिद्धान्त में मनुष्य के कर्मों को फलदायक बनाने के लिये किसी एक पृथक् शक्ति की आवश्यकता नहीं समझी गई; और उसने अपने कर्म-सिद्धान्त द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व, उसके गुण, आचरण व सुख-दुखात्मक अनुभवन को उत्पन्न करनेवाली कर्मशक्तियों का एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया। इसके द्वारा जैनदार्शनिकों ने अपने परमात्मा या ईश्वर को, उसके कर्तृत्व में उपस्थित होनेवाले दोषो से मुक्त रखा है; और दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति को अपने आचरण के संबंध मे पूर्णतः उत्तरदायी बनाया है। जैन कर्म-सिद्धान्त की यह बात भगवद्गीता के उन वाक्यों में ध्वनित हुई पाई जाती है, जहां कहा गया है कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म-फल-संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न पुण्यं कस्यचित् विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (भ०गी० ५, १४-१५)

जीव और कर्मबंध सादि हैं या अनादि ?

कर्म सिद्धान्त के विवेचन में देखा जा चुका है कि जीव किसप्रकार अपने मन-वचन-काय की क्रियाओं एवं रागद्वेषात्मक भावनाओं के द्वारा अपने अन्तरंग में ऐसी शक्तियां उत्पन्न करता है जिनके कारण उसे नानाप्रकार के सुखदुख रूप अनुभवन हुआ करते हैं; और उसका संसारचक्र में परिभ्रमण चलता रहता है। प्रश्न यह है कि क्या जीव का यह संसार-परिभ्रमण, जिसप्रकार वह अनादि है, उसी प्रकार उसका अनन्त तक चलते रहना अनिवार्य है? यदि यह अनिवार्य नहीं है, तो क्या उसका अन्त किया जाना वांछनीय है? और यदि वाछनीय है, तो उसका उपाय क्या है? इन विषयों पर भिन्न-भिन्न धर्मों व दर्शनों के नाना मतमतान्तर पाये जाते हैं। विज्ञान ने जहां प्रकृति के अन्य गुणधर्मों की जानकारी में अपना असाधारण सामर्थ्य बढ़ा लिया है, वहां वह जीव के भूत व भविष्य के संबंध में कुछ भी निश्चय-पूर्वक कह सकने में अपने को असमर्थ पाता है। अतएव इस विषय पर विचार हमें धार्मिक दर्शनों की सीमाओं के

भीतर ही करना पड़ता है। जो दर्शन जीवन की धारा को सादि अर्थात् अनादि न होकर किसी एक काल में प्रारम्भ हुई मानते हैं, उनके सम्मुख यह प्रश्न खड़ा होता है कि जीवन का प्रारम्भ कब और क्यों हुआ ? कब का तो कोई उत्तर नहीं दे पाता; किन्तु क्यों का एक यह उत्तर दिया गया है कि ईश्वर की इच्छा से जीव की उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह कि जीव जैसे चेतन द्रव्य की उत्पत्ति के लिये एक और ईश्वर जैसे महान् चेतन द्रव्य की कल्पना करना आवश्यक हो जाता है; और इस महान् चेतन द्रव्य की सत्ता को अनादि मानना भी अनिवार्य होता है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, जैन धर्म मे इस दोहरी कल्पना के स्थान पर सीधे जीव के अनादि काल से संसार में विद्यमान होने की मान्यता को उचित समझा गया है। किन्तु अधिकाश जीवों के लिये इस संसार-भ्रमण का अन्त कर, अपने शुद्ध रूप में आनन्त्य प्राप्त करना सम्भव माना है। इस प्रकार जिन जीवों में संसार से निकल कर मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है, वे जीव भव्य अर्थात् होने योग्य (होनहार) माने गये हैं; और जिनमें यह सामर्थ्य नहीं है, उन्हे अभव्य कहा गया है।

चार पुरुषार्थ—

जीव के द्वारा अपने संसारानुभवन का अन्त किया जाना वांछनीय है या नही; इस सम्बन्ध में भी स्वभावतः बहुत मतभेद पाया जाता है। इस विषय में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीवन का अन्तिम ध्येय क्या है ? भारतीय परम्परा में जीवन का ध्येय व पुरुषार्थ चार प्रकार का माना गया है—धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। इन पर समुचित विचार करने से स्पष्ट दिखाई दे जाता है कि ये चार पुरुषार्थ यथार्थतः दो भागों में विभाजित करने योग्य हैं—एक ओर धर्म और अर्थ; व दूसरी ओर काम और मोक्ष। इनमें यथार्थतः पुरुषार्थ अन्तिम दो ही हैं—काम और मोक्ष। काम का अर्थ है—सांसारिक सुख; और मोक्ष का अर्थ है—सांसारिक सुख, दुख व बंधनों से मुक्ति। इन दो परस्पर विरोधी पुरुषार्थों के साधन हैं—अर्थ और धर्म। अर्थ से धन-दौलत आदि सांसारिक परिग्रह का तात्पर्य है जिसके द्वारा भौतिक सुख सिद्ध होते हैं; और धर्म से तात्पर्य है उन शारीरिक और आध्यात्मिक साधनाओं का जिनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। भारतीय दर्शनों मे केवल एक चार्वाक मत ही ऐसा माना गया है, जिसने अर्थ द्वारा काम पुरुषार्थ की सिद्धि को ही जीवन का अन्तिम ध्येय माना है; क्योंकि उस मत के अनुसार शरीर से भिन्न जीव जैसा कोई पृथक् तत्व ही नही है जो शरीर के भस्म होने पर अपना अस्तित्व स्थिर रख सकता हो। इसलिये

इस मत को नास्तिक कहा गया है। शेष वेदान्तादि वैदिक व जैन, बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनों ने किसी न किसी रूप में जीव को शरीर से भिन्न एक शाश्वत तत्व स्वीकार किया है; और इसीलिये ये मत आस्तिक कहे गये हैं; तथा इन मतों के अनुसार जीव का अन्तिम पुरुषार्थ काम न होकर मोक्ष है, जिसका साधन धर्म स्वीकार किया गया है। धर्म की इसी श्रेष्ठता के उपलक्ष्य में उसे चार पुरुषार्थों में प्रथम स्थान दिया गया है, और मोक्ष की चरम पुरुषार्थता को सूचित करने के लिये उसे अन्त में रखा गया है। अर्थ और काम ये दोनों साधन, साध्य-जीवन के मध्य की अवस्थाएं हैं; इसीलिये इनका स्थान पुरुषार्थों के मध्य में पाया जाता है।

मोक्ष सच्चा सुख—

इस प्रकार जैनधर्मानुसार जीवन का अन्तिम ध्येय काम अर्थात् सांसारिक सुख को न मानकर मोक्ष को माना गया है। स्वभावतः प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष सुखदायी पदार्थों व प्रवृत्तियों को महत्व न देकर मोक्ष रूप परोक्ष सुख पर इतना भार दिये जाने का कारण क्या है ? इसका उत्तर यह है कि तत्वज्ञानियों को सांसारिक सुख सच्चा सुख नहीं, किन्तु सुखाभास मात्र प्रतीत हुआ है। वह चिरस्थायी न होकर अल्पकालीन होता है; और बहुधा एक सुख की तृप्ति उत्तरोत्तर अनेक नई लालसाओं को जन्म देनेवाली पाई जाती है। और जब हम इन सुखों के साधनों अर्थात् सांसारिक सुख-सामग्री के प्रमाण पर विचार करते हैं, तो वह असंख्य प्राणियों की लालसाओं को तृप्त करने के लिये पर्याप्त तो क्या होगी, एक जीवकी अभिलाषा को तृप्त करने के योग्य भी नही। इसीलिये एक आचार्य ने कहा है कि—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषता॥

अर्थात् प्रत्येक प्राणी का अभिलाषा रूपी गर्त इतना बड़ा है कि उसमें विश्वभर की सम्पदा एक अणु के समान न कुछ के बराबर है। तब फिर सबकी आशाओं की पूर्ति कैसे, किसे, कितना देकर, की जा सकती है। अतएव सांसारिक विषयों की वासना सर्वथा व्यर्थ है। वह बाह्य वस्तुओं के अधीन होने के कारण भी उसकी प्राप्ति अनिश्चित है; और उसके लिये प्रयत्न भी आकुलता और विपत्ति से परिपूर्ण पाया जाता है। उस ओर प्रवृत्ति के द्वारा किसी की कभी प्यास नहीं बुझ सकती, और न उसे स्थायी सुख-शान्ति मिल सकती। इसीलिये सच्चे स्थायी सुख के लिये मनुष्य को अर्थसंचय रूप प्रवृत्ति-परायणता से मुड़कर धर्मसाधन रूप विरक्ति-परायणता का

अभ्यास करना चाहिये, जिसके द्वारा सांसारिक तृष्णा से मुक्ति रूप आत्माधीन मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। आचार्यों ने दुःख और सुख की परिभाषा भी यही की है कि—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुः खयोः॥ (मनु. ४,१६०)

जो कुछ पराधीन है वह सब अन्ततः दुखदायी है; और जो कुछ स्वाधीन है वही सच्चा सुखदायी सिद्ध होता है।

मोक्ष का मार्ग—

जैनधर्म में मोक्ष की प्राप्ति का उपाय शुद्ध दर्शन, ज्ञान और चारित्र को बतलाया गया है। तत्वार्थशास्त्र का प्रथम सूत्र है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। इन्हीं तीन को रत्नत्रय माना गया है; और धर्म का स्वरूप इसी रत्नत्रय के भीतर गर्भित है। धर्म के ये तीन अंग अन्ततः वैदिक परम्परा में भी श्रद्धा या भक्ति, ज्ञान और कर्म के नाम से स्वीकार किये गये हैं। मनुस्मृति में वही धर्म प्रतिपादित करने की प्रतिज्ञा की गई है जिसका सेवन व अनुज्ञापन सच्चे (सम्यग्दृष्टि) विद्वान् (ज्ञानी) राग-द्वेष-रहित (सच्चारित्रवान्) महापुरुषों ने किया है। भगवद्गीता में भी स्वीकार किया गया है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता और तत्पश्चात् ही वह संयमी बनता है। यथा—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत॥ (मनु २, १)
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः (भ. गी. ४, ३६)

दर्शन के अनेक अर्थ होते हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये जो पहला पग सम्यग्दर्शन कहा गया है, उसका अर्थ है ऐसी दृष्टि की प्राप्ति जिसके द्वारा शास्त्रोक्त तत्वों के स्वरूप में सच्चा श्रद्धान उत्पन्न हो। इस सच्ची धार्मिक दृष्टि का मूल है अपनी आत्मा की शरीर से पृथक् सत्ता का भान। जब तक यह भान नहीं होता, तब तक जीव मिथ्यात्वी है। इस मिथ्यात्व से छूटकर आत्मबोध रूप सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव, जीव का ग्रन्थि-भेद कहा गया है, जो सांसारिक प्रवाह में कभी किसी समय विविध कारणों से सिद्ध हो जाता है। किन्हीं जीवों को यह अकस्मात् घर्षण-घोलन-न्याय से प्राप्त हो जाता है; जिस प्रकार कि प्रवाह-पतित पाषाण खंडों को परस्पर घिसते-पिसते रहने से नाना विशेष आकार, यहां तक कि देवमूर्ति का स्वरूप भी, प्राप्त हो जाता है। किन्हीं जीवों को किसी विशेष

अवस्था में पूर्व जन्म का स्मरण हो आता है; और उससे उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। कभी तीव्र-दुःख-वेदन के कारण, और कहीं धर्मोपदेश सुनकर अथवा धर्मोत्सव के दर्शन से सम्यक्त्व जागृत हो जाता है। सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर उसमें दृढ़ता तब आती है जब वह कुछ दोषों से मुक्त, और गुणों से संयुक्त हो जाय। धार्मिक श्रद्धान के संबंध में शंकाओं का बना रहना या उसकी साधना से अपनी सांसारिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने की भावना रखना, धर्मोपदेश या धार्मिक प्रवृत्तियों के संबंध में सन्देह या घृणा का भाव रखना, एवं कुत्सित देव, शास्त्र व गुरुओं मे आस्था रखना, ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोष हैं। इन चारों को दूर कर धर्म की निंदा से रक्षा करना, धर्मीजनों को सत्प्रवृत्ति में दृढ़ करना, उनसे सद्भावपूर्ण व्यवहार करना, और धर्म का माहात्म्य प्रगट करने का प्रयत्न करना, इन चार गुणों के जागृत होने से अष्टांग सम्यक्त्व की पूर्णता होती है।

सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि पुरुष—

प्रश्न हो सकता है कि मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी मनुष्य के चारित्र में दृश्यमान भेद क्या है ? मिथ्यात्व के पांच लक्षण बतलाये गये हैं—विपरीत, एकान्त, संशय, विनय और अज्ञान। मिथ्यात्वी मनुष्य की विपरीतता यह है कि वह असत् को सत्, बुराई को अच्छाई व पाप को पुण्य मानकर चलता है। उसमें हठग्राहिता पाई जाती है, अर्थात् उसका दृष्टिकोण ऐसा संकुचित होता है कि वह अपनी धारणा बदलने व दूसरों के विचारों से उसका मेल बैठाने में सर्वथा असमर्थ होता है। उसमें उदार दृष्टि का अभाव रहता है, यही उसकी एकान्तता है। संशयशील वृत्ति भी मिथ्यात्व का लक्षण है। अच्छी से अच्छी बात में मिथ्यात्वी को पूर्ण विश्वास नहीं होता; एवं प्रबलतम तर्क और प्रमाण उसके संशय को दूर नहीं कर पाते। विनय का अर्थ है नियम-परिपालन, किन्तु यदि बिना विवेक के किसी भी प्रकार के अच्छे-बुरे नियम का पालन करना ही कोई श्रेष्ठ धर्म समझ बैठे तो वह विनय मिथ्यात्व का दोषी है। जब तक किसी क्रिया रूप साधन का सम्बन्ध उसके आत्मशुद्धि आदि साध्य के साथ स्पष्टता से दृष्टि में न रखा जाय, तबतक विनयात्मक क्रिया फलहीन व कभी-कभी अनर्थकारी भी होती है। तत्व और अतत्व के सम्बन्ध में जानकारी या सूझ-बूझ के अभाव का नाम अज्ञान है। इन पांच दोषों के कारण मनुष्य के मानसिक व्यापार, वचनालाप तथा आचार-विचार में सच्चाई, यथार्थता व स्व-पर की भलाई नहीं होती। इस कारण वह मिथ्यात्वी कहा गया है। इसके विपरीत उपर्युक्त आत्म-श्रद्धान रूप सम्यक्त्व

का उदय होने से मनुष्य के चारित्र में जो मद्भाव उत्पन्न होता है उसके मुख्य चार लक्षण हैं—**प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य**। सम्यक्त्वी की चित्तवृत्ति रागद्वेषात्मक भावों से विशेष विचलित नहीं होती; और उसकी प्रवृत्ति में शांत भाव दिखाई देता है। शारीरिक व मानसिक आकुलताओं को उत्पन्न करनेवाली सासारिक वृत्तियों को सम्यक्त्वी अहितकर समझकर उनसे विरक्त व बन्ध-मुक्त होने का इच्छुक हो जाता है; यही सम्यक्त्व का **संवेग** गुण है। वह जीवमात्र में आत्मतत्व की सत्ता में विश्वास करता हुआ उनके दुःख से दुःखी, और सुख से सुखी होता हुआ, उनके दुःखों का निवारण करने की ओर प्रयत्नशील होता है; यह सम्यक्त्व का **अनुकम्पा** गुण है। सम्यक्त्व का अन्तिम लक्षण है **आस्तिक्य**। वह इस लोक के परे भी आत्मा के शाश्वतपने में विश्वास करता है व परमात्मत्व की ओर बढ़ने में भरोसा रखता हुआ, सच्चे देवशास्त्र व सच्चे गुरु के प्रति श्रद्धा करता है। इस प्रकार मिथ्यात्व को छोड़ सम्यक्त्व के ग्रहण का अर्थ है अधार्मिकता से धार्मिकता में आना; अथवा असम्यता के क्षेत्र से निकलकर सम्यता व सामाजिकता के क्षेत्र में प्रवेश करना। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जीवन के परिष्कार व उसमें क्रान्ति का दिग्दर्शन मनुस्मृति (६,७४) में भी उत्तमता से किया गया है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥

सम्यग्ज्ञान—

उपर्युक्त प्रकार से सम्यक्त्व के द्वारा शुद्ध दृष्टि की साधना हो जाने पर मोक्ष मार्ग पर बढ़ने के लिये दूसरी साधना ज्ञानोपासना है। सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन जीवादि तत्वों में श्रद्धान उत्पन्न हुआ है उनकी विधिवत् यथार्थ जानकारी प्राप्त करना ज्ञान है। दर्शन और ज्ञान में सूक्ष्म भेद की रेखा यह है कि दर्शन का क्षेत्र है अन्तरंग, और ज्ञान का क्षेत्र है बहिरंग। दर्शन आत्मा की सत्ता का भान कराता है, और ज्ञान बाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न करता है। दोनों में परस्पर सम्बन्ध कारण और कार्य का है। जबतक आत्मावधान नहीं होगा, तबतक बाह्य पदार्थों का इन्द्रियों से सन्निकर्ष होने पर भी बोध नहीं हो सकता। अतएव दर्शन की जो सामान्यग्रहण रूप परिभाषा की गई है उसका तात्पर्य आत्म-चैतन्य की उस अवस्था से है, जिसके होने पर मन के द्वारा वस्तुओं का ज्ञान रूप ग्रहण सम्भव है। यह चैतन्य व अवधान पर-पदार्थ-ग्रहण के लिये जिन विशेष इन्द्रियों, मानसिक व आध्यात्मिक वृत्तियों को जागृत करता है,

उनके अनुसार इसके चार भेद हैं—चक्षु-दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल-दर्शन । चक्षु इन्द्रिय पर-पदार्थ के साक्षात् स्पर्श किये बिना निर्दिष्ट दूरी से पदार्थ को ग्रहण करती है । अतएव इस इन्द्रिय-ग्रहण को जागृत करने वाली चक्षुदर्शन रूप वृत्ति उन शेष अचक्षुदर्शन से उद्बुद्ध होनेवाली इन्द्रिय-वृत्तियों से भिन्न है, जो वस्तुओं का श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा व स्पर्श इन्द्रियों से अविरल सन्निकर्ष होने पर होता है । इन्द्रियों के अगोचर, सूक्ष्म, तिरोहित या दूरस्थ पदार्थों का बोध कराने वाले अवधि ज्ञान के उद्भावक आत्म-चैतन्य का नाम अवधिदर्शन है; और जिस आत्मावधान के द्वारा समस्त ज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति जागृत होती है, उस स्वावधान का नाम केवल-दर्शन है ।

मतिज्ञान—

इसप्रकार आत्मावधान रूप दर्शन के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के पांच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल । ज्ञेय पदार्थ और इन्द्रिय-विशेष का सन्निकर्ष होने पर मन की सहायता से जो वस्तुबोध उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है । पदार्थ और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर मन की सचेत अवस्था में जो प्राथमिक 'कुछ है' ऐसा बोध होता है, वह अवग्रह कहलाता है । उस अस्पष्ट वस्तुबोध के सम्बन्ध में विशेष जानने की इच्छा का नाम ईहा है । उसके फलस्वरूप वस्तु का जो विशेष बोध होता है वह अवाय; और उसके कालान्तर में स्मरण करने रूप संस्कार का नाम धारणा है । इसप्रकार मतिज्ञान के ये चार भेद हैं । ज्ञेय पदार्थ संख्या में एक भी हो सकता है, या एक ही प्रकार के अनेक । प्रकार की अपेक्षा से वे बहुत अर्थात् विविध प्रकार के एक-एक हो, या बहुविध; अर्थात् अनेक प्रकार के अनेक । उनका प्रारं-ग्रहण शीघ्र भी हो सकता है या देर से । वस्तु का सर्वांग-ग्रहण भी हो सकता है, या एकांग । उक्त का ग्रहण हो या अनुक्त का; एवं ग्रहण ध्रुव रूप भी हो सकता है, व हीनाधिक अध्रुव रूप भी । इसप्रकार गृहीत पदार्थ की अपेक्षा से अवग्रहादि चारों भेदों के १२-१२ भेद होने से मतिज्ञान के ४८ भेद हो जाते हैं । ग्रहण करने वाली पांचों इन्द्रियों और एक मन, इन छह की अपेक्षा से उक्त ४८ भेद ६ गुणित होकर २८८ (४८×६) हो जाते हैं । ये भेद ज्ञेय-पदार्थ और ग्राहक-इन्द्रियों की अपेक्षा से हैं। किन्तु जब पदार्थ का ग्रहण अव्यक्त प्रणाली से क्रमशः होता है, तब जिसप्रकार कि मिट्टी का कोरा पात्र जलकणों से सिक्त होकर पूर्ण रूप से गीला क्रमशः हो पाता है, तब उस प्रक्रिया को व्यंजनावग्रह कहते हैं । इसके ईहादि तीन भेद न होकर, सदा मन्

और मन की अपेक्षा सम्भव न होने से उसके केवल १×१२×४=४८ भेद होते हैं। इन्हें पूर्वोक्त २८८ भेदों में मिलाकर मतिज्ञान ३३६ प्रकार का बतलाया गया है। इसप्रकार जैन सिद्धान्त में यहां इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का बड़ा सूक्ष्म चिन्तन और विवेचन पाया जाता है; जिसे पूर्णतः समझने के लिये पदार्थभेद, इन्द्रिय-व्यापार व मनोविज्ञान के गहन चिन्तन की आवश्यकता है।

श्रुतज्ञान—

मतिज्ञान के आश्रय से युक्ति, तर्क, अनुमान व शब्दार्थ द्वारा जो परोक्ष पदार्थों की जानकारी होती है, वह श्रुतज्ञान है। इसप्रकार धुएं को देखकर अग्नि के अस्तित्व की; हाथ को देखकर या शब्द को सुनकर मनुष्य की; यात्री के मुख से यात्रा का वर्णन सुनकर विदेश की जानकारी, व शास्त्र को पढ़कर तत्वों की, इस लोक-परलोक को, व आत्मा-परमात्मा आदि की जानकारी; यह सब श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के इन सब प्रकारों में सब से अधिक विशाल, प्रभावशाली और हितकारी वह लिखित साहित्य है, जिसमे हमारे पूर्वजों के चिन्तन और अनुभव का वर्णन व विवेचन संगृहीत है; इसीकारण इसे ही विशेष रूप से श्रुतज्ञान माना गया है। जैनधर्म की दृष्टि से उस श्रुतज्ञान को प्रधानता दी गई है जिसमे अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के धर्मोपदेशों का संग्रह किया गया है। इस श्रुतसाहित्य के मुख्य दो भेद हैं— अंगप्रविष्ट और अंग-बाह्य। अंग प्रविष्ट मे उन आचारांगादि १२ श्रुतांगों का समावेश होता है, जो भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यों द्वारा रचे गये थे; व जिनके विषयादि का परिचय इससे पूर्व साहित्य के व्याख्यान मे कराया जा चुका है। अंग बाह्य में वे दश-वैकालिक, उत्तराध्ययनादि उत्तरकालीन आचार्यों की रचनाएं आती हैं, जो श्रुतांगों के आश्रय से समय समय पर विशेष प्रकार के श्रोताओं के हित की दृष्टि से विशेष विशेष विषयों पर प्रयोजनानुसार संक्षेप व विस्तार से रची गई हैं; और जिनका परिचय भी साहित्य-खंड में कराया जा चुका है। ये दोनों अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष माने गये हैं; क्योंकि वे आत्मा के द्वारा साक्षात् रूप से न होकर, इन्द्रियों व मन के माध्यम द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। तथापि पश्चात्कालीन जैन न्याय की परम्परामें मतिज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होनेकी अपेक्षा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है।

अवधिज्ञान—

आत्मा में एक ऐसी शक्ति मानी गयी है जिसके द्वारा उसे इन्द्रियों के अगोचर

अतिसूक्ष्म, तिरोहित व इन्द्रिय सन्निकर्ष के परे दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को अवधिज्ञान कहा गया है; क्योंकि यह देश की मर्यादा को लिये हुए होता है। अवधिज्ञान के दो भेद हैं—एक भव-प्रत्यय और दूसरा गुण-प्रत्यय। देवों और नारकी जीवों में स्वभावतः ही इस ज्ञान का अस्तित्व पाया जाता है, अतएव वह भव-प्रत्यय हैं। मनुष्यों और पशुओं में यह ज्ञान विशेष गुण या ऋद्धि के प्रभाव से ही प्रकट होता है, और इस कारण इसे गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है। इसके ६, भेद हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित। अनुगामी अवधिज्ञान जहां भी ज्ञाता जाय, वहीं उसके साथ जाता है; किन्तु अननुगामी अवधिज्ञान स्थान-विशेष से पृथक् होने पर छूट जाता है। वर्द्धमान अवधि एक बार उत्पन्न होकर क्रमशः बढ़ता जाता है, और इसके विपरीत हीयमान घटता जाता है। सदैव एकरूप रहनेवाला ज्ञान अवस्थित, एवं अक्रम से कभी घटने व कभी बढ़ने वाला अनवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है। विस्तार की अपेक्षा अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनमें ज्ञेय-क्षेत्र व पदार्थों की पर्यायों के ज्ञान में उत्तरोत्तर अधिक विस्तार व विशुद्धि पाई जाती है। देशावधि एक बार होकर छूट भी सकता है और इसकारण वह प्रतिपाती है। किन्तु परमावधि व सर्वावधि अवधिज्ञान उत्पन्न होकर फिर कभी छूटते नहीं, जबतक कि उनका केवलज्ञान में लय न हो जाय।

मनःपर्ययज्ञान—

मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा दूसरे के मन में चिन्तित पदार्थों का बोध होता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है; किन्तु विपुलमति ज्ञान अप्रतिपाती है; अर्थात् एक बार होकर फिर कभी छूटता नहीं।

केवलज्ञान—

केवलज्ञान के द्वारा विश्वमात्र के समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यों और उनकी त्रिकाल-वर्ती पर्यायों का ज्ञान युगपत् होता है। ये अवधि आदि तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष माने गये हैं; क्योंकि ये साक्षात् आत्मा द्वारा बिना इन्द्रिय व मन की सहायता के उत्पन्न होते हैं। मति और श्रुतज्ञान से रहित जीव कभी नहीं होता, क्योंकि यदि जीव इनके सूक्ष्मतमांश से भी वंचित हो जाय, तो वह जीवत्व से ही च्युत हो जावेगा, और जड़

पदार्थ का रूप धारण कर लेगा। किन्तु यह होना असम्भव है; क्योंकि कोई भी मूल द्रव्य द्रव्यान्तर में परिणत नहीं हो सकता। मति और श्रुतज्ञान का अनुभव सभी मनुष्यों को होता है। अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के भी कहीं कुछ उदाहरण देखने सुनने में आते हैं; किन्तु वे हैं ऋद्धि-विशेष के परिणाम। केवलज्ञान योगि-गम्य है; और जैन मान्यतानुसार इस काल व इस क्षेत्र में किसी को उसका उत्पन्न होना असम्भव है। मति, श्रुत और अवधिज्ञान मिथ्यात्व अवस्था में भी हो सकते हैं; और तब उन ज्ञानों को कुमति, कुश्रु और कुअवधि कहा गया है, क्योंकि उस अवस्था में अर्थ-बोध ठीक होने पर भी वह ज्ञान धार्मिक दृष्टि से स्व-पर हितकारी नहीं होता; उससे हित की अपेक्षा अहित की ही सम्भावना अधिक रहती है। इसप्रकार ज्ञान के कुल आठ भेद कहे गये हैं।

ज्ञान के साधन—

न्याय दर्शन में प्रमाण चार प्रकार का माना गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। ये भेद उत्तरकालीन जैन न्याय मे भी स्वीकार किये गये हैं; किन्तु इनका उपर्युक्त पांच प्रकार के ज्ञानों से कोई विरोध या वैषम्य उपस्थित नहीं होता। यहां प्रत्यक्ष से तात्पर्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से है; जिसे उपर्युक्त प्रमाण-भेदों में परोक्ष कहा गया है; तथापि उसे जैन नैयायिकों ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी है। इसप्रकार वह मतिज्ञान का भेद सिद्ध हो जाता है। शेष जो अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण हैं, उनका समावेश श्रुतज्ञान में होता है।

प्रमाण व नय—

पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—प्रमाणों से और नयों से (प्रमाणनयैरधिगमः। त० सू० १, ६) अभी जो पांच प्रकार के ज्ञानों का वर्णन किया गया वह सब प्रमाण की अपेक्षा से। इन प्रमाणभूत ज्ञानों के द्वारा द्रव्यों का उनके समग्ररूप मे बोध होता है। किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपनी एकात्मक सत्ता रखता हुआ भी अनन्तगुणात्मक और अनन्तपर्यायात्मक हुआ करता है। इन अनन्त गुण-पर्यायों में से व्यवहार में प्रायः किसी एक विशेष गुणधर्म के उल्लेख की आवश्यकता होती है। जब हम कहते हैं उस मोटी पुस्तक को ले आओ, तो इससे हमारा काम चल जाता है, और हमारी अभीष्ट पुस्तक हमारे सम्मुख आ जाती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस पुस्तक में मोटाई के अतिरिक्त अन्य कोई गुण-धर्म नहीं है। अतएव ज्ञान की

दृष्टि से यह सावधानी रखने की आवश्यकता है कि हमारा वचनालाप, जिसके द्वारा हम दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं, ऐसा न हो कि जिससे दूसरे के हृदय में वस्तु की अनेक-गुणात्मकता के स्थान पर एकान्तिकता की छाप बैठ जाय। इसीलिये एकान्त को मिथ्यात्व कहा गया है, और सिद्धान्त के प्रतिपादन में ऐसी वचनशैली के उपयोग का प्रतिपादन किया गया है, जिससे वक्ता का एक-गुणोल्लेखात्मक अभिप्राय भी प्रगट हो जाय; और साथ ही यह भी स्पष्ट बना रहे कि वह गुण अन्य-गुण-सापेक्ष है। जैन दर्शन की यही विचार और वचनशैली अनेकान्त व स्याद्वाद कहलाती है। वक्ता के अभिप्रायानुसार एक ही वस्तु है भी कही जा सकती है; और नहीं भी। दोनों अभिप्रायों के मेल से हां-ना एक मिश्रित वचनभंग भी हो सकता है; और इसी कारण उसे अवक्तव्य भी कह सकते हैं। वह यह भी कह सकता है कि प्रस्तुत वस्तुस्वरूप है भी और फिर भी अवक्तव्य है; नहीं है, और फिर भी अवक्तव्य है; अथवा है भी, नहीं भी है, और फिर भी अवक्तव्य है। इन्ही सात सम्भावनात्मक विचारों के अनुसार सात प्रमाणभंगियां मानी गयी हैं—स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद् अवक्तव्यम्, स्याद् अस्ति-अवक्तव्यम्, स्याद्-नास्ति-अवक्तव्यम् और स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यम्। सम्भवतः एक उदाहरण के द्वारा इस स्याद्वाद शैली की सार्थकता अधिक स्पष्ट की जा सकती है। किसी ने पूछा क्या आप ज्ञानी हैं ? इसके उत्तर में इस भाव से कि मैं कुछ न कुछ तो अवश्य जानता ही हूं—मैं कह सकता हूं कि "मैं स्याद् ज्ञानी हूं।" सम्भव है मुझे अपने ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान का भान अधिक हो और उस अपेक्षा से मैं कहूं कि "मैं स्याद् अज्ञानी हूं।" कितनी बातों का ज्ञान है, और कितनी का नहीं है; अतएव यदि मैं कहूं कि "मैं स्याद् ज्ञानी हूं भी और नहीं भी;" तो भी अनुचित न होगा; और यदि इसी दुविधा के कारण इतना ही कहूं कि "मैं कह नहीं सकता कि मैं ज्ञानी हूं या नहीं" तो भी मेरा वचन असत्य न होगा। इन्ही आधारों पर मैं सत्यता के साथ यह भी कह सकता हूं कि "मुझे कुछ ज्ञान है तो, फिर भी कह नहीं सकता कि आप जो बात मुझसे जानना चाहते हैं, उस पर मैं प्रकाश डाल सकता हूं या नहीं।" इसी बात को दूसरे प्रकार से यों भी कह सकता हूं कि "मैं ज्ञानी तो नहीं हूं, फिर भी सम्भव है कि आपकी बात पर कुछ प्रकाश डाल सकूं"; अथवा इस प्रकार भी कह सकता हूं कि "मैं कुछ ज्ञानी हूं भी, कुछ नहीं भी हूं; अतएव कहा नहीं जा सकता कि प्रकृत विषय का मुझे ज्ञान है या नहीं।" ये समस्त वचन-प्रणालियां अपनी-अपनी सार्थकता रखती हैं, तथापि पृथक्-पृथक् रूप में वस्तु-स्थिति के एक अंश को ही प्रकट करती हैं; उसके पूर्ण स्वरूप को नहीं। इसीलिये जैन

न्याय इस बात पर जोर देता है कि पूर्वोक्त में से अपने अभिप्रायानुसार वक्ता चाहे जिस वचन-प्रणाली का उपयोग करे, किन्तु उसके साथ स्यात् पद अवश्य जोड़ दे, जिससे यह स्पष्ट प्रकट होता रहे कि वस्तुस्थिति में अन्य सम्भावनाएं भी हैं; अतः उसकी बात सापेक्ष रूप से ही समझी जाय। इस प्रकार यह स्याद्वाद प्रणाली कोई अद्वितीय वस्तु नहीं है, क्योंकि व्यवहार में हम बिना स्यात् शब्द का प्रयोग किये भी कुछ उस सापेक्ष-भाव का ध्यान रखते ही हैं। तथापि शास्त्रार्थ में कभी-कभी किसी बात की सापेक्षता की ओर ध्यान न दिये जाने से बड़े-बड़े विरोध और मतभेद उपस्थित हो जाते हैं, जिनमें सामंजस्य बैठाना कठिन प्रतीत होने लगता है। जैन स्याद्वाद प्रणाली द्वारा ऐसे विरोधों और मतभेदों को अवकाश न देने का प्रयत्न किया गया है, और जहां विरोध दिखाई दे जाय, वहां इस स्यात् पद में उसे सुलझाने और सामंजस्य बैठाने की कुंजी भी साथ ही लगा दी गई है। व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार स्यात् अस् धातु का विधिलिंग अन्य पुरुष, एक वचन का रूप है; जिसका अर्थ होता है 'ऐसा हो' 'एक सम्भावना यह भी है'। जैन न्याय में इस पद को सापेक्ष-विधान का वाचक अव्यय बनाकर अपनी अनेकान्त विचारशैली को प्रकट करने का साधन बनाया गया है। इसे अनिश्चय-बोधक समझना कदापि युक्तिसंगत नहीं है।

नय—

पदार्थों के अनन्त गुण और पर्यायों में से प्रयोजनानुसार किसी एक गुण-धर्म सम्बन्धी ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है; और नयों द्वारा ही वस्तु के नाना गुणांशों का विवेचन सम्भव है। वाणी में भी एक समय में किसी एक ही गुण-धर्म का उल्लेख सम्भव है, जिसका यथोचित प्रसंग नयविचार के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि जितने प्रकार के वचन सम्भव हैं, उतने ही प्रकार के नय कहे जा सकते हैं। तथापि वर्गीकरण की सुविधा के लिये नयों की संख्या सात स्थिर की गयी है, जिनके नाम हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। नैगम का अर्थ है—न एकः गमः अर्थात् एक ही बात नहीं। जब सामान्यतः किसी वस्तु की भूत, भविष्यत्, वर्तमान पर्यायों को मिलाजुलाकर बात कही जाती है, तब वक्ता का अभिप्राय नैगम-नयात्मक होता है। जो व्यक्ति आग जला रहा है, वह यदि पूछने पर उत्तर दे कि मैं रोटी बना रहा हूं, तो उसकी बात नैगम नयकी अपेक्षा सच मानी जा सकती है; क्योंकि उसका अभिप्राय यह है कि आग का जलाना उसे प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी, उसके पूछने का अभिप्राय यही था कि अग्नि किसलिये जलाई जा रही है।

यहां यदि नैगम नय के आश्रय से प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता के अभिप्राय को न समझा जाय, तो प्रश्न और उत्तर में हमें कोई संगति प्रतीत नहीं होगी। इसी प्रकार जब चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को कहा जाता है कि आज महावीर तीर्थंकर का जन्म-दिवस है, तब उस हजारों वर्ष पुरानी भूतकाल की घटना की आज के इस दिन से संगति नैगम नय के द्वारा ही बैठाकर बतलाई जा सकती है। संग्रहनय के द्वारा हम उत्तरोत्तर वस्तुओं को विशाल दृष्टि से समझने का प्रयत्न करते हैं। जब हम कहते हैं कि यहां के सभी प्रदेशों के वासी, सभी जातियों के, और सभी पंथों के चालीस करोड़ मनुष्य भारतवासी होने की अपेक्षा एक हैं, अथवा भारतवासी और चीनी दोनों एशियाई होने के कारण एक हैं, अथवा सभी देशों के समस्त संसारवासी जन एक ही मनुष्य जाति के हैं, तब ये सभी बातें संग्रहनय की अपेक्षा सत्य हैं। इसके विपरीत जब हम मनुष्य जाति को महाद्वीपों की अपेक्षा एशियाई, यूरोपीय, अमेरिकन आदि भेदों में विभाजित करते हैं, तथा इनका पुनः अवान्तर प्रदेशों एवं प्रान्तीय, राजनैतिक, धार्मिक, जातीय आदि उत्तरोत्तर अल्प-अल्पतर वर्गों में विभाजन करते हैं, तब हमारा अभिप्राय व्यवहार नयात्मक होता है। इस प्रकार संग्रह और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष हैं, और विस्तार व संकोचात्मक दृष्टियों को प्रकट करनेवाले हैं। दोनों सत्य हैं, और दोनों अपनी-अपनी सार्थकता रखते हैं। उनमें परस्पर विरोध नहीं, किन्तु वे एक दूसरे के परिपूरक हैं, क्योंकि हमें अभेददृष्टि से संग्रह नय का, व भेद दृष्टि से व्यवहार नय का आश्रय लेना पड़ता है। ये नैगमादि तीनों नय द्रव्यार्थिक माने गये हैं; क्योंकि इनमें प्रतिपाद्य वस्तु की द्रव्यात्मकता का ग्रहण कर विचार किया जाता है, और उसकी पर्याय गौण रहता है। ऋजुसूत्रादि अगले चार नय पर्यायार्थिक कहे गये हैं, क्योंकि उनमें पदार्थों की पर्याय-विशेष का ही विचार किया जाता है।

यदि कोई मुझसे पूछे कि तुम कौन हो, और मैं उत्तर दूं कि मैं प्रवक्ता हूं, तो यह उत्तर ऋजुसूत्र नय से सत्य ठहरेगा; क्योंकि मैं उस उत्तर द्वारा अपनी एक पर्याय या अवस्था-विशेष को प्रकट कर रहा हूं, जो एक काल-मर्यादा के लिये निश्चित हो गई है। इस प्रकार वर्तमान पर्यायमात्र को विषय करनेवाला नय ऋजुसूत्र कहलाता है। अगले शब्दादि तीन नय विशेषरूप से सम्बन्ध शब्द-प्रयोग से रखते हैं। जो एक शब्द का एक वाच्यार्थ मान लिया गया है, उसका लिंग या वचन भी निश्चित है, वह शब्दनय से यथोचित माना जाता है। जब हम संस्कृत में स्त्री के लिये कलत्र शब्द का नपुंसक लिंग में, अथवा दारा शब्द का पुलिंग और बहुवचन में प्रयोग करते हैं, एवं देव और देवी शब्द का इनके वाच्यार्थ स्वर्गलोक के प्राणियों के लिये ही करते हैं, तब यह सब

शब्दनय की अपेक्षा से उपयुक्त सिद्ध होता है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति की अपेक्षा भिन्नार्थक शब्दों को जब हम रूढ़ि द्वारा एकार्थवाची बनाकर प्रयोग करते हैं, तब यह बात समभिरूढ़ नय की अपेक्षा उचित सिद्ध होती है। जैसे—देवराज के लिये इन्द्र, पुरन्दर या शक्र; अथवा घोड़े के लिये अश्व, अर्व, गन्धर्व, सैन्धव आदि शब्दों का प्रयोग। इन शब्दों का अपना-अपना पृथक् अर्थ है; तथापि रूढ़िवशात् वे पर्यायवाची बन गये हैं। यही समभिरूढ़ नय है। एवम्भूतनय की अपेक्षा वस्तु की जिस समय जो पर्याय हो, उस समय उसी पर्याय के वाची शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे किसी मनुष्य को पढ़ाते समय पाठक, पूजा करते समय पुजारी, एवं युद्ध करते समय योद्धा कहना।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय—

इन नयों के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार जैन सिद्धान्त में इन नयों के द्वारा किसी भी वक्ता के वचन को सुनकर उसके अभिप्राय की सुसंगति यथोचित वस्तुस्थिति के साथ दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उपर्युक्त सात नय तो यथार्थतः प्रमुख रूप से दृष्टान्त मात्र हैं; किन्तु नयों की संख्या तो अपरिमित है; क्योंकि द्रव्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में जितने प्रकार के विचार व वचन हो सकते हैं, उतने ही उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करनेवाले नय कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, जैन तत्वज्ञान में छह द्रव्य माने गये हैं; किन्तु यदि कोई कहे कि द्रव्य तो यथार्थतः एक ही है, तब नयवाद के अनुसार इसे सत्तामात्र-ग्राही शुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सत्य स्वीकार किया जा सकता है। सिद्धि व मुक्ति जीव की परमात्मावस्था को माना गया है; किन्तु यदि कोई कहे कि जीव तो सर्वत्र और सर्वदा सिद्ध-मुक्त है, तो इसे भी जैनी यह समझकर स्वीकार कर लेगा कि यह बात कर्मोपाधि-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय से कही गई है। गुण और गुणी, द्रव्य और पर्याय, इनमें यथार्थतः भावात्मक भेद है; तथापि यदि कोई कहे कि ज्ञान ही आत्मा है; मनुष्य अमर है; कंकण ही सुवर्ण है; तो इसे भेदविकल्प-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय से सच माना जा सकता है। सिद्धान्तानुसार ज्ञान-दर्शन ही आत्मा के गुण हैं; और रागद्वेष आदि उसके कर्मजन्य विभाव हैं; तथापि यदि कोई कहे कि जीव रागी-द्वेषी है, तो यह बात कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय से मानी जाने योग्य है। चींटी से लेकर मनुष्य तक संसारी जीवों की जातियां हैं; और जीव परमात्मा तब बनता है, जब वह विशुद्ध होकर इन समस्त सांसारिक गतियों से मुक्त हो जाय; तथापि यदि कोई कहे कि चींटी भी परमात्मा है, तो इस बात को भी परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक

नय से ठीक समझना चाहिये। सभी द्रव्य अपने द्रव्यत्व की अपेक्षा चिरस्थायी हैं; किन्तु जब कोई कहता है कि संसार की समस्त वस्तुएं क्षणभंगुर हैं, तब समझना चाहिये कि यह बात वस्तुओं की सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय गुणात्मक अनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय से कही गई है। किसी वस्तु, का दृश्य या मनुष्य का चित्र उस वस्तु आदि से सर्वथा पृथक् है; तथापि जब कोई चित्र देखकर कहता है—यह नारंगी है, यह हिमालय है, ये रामचन्द्र हैं, तब जैन न्याय की दृष्टि अनुसार उक्त बात स्व-जाति असद्भूत-उपनय से ठीक है। यद्यपि कोई भी व्यक्ति अपने पुत्र कलत्रादि बन्धुवर्ग से, व घरद्वारादि सम्पत्ति से सर्वथा पृथक् है; तथापि जब कोई कहता है कि मैं और ये एक हैं; ये मेरे हैं, और मैं इनका हूं, तो यह बात असद्भूत उपचार नय से यथार्थ मानी जा सकती है।

इस प्रकार नयों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें इस न्याय के प्रतिपादक आचार्यों का यह प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है कि मनुष्य के जब, जहां, जिस प्रकार के अनुभव व विचार उत्पन्न हुए, और उन्होंने उन्हें वचनबद्ध किया, उन सब में कुछ न कुछ सत्यांश अवश्य विद्यमान है; और प्रत्येक ज्ञानी का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह उस बात को सुनकर, उसमें अपने निर्धारित मत से कुछ विरोध दिखाई देने पर, उसके खंडन में प्रवृत्त न हो जाय, किन्तु यह जानने का प्रयत्न करे कि वह बात किस अपेक्षा से कहा तक सत्य हो सकती है; तथा उसका अपने निश्चित मत से किस प्रकार सामंजस्य बैठाया जा सकता है। जैन स्याद्वाद, अनेकान्त या नयवाद का दावा तो यह है कि वह अपनी न्यायशैली द्वारा समस्त विरुद्ध दिखाई देनेवाले मतों और विचारों में वक्ताओं के दृष्टिकोण का पता लगाकर उनके विरोध का परिहार कर सकता है; तथा विरोधी को अपने स्पष्टीकरण द्वारा उसके मत की सीमाओं का बोध कराकर, उन्हें अपने ज्ञान का अंग बना ले सकता है।

चार-निक्षेप—

जैन न्याय की इस अनेकान्त-प्रणाली से प्रेरित होकर ही जैनाचार्यों ने प्रकृति के तत्वों की खोज और प्रतिपादन में यह सावधानी रखने का प्रयत्न किया है कि उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न न होने पावे। इसी सावधानी के परिणामस्वरूप हमें चार प्रकार के निक्षेपों और उनके नाना भेद-प्रभेदों का व्याख्यान मिलता है। द्रव्य का स्वरूप नाना प्रकार का है, और उसको समझने-समझाने के लिये हम जिन पद्धतियों का उपयोग करते हैं, वे निक्षेप कहलाती हैं। व्याख्यान में हम वस्तुओं का

उल्लेख विविध नामों व संज्ञाओं के द्वारा करते हैं, जो कही अपनी व्युत्पत्ति के द्वारा, व कहीं रूढ़ि के द्वारा उनकी वाच्य वस्तु को प्रगट करते हैं। इस प्रकार पुस्तक, घोड़ा व मनुष्य, ये ध्वनियां स्वयं वे-वे वस्तुएं नही हैं, किन्तु उन वस्तुओं के नाम निक्षेप हैं, जिनके द्वारा लोक-व्यवहार चलता है। इसी प्रकार यह स्पष्ट समझ कर चलना चाहिये कि मन्दिरों में जो मूर्तियां स्थापित हैं वे देवता नही, किन्तु उन देवों की साकार स्थापना रूप हैं; जिस प्रकार कि शतरंज के मोहरे, हाथी नही, किन्तु उनकी साकार या निराकार स्थापना मात्र हैं; भले ही हम उनमें पूज्य या अपूज्य बुद्धि स्थापित कर लें। यह स्थापना निक्षेप का स्वरूप है। इसी प्रकार द्रव्य-निक्षेप द्वारा हम वस्तु की भूत व भविष्यकालीन पर्यायों या अवस्थाओं को प्रकट किया करते हैं। जैसे, जो पहले कभी राजा थे, उन्हे उनके राजा न रहने पर अब भी, राजा कहते है; या डाक्टरी पढ़नेवाले विद्यार्थी को भी डाक्टर कहने लगते हैं। इनके विपरीत जब हम जो वस्तु जिस समय, जिस रूप में है, उसे, उस समय, उसी अर्थबोधक शब्द द्वारा प्रकट करते हैं, तब यह भावनिक्षेप कहलाता है; जैसे व्याख्यान देते समय ही व्यक्ति को व्याख्याता कहना, और ध्यान करते समय ध्यानी। इसी प्रकार वस्तुविवेचन में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के सम्बन्ध में सतर्कता रखने का; वस्तु को उसकी सत्ता, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्प-बहुत्व के अनुसार समझने; तथा उनके निर्देश स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान की ओर भी ध्यान देते रहने का आदेश दिया गया है; और इस प्रकार जैन शास्त्र के अध्येता को एकान्त दृष्टि से बचाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

सम्यक् चारित्र—

सम्यक्त्व और ज्ञान की साधना के अतिरिक्त कर्मों के संवर व निर्जरा द्वारा मोक्ष सिद्धि के लिये चारित्र की अवश्यकता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि जीवन में धार्मिकता किसप्रकार उत्पन्न होती है। अधार्मिकता के क्षेत्र से निकाल कर धार्मिक क्षेत्र में लानेवाली वस्तु है सम्यक्त्व जिससे व्यक्ति को एक नई चेतना मिलती है कि मैं केवल अपने शरीर के साथ जीने-मरनेवाला नही हूं; किन्तु एक अविनाशी तत्व हूं। यही नही, किन्तु इस चेतना के साथ क्रमशः उसे संसार के अन्य तत्वों का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे उसका अपने जीवन की ओर तथा अपने आसपास के जीवजगत् की ओर दृष्टिकोण बदल जाता है। जहां मिथ्यात्व की अवस्था में अपना स्वार्थ, अपना पोषण व दूसरों के प्रति द्वेष और

ईर्ष्या भाव प्रधान था, वहां अब सम्यक्त्वी को अपने आसपास के जीवों में भी अपने समान आत्मतत्व के दर्शन होने से, उनके प्रति स्नेह, कारुण्य व सहानुभूति की भावना उत्पन्न हो जाती है; और जिन वृत्तियों के कारण जीवों में संघर्ष पाया जाता है, उनसे उसे विरक्ति होने लगती है। उसकी दृष्टि में अब एक ओर जीवन का अनुपम माहात्म्य, और दूसरी ओर जीवों की घोर दुःख उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्तियां स्पष्टतः सम्मुख आ जाती हैं। इस नई दृष्टि के फलस्वरूप उसकी अपनी वृत्ति में वो सम्यक्त्व के उपर्युक्त चार लक्षण-प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य प्रगट होते हैं, उनसे उसकी जीवनधारा में एक नया मोड़ आ जाता है; और वह दुराचरण छोड़कर सदाचारी बन जाता है। इस सदाचार की मूल प्रेरक भावना होती हैं—अपना और पराया हित व कल्याण। आत्महित से परहित का मेल बैठाने में जो कठिनाई उपस्थित होती है, वह है विचारों की विषमता और क्रिया-स्वातंत्र्य। विचारों की विषमता दूर करने में सम्यग्ज्ञानी को सहायता मिलती है स्याद्वाद व अनेकान्त की सामंजस्यकारी विचार-शैली के द्वारा; और आचरण की शुद्धि के लिये जो सिद्धान्त उसके हाथ आता है, वह है अपने समान दूसरे की रक्षा का विचार अर्थात् अहिंसा।

अहिंसा—

जीव-जगत् में एक मर्यादा तक अहिंसा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। पशु-पक्षी और उनसे भी निम्न स्तर के जीव-जन्तुओं में अपनी जाति के जीवों को मारने व खाने की प्रवृत्ति प्रायः नही पाई जाती। सिंह, व्याघ्रादि हिंस्र प्राणी भी अपनी सन्तति की तो रक्षा ही करते हैं; और अन्य जाति के जीवों को भी केवल तभी मारते हैं, जब उन्हें भूख की वेदना सताती है। प्राणिमात्र में प्रकृति की अहिंसोन्मुख वृत्ति की परिचायक कुछ स्वाभाविक चेतनाएं पाई जाती हैं, जिनमें मैथुन, संतानपालन, सामूहिक जीवन आदि प्रवृत्तियां प्रधान हैं। प्रकृति में यह भी देखा जाता है कि जो प्राणी जितनी मात्रा में अहिंसकवृत्ति का होता है, वह उतना ही अधिक शिक्षा के योग्य व उपयोगी सिद्ध हुआ है। बकरी, गाय, भैंस, घोड़ा, ऊंट, हाथी आदि पशु मांसभक्षी नहीं हैं, और इसीलिये वे मनुष्य के व्यापारों में उपयोगी सिद्ध हो सके हैं। यथार्थतः उन्हीं में प्रकृति की शीतोष्ण आदि द्वन्द्वात्मक शक्तियों को सहने और परिश्रम करने की शक्ति विशेष रूप में पाई जाती है। वे हिंस्र पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिये दल बांध कर सामूहिक शक्ति का उपयोग भी करते हुए पाये जाते हैं। मनुष्य तो सामाजिक प्राणी ही है; और समाज तबतक बन ही नहीं सकता जबतक व्यक्तियों में

हिंसात्मक वृत्ति का परित्याग न हो। यही नहीं,समाज बनने के लिये यह भी आवश्यक है कि व्यक्तियों में परस्पर रक्षा और सहायता करने की भावना भी हो। यही कारण है कि मनुष्य-समाज में जितने धर्म स्थापित हुए हैं, उनमे, कुछ मर्यादाओं के भीतर, अहिंसा का उपदेश पाया ही जाता है; भले ही वह कुटुंब, जाति, धर्म या मनुष्य मात्र तक ही सीमित हो। भारतीय सामाजिक जीवन में आदितः जो श्रमण-परम्परा का वैदिक परम्परा से विरोध रहा, वह इस अहिंसा की नीति को लेकर। धार्मिक विधियों में नरबलि का प्रचार तो बहुत पहिले उत्तरोत्तर मन्द पड़ गया था; किन्तु पशुबलि यज्ञक्रियाओं का एक सामान्य अंग बना रहा। इसका श्रमण साधु सदैव विरोध करते रहे। आगे चलकर श्रमणों के जो दो विभाग हुए, जैन और बौद्ध, उन दोनों में अहिंसा के सिद्धान्त पर जोर दिया गया जो अभी तक चला आता है। तथापि बौद्धधर्म में अहिंसा का चिन्तन, विवेचन व पालन बहुत कुछ परिमित रहा। परन्तु यह सिद्धान्त जैनधर्म में समस्त सदाचार की नींव ही नहीं, किन्तु धर्म का सर्वोत्कृष्ट अंग बन गया। अहिंसा परमो धर्मः वाक्य को हम दो प्रकार से पढ़ सकते हैं—तीनों शब्दों को यदि पृथक्-पृथक् पढ़ें तो उसका अर्थ होता है कि अहिंसा ही परम धर्म है; और यदि अहिंसा-परमो को एक समास पद मानें तो वह वाक्य धर्म की परिभाषा बन जाता है, जिसका अर्थ होता है कि धर्म वही है जिसमें अहिंसा को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो। समस्त जैनाचार इसी अहिंसा के सिद्धान्त पर अवलम्बित है; और जितने भी आचार संबंधी व्रत-नियमादि निर्दिष्ट किये गये हैं, वे सब अहिंसा के ही सर्वांग परिपालन के लिये हैं। इसी तथ्य को मनुस्मृति (२, १५९) की इस एक ही पंक्ति में भले प्रकार स्वीकार किया गया है—अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।

श्रावक-धर्म—

मुख्य व्रत पांच हैं—अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह। इसका अर्थ है हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, और परिग्रह मत रखो। इन व्रतों के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन व्रतों के द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियों का नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया है, जो समाज में मुख्य रूप से वैर-विरोध की जनक हुआ करती हैं। दूसरी यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम रीति से कुछ निषेधात्मक नियमों के द्वारा ही किया जा सकता है। व्यक्ति जो क्रियाएं करता है, वे मूलतः उसके स्वार्थ से प्रेरित होती हैं। उन क्रियाओं में कौन अच्छी है, और कौन

बुरी, यह किसी मापदंड के निश्चित होने पर ही कहा जा सकता है। हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील और परिग्रह, ये सामाजिक पाप ही तो हैं। जितने ही अंश में व्यक्ति इनका परित्याग करेगा, उतना ही वह सभ्य और समाज-हितैषी माना जायगा; और जितने व्यक्ति इन व्रतों का पालन करें, उतना ही समाज शुद्ध, सुखी और प्रगतिशील बनेगा। इन व्रतों पर जैन शास्त्रों में बहुत अधिक भार दिया गया है, और उनका सूक्ष्म एवं सुविस्तृत विवेचन किया गया है; जिससे जैन शास्त्रकारों के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के शोधन के प्रयत्न का पता चलता है। उन्होंने प्रथम तो यह अनुभव किया कि सब के लिये सब अवस्थाओं में इन व्रतों का एकसा परिपालन सम्भव नहीं है; अतएव उन्होंने इन व्रतों के दो स्तर स्थापित्र किये-गए और महत् अर्थात् एकांश और सर्वांश। गृहस्थों की आवश्यकता और अनिवार्यता का ध्यान रखकर उन्हें इनका आंशिक अणुव्रत रूप से पालन करने का उपदेश किया; और त्यागी मुनियों को परिपूर्ण महाव्रत रूप से। इन व्रतों के द्वारा जिस प्रकार पापों के निराकरण का उपदेश दिया गया है, उसका स्वरूप संक्षेप में निम्न प्रकार है।

अहिंसाणुव्रत—

प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणघात करना हिंसा है। प्रमाद का अर्थ है-मन को रागद्वेषात्मक कषायों से अछूता रखने में शिथिलता; और प्राण-घात से तात्पर्य है, न केवल दूसरे जीवों को मार डालना, किन्तु उन्हें किसी प्रकार की भी पीड़ा पहुंचाना। इस हिंसा के दो भेद हैं—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। अपनी शारीरिक-क्रिया द्वारा किसी जीव के शरीर को प्राणहीन कर डालना, या वध-बन्धन आदि द्वारा उसे पीड़ा पहुंचाना द्रव्यहिंसा है; और अपने मन में किसी जीव की हिंसा का विचार करना भावहिंसा है। यथार्थः पाप मुख्यतः इस भाव हिंसा में ही है, क्योंकि उसके द्वारा दूसरे प्राणी की हिंसा हो या न हो चिन्तक के स्वयं विशुद्ध अंतरंग का घात तो होता ही है। इसीलिये कहा है:—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥ (सर्वार्थसिद्धि सू० ७,१३)

अर्थात् प्रमादी मनुष्य अपने हिंसात्मक भाव के द्वारा आप ही अपने की हिंसा पहले ही कर डालता है; तत्पश्चात् दूसरे प्राणियों का उसके द्वारा वध हो या न हो। इसके विपरीत यदि व्यक्ति अपनी भावना शुद्ध रखता हुआ शक्ति भर जीव-रक्षा का प्रयत्न करता है, तो द्रव्यहिंसा हो जाने पर भी वह पाप का भागी नहीं होता। इस

सम्बन्ध में दो प्राचीन गाथाएं उल्लेखनीय हैं—

उच्चालियम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज फुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज ॥१॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समये।
जम्हा सो अपमत्तो सा उ पमाउ त्ति णिद्दिट्ठा ॥२॥

अर्थात् गमन सम्बन्धी नियमों का सावधानी से पालन करनेवाले संयमी ने जब अपना पैर उठाकर रखा, तभी उसके नीचे कोई जीव-जन्तु चपेट में आकर मर गया। किन्तु इससे शास्त्रानुसार उस संयमी को लेशमात्र भी कर्मबन्धन नही हुआ, क्योंकि संयमी ने प्रमाद नही किया; और हिंसा तो प्रमाद से ही होती है। भावहिंसा कितनी बुरी मानी गयी है, यह इस गाथा से प्रकट है—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥

अर्थात् जीव मरे या न मरे, जो अपने आचरण में यत्नशील नहीं हैं, वह भाव-मात्र से हिंसा का दोषी अवश्य होता है; और इसके विपरीत, यदि कोई संयमी अपने आचरण मे सतर्क है, तो द्रव्यहिंसा मात्र से वह कर्मबन्ध का भागी नही होता। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा के उपदेश मे भार यथार्थतः मनुष्य की मानसिक शुद्धि पर है।

गृहस्थ और मुनि को जो अहिंसा व्रत क्रमश: अणु व महत् रूप में पालन करने का उपदेश दिया गया है वह जैन व्यवहार दृष्टि का परिणाम है। मुनि तो सूक्ष्म से सूक्ष्म एकेन्द्री से लगाकर किसी भी जीव की जानबूझकर कभी हिंसा नही करेगा, चाहे उसे जीवरक्षा के लिये स्वयं कितना ही क्लेश क्यों न भोगना पड़े। किन्तु गृहस्थ की सीमाओं का ध्यान रखकर उसकी सुविधा के लिये वनस्पति आदि स्थावर हिंसा के त्याग पर उतना भार नहीं दिया गया। द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों के सम्बन्ध में हिंसा के चार भेद किये गये हैं—आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी हिंसा। चलने-फिरने से लेकर झाड़ना बुहारना व चूल्हा-चक्की आदि गृहस्थी संबंधी क्रियाएं आरम्भ कहलाती हैं; जिसमें अनिवार्यतः होनेवाली हिंसा आरम्भी है। कृषि, दुकानदारी, व्यापार, वाणिज्य, उद्योगधन्धे आदि में होनेवाली हिंसा उद्योगी हिंसा है। अपने स्वजनों व परिजनों के, तथा धर्म, देश व समाज की रक्षा के निमित्त जो हिंसा अपरिहार्य हो वह विरोधी हिंसा है; एवं विनोद मात्र के लिये, वैर का बदला चुकाने के लिये, अपना पौरुष दिखाने के लिये, अथवा अन्य किसी कुत्सित स्वार्थभाव से जान-बूझकर जो हिंसा की जाती है, वह संकल्पी हिंसा है। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से गृहस्थ, व्रतरूप

से तो केवल संकल्पी हिंसा का ही त्यागी हो सकता है। शेष तीन प्रकार की हिंसाओं में उसे स्वयं अपनी परिस्थिति और विवेकानुसार संयम रखने का उपदेश दिया गया है।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार—

प्राणघात के अतिरिक्त अन्यप्रकार पीड़ा देकर हिंसा करने के अनेक प्रकार हो सकते हैं, जिनसे बचते रहने की व्रती को आवश्यकता है। विशेषतः परिजनों व पशुओं के साथ पांच प्रकार की क्रूरता को अतिचार (अतिक्रमण) कहकर उनका निषेध किया गया है—उन्हें बांधकर रखना, डंडों, कोड़ों आदि से पीटना, नाक-कान आदि छेदना-काटना, उनकी शक्ति से अधिक बोझा लादना, व समय पर अन्न-पान न देना। इन अतिचारों से बचने के अतिरिक्त, अहिंसा के भाव को दृढ़ करने के लिये पांच भावनाओं का उपदेश दिया गया है—अपने मन के विचारों, वचन-प्रयोगों, गमनागमन, वस्तुओं को उठाने रखने तथा भोजन-पान की क्रियाओं में जागरूक रहना। इस प्रकार जैन-शास्त्र-प्रणीत हिंसा के स्वरूप तथा अहिंसा व्रत के विवेचन से स्पष्ट है कि इस व्रत का विधान व्यक्ति को सुशील, सुसभ्य व समाजहितैषी बनाने, और उसे अनिष्टकारी प्रवृत्तियों से रोकने के लिये किया है, और इस संयम की आज भी संसार में अत्यधिक आवश्यकता है। जिस प्रकार यह व्रत व्यक्ति के आचरण का शोधन करता है, उसी प्रकार वह देश और समाज की नीति का अंग बनकर संसार में सुख और शान्ति की स्थापना कराने में भी सहायक हो सकता है। अहिंसा के इसी सद्गुण के कारण ही यह सिद्धान्त जैन व बौद्ध धर्मों तक ही सीमित नहीं रहा, किन्तु यह वैदिक परम्परा में भी आज से शताब्दियों पूर्व प्रविष्ट हो चुका है, तथा एक प्रकार से समस्त देश पर छा गया है; और इसीलिये हमारे देश ने अपनी राजनीति के लिये अहिंसा को आधारभूत सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है।

सत्याणुव्रत व उसके अतिचार—

असद् वचन बोलना—अनृत, असत्य, मृषा या झूठ कहलाता है। असत् का अर्थ है जो सत् अर्थात् वस्तुस्थिति के अनुकूल एवं हितकारी नहीं है। इसीलिये शास्त्र में कहा गया है कि सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, सत्य को इस प्रकार मत बोलो कि वह दूसरे को अप्रिय हो जाय। इस प्रकार सत्य-भाषण व्रत की मूल भावना आत्म-परिणामों की शुद्धि तथा स्व व परकीय पीड़ा व अहित रूप हिंसा का निवारण ही है। इसके पालन में गृहस्थ के

अणुव्रत की सीमा यह है कि यदि स्नेह या मोहवश तथा स्व-पर-रक्षा निमित्त असत्य भाषण करने का अवसर आ जाय, तो वह उससे विशेष पाप का भागी नहीं होता, क्योंकि उसकी भावना मूलतः दूषित नहीं है; और पाप-पुण्य विचार में द्रव्यक्रिया से भावक्रिया का महत्व अधिक है। किन्तु झूठा उपदेश देना, किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना, झूठे लेख तैयार करना, किसी की धरोहर को रखकर भूल जाना या उसे कम बतलाना, अथवा किसी की अंग-चेष्टाओं व इशारों आदि से समझकर उसके मन्त्र के भेद को खोल देना, ये पांच इस व्रत के अतिचार हैं, जो स्पष्टतः सामाजिक जीवन मे बहुत हानिकर हैं। सत्यव्रत के परिपालन के लिये जिन पांच भावनाओं का विधान किया गया है वे हैं—क्रोध, लोभ, भीरुता, और हंसी-मजाक इन चार का परित्याग, तथा भाषण में औचित्य रखने का अभ्यास।

अस्तेयाणुव्रत व उसके अतिचार—

विना दी हुई किसी भी वस्तु को ले लेना अदत्तादान रूप स्तेय या चोरी है। अणुव्रती गृहस्थ के लिये आवश्यक मात्रा में जल-मृत्तिका जैसी उन वस्तुओं को लेने का निषेध नही, जिन पर किसी दूसरे का स्पष्ट अधिकार व रोक न हो। महाव्रती मुनि को तिल-तुष मात्र भी विना दिये लेने का निषेध है। स्वयं चोरी न कर दूसरे के द्वारा चोरी कराना, चोरी के धन को अपने पास रखना, राज्य द्वारा नियत सीमाओं के बाहर वस्तुओं का आयात-निर्यात करना, माप-तौल के बांट नियत परिमाण से हीनाधिक रखना, और नकली वस्तुओं को असली के बदले में चलाना—ये पांच अचौर्य अणुव्रत के अतिचार हैं, जिनका गृहस्थ को परित्याग करना चाहिये। मुनि के लिये तो यहां तक विधान किया गया है कि उन्हे केवल पर्वतों की गुफाओं में व वृक्षकोटर या परित्यक्त घरों में ही निवास करना चाहिये। ऐसे स्थान का ग्रहण भी न करना चाहिये जिससे किसी दूसरे के निस्तार में बाधा पहुंचे। भिक्षा द्वारा ग्रहण किये हुए अन्न में यहां तक शुद्धि का विचार रखना चाहिये कि वह आवश्यक मात्रा से अधिक न हो। मुनि अपने सहधर्मी साधुओं के साथ मेरे-तेरे के विवाद में न पड़े। इस प्रकार इस व्रत द्वारा व्यापार में सचाई और ईमानदारी तथा साधु-समाज में पूर्ण निस्पृहता की स्थापना का प्रयत्न किया गया है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत व उसके अतिचार—

स्त्री-अनुराग व कामक्रीड़ा के परित्याग का नाम अव्यभिचार या ब्रह्मचर्य व्रत

है। अणुव्रती श्रावक या श्राविका अपने पति-पत्नी के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्री-पुरुषों से माता, बहन, पुत्री अथवा पिता, भाई व पुत्र सदृश शुद्ध व्यवहार रखें और महाव्रती तो सर्वथा ही काम-क्रीड़ा का परित्याग करें। दूसरे का विवाह कराना, गृहीत या वेश्या गणिका के साथ गमन, अप्राकृतिक रूप से कामक्रीड़ा करना, और काम की तीव्र अभिलाषा होना, ये पांच इस व्रत के अतिचार हैं। शृंगारात्मक कथावार्ता सुनना, स्त्री-पुरुष के मनोहर अंगों का निरीक्षण, पहले की काम-क्रीड़ा आदि का स्मरण, काम-पोषक रस औषधि आदि का सेवन, तथा शरीर-शृंगार, इन पांचों प्रवृत्तियों का परित्याग करना इस व्रत को दृढ़ करनेवाली पांच भावनाएं हैं। इस प्रकार इस व्रत के द्वारा व्यक्ति की काम-वासना को मर्यादित तथा समाज से तत्सम्बन्धी दोषों का परिहार करने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

अपरिग्रहाणुव्रत व उसके अतिचार—

पशु, परिजन आदि सजीव, एवं घर-द्वार, धन-धान्य आदि निर्जीव वस्तुओं में ममत्व बुद्धि रखना परिग्रह है। इस परिग्रह रूप लोभ का पारावार नहीं, और इसी लोभ के कारण समाज में बड़ी आर्थिक विषमताएं तथा वैर-विरोध व संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसलिये इस वृत्ति के निवारण व नियंत्रण पर विशेष जोर दिया गया है। राज्य-नियमों के द्वारा परिग्रहवृत्ति को सीमित करने के प्रयत्न सर्वथा असफल होते हैं; क्योंकि उनसे जनता की मनोवृत्ति तो शुद्ध होती नहीं, और इसलिये बाह्य नियमन से उनकी मानसिक वृत्ति छल-कपट अनाचार की ओर बढ़ने लगती है। इसीलिये धर्म में परिग्रहवृत्ति को मनुष्य की आभ्यन्तर चेतना द्वारा नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया है। महाव्रती मुनियों को तो तिलतुषमात्र भी परिग्रह रखने का निषेध है। किन्तु गृहस्थों के कुटुम्ब-परिपालनादि कर्तव्यों का विचार कर उनसे स्वयं अपने लिये परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेने का अनुरोध किया गया है। एक तो उन्हें उस सीमा से बाहर धन-धान्य का संचय करना ही नहीं चाहिये; और यदि अनायास ही उसकी आमद हो जावे, तो उसे औषधि, शास्त्र, अभय और आहार, अर्थात् औषधि-वितरण व औषध-शालाओं की स्थापना, शास्त्रदान या विद्यालयों की स्थापना, जीव-रक्षा सम्बन्धी व्यवस्थाओं में, तथा अन्न-वस्त्रादि दान में उस द्रव्य का उपयोग कर देना चाहिये। नियत किये हुए भूमि, घरद्वार, सोना-चांदी, धन-धान्य, दास-दासी तथा बर्तन-भांडों के प्रमाण का अतिक्रमण करना इस व्रत के अतिचार हैं। इस परिग्रह-परिमाण व्रत को दृढ़ कराने वाली पांच भावनाएं हैं—पांचों इन्द्रियों सम्बन्धी मनोज्ञ वस्तुओं के प्रति

राग व अमनोज्ञ के प्रति द्वेष-भाव का परित्याग, क्योंकि इसके बिना मानसिक परिग्रह-त्याग नहीं हो सकता।

मैत्री आदि चार भावनाएं—

उपर्युक्त व्रतों के परिपालन योग्य मानसिक शुद्धि के लिये ऐसी भावनाओं का भी विधान किया गया है, जिनसे उक्त पापों के प्रति अरुचि और सदाचार के प्रति रुचि उत्पन्न हो। व्रती को बारम्बार यह विचार करते रहना चाहिये कि हिंसादिक पाप इस लोक और परलोक में दुःखदायी हैं; और उनसे जीवन में बड़े अनर्थ उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण अन्ततः वे सब सुख की अपेक्षा दुःख का ही अधिक निर्माण करते हैं। उक्त पापों के प्रलोभन का निवारण करने के लिये संसार के व शरीर के गुणधर्मों की क्षणभंगुरता की ओर भी ध्यान देते रहना चाहिये, जिससे विषयों के प्रति आसक्ति न हो और सदाचारी जीवन की ओर आकर्षण उत्पन्न हो। जीवमात्र के प्रति मैत्री भावना, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दीन-दुखियो के प्रति कारुण्य, तथा विरोधियों के प्रति रागद्वेष व पक्षपात के भाव से रहित माध्यस्थ-भाव, इन चार वृत्तियों का मन को अभ्यास कराते रहना चाहिये, जिससे तीव्र रागद्वेषात्मक अनर्थकारी दुर्भावनाएं जागृत न होने पावें। इन समस्त व्रतों का मन से, वचन से, काय से परिपालन करने का अनुरोध किया गया है, और उनके द्वारा त्यागे जाने वाले पापों को केवल स्वयं न करने की प्रतिज्ञा मात्र नहीं, किन्तु अन्य किसी से उन्हे कराने व किये जाने पर उस कुकृत्य का अनुमोदन करने के विरुद्ध भी प्रतिज्ञा अर्थात् उनका कृत, कारित व अनुमोदित तीनों रूपों में परित्याग करने पर जोर दिया गया है। इस प्रकार इस नैतिक सदाचार द्वारा जीवन को शुद्ध और समाज को सुसंस्कृत बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

तीन गुणव्रत—

उक्त पांच मूलव्रतो के अतिरिक्त गृहस्थ के लिये कुछ अन्य ऐसे व्रतों का विधान भी किया गया है कि जिनसे उसकी तृष्णा व संचयवृत्ति का नियंत्रण हो, इन्द्रिय-लिप्सा का दमन हो, और दानशीलता जागृत हो। उसे चारों दिशाओं में गमनागमन, आयात-निर्यातादि की सीमा बांध लेनी चाहिये—यह दिग्व्रत कहा गया है। अल्पकाल मर्यादा सहित दिग्व्रत के भीतर समुद्र, नदी, पर्वत, पहाड़ी, ग्राम व दूरी प्रमाण के अनुसार सीमाएं बांधकर अपना व्यापार चलाना चाहिये, यह उसका देशव्रत होगा। पापात्मक चिन्तन व उपदेश, तथा दूसरों को अस्त्र-शस्त्र, विष, बन्धन आदि ऐसी वस्तुओं का

दान, जिनका वह स्वयं उपयोग नहीं करना चाहता, अनर्थदण्ड कहा गया है, जिनका गृहस्थ को त्याग करना चाहिये। इन तीन व्रतों के अभ्यास से मूलव्रतों के गुणों की वृद्धि होती है; और इसीलिये इन्हें गुणव्रत कहा गया है।

चार शिक्षाव्रत—

गृहस्थ को सामायिक का भी अभ्यास करना चाहिये। सामायिक का अर्थ है—समताभाव का ग्रहण। मनकी साम्यावस्था यह है जिसमें हिंसादि समस्त पाप-वृत्तियों का शमन हो जाय। इसीलिये सामायिक की अपेक्षा समस्त व्रत एक ही कहे गये हैं, और इसी पर महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों द्वारा जोर दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं। इस भावना के अभ्यास के लिये गृहस्थ को प्रतिदिन प्रभात, मध्याह्न सायंकाल आदि किसी भी समय कम से कम एक बार एकान्त में शान्त और शुद्ध वातावरण में बैठकर, अपने मन को सांसारिक चिन्तन से निवृत्त करके, शुद्ध ध्यान अथवा धर्म-चिन्तन में लगाने का आदेश दिया गया है। इसे ही व्यवहार में जैन लोग सन्ध्या कहते हैं। खान-पान व गृह-व्यापारादि का त्यागकर देव-वन्दन पूजन तथा जप व शास्त्र-स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओं में ही दिन व्यतीत करना प्रोषधोपवास कहलाता है। इसे गृहस्थ यथाशक्ति प्रत्येक पक्ष की अष्टमी-चतुर्दशी को करे, जिससे उसे भूख प्यास की वेदना पर विजय प्राप्त हो। प्रतिदिन के आहार में से विशेष प्रकार खट्टे-मीठे रसों का, फल-अन्नादि वस्तुओं का तथा वस्त्राभूषण शयनासन व वाहनादि के उपयोग का त्याग करना व सीमा बांधना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है। अपने गृह पर आये हुए मुनि आदि साधुजनों को सत्कार पूर्वक आहार औषध आदि दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है। ये चारों शिक्षाव्रत कहलाते हैं; क्योंकि इनसे गृहस्थ को धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। सामान्य रूप से ये सातों व्रत सप्तशील या सप्त शिक्षापद भी कहे गये हैं। इन समस्त व्रतों के द्वारा जीवन का परिशोधन करके गृहस्थ को मरण भी धार्मिक रीति से करना सिखाया गया है।

सल्लेखना—

महान् संकट, दुर्भिक्ष, असाध्य रोग, व वृद्धत्व की अवस्था में जब साधक को यह प्रतीत हो कि वह उस विपत्ति से बच नहीं सकता, तब उसे कराह-कराह कर व्याकुलता पूर्वक मरने की अपेक्षा यह श्रेयस्कर है कि वह क्रमशः अपना आहारपान इस विधि से घटाता जावे जिससे उसके चित्त में क्लेश व व्याकुलता उत्पन्न न हो;

और वह शान्तभाव से अपने शरीर का उसी प्रकार त्याग कर सके; जैसे कोई धनी पुरुष अपने गृह को सुख का साधन समझता हुआ भी उसमें आग लगने पर स्वयं सुरक्षित निकल आने में ही अपना कल्याण समझता है। इसे सल्लेखना या समाधिमरण कहा गया है। इसे आत्मघात नहीं समझना चाहिये; क्योंकि आत्मघात तीव्र रागद्वेष-वृत्ति का परिणाम है; और वह शस्त्र व विषके प्रयोग, भृगुपात आदि घातक क्रियाओं द्वारा किया जाता है, जिनका कि सल्लेखना में सर्वथा अभाव है। इस प्रकार यह योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण, जीवन संबंधी सुयोजना का एक अंग है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं—

पूर्वोक्त गृहस्थ धर्म के व्रतों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट दिखाई देगा कि वह धर्म सब व्यक्तियों के लिये, सब काल में, पूर्णतः पालन करना सम्भव नहीं है। इसीलिये परिस्थितियों, सुविधाओं तथा व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक वृत्तियों के अनुसार श्रावकधर्म के ग्यारह दर्जे नियत किये गये हैं जिन्हें श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं कहते हैं। गृहस्थ की प्रथम प्रतिमा उस सम्यग्दृष्टि (दर्शन) की प्राप्ति के साथ प्रारम्भ हो जाती है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यह प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक किसी भी व्रत का विधिवत् पालन नहीं करता। सम्भव है वह चाण्डाल कर्म करता हो, तथापि आत्म और पर की सत्ता का भान हो जाने से उसकी दृष्टि शुद्ध हुई मानी गई है, जिसके प्रभाव से वह पशु व नरक योनि में जाने से बच जाता है। तात्पर्य यह है कि भले ही परिस्थिति वश वह अहिंसादि व्रतों का पालन न कर सके; किन्तु जब दृष्टि सुधर गई, तब वह भव्य सिद्ध हो चुका; और कभी न कभी चारित्र-शुद्धि प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी हुए बिना नहीं रह सकता।

श्रावक की दूसरी प्रतिमा उसके अहिंसादि पूर्वोक्त व्रतों के विधिवत् ग्रहण करने से प्रारम्भ होती है; और यह क्रमशः पांच अणुव्रतों व सातों शिक्षापदों का निरतिचार पालन करने का अभ्यास करता जाता है। तीसरी प्रतिमा सामायिक है। यद्यपि सामायिक का अभ्यास पूर्वोक्त शिक्षाव्रतों के भीतर दूसरी प्रतिमा में ही प्रारम्भ हो जाता है, तथापि इस तीसरी प्रतिमा में ही उसकी यह साधना ऐसी पूर्णता को प्राप्त होती है जिससे उसे अपने क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त हो जाती है, और सामान्यतः सांसारिक उत्तेजनाओं से उसकी शान्ति भंग नहीं होती; तथा वह अपने मन को कुछ काल आत्मध्यान में निराकुलतापूर्वक लगाने में समर्थ हो जाता है।

चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा में वह उस उपवासविधि का पूर्णतः पालन करने

में समर्थ होता है जिसका अभ्यास वह दूसरी प्रतिमा में प्रारम्भ कर चुका है; और जिसका स्वरूप ऊपर वर्णित किया जा चुका है। पांचवीं सचित्त-त्याग प्रतिमा में श्रावक अपनी स्थावर जीवों सम्बन्धी हिंसावृत्ति को विशेषरूप से नियंत्रित करता है और हरे शाक, फल, कन्द-मूल तथा अप्रासुक अर्थात् बिना उबाले जल के आहार का त्याग कर देता है। छठी प्रतिमा में वह रात्रि भोजन करना छोड़ देता है, क्योंकि रात्रि में कीट पतंगादि क्षुद्र जन्तुओं द्वारा आहार के दूषित हो जाने की सम्भावना रहती है। सातवीं प्रतिमा में श्रावक पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाता है, और अपनी स्त्री से भी काम-क्रीड़ा करना छोड़ देता है, यहां तक कि रागात्मक कथा-कहानी पढ़ना-सुनना भी छोड़ देता है, व तत्सम्बन्धी वार्तालाप भी नहीं करता। आठवीं प्रतिमा आरम्भ-त्याग की है, जिसमें श्रावक की सांसारिक आसक्ति इतनी घट जाती है कि वह घर-गृहस्थी सम्बन्धी काम-धंधे व व्यापार में रुचि न रख, उसका भार अपने पुत्रादि पर छोड़ देता है।

नौवीं प्रतिमा परिग्रह-त्याग की है। श्रावक ने जो अणुव्रतों में परिग्रह-परिमाण का अभ्यास प्रारम्भ किया था, वह इस प्रतिमा में आने तक ऐसे उत्कर्ष को पहुंच जाता है कि गृहस्थ को अपने घर-सम्पत्ति व धन-दौलत से कोई मोह नहीं रहता। वह अब इस सब को भी अपने पुत्रादि को सौंप देता है, और अपने लिये भोजन-वस्त्र मात्र का परिग्रह रखता है। दसवीं प्रतिमा में उसकी विरक्ति एक दर्जे आगे बढ़ती है, और वह अब अपने पुत्रादि को कामधंधों सम्बन्धी अनुमति देना भी छोड़ देता है। ग्यारहवीं प्रतिमा उद्दिष्ट-त्याग की है, जहां पर श्रावक धर्म अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है। इस प्रतिमा के दो अवान्तर भेद हैं—एक 'क्षुल्लक' और दूसरा 'ऐलक'। प्रथम प्रकार का उद्दिष्टत्यागी एक वस्त्र धारण करता है; कैंची, छुरे से अपने बाल बनवा लेता है, तथा पात्र में भोजन कर लेता है। किन्तु दूसरा उद्दिष्ट-त्यागी वस्त्र के नाम पर केवल कोपीन मात्र धारण करता है, स्वयं केशलोंच करता है, पीछी-कमंडल रखता है, और भोजन केवल अपने हाथ में लेकर ही करता है, थाली आदि पात्र में नहीं। इस उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा का सार्थक लक्षण यह है कि इसमें श्रावक अपने निमित्त बनाया गया भोजन नहीं करता। वह भिक्षावृत्ति स्वीकार कर लेता है।

इन प्रतिमाओं में दिखाई देगा कि जिन व्रतों का समावेश बारह-व्रतों के भीतर हो चुका है; और जिनके पालन का विधान दूसरी प्रतिमा में ही किया जा चुका है, उन्हीं की प्रायः अन्य प्रतिमाओं में भी पुनरावृत्ति हुई है। किन्तु उनमें भेद यह है कि जिन-जिन व्रतों का विधान ऊपर की प्रतिमाओं में किया गया है, उनकी परिपूर्णता वहीं पर होती है। अभ्यास के लिये भले ही निचली प्रतिमाओं में भी

उनका ग्रहण किया गया हो। यों व्यवहार मे प्रथम प्रतिमा से ही निशि-भोजन त्याग पर जोर दिया जाता है, जिसका प्रतिमानुसार विधान छठवें दर्जे पर आता है। तात्पर्य यह है कि वह त्याग गुरुजनों के सम्मुख प्रतिज्ञा लेकर उसी प्रतिमा में किया जाता है, और फिर उस व्रत का उल्लंघन करना बड़ा दूषण समझा जाता है। यह व्यवस्था एक उदाहरण द्वारा समझाई जा सकती है। प्रथम वर्ग में पढ़नेवाले विद्यार्थी की एक पाठ्य-पुस्तक नियत है, जिसका यथोचित ज्ञान हुए बिना वह दूसरी कक्षा में जाने योग्य नहीं माना जाता। किन्तु उस वर्ग में होते हुए भी द्वितीयादि वर्गों की पुस्तकों का पढ़ना उसकेलिये वर्ज्य नहीं, अपितु एक प्रकार से वांछनीय ही है। तथापि वह प्रथम वर्ग में उसके पूर्ण ज्ञान व परीक्षा का विषय नहीं माना जाता। इसीप्रकार व्रतों की साधना यथाशक्ति पहली या दूसरी प्रतिमा से ही प्रारम्भ हो जाती है, किन्तु उनका विधिवत् पूर्ण परिपालन उत्तरोत्तर ऊपर की प्रतिमाओं मे होता है। यह व्यवस्था जैन-अनेकान्त दृष्टि के अनुकूल है।

मुनिधर्म---

उपर्युक्त श्रावक की सर्वोत्कृष्ट ग्यारहवीं प्रतिमा के पश्चात् मुनिधर्म का प्रारम्भ होता है, जिसमें आदितः परिग्रह का पूर्णरूप से परित्याग कर नग्न-वृत्ति धारण की जाती है, और अहिंसादि पांच व्रत महाव्रतों के रूप में पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। मुनि को अपने चलने फिरने में विशेष सावधानी रखना पड़ती है। अपने आगे चार-हाथ पृथ्वी देख-देख कर चलना पड़ता है, और अन्धकार में गमन नही किया जाता; इसी का नाम ईर्या समिति है। निन्दा व चापलूसी, हंसी, कटु आदि दूषित भाषा का परित्याग कर मुनि को सदैव संयत, नपीतुली, सत्य, प्रिय और कल्याणकारी वाणी का ही प्रयोग करना चाहिये। यह मुनि की भाषा समिति है। भिक्षा द्वारा केवल शुद्ध निरामिष आहार का निर्लोभ भाव से ग्रहण करना मुनि की एषणा समिति है। जो कुछ थोड़ी बहुत वस्तुएं निर्ग्रंथ मुनि अपने पास रख सकता है, वे ज्ञान व चरित्र के परिपालन-निमित्त ही हुआ करती हैं; जैसे ज्ञानार्जन के लिये शास्त्र, जीव रक्षा-निमित्त पिच्छिका एवं शौच-निमित्त कमंडल। ये क्रमशः ज्ञानोपधि, संयमोपधि और शौचोपधि कहलाती हैं। इनके रखने व ग्रहण करने में भी जीव-रक्षा निमित्त सावधानी रखनी आदाननिक्षेप समिति है। मल-मूत्रादि का त्याग किसी दूर, एकान्त, सूखे व जीव-जन्तु रहित ऐसे स्थान पर करना जिससे किसी को कोई आपत्ति न हो, यह मुनि की प्रतिस्थापन समिति है।

चक्षु आदि पांचों इन्द्रियों का नियंत्रण करना, उन्हें अपने-अपने विषयों की ओर लोलुपता से आकर्षित न होने देना, ये मुनियों के पांच इन्द्रिय-निग्रह हैं। जीव मात्र में, मित्र-शत्रु में, दुःख-सुख में, लाभ-अलाभ में, रोष-तोष भाव का परित्याग कर समताभाव रखना, तीर्थंकरों की गुणानुकीर्तन रूप स्तुति करना, अर्हन्त व सिद्ध की प्रतिमाओं व आचार्यादि की मन-वचन-काय से प्रदक्षिणा-प्रणाम आदि रूप वन्दना करना; नियमितरूप से आत्मशोधन-निमित्त अपने अपराधों की निन्दा-गर्हा रूप प्रतिक्रमण करना, समस्त अयोग्य आचरण का परित्यजन, अर्थात् अनुचित नाम नहीं लेना, अनुचित स्थापना नहीं करना, एवं अनुचित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परित्याग रूप प्रत्याख्यान; तथा अपने शरीर से भी ममत्व छोड़ने रूप विसर्गभाव रखना, ये छह मुनियों की आवश्यक क्रियाएं हैं। समय-समय पर अपने हाथों से केशलोंच, अचेलकवृत्ति, स्नानत्याग, दन्तधावन-त्याग, क्षितिशयन, स्थितिभोजन अर्थात् खड़े रह कर आहार करना, और मध्यान्ह काल में केवल एक बार भोजन करना, ये मुनि की अन्य सात विशेष साधनाएं हैं। इसप्रकार मुनियों के कुल अट्ठाइस मूलगुण नियत किये गये हैं।

२२ परीषह—

उपर्युक्त नियमों से यह स्पष्ट है कि साधु की मुख्य साधना है समत्व, जिसे भगवद्गीता में भी योग का मुख्य लक्षण कहा है (समत्वं योग उच्यते)। इस समताभाव को भग्न करने वाली अनेक परिस्थितियों का मुनि को सामना करना पड़ता है, और वे ही स्थितियां मुनि के समत्व की परीक्षा के विशेष स्थल हैं। ऐसी परिस्थितियां तो असंख्यात हो सकती हैं किन्तु उनमें से बाईस का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है, और सन्मार्ग से च्युत न होने के लिये तत्सम्बन्धी कष्टों पर विजय प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। साधु अपने पास न खाने-पीने का सामान रखता, और न स्वयं पकाकर खा सकता। उसे इसके लिये भिक्षा वृत्ति पर अवलंबित रहना पड़ता है; सो भी दिन में केवल एक बार। उसे समय-समय पर एक व अनेक दिनों के लिये उपवास भी करना पड़ता है। अतएव बीच-बीच में उसे भूख-प्यास सतावेंगे ही। इसीलिये क्षुधा (१) और तृषा (२) परीषह उसे आदि में ही जीतना चाहिये। वस्त्रों के अभाव में उसे शीत, उष्ण (३-४), डांस-मच्छर (५) व नग्नता (६) के कष्ट होना अनिवार्य है, जिन्हें भी उसे शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिये। एकान्त में रहने, उक्त भूख-प्यास आदि को यथार्थ सहने तथा इन्द्रिय-विषयों के अभाव से उसे मुनि

अवस्था से कभी अरुचि भी उत्पन्न हो सकती है। इस अरति परीषह को भी उसे जीतना चाहिये (७)। मुनि को जब-तब और विशेषतः भिक्षा के समय नगर व ग्राम में परिभ्रमण करते हुए व गृहस्थों के घरों में सुन्दर व युवती स्त्रियों का एवं उनके हाव-भाव-विलासों का दर्शन होना अनिवार्य है। इससे उसके मन में चंचलता उत्पन्न हो सकती है, जिसे जीतना स्त्री-परीषह-जय कहलाता है (८)। मुनि को वर्षाऋतु के चार माह छोड़कर शेष-काल में एक स्थान पर अधिक न रह कर देश-परिभ्रमण करते रहना चाहिये। इस निरंतर यात्रा से उसे मार्ग की अनेक कठिनाइयां सहनी पड़ती हैं; यही मुनि का चर्या परीषह है(९)। ठहरने के लिये मुनि को श्मशान, वन, ऊजड़ घर, पर्वत-गुफाओं आदि का विधान किया गया है, जहां उन्हें नाना-प्रकार की, यहां तक कि सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं द्वारा आक्रमण की, बाधाएं सहनी पड़ती हैं; यही साधु का निषद्या परीषह-विजय है(१०)। मुनि को किंचित् काल शयन के लिये खर विषम, शिलातल आदि ही मिलेंगे; इसका क्लेश सहन करना शय्या-परीषह-जय है (११)। विरोधी जन मुनि को बहुधा गाली-गलौच भी कर बैठते हैं, इसे सहन करना आक्रोश परीषह-जय है (१२)। यदि कोई इससे भी आगे बढ़कर मार-पीट कर बैठे, तो उसे भी सहन करना वध-परीषह-जय है (१३) मुनि को अपने आहार, वसति, औषध आदि के लिये गृहस्थों से याचना ही करनी पड़ती है (१४)। किन्तु इस कार्य में अपने मे दीनता भाव न आने देने को याचना-परीषह-जय; तथा याचित वस्तु का लाभ न होने पर रुष्ट न होकर अलाभ से उसे अपनी तपस्या की वृद्धि में लाभ ही हुआ, ऐसा समझकर सन्तोष भाव रखने को अलाभ-विजय कहते हैं (१५)। यदि शरीर किसी रोग, व्याधि व पीड़ा के वशीभूत हो जाय तो उसे शान्तिपूर्वक सहने का नाम रोग-विजय है (१६) चर्या, शय्या व निषद्यादि के समय जो कुछ तृण, कांटा कंकड़ आदि चुभने की पीड़ा हो, उसे सहना तृणस्पर्श-विजय है (१७)। साधु को अपने शरीर से मोह छोड़ने के लिये जो स्नान न करने, दन्तादि अंग-प्रत्यंगों को साफ न करने तथा शरीर का अन्य किसी प्रकार भी संस्कार न करने के कारण उत्पन्न होनेवाली मलिनता से घृणा व खेद का भाव उत्पन्न न होने देने को मल परीषह-विजय कहते हैं (१८)। सामान्यतया व्यक्ति को विशेष सत्कार-पुरस्कार मिलने से हर्ष, और न मिलने से रोष व खेद का भाव उत्पन्न होता है। किन्तु मुनि को उक्त दोनों अवस्थाओं में रोष-तोष की भावना से विचलित नहीं होना चाहिये। यह उसका सत्कार-पुरस्कार विजय है (१९)। विशेष ज्ञान का मद होना भी बहुत सामान्य है। साधु इस मद से मुक्त रहे, यह उसका प्रज्ञा-विजय (२०)। एवं ज्ञान न

चक्षु आदि पांचों इन्द्रियों का नियंत्रण करना, उन्हें अपने-अपने विषयों की ओर लोलुपता से आकर्षित न होने देना, ये मुनियों के पांच इन्द्रिय-निग्रह हैं। जीव मात्र में, मित्र-शत्रु में, दुःख-सुख में, लाभ-अलाभ में, रोष-तोष भाव का परित्याग कर समताभाव रखना, तीर्थंकरों की गुणानुकीर्तन रूप स्तुति करना, अर्हन्त व सिद्ध की प्रतिमाओं व आचार्यादि की मन-वचन-काय से प्रदक्षिणा-प्रणाम आदि रूप वन्दना करना; नियमितरूप से आत्मशोधन-निमित्त अपने अपराधों की निन्दा-गर्हा रूप प्रतिक्रमण करना; समस्त अयोग्य आचरण का परिवर्जन, अर्थात् अनुचित नाम नहीं लेना, अनुचित स्थापना नहीं करना, एवं अनुचित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परित्याग रूप प्रत्याख्यान ; तथा अपने शरीर से भी ममत्व छोड़ने रूप विसर्गभाव रखना, ये छह मुनियों की आवश्यक क्रियाएं हैं। समय-समय पर अपने हाथों से केशलोंच, अचेलकवृत्ति, स्नानत्याग, दन्तधावन-त्याग, क्षितिशयन, स्थितिभोजन अर्थात् खड़े रह कर आहार करना, और मध्यान्ह काल में केवल एक बार भोजन करना, ये मुनि की अन्य सात विशेष साधनाएं हैं। इसप्रकार मुनियों के कुल अट्ठाइस मूलगुण नियत किये गये हैं।

२२ परीषह—

उपर्युक्त नियमों से यह स्पष्ट है कि साधु की मुख्य साधना है समत्व, जिसे भगवद्गीता में भी योग का मुख्य लक्षण कहा है (समत्वं योग उच्यते)। इस समताभाव को भग्न करने वाली अनेक परिस्थितियों का मुनि को सामना करना पड़ता है, और वे ही स्थितियां मुनि के समत्व की परीक्षा के विशेष स्थल हैं। ऐसी परिस्थितियां तो अगणित हो सकती हैं किन्तु उनमें से बाईस का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है, और सन्मार्ग से च्युत न होने के लिये तत्सम्बन्धी क्लेशों पर विजय प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। साधु अपने पास न खाने-पीने का सामान रखता, और न स्वयं पकाकर खा सकता। उसे इसके लिये भिक्षा वृत्ति पर अवलंबित रहना पड़ता है; सो भी दिन में केवल एक बार। उसे समय-समय पर एक व अनेक दिनों के लिये उपवास भी करना पड़ता है। अतएव बीच-बीच में उसे भूख-प्यास सतावेंगे ही। इसीलिये क्षुधा (१) और तृषा (२) परीषह उसे आदि में ही जीतना चाहिये। वस्त्रों के अभाव में उसे शीत, उष्ण (३-४), डांस-मच्छर (५) व नग्नता (६) के क्लेश होना अनिवार्य है, जिन्हें भी उसे शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिये। एकान्त में रहने, उक्त भूख-प्यास आदि की बाधाएं सहने तथा, इन्द्रिय-विषयों के अभाव से उसे मुनि

अवस्था से कभी अरुचि भी उत्पन्न हो सकती है। इस अरति परीषह को भी उसे जीतना चाहिये (७)। मुनि को जब-तब और विशेषतः भिक्षा के समय नगर व ग्राम में परिभ्रमण करते हुए व गृहस्थों के घरों में सुन्दर व युवती स्त्रियों का एवं उनके हाव-भाव-विलासों का दर्शन होना अनिवार्य है। इससे उसके मन मे चंचलता उत्पन्न हो सकती है, जिसे जीतना स्त्री-परीषह-जय कहलाता है (८)। मुनि को वर्षाऋतु के चार माह छोड़कर शेष-काल में एक स्थान पर अधिक न रह कर देश-परिभ्रमण करते रहना चाहिये। इस निरंतर यात्रा से उसे मार्ग की अनेक कठिनाइयां सहनी पड़ती हैं; यही मुनि का चर्या परीषह है(६)। ठहरने के लिये मुनि को श्मशान, वन, ऊजड़ घर, पर्वत-गुफाओं आदि का विधान किया गया है, जहां उन्हें नाना-प्रकार की, यहां तक कि सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं द्वारा आक्रमण की, बाधाएं सहनी पड़ती हैं; यही साधु का निषद्या परीषह-विजय है(१०)। मुनि को किंचित् काल शयन के लिये खर विषम, शिलातल आदि ही मिलेंगे; इसका क्लेश सहन करना शय्या-परीषह-जय है (११)। विरोधी जन मुनि को बहुधा गाली-गलौच भी कर बैठते हैं, इसे सहन करना आक्रोश परीषह-जय है (१२)। यदि कोई इससे भी आगे बढ़कर मार-पीट कर बैठे, तो उसे भी सहन करना वध-परीषह-जय है (१३) मुनि को अपने आहार, वसति, औषध आदि के लिये गृहस्थों से याचना ही करनी पड़ती है (१४)। किन्तु इस कार्य में अपने में दीनता भाव न आने देने को याचना-परीषह-जय; तथा याचित वस्तु का लाभ न होने पर रुष्ट न होकर अलाभ से उसे अपनी तपस्या की वृद्धि में लाभ ही हुआ, ऐसा समझकर सन्तोष भाव रखने को अलाभ-विजय कहते है (१५)। यदि शरीर किसी रोग, व्याधि व पीड़ा के वशीभूत हो जाय तो उसे शान्तिपूर्वक सहने का नाम रोग-विजय है (१६) चर्या, शैया व निषद्यादि के समय जो कुछ तृण, कांटा कंकड़ आदि चुभने की पीड़ा हो, उसे सहना तृणस्पर्श-विजय है (१७)। साधु को अपने शरीर से मोह छोड़ने के लिये जो स्नान न करने, दन्तादि अंग-प्रत्यंगों को साफ न करने तथा शरीर का अन्य किसी प्रकार भी संस्कार न करने के कारण उत्पन्न होनेवाली मलिनता से घृणा व खेद का भाव उत्पन्न न होने देने को मल परीषह-विजय कहते हैं (१८)। सामान्यतया व्यक्ति को विशेष सत्कार-पुरस्कार मिलने से हर्ष, और न मिलने से रोष व खेद का भाव उत्पन्न होता है। किन्तु मुनि को उक्त दोनों अवस्थाओं में रोष-तोष की भावना से विचलित नहीं होना चाहिये। यह उसका सत्कार-पुरस्कार विजय है (१६)। विशेष ज्ञान का मद होना भी बहुत सामान्य है। साधु इस मद से मुक्त रहे, यह उसका प्रज्ञा-विजय (२०)। एवं ज्ञान न

होने पर उद्विग्न न हो, यह उसका अज्ञान-विजय है (२१)। दीर्घ काल तक तप करते रहने पर भी अवधि या मनः पर्ययज्ञानादि की प्राप्ति रूप ऋद्धि-सिद्धि उपलब्ध न होने पर मुनि का श्रद्धान विचलित हो सकता है कि ये सब सिद्धियां प्राप्य हैं या नहीं, केवलज्ञानी ऋषि, मुनि, तीर्थंकरादि हुए है या नहीं, यह सब तपस्या निरर्थक ही है, ऐसी अश्रद्धा उत्पन्न न होने देना अदर्शन-विजय है (२२)। ये बाईस परीषह-जय मुनियों की विशेष साधनाएं हैं, जिनके द्वारा वह अपने को पूर्ण इन्द्रिय-विजयी व योगी बना लेता है।

१० धर्म—

उपर्युक्त बाईस परीषहों में मन को उभाड़ कर विचलित करके, रागद्वेष रूप दुर्भावों से दूषित करनेवाली जो मानसिक अवस्थाएं हैं उनके उपशमन के लिये दस-धर्मों और बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का विधान किया गया है। धर्मों के द्वारा मन को कषायों को जीतने के लिये उनके विरोधी गुणों का अभ्यास कराया जाता है; तथा अनुप्रेक्षाओं से तत्व-चिन्तन के द्वारा सांसारिक वृत्तियों से अनासक्ति उत्पन्न कर वैराग्य की साधना में विशेष प्रवृत्ति कराई जाती है। दस धर्म हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। क्रोधोत्पादक गाली-गलौच, मारपीट, अपमान आदि परिस्थितियों मे भी मन को कलुषित न होने देना क्षमा धर्म है। (१) कुल, जाति, रूप, ज्ञान, तप, वैभव, प्रभुत्व एवं शील आदि संबंधी अभिमान करना मद कहलाता है। इस मान कषाय को जीतकर मन में सदैव मृदुता भाव रखना मार्दव धर्म है। (२) मन में एक बात सोचना, वचन से कुछ और कहना तथा शरीर से करना कुछ और, यह कुटिलता या मायाचारी कहलाती है। इस माया कषाय को जीतकर मन-वचन-काय की क्रिया में एकरूपता (ऋजुता) रखना आर्जव धर्म है। (३) मन को मलिन बनाने वाली जितनी दुर्भावनाएं हैं उनमें लोभ सबसे प्रबल अनिष्टकारी है। इस लोभ कषाय को जीतकर मन को पवित्र बनाना शौच धर्म है। (४) असत्य वचन की प्रवृत्ति को रोककर सदैव यथार्थ हित-मित-प्रिय वचन बोलना सत्य धर्म है। (५) इन्द्रियों के विषयों की ओर से मन की प्रवृत्ति को रोककर उसे सत्प्रवृत्तियों में लगाना संयम धर्म है। (६) विषयों व कषायों का निग्रह करके आगे कहे जानेवाले बारह प्रकार के तप मे चित्त को लगाना तप धर्म है। (७) बिना किसी प्रत्युपकार व स्वार्थ भावना के दूसरों के हित व कल्याण के लिये विद्या आदि का दान देना त्याग धर्म है। (८) घर-द्वार, धन-दौलत, बन्धु-बान्धव, शत्रु-मित्र सबमें ममत्व

छोड़ना, ये मेरे नहीं हैं, यहां तक कि शरीर भी सदा मेरे साथ रहनेवाला नहीं है, ऐसा अनासक्ति भाव उत्पन्न करना अकिंचन धर्म है, (९) तथा रागोत्पादक परिस्थितियों में भी मन को काम वेदना से विचलित न होने देना व उसे आत्म चिन्तन में लगाये रहना ब्रह्मचर्य धर्म है (१०)।

इन दश धर्मों के भीतर सामान्यतः चार कषायों तथा अणुव्रत व महाव्रतों द्वारा निर्धारित पांच पापों के अभाव का समावेश प्रतीत होता है। किन्तु धर्मों की व्यवस्था की विशेषता यह है कि उनमें कषायों और पापों के अभाव मात्र पर नहीं, किन्तु उनके उपशामक विधानात्मक क्षमादि गुणों पर जोर दिया गया है। चार कषायों के उपशामक प्रथम चार धर्म हैं, तथा हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म व परिग्रह के उपशामक क्रमशः संयम, सत्य, त्याग, ब्रह्मचर्य और अकिंचन धर्म हैं। इन नौ के अतिरिक्त तप का विधान मुनिचर्या को विशेष रूप से गृहस्थ धर्म से आगे बढ़ाने वाला है।

१२ अनुप्रेक्षाएं—

अनासक्ति योग के अभ्यास के लिये जो बारह अनुप्रेक्षाएं या भावनाएं बतलाई गई हैं, वे इस प्रकार हैं—आराधक यह चिन्तन करे कि संसार का स्वभाव बड़ा क्षण-भंगुर है; यहां मेरा-तेरा कहा जानेवाला जो कुछ है, सब अनित्य है, अतएव उसमें आसक्ति निष्फल है; यह अनित्य भावना है (१)। जन्म-जरा-मृत्यु रूप भयों से कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता; इन भयों से छूटने का उपाय आत्मा में ही है, अन्यत्र नहीं; यह अशरण भावना है (२)। संसार में जीव जिस प्रकार चारों गतियों में घूमता है, और मोहवश दुःख पाता रहता है; इसका विचार करना संसार भावना है (३)। जीव तो अकेला ही जन्मता व बाल्य, यौवन व वृद्धत्व का अनुभव करता हुआ अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है; यह विचार एकत्व भावना है (४), देहादि समस्त इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, इनसे आत्मा का कोई सच्चा नाता नहीं है, यह अन्यत्व भावना है (५)। यह शरीर रुधिर, मांस व अस्थि का पिंड है; और मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थों से भरा हुआ है, इनसे अनुराग करना व उसे सजाना-धजाना निष्फल है, यह अशुचित्व भावना है (६)। क्रोधादि कषायों से तथा मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों से किस प्रकार कर्मों का आस्रव होता है, इसका विचार करना आस्रव भावना है (७)। व्रतों तथा समिति, गुप्ति, धर्म, परीषहजय व प्रस्तुत अनुप्रेक्षाओं द्वारा किस प्रकार कर्मास्रव को रोका जा सकता है, यह चिन्तन संवर भावना है (८)।

व्रतों आदि के द्वारा तथा विशेष रूप से बारह प्रकार के तपों द्वारा बंधे हुए कर्मों का किस प्रकार क्षय किया जा सकता है, यह चिन्तन निर्जरा भावना है (९)। इस अनन्त आकाश, उसके लोक व अलोक विभाग, उनके अनादित्व व अकर्तृत्व तथा लोक में विद्यमान समस्त जीवादि द्रव्यों का विचार करना लोक भावना है (१०)। इस अनादि संसार में यह जीव किस प्रकार अज्ञान और मोह के कारण नाना योनियों में भ्रमण के दुःख पाता रहा है, कितने पुण्य के प्रभाव से इसे यह मनुष्य योनि मिली है, तथा इस मनुष्य जन्म को सार्थक करने वाले दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीन रत्न कितने दुर्लभ हैं, यह चिन्तन बोधिदुर्लभ भावना है (११)। सच्चे धर्म का स्वरूप क्या है, और उसे प्राप्त कर किस प्रकार सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, यह चिन्तन धर्म भावना है (१२)। इस प्रकार इन बारह भावनाओं से साधक को अपनी धार्मिक प्रवृत्ति में दृढ़ता व स्थिरता प्राप्त होती है।

३ गुप्तियां—

ऊपर अनेक बार कहा जा चुका है कि मन-वचन-काय की क्रिया रूप योग के द्वारा कर्मास्रव होता है, और कर्मबन्ध को रोकने, तथा बंधे हुए कर्मों की निर्जरा करने में इस त्रियोग की साधना विशेषरूप से आवश्यक है। यथार्थतः समस्त धार्मिक साधना के मूल में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति-निवृत्ति ही तो प्रधान है। अतएव इनकी सदसद् प्रवृत्ति का विशेष रूप से स्वरूप बतलाकर साधक को उनके सम्बन्ध में विशेष सावधानी रखने का आदेश दिया गया है। मन और वचन इन दोनों की प्रवृत्ति चार प्रकार की कही गयी है—सत्य, असत्य, उभय और अनुभय। सत्य में यथार्थता और हित, इन दोनों बातों का समावेश माना गया है। इसी सत्य के अनुचिन्तन में प्रवृत्त मन की अवस्था को सत्य मन, उससे विपरीत असत्यमन, मिश्रित भाव को उभय मन, और सत्यासत्य दोनों से हीन मानसिक अवस्था को अनुभय रूप मन कहा गया है। इन अवस्थाओं में से सत्य मनोयोग की ही साधना को मनोगुप्ति कहा गया है। शब्दात्मक वचन यथार्थतः मन की अवस्था को व्यक्त करनेवाला प्रतीक मात्र है। अतएव उक्त चारों मनोदशाओं के अनुकूल वचन-पद्धति भी चार प्रकार की हुई। तथापि लोक व्यवहार में सत्य-वचन भी दस प्रकार का रूप धारण कर लेता है। कहीं शब्द अपने मूल वाच्यार्थ से च्युत होकर भी जनपद, सम्मति, स्थापना, नाम, रूप, अपेक्षा, व्यवहार, संभावना, भाव व उपमा सम्बन्धी रूढ़ियों द्वारा सत्य को प्रगट करता है। वाणी के अन्य प्रकार से भी नौ भेद किये गये हैं, जैसे—आमंत्रणी, आज्ञापनी,

याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुलोमनी और अनक्षर-गता। इनका सत्य-असत्य से कोई संबन्ध नहीं। अतएव इन्हें अनुभय वचनरूप कहा गया है। साधक को इस प्रकार मन और वचन के सत्यासत्य स्वरूप का विचारकर, अपनी मन-वचन की प्रवृत्ति को संभालना चाहिये; और तदनुसार ही कायिक क्रिया में प्रवृत्त होना चाहिये; यही मुनि का त्रिगुप्ति रूप आचरण है।

६ प्रकार का वाह्य तप—

उक्त समस्त व्रतों आदि की साधना कर्मास्रव के निरोध रूप संवर व बंधे हुए कर्मों के क्षय रूप निर्जरा करानेवाली है। कर्म-निर्जरा के लिये विशेषरूप से उपयोगी तप साधना मानी गई है, जिसके मुख्य दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन एवं कायक्लेश, ये बाह्य तप के छह प्रकार हैं। सब प्रकार के आहार का परित्याग अनशन; तथा अल्प आहार मात्र ग्रहण करना अवमौदर्य या ऊनोदर तप है। एक ही घर से भिक्षा लूंगा, इस प्रकार दिये हुए आहार मात्र को ग्रहण करूंगा; इत्यादि रूप से आहार सम्बन्धी परिस्थितियों का नियन्त्रण करना वृत्ति-परिसंख्यान; तथा घृतादि विशेष पौष्टिक एवं विकारी वस्तुओं का त्याग, तथा मिष्टादि रसों का नियमन करना रस-परित्याग है। शून्य गृहादि एकान्त स्थान में वास करना विविक्तशय्यासन है; तथा धूप, शीत, वर्षा आदि बाधाओं को विशेष रूप से सहने का एवं आसन-विशेष से लम्बे समय तक स्थिर रहने आदि का अभ्यास करना कायक्लेश तप है।

६ प्रकार का आभ्यन्तर तप—

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। प्रमादवश उत्पन्न हुए दोषों के परिहार के लिये आलोचन, प्रतिक्रमण आदि चित्तशोधक क्रियाओं में प्रवृत्त होना प्रायश्चित तप है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र व उपचार की साधना में विशेष रूप से प्रवृत्त होना विनय तप है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का स्वरूप बताया ही जा चुका है। आचार्यादि गुरुजनों व शास्त्रों व प्रतिमाओं आदि पूज्य पात्रों का प्रत्यक्ष में व परोक्ष में मन-वचन-काय की क्रिया द्वारा आदर-सत्कार व गुणानुवाद आदि करना उपचार विनय है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षाशील, रोगी, गण, कुल, संघ, साधु तथा लोक-सम्मत अन्य योग्यजनों की पीड़ा-बाधाओं को दूर करने के लिये सेवा में प्रवृत्त होना वैयावृत्य तप है। धर्म शास्त्रों की वाचना,

पृच्छना, अनुचिन्तन, बार-बार आवृत्ति व धर्मोपदेश, यह सब स्वाध्याय तप है। गृह, धन-धान्यादि बाह्योपाधियों तथा क्रोधादि अन्तरंगोपाधियों का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान—(आर्त व रौद्र)—

छठा अन्तिम अन्तरंग तप ध्यान है, जिसके चार भेद माने गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। अनिष्ट के संयोग, इष्ट के वियोग, दुःख की वेदना तथा भोगों की अभिलाषा से जो संक्लेश भाव होते हैं, तथा इस अनिष्ट परिस्थिति को बदलने के लिये जो चिन्तन किया जाता है, वह सब आर्त ध्यान है। झूठ बोलने, चोरी करने, धन-सम्पत्ति की रक्षा करने तथा जीवों के घात करने में जो क्रूर परिणाम उत्पन्न होते होते हैं, वह रौद्र ध्यान है। ये दोनों ध्यान व्यक्ति को स्वयं दुःख देते हैं, समाज में भी अशान्ति उत्पन्न करने के कारण होते हैं, एवं इनसे अशुभकर्मों का बन्ध होता है; इसलिये ये ध्यान अशुभ और त्याज्य माने गये हैं। शेष दो ध्यान जीव के लिये कल्याणकारी होने से शुभ हैं।

धर्म ध्यान—

इन्द्रियों तथा राग-द्वेष भावों से मन का निरोध करके उसे धार्मिक चिन्तन में लगाना धर्मध्यान है। इस चिन्तन का विषय चार प्रकार का हो सकता है—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय। जब ध्याता शास्त्रोक्त तत्वों के स्वरूप, कर्मबन्ध आदि ज्ञान की व्यवस्था व चरित्र के नियम आदि के सूक्ष्म चिन्तन में ध्यान लगाता है, तब आज्ञाविचय नामक ध्यान होता है। आज्ञा का अर्थ है—शास्त्रादेश; और विचय का अर्थ है—खोज या गवेषण। इस प्रकार शास्त्रादेश का गवेषण, अर्थात् धर्म के सिद्धान्तों को तर्क, न्याय, प्रमाण, दृष्टान्त आदि की योजना द्वारा समझने का मानसिक प्रयत्न धर्म-ध्यान है। अपाय का अर्थ है विघ्न-बाधा, अतएव धर्म के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएं उपस्थित हों, उन्हें दूरकर धर्म की प्रभावना बढ़ाने के लिये जो चिन्तन किया जाता है, वह अपाय-विचय धर्मध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्म किस प्रकार अपना फल देते हैं; तथा जीवन के नाना अनुभवन किस-किस कर्मोदय से प्राप्त हुए; इस प्रकार कर्मफल सम्बन्धी चिन्तन विपाक-विचय धर्मध्यान है; और लोक का स्वरूप कैसा है, उसके ऊर्ध्व अधः तिर्यक् लोकों की रचना किस प्रकार की है, और उनमें जीवों की कैसी-क्या दशाएं पाई जाती हैं, इत्यादि चिन्तन संस्थान-विचय

नामक धर्मध्यान है। इन चार प्रकार के धर्मध्यानों से ध्याता की दृष्टि शुद्ध होती है, श्रद्धान दृढ़, बुद्धि निर्मल, तथा चारित्र-पालन विशुद्ध व स्थिर होता है। इसलिये धर्म-ध्यान का आत्म-कल्याण के लिये बड़ा माहात्म्य है।

शुक्ल ध्यान—

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं—पृथक्त्व-वितर्क-वीचार, एकत्व-वितर्क-अवीचार, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति। अनेक जीवादि द्रव्यों व उनकी पर्यायों का अपने मन-वचन-काय इन तीनों योगों द्वारा चिन्तन पृथक्त्व कहलाता है। वितर्क का अर्थ है श्रुत या शास्त्र, और वीचार का अर्थ है—विचरण या विपरिवर्तन। अतः द्रव्य से पर्याय व पर्याय से द्रव्य, एक शास्त्रवचन से दूसरे शास्त्रवचन, तथा एक योग से दूसरे योग के आलम्बन से ध्यान की धारा चलना पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ध्यान कहलाता है। जब आलम्बनभूत द्रव्य व उसकी पर्याय का व योग का संक्रमण न होकर, एक ही द्रव्य या द्रव्यपर्याय का किसी एक ही योग के द्वारा, ध्यान किया जाता है, तब एकत्व-वितर्क-अवीचार ध्यान होता है। जब ध्यान में न तो वितर्क अर्थात् श्रुत-वचन का आश्रय रहता, और न वीचार अर्थात् योग-संक्रमण होता, किन्तु केवल सूक्ष्म काययोग मात्र का अवलम्बन रहता है, तब सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है; तथा जब न वितर्क रहे, न वीचार और न योग का अवलम्बन; तब व्युपरतक्रियानिवर्त्ति नामक सर्वोत्कृष्ट शुक्ल ध्यान होता है। यह ध्यान केवलज्ञान की चरम अवस्था में ही होता है; और आत्मा द्वारा शरीर का परित्याग होने पर सिद्धों के आत्मज्ञान का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार शुक्ल-ध्यान द्वारा ही योगी क्रमशः आत्मा को उत्तरोत्तर कर्म-मल से रहित बनाकर अन्ततः मोक्ष पद प्राप्त करता है।

१४ गुणस्थान व मोक्ष—

ऊपर मोक्ष-प्राप्ति के हेतु सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र का प्ररूपण किया गया है। मिथ्यात्व से लेकर मोक्षप्राप्ति तक जिन आध्यात्मिक दशाओं में से जीव निकलता है, वे गुणस्थान कहलाते हैं। सामान्यतः इन दशाओं में परिवर्तन करनेवाले वे कर्म हैं जिनकी नाना प्रकृतियों का स्वरूप भी पहले बतलाया जा चुका है। इन कर्मों की परिस्थितियों के अनुसार जीव के जो भाव होते हैं, वे चार प्रकार हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक। कर्मों के उदय से उत्पन्न होनेवाले भाव औदयिक

कहलाते हैं; जैसे उसके राग, द्वेष, अज्ञान, असंयम, रति आदि भाव। कर्मों की उपशम अर्थात् उदयरहित अवस्था में होनेवाले भाव औपशमिक कहे गये हैं; जैसे सम्यक्त्व की प्राप्ति, सदाचार, व्रत-नियम-पालन आदि। कर्मों के उपशम काल में जीव की उसी प्रकार शुद्ध अवस्था हो जाती है, जैसे जल में फिटकिरी आदि शोधक वस्तुओं के प्रभाव से उसका सब मैल नीचे बैठ जाता है और ऊपर का समस्त जल निर्मल हो जाता है। किन्तु आत्म-परिणामों की यह विशुद्धि चिरस्थायी नहीं होती; क्योंकि जिसप्रकार उपशान्त हुआ मल पानी में थोड़ी भी हलचल उत्पन्न होने से पुनः ऊपर उठकर समस्त जल को मलिन कर देता है, उसी प्रकार उपशान्त हुए कर्म शीघ्र ही पुनः कषायोदय द्वारा उभर उठते हैं, और जीव के परिणामों को पुनः मलिन बना देते हैं। किन्तु यदि एकत्र हुए मल को छानकर जल से पृथक् कर दिया जाय, तो फिर वह जल स्थायी रूप से शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार कर्मों के क्षय से जो शुद्ध आत्म-परिणाम होते हैं, उन्हें जीव के क्षायिक भाव कहा जाता है; जैसे केवलज्ञान-दर्शन आदि। कर्मों के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय-क्षय व सत्तागत सर्वघाती स्पर्द्धकों का उपशम, तथा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने से जीव के जो परिणाम होते हैं, वे क्षायोपशमिकभाव कहलाते हैं। ये परिणाम क्षायिक व औपशमिक भावों की अपेक्षा कुछ मलिनता लिये हुए रहते हैं; जिस प्रकार कि गंदले पानी को छान लेने से उसका बहुत कुछ मल तो उससे पृथक् हो जाता है; शेष में से कुछ भाग पात्र की तली में बैठा जाता है, और कुछ उसी में मिला रह जाता है, जिसके कारण उस जल में अल्प मलिनता बनी रहती है। सामान्य मति-श्रुत ज्ञान, अणुव्रतपालन आदि क्षायोपशमिक भावों के उदाहरण हैं। इन चार भावों के अतिरिक्त जीव के जीवत्व, भव्यत्व, द्रव्यत्व आदि स्वाभाविक गुण पारिणामिक भाव कहलाते हैं।

इन जीवगत भावों का सामान्यतः समस्त कर्मों से, किन्तु विशेषतः मोहनीय कर्म की प्रकृतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है; और उसी की नाना अवस्थाओं के अनुसार जीव की वे चौदह आध्यात्मिक भूमिकाएं उत्पन्न होती हैं, जिन्हें गुणस्थान कहा गया है। मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के वे समस्त मिथ्याभाव उत्पन्न होते हैं, जिनमें अधिकांश जीव अनादि काल से विद्यमान हैं। यह जीव का मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान है। निमित्त पाकर जब जीव को औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भावरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तब वह चौथे सम्यक्त्व नामक गुणस्थान में पहुंच जाता है। इनमें से क्षायिक सम्यक्त्व तो स्थायी होता है; और औपशमिक सम्यक्त्व अनिवार्यतः अल्पकालीन। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दीर्घकालीन भी हो

सकता है, अल्पकालीन भी। यद्यपि इनमें से कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त होने पर एक नियत काल-मर्यादा के भीतर वह जीव निश्चयतः मोक्ष का अधिकारी हो जाता है; तथापि उसके लिये उसे कभी न कभी क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करना अनिवार्य है। जब तक उसे इसकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक वह परिणामों के अनुसार ऊपर-नीचे के गुणस्थानों में चढ़ता-उतरता रहेगा। यदि वह सम्यक्त्व से च्युत हुआ तो उसे तीसरा गुणस्थान भी प्राप्त हो सकता है, जो, उसमें होनेवाले मिश्र भावों के कारण, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहलाता है; अथवा दूसरा गुणस्थान भी, जो सासादन कहलाता है; क्योंकि इसमें जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर भी पूर्णतः मिथ्यात्व भाव को प्राप्त नहीं हो पाता, और उसमें सम्यक्त्व का कुछ आस्वादन (अनुभवन) बना रहता है। यह यथार्थतः चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर प्रथम स्थान में पहुंचने से पूर्व की मध्यवर्ती अवस्था है, जिसका काल स्वभावतः अत्यल्प होता है, और जीव उस भाव से निकल कर शीघ्र ही प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आ गिरता है।

सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान में आत्म-चेतना रूप धार्मिक दृष्टि तो प्राप्त हो जाती है, क्योंकि कषायों की अनन्तानुबन्धी चार प्रकृतियों का, उपशम, क्षय, या क्षयोपशम हो जाता है; किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय बना रहता है; और इसीलिये यह गुणस्थान अविरत-सम्यक्त्व कहलाता है। जब इन प्रकृतियों का भी उपशमादि हो जाता है, तो जीव के अणुव्रत धारण करने योग्य परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं और वह देशविरत व संयतासंयत नामक पांचवा गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इस गुणस्थान की सीमा अणुव्रत तक ही है; क्योंकि यहां प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय बना रहता है। जब इन कषायों का भी उपशमादि हो जाता है, तब जीव के परिणाम और भी विशुद्ध होकर वह महाव्रत धारण कर लेता है। यह छठा व इससे ऊपर के समस्त गुणस्थान सामान्यतः संयत कहलाते हैं। किन्तु उनमें भी विशुद्धि का तरतमभाव पाया जाता है, जिसके अनुसार छठा गुणस्थान प्रमत्तविरत कहलाता है; क्योंकि यहां संयमभाव पूर्ण होते हुए भी प्रमाद रूप मन्द कषायों का उदय रहता है, जिसके कारण उसकी परिणति स्त्रीकथा, चोरकथा, राजकथा आदि विकथाओं व इन्द्रिय-विषयों आदि की ओर झुक जाती है, क्योंकि उसके संज्वलन कषाय का उदय रहता है। जब संज्वलन कषायों का भी उपशमादि हो जाता है, तब उसे अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। यहां से लेकर आगे की समस्त अवस्थाएं ध्यान की हैं; क्योंकि ध्यानावस्था के सिवाय प्रमादों का अभाव सम्भव नहीं। इस ध्यानावस्था में जब संयमी यथाप्रवृत्तकरण अर्थात् विशुद्धि की पूर्वधारा को

चलाता हुआ और प्रतिक्षण शुद्धतर होता हुआ ऐसी असाधारण आध्यात्मिक विशुद्धि को प्राप्त हो जाता है, जैसी पहले कभी नहीं हुई थी, तब वह अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में आ जाता है। इस गुणस्थान में किंचित् काल रहने पर जब ध्याता के प्रतिसमय के एक-एक परिणाम अपनी अपनी विशेष विशुद्धि को लिये हुए भिन्न रूप होने लगते हैं, तब अनिवृत्तिकरण नामक नौवां गुणस्थान प्रारम्भ हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती समस्त साधकों का उस समयवर्ती परिणाम एकसा ही होता है; अर्थात् प्रथमसमयवर्ती समस्त ध्याताओं का परिणाम एकसा ही होगा; दूसरे समय का परिणाम प्रथम समय से भिन्न होगा; और वह भी सब का एकसा ही होगा। इसप्रकार इस गुणस्थान में रहने के काल के जितने समय होंगे, उतने ही भिन्न परिणाम होंगे; और वे सभी साधकों के उसी समय मे एकसे होंगे, अन्य समय में नही। इस गुणस्थान सम्बन्धी विशेष विशुद्धि के द्वारा जब कर्मों का इतना उपशमन व क्षय हो जाता है कि लोभ कपाय के अतिसूक्ष्मांश को छोड़कर शेष समस्त कपाय क्षीण या उपशान्त हो जाते हैं, तब जीव को सूक्ष्म साम्पराय नामक दशवां गुणस्थान प्राप्त हो जाता है, जहां आत्मविशुद्धि का स्वरूप ऐसा बतलाया गया है कि जिस प्रकार केशर से रंगे हुए वस्त्र को धो डालने पर भी उसमें केशरी रंग का अतिसूक्ष्म आभास रह जाता है, उसी प्रकार इस गुणस्थान वर्ती के लोभ संज्वलन कपाय का सद्भाव रह जाता है।

उपशम व क्षपक श्रेणियां—

सातवें गुणस्थान से आगे जीव उपशम व क्षपक, इन दो श्रेणियों द्वारा ऊपर के गुणस्थानों में बढ़ते हैं। यदि वे कर्मों का उपशम करते हुए दसवें गुणस्थान तक आये हैं, तब तो उस अवशिष्ट लोभ संज्वलन कपाय का भी उपशमन करके उपशांत-मोह नामक ग्यारहवां गुणस्थान प्राप्त करेंगे; और उसमें किंचित् काल रहकर नियमतः नीचे के गुणस्थानों में गिरेंगे। इस प्रकार उपशमश्रेणी की यही चरमसीमा है। किन्तु जो जीव सातवें गुणस्थान से क्षायिकश्रेणी द्वारा अर्थात् कर्मों का क्षय करते हुए ऊपर बढ़ते हैं, वे दसवें गुणस्थान के पश्चात् उसी शेष लोभ संज्वलन कपाय का क्षय करके, ग्यारहवें गुणस्थान में न जाकर, सीधे क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार ग्यारहवें व बारहवें दोनों गुणस्थानों में मोहनीय कर्म के अभाव से उत्पन्न आत्मविशुद्धि की मात्रा एक सी ही होती है, और जीव पूर्णतः वीतराग हो जाते हैं; किन्तु ज्ञानावरणीयादि कर्मों के सद्भाव के कारण केवलज्ञान प्राप्त

नही होता; इसीलिए छद्मस्थ वीतराग कहलाते हैं। इन दोनों गुणस्थानों में भेद यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म उपशान्त अवस्था में अभी भी शेष रहता है, जो अन्तर्मुहूर्त के भीतर पुनः उभरकर जीव को नीचे के गुणस्थान में ढकेल देता है; किन्तु बारहवें गुणस्थान में मोह के सर्वथा क्षीण हो जाने के कारण इस पतन की कोई सम्भावना नही रहती। इसे अब केवल अपने ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्मों की शेष प्रकृतियों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करना रह जाता है। यह कार्य सम्पन्न होने पर जीव को सयोग केवली नामक तेरहवां गुणस्थान प्राप्त हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीवों को वह केवलज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा उन्हें विश्व की समस्त वस्तुओं का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इन केवलियों के दो भेद हैं—एक सामान्य, और दूसरे वे जो तीर्थंकर नामकर्म के उदय से धर्म की व्यवस्था करने वाले तीर्थंकर बनते हैं। इस गुणस्थान को सयोगी कहने की सार्थकता यह है कि इन जीवों के अभी भी शरीर का सम्बन्ध बना हुआ है; व नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का उदय विद्यमान है। जब केवली की आयु स्वल्प मात्र शेष रहती है, तब यदि उसके नाम, गोत्र और वेदनीय, इन तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक हो तो वह उसे समुद्घात-क्रिया द्वारा आयुप्रमाण कर लेता है। इस क्रिया में पहले आत्म-प्रदेशों को दंड रूप से लोकाग्र तक फैलाया जाता है; फिर दोनों पार्श्वों में फैलाकर कपाटरूप चौड़ा कर लिया जाता है, तत्पश्चात् आगे पीछे की ओर शेष दो दिशाओं में फैलाकर उसे प्रतर रूप किया जाता है; और अन्ततः लोक के अवशिष्ट कोण रूप भागों में फैलाकर समस्त लोक को भर दिया जाता है। ये क्रियाएं एक-एक समय में पूर्ण होती हैं; और वे क्रमशः दंड, कपाट, प्रतर व लोकपूरण समुद्घात कहलाती हैं। अन्य चार समयों में विपरीत क्रम से आत्म प्रदेशों को पुनः समेट कर शरीर प्रमाण कर लिया जाता है। इस क्रिया से जिसप्रकार गीले वस्त्र को फैलाने से उसकी आर्द्रता शीघ्र निकल जाती है, उसीप्रकार आत्मप्रदेशों के फैलने से उनमें संसक्त कर्म-प्रदेशों का स्थिति व अनुभागांश क्षीण होकर आयुप्रमाण हो जाता है। इसके पश्चात् केवली काययोग से भी मुक्त होकर, अयोग केवली नामक चौदहवां गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इस अष्टकर्म-विमुक्त सर्वोत्कृष्ट सांसारिक अवस्था का काल अतिस्वल्प कुछ समय मात्र ही है, जिसे पूर्णकर जीव अपनी शुद्ध, शाश्वत, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य से युक्त परम अवस्था को प्राप्तकर सिद्ध बन जाता है।

सम्यग्ज्ञानत्रयेण प्रविदित-निखिलज्ञेयतत्त्वप्रपञ्चाः
प्रोद्धूय ध्यानवातैः सकलमथ रजः प्राप्तकैवल्यरूपाः ।
कृत्वा सत्त्वोपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये
ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये वः ॥

व्याख्यान - ४

जैन कला

व्याख्यान—४

जैन कला

जीवन और कला—

जैन तत्त्वज्ञान के संबंध में कहा जा चुका है कि जीव का लक्षण उपयोग है, और वह उपयोग दो प्रकार का होता है—एक तो जीव को अपनी सत्ता का भान होता है कि मैं हूँ; और दूसरे उसे यह भी प्रतीत होता है कि मेरे आसपास अन्य पदार्थ भी हैं। प्रकृति के ये अन्य पदार्थ उसे नाना प्रकार से उपयोगी सिद्ध होते हैं। कितने ही पदार्थ भोज्य बनकर उसके शरीर का पोषण करते हैं; तथा अन्य कितने ही पदार्थ, जैसे वृक्ष, पर्वत, गुफा आदि उसे प्रकृति की विपरीत शक्तियों-तूफान, वर्षा, ताप आदि से रक्षा करते व आश्रय देते हैं। अन्य जीव, जैसे पशु-पक्षी आदि, तो प्रकृति के पदार्थों का इतना ही उपयोग लेते हुए जीवन-यापन करते हैं, किन्तु मनुष्य अपनी ज्ञान-शक्ति के कारण इनसे कुछ विशेषता रखता है। मनुष्य में जिज्ञासा होती है। वह प्रकृति को विशेष रूप से समझना चाहता है। इसी ज्ञान-गुण के कारण उसने प्रकृति पर विशेष अधिकार प्राप्त किया है; तथा विज्ञान और दर्शन शास्त्रों का विकास किया है। मनुष्य का दूसरा गुण है-अच्छे और बुरे का विवेक। इसी गुण की प्रेरणा से उसने धर्म, नीति व सदाचार के नियम और आदर्श स्थापित किये हैं, और उन्ही आदर्शों के अनुसार ही जीवन को परिमार्जित और सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न किया है। इसी कारण मानव-समाज उत्तरोत्तर सभ्य बनता गया है, और संसार में नाना मानव संस्कृतियों का आविष्कार हुआ है। मनुष्य का तीसरा विशेष गुण है—सौन्दर्य की उपासना। अपने पोषण व रक्षण के लिये मनुष्य जिन पदार्थों का ग्रहण व रक्षण करता है, उन्हें वह उत्तरोत्तर सुन्दर बनाने का भी प्रयत्न करता है। वह अपने खाद्य पदार्थों को सजाकर खाने में अधिक सन्तुष्टि का अनुभव करता है। आदि में उसने शीत, धूप आदि से रक्षा के लिये जिन वस्त्रों,

निरपेक्ष कह सकते हैं। किन्तु भारतीय कलाकारों ने प्रकृति के इस यान्त्रिक (फ़ोटोग्राफिक) चित्रण मात्र को अपने कला के आदर्श की दृष्टि से पर्याप्त नहीं समझा। उनके मत से उनकी कलाकृति द्वारा यदि दर्शक ने कुछ सीखा नहीं, समझा नहीं, कुछ धार्मिक, नैतिक व भावात्मक उपदेश पाया नहीं, तो उस कृति से लाभ ही क्या हुआ ? इसी जन-कल्याण की भावना के फलस्वरूप हमारी कलाकृतियों में नैसर्गिकता के अतिरिक्त कुछ और भी पाया जाता है, जिसे हम कलात्मक अतिशयोक्ति कह सकते हैं। स्थापत्य की कृतियों में हमारा कलाकार अपनी दिव्य विमान की कल्पना को सार्थक करना चाहता है। देवों की मूर्तियों में तो वह दिव्यता भरता ही है, मानवीय मूर्तियों व चित्रों में भी उसने आध्यात्मिक उत्कर्ष के आरोप का प्रयत्न किया है। पशु-पक्षी व वृक्षादि का चित्रण यथावत् होते हुये भी उसे ऐसी भूमिका देने का प्रयत्न किया है कि जिससे कुछ न कुछ श्रद्धा, भाव-शुद्धि व नैतिक परिष्कार-उत्पन्न हो। इस प्रकार जैन कला का उद्देश्य जीवन का उत्कर्षण रहा है, उसकी समस्त प्रेरणा धार्मिक रही है, और उसके द्वारा जैन तत्त्वज्ञान व आचार के आदर्शों को मूर्तिमान् रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

जैन धर्म और कला—

बहुधा कहा जाता है कि जैन धर्म ने जीवन के विधान-पक्ष को पुष्ट न कर निषेधात्मक वृत्तियों पर ही विशेष भार दिया है। किन्तु यह दोषारोपण यथार्थतः जैन धर्म की अपूर्ण जानकारी का परिणाम है। जैन धर्म में अपनी अनेकान्त दृष्टि के अनुसार जीवन के समस्त पक्षों पर यथोचित ध्यान दिया गया है। अच्छे और बुरे के विवेक से रहित मानव व्यवहार के परिष्कार के लिये कुछ आदर्श स्थापित करना और उनके अनुसार जीवन की कुत्सित वृत्तियों का निषेध करना संयम की स्थापना के लिये सर्वप्रथम आवश्यक होता है। जैन धर्म ने आत्मा को परमात्मा बनाने का चरम आदर्श उपस्थित किया; उस ओर गतिशील होने के लिये अपने कर्म-सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णतः उत्तरदायी बनाया और प्रेरित किया; तथा व्रत-नियम आदि धार्मिक व्यवस्थाओं के द्वारा वैयक्तिक, सामाजिक व आध्यात्मिक अहित करने वाली प्रवृत्तियों से उसे रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका विधान-पक्ष सर्वथा अपुष्ट रहा हो, सो बात नहीं। इस बात को स्पष्टतः समझने के लिये जैनधर्म ने मानव जीवन को जो धाराएं व्यवस्थित की हैं, उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। मुनिधर्म के द्वारा एक ऐसे वर्ग की स्थापना का प्रयत्न किया गया है जो सर्वथा निःस्वार्थ, निस्पृह और

निरीह होकर वीतराग भाव से अपने व दूसरों के कल्याण में ही अपना समस्त समय व शक्ति लगावे। साथ ही गृहस्थ धर्म की व्यवस्थाओं द्वारा उन सब प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है, जिनके द्वारा मनुष्य सभ्य और शिष्ट बनकर अपनी, अपने कुटुम्ब की, तथा समाज व देश की सेवा करता हुआ उन्हें उन्नत बना सके। दया, दान व परोपकार के श्रावकधर्म में यथोचित स्थान का निरूपण जैन-चारित्र के प्रकरण में किया जा चुका है। जैन परम्परा में कला की उपासना को जो स्थान दिया गया है, उससे उसका यह विधान पक्ष और भी स्पष्ट हो जाता है।

कला के भेद-प्रभेद—

प्राचीनतम जैन आगम में बालकों को उनके शिक्षण-काल में शिल्पों और कलाओं की शिक्षा पर जोर दिया गया है, और इन्हें सिखाने वाले कलाचार्यों व शिल्पाचार्यों का अलग-अलग उल्लेख मिलता है। गृहस्थों के लिये जो षट्कर्म बतलाये गये हैं उनमें असि, मसि, कृषि, विद्या व वाणिज्य के अतिरिक्त शिल्प का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। जैन साहित्य में स्थान-स्थान पर बहत्तर कलाओं का उल्लेख पाया जाता है। समवायांग सूत्र के अनुसार ७२ कलाओं के नाम ये हैं—१ लेख, २ गणित, ३ रूप, ४ नृत्य, ५ गीत, ६ वाद्य, ७ स्वरगत, ८ पुष्करगत, ९ समताल, १० द्यूत, ११ जनवाद, १२ पोक्खच्चं, १३ अष्टापद, १४ दगमट्टिय (उदकमृत्तिका), १५ अन्नविधि, १६ पानविधि, १७ वस्त्रविधि, १८ शयनविधि, १९ अज्जं (आर्या), २० प्रहेलिका, २१ मागधिका, २२ गाथा, २३ श्लोक, २४ गंधयुक्ति, २५ मधुसिक्थ, २६ आभरणविधि, २७ तरुणी-प्रतिकर्म, २८ स्त्रीलक्षण, २९ पुरुषलक्षण, ३० हयलक्षण, ३१ गजलक्षण, ३२ गोण (वृषभ लक्षण), ३३ कुक्कुटलक्षण, ३४ मेंढालक्षण, ३५ चक्रलक्षण, ३६ छत्रलक्षण, ३७ दंडलक्षण, ३८ असिलक्षण, ३९ मणिलक्षण, ४० काकनिलक्षण, ४१ चर्मलक्षण, ४२ चंद्रलक्षण, ४३ सूर्यचरित, ४४ राहुचरित, ४५ ग्रहचरित, ४६ सौभाग्यकर, ४७ दुर्भाग्यकर, ४८ विद्यागत, ४९ मन्त्रगत, ५० रहस्यगत, ५१ सभास, ५२ चार, ५३ प्रतिचार, ५४ व्यूह, ५५ प्रतिव्यूह, ५६ स्कंधावारमान, ५७ नगरमान, ५८ वास्तुमान, ५९ स्कंधावारनिवेश, ६० वास्तु-निवेश, ६१ नगरनिवेश, ६२ ईसत्थं (इष्वस्त्रं) ६३ छरुप्पवायं (त्सरुप्रवाद), ६४ अश्वशिक्षा, ६५ हस्तिशिक्षा, ६६ धनुर्वेद, ६७ हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातु-पाक, ६८ बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, नियुद्ध, जुद्धाइजुद्ध, ६९ सूत्रक्रीड़ा, नालिकाक्रीड़ा, वृत्तक्रीड़ा, धर्मक्रीड़ा, चर्मक्रीड़ा, ७० पत्रछेद्य, कटकछेद्य, ७१ सजीव-

निर्जीव, ७२ शकुनरुत ।

१. लेख का अर्थ है अक्षर-विन्यास । इस कला में दो बातों का विचार किया गया है—लिपि और लेख का विषय । लिपि देशभेदानुसार १८ प्रकार की बतलाई गई है। उनके नाम ये है :—१ ब्राह्मी, २ जवणालिया, ३ दोसाऊरिया, ४ खरोष्ठिका, ५ खरसाविया, ६ पहाराइया, ७ उच्चत्तरिया, ८ अक्खरमुट्ठिया, ९ भोगवइया, १० वेणतिया, ११ निन्हइया, ११ अंकलिपि, १२ गणितलिपि, १३ गन्धर्वलिपि १४ भूतलिपि, १५ आदर्शलिपि, १६ माहेश्वरीलिपि, १७ दामिलिलिपि, और (१८) बोलिंदि (पोलिंदि-आन्ध्र) लिपि । इन लिपि-नामों में से ब्राह्मी और खरोष्ठी, इन दो लिपियों के लेख प्रचुरता से मिले हैं। खरोष्ठी का प्रयोग ई० पू० तीसरी शती के मौर्य सम्राट् अशोक के लेखों से लेकर दूसरी-तीसरी शती ई० तक के पंजाब व पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर चीनीतुर्किस्तान तक मिले हैं। ब्राह्मी लिपि की परम्परा देश में आज तक प्रचलित है, व भारत की प्रायः समस्त प्रचलित लिपियाँ उसीसे विकसित हुई है। इसका सबसे प्राचीन लेख संभवतः बारली (अजमेर) से प्राप्त वह छोटा सा लेख है जिसमें वीर (महावीर) ८४, सम्भवतः निर्वाण से ८४ वां वर्ष, तथा मध्यमिक स्थान का उल्लेख है। अशोक के शिलालेखों में इसका प्रचुरता से प्रयोग पाया जाता है, और तब से आज तक भिन्न-भिन्न काल व भिन्न-भिन्न प्रदेश के लेखों में इसका अनुक्रम से प्रयोग व विकास मिलता है। ब्राह्मी लिपि के विषय में जैन आगमों व पुराणों में बतलाया गया है कि इसका आविष्कार आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ ने किया और उसे अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिखाया। इसी से इस लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा। समवायांग सूत्र में ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृका अक्षरों (स्वरों व व्यंजनों) का उल्लेख है । पांचवें जैनागम भगवती वियाहपण्णत्ति सूत्र के आदि में अरहंतादि पंचपरमेष्ठी नमस्कार के साथ 'नमो बंभीए लिवीए। नमो सुयस्स' इस प्रकार ब्राह्मी लिपि व श्रुत को नमस्कार किया गया है। अन्य उल्लिखित लिपियों के संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त नही। सम्भव है जवणालिया से यवनानी या यूनानी लिपि का तात्पर्य हो । अक्षरमुष्टिका कथन को वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में ६४ कलाओं के भीतर गिनाया है, और उनके टीकाकार यशोधर ने अक्षरमुष्टिका के साभासा व निराभासा इन दो भेदों का उल्लेख कर कहा है कि साभासा का प्रकरण आचार्य रविगुप्त ने 'चन्द्रप्रभा विजय' काव्य में पृथक् कहा है। उनके उदाहरणों से प्रतीत होता है कि आदि अक्षर मात्र से पूरे शब्द का संकेत करना साभासा तथा अंगुलीआदि के संकेतों द्वारा शब्दकी अभिव्यक्त को निराभासा अक्षरमुष्टिका कहते थे। इनका समावेश सम्भवतः प्रस्तुत ७२ कलाओं में ५० और

५१ वीं रहस्यगत व सभास नामक कलाओं में होता है। अंकलिपि से १,२ आदि संख्या-वाचक चिन्हों का, गणितलिपि से जोड़ (+), बाकी (—), गुणा (×), भाग (÷) आदि चिन्हों का, तथा गन्धर्वलिपि से संगीत शास्त्र के स्वरों के चिन्हों का तात्पर्य प्रतीत होता है। आदर्शलिपि अनुमानतः उल्टे अक्षरों के लिखने से बनती है, जो दर्पण (आदर्श) में प्रतिबिम्बित होने पर सीधी पढ़ी जा सकती है। आश्चर्य नहीं जो भूतलिपि से भोट (तिब्बत) देश की, माहेश्वरी से महेश्वर (ओंकारमांधाता-मध्यप्रदेश) की, तथा दामिलिलिपि से द्रविड़ (दमिल-तामिल) देश की विशेष लिपियों से तात्पर्य हो। इसी प्रकार भोगवइया से अभिप्राय नागों की प्राचीन राजधानी भोगवती में प्रचलित किसी लिपि-विशेष से हो तो आश्चर्य नहीं।

१८ लिपियों की एक अन्य सूची विशेष आवश्यक सूत्र (गा० ४६४) की टीका में इस प्रकार दी है :—१ हंसलिपि, २ भूतलिपि, ३ यक्षलिपि, ४ राक्षसलिपि ५ ओड़ (उड़िया) लिपि, ६ यवनी, ७ तुरुष्की, ८ कीरी, ९ द्राविड़ी, १० सैंधवी, ११ मालविनी, १२ नडी, १३ नागरी, १४ लाटी, १५ पारसी, १६ अनिमित्ती, १७ चाणक्यी, और (१८) मूलदेवी। यह नामावली समवायांग की लिपिसूची से बहुत भिन्न है। इनमें समान तो केवल तीन हैं—भूतलिपि, यवनी और द्राविड़ी। शेष नामों में अधिकांश स्पष्टतः भिन्न-भिन्न जाति व देशवाची हैं। प्रथम चार हंस, भूत, यक्ष, और राक्षस, उन उन अनार्य जातियों की लिपियां व भाषाएं प्रतीत होती हैं। उड़िया से लेकर पारसी तक की ११ भाषाएं स्पष्टतः देशवाची हैं। शेष तीन में से चाणक्यी और मूलदेवी की परम्परा बहुत कालतक चलती आई है, और उनका स्वरूप कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने कौटिलीय या दुर्बोध, तथा मूलदेवीय इन नामों से बतलाया है। यशोधर ने एक तीसरी भी गूढलेख्य नामक लिपि का व्याख्यान किया है, जिसका स्वरूप स्पष्ट समझ में नहीं आता। सम्भवतः वह कोई अंकलिपि थी। आश्चर्य नहीं जो अनिमित्ती से उसी लिपि का तात्पर्य हो। यशोधर के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में क्ष अक्षर जोड़ने तथा ह्रस्व और दीर्घ व अनुस्वार और विसर्ग की अदला-बदली कर देने से कौटिलीय लिपि बन जाती है, एवं अ और क, ख और ग, घ और ङ, चवर्ग और टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग तथा य और श, इनका परस्पर व्यत्यय कर देने से मूलदेवी बन जाती है। मूलदेव प्राचीन जैन कथाओं में बहुत प्रसिद्ध चतुर व धूर्त नायक पाये जाते हैं। (देखो मूलदेव कथा उ० सू० टीका)।

लेख के आधार पर्ण, वल्कल, काष्ठ, दंत, लौह ताम्र, रजत आदि बतलाये गये हैं, और उनपर लिखने की क्रिया उत्कीर्णन (अक्षर खोदकर) स्यूत (सीकर), व्यूत

(बुनकर), छिन्न (छेदकर), भिन्न (भेदकर), दग्ध (जलाकर), और संक्रान्तित (ठप्पा लेकर) इन पद्धतियों से की जाती थी। लिपि के अनेक दोष भी बतलाये गये हैं। जैसे, अतिकृश, अतिस्थूल, विषम, टेढ़ी पंक्ति, और भिन्न वर्णों को एक जैसा लिखना (जैसे घ और ध, भ और म, म और य, आदि); व पदच्छेद न करना, आदि। विषय के अनुसार भी लेखों का विभाजन किया गया था। तथा स्वामि-भृत्य, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी शत्रु-मित्र, इत्यादि को पत्र लिखने की भिन्न-भिन्न शैलियां स्थिर की गई थीं।

जैन समाज में लेखन प्रणाली का प्रयोग बहुत प्राचीन पाया जाता है। तथापि डेढ़-दो हजार वर्ष से पूर्व के लिखित ग्रन्थों के स्पष्ट उदाहरण प्राप्त न होने का एक बड़ा कारण यह हुआ कि विद्याप्रचार का कार्य प्राचीन काल में मुनियो द्वारा विशेष रूप से होता था; और जैन मुनि सर्वथा अपरिग्रही होने के कारण अपने साथ ग्रन्थ न रखकर स्मृति के सहारे ही चलते थे। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को उनके साक्षात् गणधरों ने तत्काल ग्रन्थ-रचना का रूप दे दिया था। किन्तु मौर्यकाल में उनके एक अंश का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था, और पाटलिपुत्र की वाचना में बारहवें अंग दृष्टिवाद का संकलन नहीं किया जा सका, क्योंकि उसके एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु उस मुनिसंघ में सम्मिलित नहीं हो सके। वीरनिर्वाण की दसवीं शती में आकर पुनः आगमों की अस्त-व्यस्त अवस्था हो गई थी। अतएव मथुरा में स्कंदिल आचार्य और उसके कुछ पश्चात् वलभी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में आगमों की वाचनाएं की गई। पाटलिपुत्रीय व माथुरीय वाचनाओं के ग्रन्थ तो अब नहीं मिलते, किन्तु वलभी वाचना द्वारा संकलित आगमों की प्रतियां तब से निरन्तर ताड़पत्र और तत्पश्चात् कागजों पर उत्तरोत्तर सुन्दर कलापूर्ण रीति से लिखित मिलती हैं, और वे जैन लिपिकला के इतिहास के लिये बड़ी महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त तीनों वाचनाओं का नाम ही यह सूचित करता है कि उनमें ग्रन्थ बांचे या पढ़े गये थे। इससे लिखित ग्रन्थों की परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्रीय टीका में पांच प्रकार की पुस्तकों का वर्णन मिलता है-गंडी, कच्छपी, मुष्टि, संपुष्ट-फलक और छेदपाटी। लंबाई-चौड़ाई में समान अर्थात् चौकोर पुस्तक को गंडी, जो पुस्तक बीच में चौड़ी व दोनों बाजुओं में संकरी हो वह कच्छपी, जो केवल चार अंगुल की गोलाकार व चौकोर होने से मुट्ठी में रखी जा सके वह मुष्टि, लकड़ी के पट्टे पर लिखी हुई पुस्तक संपुट-फलक, तथा छोटे छोटे पत्रों वाली मोटी या लम्बे किन्तु संकरे ताड़पत्र जैसे पत्रोंवाली पुस्तक छेदपाटी कही गई है।

(२) गणित शास्त्र का विकास जैन परम्परा में करणानुयोग के अन्तर्गत खूब हुआ है। जहां इन ७२ कलाओं का संक्षेप से उल्लेख है, वहां प्रायः उन्हें लेखादिक व गणित-प्रधान कहकर सूचित किया गया है। इससे गणित की महत्ता सिद्ध होती है। (३) रूपगत से तात्पर्य मूर्तिकला व चित्रकला से है, जिनका निरूपण आगे किया जायगा। (४-६) नृत्य, गीत, वाद्य, स्वरगत, पुष्करगत और समताल का विषय संगीत है। इन कलाओं के संबंध में जैन शास्त्रों व पुराणों में बहुत कुछ वर्णन किया गया है, और उन्हें बालक-बालिकाओं की शिक्षा का आवश्यक अंग बतलाया गया है। कथा-कहानियों में प्रायः वीणावाद्य में प्रवीणता के आधार पर ही युवक-युवतियों के विवाह-संबंध के उल्लेख मिलते हैं। (१०-१३) द्यूत, जनवाद, पोक्खच्चं व अष्टापद ये द्यूतक्रीड़ा के प्रकार हैं। (१४) दगमट्टिया-उदकमृत्तिका पानी से मिट्टी को सानकर घर, मूर्ति आदि के आकार क्रीड़ा, सजावट व निर्माण हेतु बनाने की कला है। (१५-१६) अन्नविधि व पानविधि भिन्न-भिन्न प्रकार के खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय पदार्थ बनाने की कलाएं हैं। (१७) वस्त्रविधि नाना प्रकार के वस्त्र बुनने व सीने की एवं (१८) शयनविधि अनेक प्रकार के खाट-पलंग बुनने व शैया की साज-सजावट करने की कला है। (१९-२३) आर्या, प्रहेलिका, मागधिका व गाथा और श्लोक इन्हीं नामों के छंदों व काव्य-रीतियों में रचना करने की कलाएं हैं। (२४) गंधयुक्ति नाना प्रकार के सुगंधी द्रव्यों के रासायनिक संयोगों से नये-नये सुगंधी द्रव्य निर्माण करने की कला है। (२५) मधुसित्थ अलक्तक, लाक्षारस या माहुर (महावर) को कहते हैं। इस द्रव्य से पैर रंगने की कला का नाम ही मधुसित्थ है। (२६-२७) आभरणविधि व तरुणी प्रतिकर्म भूषण व अलंकार धारण करने व स्त्रियों की साज-सज्जा की कलाएं हैं।

ति प्र० (४, ३६१-६४) में पुरुष के १६ व स्त्री के १४ आभरणों की विकल्प रूप में दो सूचियां पाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं :-

प्रथम सूची :

१ कुंडल, २ अंगद, ३ हार, ४ मुकुट, ५ केयूर, ६ भालपट्ट, ७ कटक, ८ प्रालम्ब, ९ सूत्र, १० नूपुर, ११ मुद्रिका-युगल, १२ मेखला, १३ ग्रैवेयक (कंठा), १४ कर्णपूर, १५ खड्ग, और १६ छुरी।

दूसरी वैकल्पिक सूची में १३ आभरणों के नाम समान हैं, किन्तु केयूर, भाल-पट्ट, कर्णपूर, ये तीन नाम नहीं हैं, तथा किरीट, अर्द्धहार व चूडामणि, ये तीन नाम नये हैं। संभव है केयूर और अंगद ये आभूषण एक ही या एक समान ही रहे हों।

और उसी प्रकार भालपट्ट व चूड़ामणि भी। अर्द्धाहार का समावेश हारों में ही किया जा सकता है। किरीट एक प्रकार का मुकुट ही है। इस प्रकार दूसरी सूची में कोई नया आभरण-विशेष नही रहता किन्तु प्रथम सूची के कर्णपूर नामक आभरण का समावेश नहीं पाया जाता। उक्त १६ अलंकारों में खड्ग और छुरी को छोड़कर शेष १४ स्त्रियों के आभूषण माने गये हैं। भूषण, आभरण व अलंकारों की एक विशाल सूची हमें अंगविज्जा (पृ० ३५५-५७) में मिलती हैं, जिसमें ३५० नाम पाये जाते हैं। यह सूची केवल आभरणों की ही नही है, किन्तु उसमें एक तो धातुओं की अपेक्षा भी अलग अलग नाम गिनाये गये हैं, जैसे सुवर्णमय, रूप्यमय, ताम्रमय आदि; अथवा शंखमय, दंतमय, वालमय, काष्ठमय, पुष्पमय, पत्रमय आदि। दूसरे उसमें भिन्न-भिन्न अंगों की अपेक्षा आभरण-नामों की पुनरावृत्ति हुई है, जैसे शिराभरण, कर्णाभरण, अंगुल्याभरण, कटिआभरण, चरणाभरण आदि। और तीसरे उसमें अंजन, चूर्ण, अलक्तक, गंधवर्ण आदि तथा नाना प्रकार के सुगंधी चूर्ण व तैल, परिधान, उत्तरासंग आदि वस्त्रों, व छत्र पताकादि शोभा-सामग्री का भी संग्रह किया गया है। तथापि शुद्ध अलंकारों की संख्या कोई १०० से अधिक ही पाई जाती है। इस ग्रन्थ में नाना प्रकार के पात्रों, भोज्य व पेय पदार्थों, वस्त्रो व आच्छादनों एवं शयनासनों की सुविस्तृत सूचियां अलग-अलग भी पाई जाती हैं, जिनसे उपर्युक्त नाना कलाओं और विशेषतः अन्नविधि (१५), पानविधि (१६), वस्त्रविधि (१७), शयनविधि (१८), गंधयुक्ति (२४), मधुसिक्थ (२५), आभरणविधि (२६), तरुणीप्रतिकर्म (२७), पत्रछेद्य तथा कटकछेद्य (७०) इन कलाओं के स्वरूप व उपयोग पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

स्त्री-लक्षण से चर्म-लक्षण (२८-४१) तक की कलाएं उन-उन स्त्री, मनुष्यों, पशुओं व वस्तुओं के लक्षणों को जानने व गुण-दोष पहचानने की कलाएं हैं। स्त्री पुरुषों के लक्षण सामुद्रिक शास्त्र सम्बन्धी नाना ग्रन्थों तथा हाथी, घोड़ों व बैलों के लक्षण भिन्न-भिन्न तत्तद्विषयक जीवशास्त्रों में विस्तार से वर्णित पाये जाते हैं। चंद्रलक्षण से ग्रहचरित (४२-४५) तक की कलाएं ज्योतिषशास्त्र विषयक हैं और उनमें उन-उन ज्योतिष मंडलों के ज्ञान की साधना की जाती थी। सौभाग्यकरं से मंत्रगतं (४६-४९) तक की कलाएं मंत्र-तन्त्र विद्याओं से संबंध रखती हैं, जिनके द्वारा अपना व अपने इष्टजनों का इष्टसाधन व शत्रु का अनिष्टसाधन किया जा सकता है। रहस्यगत और सभास (५०-५१) के विषय में ऊपर कहा ही जा चुका है कि वे संभवतः वात्स्यायनोक्त अक्षरमुष्टिका के प्रकार हैं। चार, प्रतिचार व्यूह व प्रतिव्यूह

(५२–५५) ये युद्ध संबंधी विद्याएं प्रतीत होती हैं, जिनके द्वारा क्रमशः सेना के आगे बढ़ाने, शत्रुसेना की चाल को विफल करने के लिये सेना का संचार करने, चक्रव्यूह आदि रूप से सेना का विन्यास करने व शत्रु की व्यूह-रचना को तोड़ने योग्य सेना विन्यास किया जाता था। स्कंधावार-मान से नगरनिवेश (५६–६१) तक की कलाओं का विषय शिविर आदि को बसाने व उसके योग्य भूमि, गृह आदि का मान-प्रमाण निश्चित करना है। ईसत्थ (इषु-अस्त्र) अर्थात् बाणविद्या (६२) और छरुप्पवाय (त्सरुप्रवाद) (६३) छुरी, कटार, खड्ग आदि चलाने की विद्याएं हैं। अश्वशिक्षा आदि से यष्टि-युद्ध (६४–६८) तक की कलाएं उनके नाम से ही स्पष्ट हैं। युद्ध नियुद्ध एवं जुद्धाइंजुद्ध (६८) ये भी नाना प्रकार से युद्ध करने की कलाएं हैं। सूत्र-क्रीड़ा डोरी को अंगुलियों द्वारा नाना प्रकार से रचकर चमत्कार दिखाना व धागे के द्वारा पुतलियों को नचाने की कला है। नालिका क्रीड़ा एक प्रकार की द्यूतक्रीड़ा है। वृत्तक्रीड़ा, धर्मक्रीड़ा व चर्मक्रीड़ा, ये क्रमशः मंडल बांधकर, वायु फूंककर जिससे स्वास न टूटे व चर्म के आश्रय से क्रीडा (खेलने) के प्रकार है (६९)। पत्तछेद्य व कटक छेद्य (७०) क्रमशः पत्तों व तृणों को नाना प्रकार से काट-छांटकर सुन्दर आकार की वस्तुएं बनाने की कला है। सजीव-निर्जीव (७१) वही कला प्रतीत होती है जिसका उल्लेख वात्स्यायन ने यंत्रमातृका नाम से किया है, व जिसके संबंध में टीकाकार यशोधर ने कहा है कि यह गमनागमन व संग्राम के लिये सजीव व निर्जीव यंत्रों की रचना की कला है जिसका स्वयं विश्वकर्मा ने स्वरूप बतलाया है। शकुनिरुत (७२) पक्षियों की बोली को पहचानने की कला है।

बहत्तर कलाओं की एक सूची औपपातिक सूत्र (१०७) में भी पाई जाती है। वह समवायान्तर्गत सूची से मिलती है; केवल कुछ नामों में हेर-फेर पाया जाता है। उसमें उपर्युक्त नामावली में से मधुसित्थ (२५) मेंढ़ालक्षण, दंडलक्षण, चन्द्रलक्षण से लगाकर सभास पर्यन्त (४२–५१) दंडयुद्ध, यष्टियुद्ध, और धर्मक्रीड़ा ये नाम नहीं हैं, तथा पासक (पांसा से जुआ खेलना), गीतिका (गेय छंद रचना), हिरण्युक्ति सुवर्णयुक्ति, चूर्णयुक्ति (चांदी, सोना व मोतियों आदि रत्नों से मिला-जुलाकर भिन्न-भिन्न आभूषण बनाना), गरुडव्यूह, शकटव्यूह, लतायुद्ध एवं मुक्ताक्रीड़ा, ये नाम नवीन हैं। औपपातिक सूत्र में गिनाई गई कलाएं यद्यपि ७२ कही गई हैं, तथापि पृथक् कर के गिनने से उनकी कुल संख्या ८० होती है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न जैन पुराणों व काव्यों में जहां भी शिक्षण का प्रसंग आया है, वहां प्रायः कलाएं भी गिनाई गई हैं जिनके नामों व संख्या में भेद दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, दसवीं शताब्दी में पुष्पदंत

कृत अपभ्रंश काव्य नागकुमार-चरित (३, १) में कथानायक की एक नाग द्वारा शिक्षा के प्रसंग में कहा गया है कि उसने उन्हें सिद्धों को नमस्कार कहकर निम्न कलाएं सिखाईं:—(१) अठारह लिपियां, (२) कालाक्षर, (३) गणित, (४) गांधर्व, (५) व्याकरण, (६) छंद, (७) अलंकार, (८) निघंट, (९) ज्योतिष (ग्रहगमन-प्रवृत्तियां), (१०) काव्य, (११) नाटकशास्त्र, (१२) प्रहरण, (१३) पटह, (१४) शंख, (१५) तंत्री, (१६) ताल आदि वाद्य, (१७) पत्रछेद्य, (१८) पुष्पछेद्य, (१९) फल छेद्य, (२०) अश्वारोहण, (२१) गजारोहण, (२२) चन्द्रबल, (२३) स्वरोदय, (२४) सप्तभौमप्रासाद-प्रमाण, (२५) तंत्र, (२६) मंत्र, (२७) वशीकरण, (२८) व्यूह-विरचन, (२९) अहारहरण, (३०) नानाशिल्प, (३१) चित्रलेखन, (३२) चित्राभास, (३३) इन्द्रजाल, (३४) स्तम्भन, (३५) मोहन, (३६) विद्या-साधन, (३७) जनसंक्षोभन, (३८) नर-नारीलक्षण, (३९) भूषण-विधि, (४०) कामविधि, (४१) सेवाविधि, (४२) गंधयुक्ति, (४३) मणियुक्ति, (४४) औषध-युक्ति और (४५) नरेश्वर-वृत्ति (राजनीति)।

उपर्युक्त समवायांग की कला-सूची में कहीं कहीं एक संख्या के भीतर अनेक कलाओं के नाम पाये जाते हैं, जिनको यदि पृथक् रूप से गिना जाय तो कुल कलाओं की संख्या ८६ हो जाती है। महायान बौद्ध परम्परा के ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में गिनाई गई कलाओं की संख्या भी ८६ पाई जाती है, यद्यपि वहां अनेक कलाओं के नाम प्रस्तुत सूची से भिन्न हैं, जैसे अक्षुण्ण-वेधित्व, मर्मवेधित्व शब्दवेधित्व, वैंपिक आदि।

कलाओं की अन्य सूची वात्स्यायन कृत कामसूत्र में मिलती है। यही कुछ हेर-फेर के साथ भागवत पुराण की टीकाओं मे भी पाई जाती है। इसमें कलाओं की संख्या ६४ है, और उनमे प्रस्तुत कलासूची से अनेक भिन्नताएं पाई जाती हैं। ऐसी कुछ कलाएं हैं—विशेषक छेद्य (ललाट पर चन्दन आदि लगाने की कला), तंडुल कुसुम वलिविकार (पूजानिमित्त तंदुलों व फूलों की नाना प्रकार से सुन्दर रचना), चित्रयोग (नाना प्रकार के आश्चर्य), हस्तलाघव (हाथ की सफाई), तक्ष कर्म (काट-छांटकर यथेष्ट वस्तु बनाना), उत्सादन, संवाहन, केशमर्दन, पुष्पशकटिका आदि। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने अपनी एक स्वतंत्र सूची दी है, और उन्हें शास्त्रान्तरों से प्राप्त ६४ मूल कलाएं कहा है; और यह भी कहा है कि इन्ही ६४ मूल कलाओं के भेदोपभेद ५१८ होते हैं। उन्होंने उक्त मूलकलाओं का वर्गीकरण भी किया है, जिसके अनुसार गीत आदि २४ कर्माश्रय; आयुप्राप्ति आदि २५ निर्जीव, द्यूताश्रय; उपस्थान

विधि आदि ५ सजीव आश्रय, पुरुष भावग्रहण आदि १६ शयनोपचारिक; तथा गायुपात, पातशापन आदि चार उत्तर कलाएं कही गयी हैं। इनके अतिरिक्त अनेक पुराणों व काव्य ग्रन्थों में भी कलाओं के नाम मिलते हैं, जो संख्या व नामों में भी भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं; जैसे कादम्बरी में ४८कलाएं गिनाई गई हैं, जिनमें प्रमाण, धर्मशास्त्र, पुस्तक-व्यापार, आयुर्वेद, सुरंगोपभेद आदि विशेष हैं।

वास्तु कला

जैन निर्मितियों के आदर्श—

उपर्युक्त कलासूची में वास्तुकला का भी नाम तथा स्कन्धावार, नगर और वास्तु इनके मान व निवेश का पृथक् पृथक् निर्देश भी पाया जाता है। वास्तु-निवेश व मानोन्मान संबंधी अपनी परम्पराओं मे जैनकला जैनधर्म की त्रैलोक्य संबंधी मान्यताओं से प्रभावित हुई पाई जाती है। अतएव यहां उसका सामान्यरूप से स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। जैन साहित्य के करणानुयोग प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि अनन्त आकाश के मध्य में स्थित लोकाकाश ऊंचाई में चौदह राजू प्रमाण है, और उसका सात राजू प्रमाण ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहा जाता है, जिसमें १६ स्वर्ग आदि स्थित हैं। सात राजू प्रमाण नीचेका भाग अधोलोक कहलाता है, और उसमें सात नरक स्थित हैं। इनके मध्य में झल्लरी के आकार का मध्यलोक है, जिसमें गोलाकार व वलयाकार जंबू द्वीप, लवणसमुद्र आदि उत्तरोत्तर दुगुने प्रमाण वाले असंख्य द्वीप-समुद्र स्थित हैं। इनका विस्तार से वर्णन हमें यतिवृषभ कृत तिलोय-प्रज्ञप्ति में मिलता है। इसमें वास्तु-मान व विन्यास संबंधी जो प्रकरण उपयोगी हैं उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

तिलोय पण्णत्ति के तृतीय अधिकार की गाथा २२ से ६२ तक असुरकुमार आदि भवनवासी देवों के भवनों, वेदिकाओं, कूटों, जिन मन्दिरों व प्रासादों का वर्णन है। भवनों का आकार समचतुष्कोण होता है। प्रत्येक भवन की चारों दिशाओं में चार वेदियां होती हैं, जिनके बाह्य भाग में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम, इन वृक्षों के उपवन रहते हैं। इन उपवनों में चैत्यवृक्ष स्थित हैं, जिनकी चारों दिशाओं में तोरण, आठ महामंगल द्रव्य और मानस्तम्भ सहित जिन-प्रतिमाएं विराजमान हैं। वेदियों के मध्य में वेत्रासन के आकार वाले महाकूट होते हैं, और प्रत्येक कूट के ऊपर भी एक-एक जिनमन्दिर स्थित होता है। प्रत्येक [illegible] ..... तीन कोटों से घिरा हुआ होता है, और प्रत्येक [illegible] चार-चार [illegible] इन कोटों के बीच

की वीथियों में एक-एक मानस्तम्भ, व नौ-नौ स्तूप, तथा वन एवं ध्वजाएं और चैत्य स्थित हैं। जिनालयों के चारों ओर के उपवनों में तीन-तीन मेखलाओं से युक्त वापिकाएं हैं। ध्वजाएं दो प्रकार की हैं, महाध्वजा और क्षुद्रध्वजा। महाध्वजाओं में सिंह गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म व चक्र के चिन्ह अंकित हैं। जिनालयों में वन्दन, अभिषेक, नृत्य, संगीत और आलोक, इनके लिये अलग-अलग मंडप हैं, व क्रीड़ागृह, गुणनगृह (स्वाध्यायशाला) तथा पट्टशालाएं (चित्रशाला) भी हैं। मन्दिरों में जिनेन्द्र की मूर्तियों के अतिरिक्त देवच्छंद के भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी, तथा यक्षों की मूर्तियां एवं अष्टमंगल द्रव्य भी स्थापित होते हैं। ये आठ मंगल द्रव्य हैं— भारी, कलश, दर्पण, ध्वज, चमर, छत्र, व्यजन और सुप्रतिष्ठ। जिनप्रतिमाओं के आसपास नागों व यक्षो के युगल अपने हाथों में चमर लिये हुए स्थित रहते हैं। असुरों के भवन सात, आठ, नौ, दस आदि भूमियों (मंजिलों) से युक्त होते हैं, जिनमें जन्म, अभषेक, शयन, परिचर्या और मन्त्रणा, इनके लिये अलग-अलग शालाएं होती है। उनमें सामान्य गृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह व लतागृह आदि विशेष गृह होते हैं; तथा तोरण, प्राकार, पुष्करणी, वापी और कूप, मत्तवारण (ओंटे) और गवाक्ष ध्वजा-पताकाओं व नाना प्रकार की पुतलियों से सुसज्जित होते हैं।

मेरु की रचना—

जिनेन्द्र मूर्तियों की प्रतिष्ठा के समय उनका पंच-कल्याण महोत्सव मनाया जाता है, जिनका संबन्ध तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, और निर्वाण, इन पांच महत्वपूर्ण घटनाओं से है। जन्म महोत्सव के लिये मन्दर मेरु की रचना की जाती है, क्योंकि तीर्थंकर का जन्म होने पर उसी महान् पर्वत पर स्थित पांडुक शिलापर इन्द्र उनका अभिषेक करते हैं। मन्दर मेरु का वर्णन त्रिलोक-प्रज्ञप्ति (४,१७८०) आदि में पाया जाता है। मन्दर मेरु जंबूद्वीप के व महाविदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित है। यह महापर्वत गोलाकार है उसकी कुल ऊंचाई एक लाख योजन, व मूल आयाम १००६० योजन से कुछ अधिक है। इसका १००० योजन निचला भाग नींव के रूप में पृथ्वीतल के भीतर व शेष पृथ्वीतल से ऊपर आकाशतल की ओर है। उसका विस्तार ऊपर की ओर उत्तरोत्तर कम होता गया है, जिससे वह पृथ्वीतल पर १०००० योजन तथा शिखरभूमि पर १००० योजन मात्र विस्तार युक्त है। पृथ्वी से ५०० योजन ऊपर ५०० योजन का संकोच हो गया है, तत्पश्चात् वह ११०००

योजन तक समान विस्तार से ऊपर उठकर व वहां से क्रमशः सिकुड़ता हुआ ५१५०० योजन पर सब ओर से पुनः ५०० योजन संकीर्ण हो गया है। तत्पश्चात् ११००० योजन तक समान विस्तार रखकर पुनः क्रम-हानि से २५००० योजन ऊपर जाकर वह ४६४ योजन प्रमाण सिकुड़ गया है। (१००० + ५०० + ११००० + ५१५०० + ११००० + २५००० = १००००० योजन। १००० योजन विस्तार वाले शिखर के मध्य भाग में बारह योजन विस्तार वाली चालीस योजन ऊंची चूलिका है, जो क्रमशः सिकुड़ती हुई ऊपर चार योजन प्रमाण रह गई है। मेरु के शिखर पर व चूलिका के तलभाग में उसे चारों ओर से घेरने वाला पांडु नामक वन है, जिसके भीतर चारों ओर मार्गों, अट्टालिकाओं, गोपुरों व ध्वजापताकाओं से रमणीक तटवेदी है। उस वेदी के मध्यभाग में पर्वत की चूलिका को चारों ओर से घेरे हुए पांडु वन-खंड की उत्तरदिशा में अर्द्धचन्द्रमा के आकार की पांडुक शिला है, जो पूर्व-पश्चिम १०० योजन लम्बी व उत्तर-दक्षिण ५० योजन चौड़ी एवं ८ योजन ऊंची है। इस पांडुशिला के मध्य में एक सिंहासन है, जिसके दोनों ओर दो भद्रासन विद्यमान हैं। अभिषेक के समय जिनेन्द्र भगवान् को मध्य सिंहासन पर विराजमान कर सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठ पर तथा ईशानेन्द्र उत्तर पीठ पर स्थित हो अभिषेक करते हैं।

नंदीश्वर द्वीप की रचना—

मध्यलोक का जो मध्यवर्ती एक लाख योजन विस्तार वाला जंबूद्वीप है, उसको क्रमशः वेष्टित किये हुए उत्तरोत्तर दुगुने-दुगुने विस्तार वाले लवणसमुद्र व धातकी-खंडद्वीप, कालोदसमुद्र व पुष्करवरद्वीप, पुष्करवर समुद्र व वारुणीवर द्वीप, एवं वारुणी-वर समुद्र, तथा उसी प्रकार एक ही नामवाले क्षीरवर, घृतवर व क्षौद्रवर नामक द्वीप-समुद्र हैं। तत्पश्चात् जम्बूद्वीप से आठवां द्वीप नंदीश्वर नामक है, जिनका जैन-धर्म में व जैन वास्तु एवं मूर्तिकला की परम्परा में विशेष माहात्म्य पाया जाता है। इस वलयाकार द्वीप की पूर्वादि चारों दिशाओं में वलयसीमाओं के मध्यभाग में स्थित चार अंजनगिरि नामक पर्वत हैं। प्रत्येक अंजनगिरि की चारों दिशाओं में एक-एक चौकोण द्रह (वापिका) है, जिनके नाम क्रमशः नंदा, नंदवती, नंदोत्तरा व नंदीघोषा हैं। इनके चारों ओर अशोक, सप्तच्छद, चम्पक व आम्र, इन वृक्षों के चार-चार वन हैं। चारों वापियों के मध्य में एक-एक पर्वत है जो दधि के समान श्वेतवर्ण होने के कारण दधिमुख कहलाता है। यह गोलाकार है, व उसके ऊपरी भाग में तटवेदियां और वन हैं। नंदादि चारों वापियों के दोनों बाहरी कोनों पर एक-एक सुवर्णमय

गोलाकार रतिकर नामक पर्वत है। इस प्रकार एक-एक दिशा में एक अंजनगिरि, चार दधिमुख व आठ रतिकर, इस प्रकार कुल मिलाकर तेरह पर्वत हुए। इसी प्रकार के १३-१३ पर्वत चारों दिशाओं में होने से कुल पर्वतों की संख्या ५२ हो जाती है। इनपर एक-एक जिनमंदिर स्थापित है, और ये ही नंदीश्वर द्वीप के ५२ मंदिर या चैत्यालय प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार पूर्व दिशा की चार वापियों के पूर्वोक्त नंदादिक चार नाम हैं, उसी प्रकार दक्षिण दिशा की चार वापिकाओं के नाम अरजा, विरजा, अशोका और वीतशोका; पश्चिम दिशा के विजया, वैजयन्ती, जयन्ती व अपराजिता; तथा उत्तर दिशा के रम्या, रमणीया, सुप्रभा व सर्वतोभद्रा ये नाम हैं। प्रत्येक वापिका के चारों ओर जो अशोकादि वृक्षों के चार-चार वन हैं, उनकी चारों दिशाओं की संख्या ६४ होती है। इन वनों मे प्रत्येक के बीच एक-एक प्रासाद स्थित है, जो आकार में चौकोर तथा ऊंचाई में लंबाई से दुगुना कहा गया है। इन प्रासादों में व्यन्तर देव अपने परिवार सहित रहते हैं। (त्रि० प्र० ५, ५२-८२)। वर्तमान जैन मंदिरों में कहीं-कहीं नंदीश्वर पर्वत के ५२ जिनालयों की रचना मूर्तिमान् अथवा चित्रित की हुई पाई जाती है। हाल ही में सम्मेदशिखर (पारसनाथ) की पहाड़ी के समीप पूर्वोक्त प्रकार से ५२ जिन मंदिरों युक्त नन्दीश्वर की रचना की गई है।

समवसरण रचना—

तीर्थंकर को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्र की आज्ञा से कुबेर उनके समवसरण अर्थात् सभाभवन की रचना करता है, जहां तीर्थंकर का धर्मोपदेश होता है। समवसरण की रचना का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है, और उसी के आधार से जैन वास्तुकला के नाना रूप प्रभावित हुए पाये जाते हैं। त्रि० प्र० (४, ७११-९४२) में समवसरण संबंधी सामान्य भूमि, सोपान, वीथि, धूलिशाल, चैत्य प्रासाद, नृत्यशाला, मानस्तंभ, स्तूप, मंडप, गंधकुटी आदि के विन्यास, प्रमाण, आकार आदि का बहुत कुछ वर्णन पाया जाता है। वही वर्णन जिनसेन कृत आदिपुराण (पर्व २३) में भी आया है। समवसरण की रचना लगभग बारह योजन आयाम में सूर्यमण्डल के सदृश गोलाकार होती है। उसका पीठ इतना ऊंचा होता है कि वहां तक पहुंचने के लिये समवसरण भूमि की चारों दिशाओं में एक-एक हाथ ऊंची २००० सीढ़ियां होती हैं। वहां से आगे वीथियां होती हैं, जिनके दोनों ओर वेदिकाएं बनी रहती हैं। तत्पश्चात् बाहिरी धूलिशाल नामक कोट बना रहता है, जिसकी पूर्वादिक चारों दिशाओं में विजय, वैजयंत, जयन्त और अपराजित नामक गोपुरद्वार होते हैं। ये गोपुर तीन भूमियों वाले व अट्टा-

लिकाओं से रमणीक होते हैं, और उनके बाह्य, मध्य व आभ्यन्तर पार्श्व भागों में मंगल द्रव्य, निधि, व धूपघटों से युक्त बड़ी-बड़ी पुतलियां बनी रहती हैं। अष्ट मंगलद्रव्य भवनों के प्रकरण में (पृ०२६२) गिनाये जा चुके हैं। नव निधियों के नाम हैं-काल, महाकाल, पांडु, माणवक, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल, और नाना रत्न, जो क्रमशः ऋतुओं के अनुकूल माल्यादिक नाना द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, महल, आभरण और रत्न प्रदान करने की शक्ति रखती हैं। गोपुरों के बाह्य भाग में मकर-तोरण तथा आभ्यन्तर भाग में रत्न-तोरणों की रचना होती है, और मध्य के दोनों पार्श्वों में एक-एक नाट्यशाला। इन गोपुरों का द्वारपाल ज्योतिष्क देव होता है, जो अपने हाथ में रत्नदंड धारण किये रहता है। कोट के भीतर जाने पर एक-एक जिनभवन के अन्तराल से पांच-पांच चैत्य-प्रासाद मिलते हैं, जो उपवन और वापिकाओं से शोभायमान हैं, तथा वीथियों के दोनों पार्श्वभागों में दो-दो नाट्यशालाएं शरीराकृति से १२ गुनी ऊंची होती हैं। एक-एक नाट्यशाला में ३२ रंगभूमियां ऐसी होती हैं जिनमें प्रत्येक पर ३२ भवनवासी कन्याएं अभिनय व नृत्य कर सकें।

मानस्तंभ—

वीथियों के बीचोंबीच एक-एक मानस्तंभ स्थापित होता है। यह आकार में गोल, और चार गोपुरद्वारों तथा ध्वजापताकाओं से युक्त एक कोट से घिरा होता है। इसके चारों ओर सुन्दर वनखंड होते हैं, जिनमें पूर्वादिक दिशाक्रम से सोम, यम, वरुण और कुबेर, इन लोकपालों के रमणीक क्रीड़ानगर होते हैं। मानस्तंभ क्रमशः छोटे होते हुए तीन गोलाकार पीठों पर स्थापित होता है। मानस्तंभ की ऊंचाई तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी बतलाई गई है। मानस्तंभ तीन खंडों में विभाजित होता है। इसका मूल भाग वज्रद्वारों से युक्त, मध्यम भाग स्फटिक मणिमय वृत्ताकार, तथा उपरिम भाग वैडूर्य मणिमय होता है; और उसके चारों ओर चंवर, घंटा, किंकिणी, रत्नहार व ध्वजाओं की शोभा होती है। मानस्तंभ के शिखर पर चारों दिशाओं में आठ-आठ प्रातिहार्यों से युक्त एक-एक जिनेन्द्र-प्रतिमा विराजमान होती है। प्रातिहार्यों के नाम हैं—अशोकवृक्ष, दिव्य पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, आसन, भामंडल, दुंदुभि और आतपत्र। प्रत्येक मानस्तंभ की पूर्वादिक चारों दिशाओं में एक-एक वापिका होती है। पूर्वादि दिशावर्ती मानस्तंभ की वापिकाओं के नाम हैं—नंदोत्तरा, नंदा, नंदीमती और नंदीघोषा। दक्षिण मानस्तंभ की वापिकाएं हैं—विजया, वैजयन्ता, जयन्ता और अपराजिता। पश्चिम मानस्तंभ संबंधी वापिकाएं हैं-अशोका, सुप्रतिबुद्धा, कुमुदा, और

पुंडरीका; तथा उत्तर मानस्तंभ की वापिकाओं के नाम हैं-हृदयानंदा, महानंदा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभंकरा। ये वापिकाएं चौकोर वेदिकाओं व तोरणों से युक्त तथा जल-क्रीड़ा के योग्य दिव्य द्रव्यों व सोपानों से युक्त होती हैं। मानस्तंभ का प्रयोजन यह बतलाया गया है कि उसके दर्शनमात्र से दर्शकों का मद दूर हो जाता है, और उनके मनमें धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

चैत्यवृक्ष व स्तूप—

समवशरण की आगे की वन भूमियों में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, ये चार चैत्यवृक्ष होते हैं, जिनकी ऊंचाई भी तीर्थंकर के शरीर के मान से १२ गुनी होती है, और प्रत्येक चैत्यवृक्ष के आश्रित चारों दिशाओं में आठ प्रातिहार्यों से युक्त चार-चार जिन प्रतिमाएं होती हैं। वनभूमि मे देवभवन व भवन भूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य नौ-नौ स्तूप होते हैं। ये स्तूप तीर्थंकरों और सिद्धों की प्रतिमाओं से व्याप्त तथा छत्र के ऊपर छत्र एवं आठ मंगल द्रव्यों व ध्वजाओं से शोभित होते हैं। इन स्तूपों की ऊंचाई भी चैत्यवृक्षों के समान तीर्थंकर की शरीराकृत्ति से १२ गुनी होती है।

श्रीमंडप—

समवसरण के ठीक मध्य में गंधकुटी और उसके आसपास गोलाकार बारह श्रीमंडप अर्थात् कोठे होते हैं। ये श्रीमंडप प्रत्येक दिशा में वीथीपथ को छोड़कर ४-४ भित्तियों के अन्तराल से तीन तीन होते हैं, और उनकी ऊंचाई भी तीर्थंकर के शरीर से १२ गुनी होती है। धर्मोपदेश के समय ये कोठे क्रमशः पूर्व से प्रदक्षिणा क्रम से (१) गणधरों, (२) कल्पवासिनी देवियों, (३) आर्यिका व श्राविकाओं, (४) ज्योतिषी देवियों, (५) व्यंतर देवियों, (६) भवनवासिनी देवियों, (७) भवनवासी देवों, (८) व्यंतर देवों, (९) ज्योतिषी देवों, (१०) कल्पवासी देवों व इन्द्रों, (११) चक्रवर्ती आदि मनुष्यों व (१२) हाथी, सिंहादि समस्त तिर्यंच जीवों के बैठने के लिये नियत होते हैं।

गंधकुटी—

श्रीमंडप के बीचोंबीच तीन पीठिकाओं के ऊपर गंधकुटी की रचना होती है, जिसका आकार चौकोर होता है। अंतिम तीर्थंकर महावीर की गंधकुटी की ऊंचाई ७५

लिकाओं से रमणीक होते हैं, और उनके बाह्य, मध्य व आभ्यन्तर पार्श्व भागों में मंगल द्रव्य, निधि, व धूपघटों से युक्त बड़ी-बड़ी पुतलियां बनी रहती हैं। अष्ट मंगलद्रव्य भवनों के प्रकरण में (पृ०२९२) गिनाये जा चुके हैं। नव निधियों के नाम हैं-काल, महाकाल, पांडु, माणवक, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल, और नाना रत्न, जो क्रमशः ऋतुओं के अनुकूल माल्यादिक नाना द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, महल, आभरण और रत्न प्रदान करने की शक्ति रखती हैं। गोपुरों के बाह्य भाग में मकर-तोरण तथा आभ्यन्तर भाग में रत्न-तोरणों की रचना होती है, और मध्य के दोनों पार्श्वों में एक-एक नाट्यशाला। इन गोपुरों का द्वारपाल ज्योतिष्क देव होता है, जो अपने हाथ में रत्नदंड धारण किये रहता है। कोट के भीतर जाने पर एक-एक जिनभवन के अन्तराल से पांच-पांच चैत्य-प्रासाद मिलते हैं, जो उपवन और वापिकाओं से शोभायमान हैं, तथा वीथियों के दोनों पार्श्वभागों में दो-दो नाट्यशालाएं शरीराकृति से १२ गुनी ऊंची होती हैं। एक-एक नाट्यशाला में ३२ रंगभूमियां ऐसी होती हैं जिनमें प्रत्येक पर ३२ भवनवासी कन्याएं अभिनय व नृत्य कर सकें।

मानस्तंभ—

वीथियों के बीचोंबीच एक-एक मानस्तंभ स्थापित होता है। यह आकार में गोल, और चार गोपुरद्वारों तथा ध्वजापताकाओं से युक्त एक कोट से घिरा होता है। इसके चारों ओर सुन्दर वनखंड होते हैं, जिनमें पूर्वादिक दिशाक्रम से सोम, यम, वरुण और कुबेर, इन लोकपालों के रमणीक क्रीड़ानगर होते हैं। मानस्तंभ क्रमशः छोटे होते हुए तीन गोलाकार पीठों पर स्थापित होता है। मानस्तंभ की ऊंचाई तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी बतलाई गई है। मानस्तंभ तीन खंडों में विभाजित होता है। इसका मूल भाग वज्रद्वारों से युक्त, मध्यम भाग स्फटिक मणिमय वृत्ताकार, तथा उपरिम भाग वैडूर्य मणिमय होता है; और उसके चारों ओर चंवर, घंटा, किंकिणी, रत्नहार व ध्वजाओं की शोभा होती है। मानस्तंभ के शिखर पर चारों दिशाओं में आठ-आठ प्रातिहार्यों से युक्त एक-एक जिनेन्द्र-प्रतिमा विराजमान होती है। प्रातिहार्यों के नाम हैं—अशोकवृक्ष, दिव्य पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, आसन, भामंडल, दुन्दुभि और आतपत्र। प्रत्येक मानस्तंभ की पूर्वादिक चारों दिशाओं में एक-एक वापिका होती है। पूर्वादि दिशावर्ती मानस्तंभ की वापिकाओं के नाम हैं—नंदोत्तरा, नंदा, नंदीमती और नंदीघोषा। दक्षिण मानस्तंभ की वापिकाएं हैं—विजया, वैजयन्ता, जयन्ता और अपराजिता। पश्चिम मानस्तंभ संबंधी वापिकाएं हैं-अशोका, सुप्रतिबुद्धा, कुमुदा, और

पुंडरीका; तथा उत्तर मानस्तंभ की वापिकाओं के नाम हैं-हृदयानंदा, महानंदा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभंकरा। ये वापिकाएं चौकोर वेदिकाओं व तोरणों से युक्त तथा जल-क्रीड़ा के योग्य दिव्य द्रव्यों व सोपानों से युक्त होती हैं। मानस्तंभ का प्रयोजन यह बतलाया गया है कि उसके दर्शनमात्र से दर्शकों का मद दूर हो जाता है, और उनके मनमें धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

चैत्यवृक्ष व स्तूप—

समवशरण की आगे की वन भूमियों में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, ये चार चैत्यवृक्ष होते हैं, जिनकी ऊंचाई भी तीर्थंकर के शरीर के मान से १२ गुनी होती है, और प्रत्येक चैत्यवृक्ष के आश्रित चारों दिशाओं में आठ प्रातिहार्यो से युक्त चार-चार जिन प्रतिमाएं होती हैं। वनभूमि में देवभवन व भवन भूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य नौ-नौ स्तूप होते हैं। ये स्तूप तीर्थंकरों और सिद्धों की प्रतिमाओं से व्याप्त तथा छत्र के ऊपर छत्र एवं आठ मंगल द्रव्यों व ध्वजाओं से शोभित होते हैं। इन स्तूपों की ऊंचाई भी चैत्यवृक्षों के समान तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी होती है।

श्रीमंडप—

समवसरण के ठीक मध्य में गंधकुटी और उसके आसपास गोलाकार बारह श्रीमंडप अर्थात् कोठे होते हैं। ये श्रीमंडप प्रत्येक दिशा में वीथीपथ को छोड़कर ४-४ भित्तियों के अन्तराल से तीन तीन होते हैं, और उनकी ऊंचाई भी तीर्थंकर के शरीर से १२ गुनी होती है। धर्मोपदेश के समय ये कोठे क्रमशः पूर्व से प्रदक्षिणा क्रम से (१) गणधरों, (२) कल्पवासिनी देवियों, (३) आर्यिका व श्राविकाओं, (४) ज्योतिषी देवियों, (५) व्यंतर देवियों, (६) भवनवासिनी देवियों, (७) भवनवासी देवों, (८) व्यंतर देवों, (९) ज्योतिषी देवों, (१०) कल्पवासी देवों व इन्द्रों, (११) चक्रवर्ती आदि मनुष्यों व (१२) हाथी, सिंहादि समस्त तिर्यंच जीवों के बैठने के लिये नियत होते हैं।

गंधकुटी—

श्रीमंडप के बीचोंबीच तीन पीठिकाओं के ऊपर गंधकुटी की रचना होती है, जिसका आकार चौकोर होता है। अंतिम तीर्थंकर महावीर की गंधकुटी की ऊंचाई ७५

लिकाओं से रमणीक होते है, और उनके वाह्य, मध्य व आभ्यन्तर पार्श्व भागों में मंगल द्रव्य, निधि, व धूपघटों से युक्त बड़ी-बड़ी पुतलियां बनी रहती हैं। अष्ट मंगलद्रव्य भवनों के प्रकरण में (पृ०२६२) गिनाये जा चुके हैं। नव निधियों के नाम हैं-काल, महाकाल, पांडु, माणवक, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल, और नाना रत्न, जो क्रमशः ऋतुओं के अनुकूल माल्यादिक नाना द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, महल, आभरण और रत्न प्रदान करने की शक्ति रखती हैं। गोपुरों के बाह्य भाग में मकर-तोरण तथा आभ्यन्तर भाग में रत्न-तोरणों की रचना होती है, और मध्य के दोनों पार्श्वों में एक-एक नाट्यशाला। इन गोपुरों का द्वारपाल ज्योतिष्क देव होता है, जो अपने हाथ में रत्नदंड धारण किये रहता है। कोट के भीतर जाने पर एक-एक जिनभवन के अन्तराल से पांच-पांच चैत्य-प्रासाद मिलते हैं, जो उपवन और वापिकाओं से शोभायमान हैं, तथा वीथियों के दोनों पार्श्वभागों में दो-दो नाट्यशालाएं शरीराकृति से १२ गुनी ऊंची होती हैं। एक-एक नाट्यशाला में ३२ रंगभूमियां ऐसी होती हैं जिनमें प्रत्येक पर ३२ भवनवासी कन्याएं अभिनय व नृत्य कर सकें।

मानस्तंभ—

वीथियों के बीचोंबीच एक-एक मानस्तंभ स्थापित होता है। यह आकार में गोल, और चार गोपुरद्वारों तथा ध्वजापताकाओं से युक्त एक कोट से घिरा होता है। इसके चारों ओर सुन्दर वनखंड होते हैं, जिनमें पूर्वादिक दिशाक्रम से सोम, यम, वरुण और कुवेर, इन लोकपालों के रमणीक क्रीड़ानगर होते हैं। मानस्तंभ क्रमशः छोटे होते हुए तीन गोलाकार पीठों पर स्थापित होता है। मानस्तंभ की ऊंचाई तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी बतलाई गई है। मानस्तंभ तीन खंडों में विभाजित होता है। इसका मूल भाग वज्रद्वारों से युक्त, मध्यम भाग स्फटिक मणिमय वृत्ताकार, तथा उपरिम भाग वैडूर्य मणिमय होता है; और उसके चारों ओर चंवर, घंटा, किंकिणी, रत्नहार व ध्वजाओं की शोभा होती है। मानस्तंभ के शिखर पर चारों दिशाओं में आठ-आठ प्रातिहार्यों से युक्त एक-एक जिनेन्द्र-प्रतिमा विराजमान होती है। प्रातिहार्यों के नाम हैं—अशोकवृक्ष, दिव्य पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, आसन, भामंडल, दुन्दुभि और आतपत्र। प्रत्येक मानस्तंभ की पूर्वादिक चारों दिशाओं में एक-एक वापिका होती है। पूर्वादि दिशावर्ती मानस्तंभ की वापिकाओं के नाम हैं—नंदोत्तरा, नंदा, नंदीमती और नंदीघोषा। दक्षिण मानस्तंभ की वापिकाएं हैं—विजया, वैजयन्ता, जयन्ता और अपराजिता। पश्चिम मानस्तंभ संबंधी वापिकाएं हैं-अशोका, सुप्रतिबुद्धा, कुमुदा, और

पुंडरीका; तथा उत्तर मानस्तंभ की वापिकाओं के नाम हैं-हृदयानंदा, महानंदा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभंकरा। ये वापिकाएं चौकोर वेदिकाओं व तोरणों से युक्त तथा जल-क्रीड़ा के योग्य दिव्य द्रव्यों व सोपानों से युक्त होती हैं। मानस्तंभ का प्रयोजन यह बतलाया गया है कि उसके दर्शनमात्र से दर्शकों का मद दूर हो जाता है, और उनके मनमें धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

चैत्यवृक्ष व स्तूप—

समवशरण की आगे की वन भूमियों में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, ये चार चैत्यवृक्ष होते हैं, जिनकी ऊंचाई भी तीर्थंकर के शरीर के मान से १२ गुनी होती है, और प्रत्येक चैत्यवृक्ष के आश्रित चारों दिशाओं में आठ प्रातिहार्यों से युक्त चार-चार जिन प्रतिमाएं होती हैं। वनभूमि में देवभवन व भवन भूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य नौ-नौ स्तूप होते हैं। ये स्तूप तीर्थंकरों और सिद्धों की प्रतिमाओं से व्याप्त तथा छत्र के ऊपर छत्र एवं आठ मंगल द्रव्यों व ध्वजाओं से शोभित होते हैं। इन स्तूपों की ऊंचाई भी चैत्यवृक्षों के समान तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी होती है।

श्रीमंडप—

समवसरण के ठीक मध्य में गंधकुटी और उसके आसपास गोलाकार बारह श्रीमंडप अर्थात् कोठे होते हैं। ये श्रीमंडप प्रत्येक दिशा में वीथीपथ को छोड़कर ४-४ भित्तियों के अन्तराल से तीन तीन होते हैं, और उनकी ऊंचाई भी तीर्थंकर के शरीर से १२ गुनी होती है। धर्मोपदेश के समय ये कोठे क्रमशः पूर्व से प्रदक्षिणा क्रम से (१) गणधरों, (२) कल्पवासिनी देवियों, (३) आर्यिका व श्राविकाओं, (४) ज्योतिषी देवियों, (५) व्यंतर देवियों, (६) भवनवासिनी देवियों, (७) भवनवासी देवों, (८) व्यंतर देवों, (९) ज्योतिषी देवों, (१०) कल्पवासी देवों व इन्द्रों, (११) चक्रवर्ती आदि मनुष्यों व (१२) हाथी, सिंहादि समस्त तिर्यंच जीवों के बैठने के लिये नियत होते हैं।

गंधकुटी—

श्रीमंडप के बीचोंबीच तीन पीठिकाओं के ऊपर गंधकुटी की रचना होती है, जिसका आकार चौकोर होता है। अंतिम तीर्थंकर महावीर की गंधकुटी की ऊंचाई ७५

धनुष अर्थात् लगभग ५०० फुट बतलाई गई है। गंधकुटी के मध्य में उत्तम सिंहासन होता है, जिसपर विराजमान होकर तीर्थंकर धर्मोपदेश देते हैं।

नगर विन्यास—

जैनागमों में देश के अनेक महान् नगरों, जैसे चंपा, राजगृह, श्रावस्ती, कौशांबी, मिथिला आदि का बार-बार उल्लेख आया है; किन्तु उनका वर्णन एकसा ही पाया जाता है। यहां तक कि पूरा वर्णन तो केवल एकाध सूत्र में ही दिया गया है, और अन्यत्र 'वण्णओ' (वर्णन) कहकर उसका संकेत मात्र कर दिया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल के उन नगरों की रचना प्रायः एक ही प्रकार की होती थी। उस नगर की रचना व स्वरूप को पूर्णतः समझने के लिये यहां उववाइय सूत्र (१) से चंपा नगरी का पूरा वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—

"चंपानगरी धन-संपत्ति से समृद्ध थी, और नगरवासी खूब प्रमुदित रहते थे। वह जनता से भरी रहती थी। उसके आसपास के खेतों में हजारों हल चलते थे, और मुर्गों के झुंड के झुंड चरते थे। वह गन्ने, जौ व धान से भरपूर थी। वहां गाय, भैंस व भेड़-बकरियां प्रचुरता से विद्यमान थीं। वहां सुन्दर आकार के बहुत से चैत्य बने हुए थे, और सुन्दरी शीलवती युवतियां भी बहुत थीं। वह घूसखोर, बटमार, गंठमार, दुःसाहसी, तस्कर, दुराचारी व राक्षसों से रहित होने से क्षेम व निरुपद्रव थी। वहां भिक्षा सुख से मिलती थी, और लोग निश्चिन्त होकर सुख से निवास करते थे। करोड़ों कुटुंब वहां सुख से रहते थे। वहां नटों, नर्तकों, रस्सी पर खेल करने वाले नट, मल्ल, मुष्टियुद्ध करने वाले (मौष्टिक), नकलची (विदूषक), कथक, कूदने वाले, लास्यनृत्य करने वाले, आख्यायक, मंख (चित्रदर्शक), लंख (बड़े बांस के ऊपर नाचने वाले), तानपूरा, तूंबी व वीणा बजाने वाले तथा नाना प्रकार के वादित्र बजाने वाले आते-जाते रहते थे। वहां आराम, उद्यान, कूप, तालाब, दीर्घिका व वापियां भी खूब थीं, जिनसे वह नंदनवन के समान रमणीक थी। वह विपुल और गंभीर खाई से घिरी हुई थी। चक्र, गदा, मुसुंठि (मूठ), अवरोध, शतघ्नी तथा दृढ़ सघन कपाटों के कारण उसमें प्रवेश करना कठिन था। वह धनुष के समान गोलाकार प्राकार से घिरी हुई थी, जिसपर कपिशीर्षक (कंगूरे) और गोल गुम्मट बने हुए थे। वहां ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं, चरियापथ, द्वार, गोपुर, तोरण तथा सुन्दर रीतिसे विभाजित राजमार्ग थे। प्राकार तथा गृहों के परिघ व इन्द्रकील (संगर व चटकिनी) कुशल कारीगरों द्वारा निर्माण किये गये थे। वहां दुकानों में व्यापारियों द्वारा नाना प्रकार के शिल्प तथा

सुखोपभोग की वस्तुएं रखी गई थीं। वह सिंघाटक (त्रिकोण), चौकोन व चौकों में विविध वस्तुएं खरीदने योग्य दुकानों से शोभायमान थी। उसके राजमार्ग राजाओं के गमनागमन से सुरम्य थे, और वह अनेक सुन्दर-सुन्दर उत्तम घोड़ों, मत्त-हाथियों, रथों व डोलों-पालकी आदि वाहनों से व्याप्त थी। वहां के जलाशय नव प्रफुल्ल कमलों से शोभायमान थे। वह नगरी उज्ज्वल, श्वेत महाभवनों से जगमगा रही थी, और आंखें फाड़-फाड़कर देखने योग्य थी। उसे देखकर मन प्रसन्न हो जाता था। वह ऐसी दर्शनीय, सुन्दर और मनोज्ञ थी।"

प्राचीन नगर का यह वर्णन तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है-(१) उसकी समृद्धि व धन-वैभव संबंधी, (२) वहां नाना प्रकार की कलाओं, विद्याओं, व मनोरंजन के साधनों संबंधी; और (३) नगर की रचना संबंधी। नगर-रचना में कुछ बातें सुस्पष्ट और ध्यान देने योग्य हैं। नगर की रक्षा के निमित्त उसको चारों ओर से घेरे हुए परिखा या खाई होती थी। तत्पश्चात् एक प्राकार या कोट होता था, जिसकी चारों दिशाओं में चार-चार द्वार होते थे। प्राकार का आकार धनुष के समान गोल कहा गया है। इन द्वारों में गोपुर और तोरणों का शोभा की दृष्टि से विशेष स्थान था। कोट कंगूरेदार कपिशीर्षकों से युक्त बनते थे, और उनपर शतघ्नी आदिक नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की स्थापना की जाती थी। नगर में राजमार्गों व चरिया-पथं (मेन रोड्स एवं फुटपाथ्स) बड़ी व्यवस्था से बनाये जाते थे, जिसमें तिराहों व चौराहों का विशेष स्थान था। स्थान-स्थान पर सम्भवतः प्रत्येक मोहल्ले में विशाल चौकों (खुले मैदान-पार्कस्), उद्यानों, सरोवरों व कूपों का निर्माण भी किया जाता था। घर कतारों से बनाये जाते थे, और देवालयों, बाजारों व दुकानों की सुव्यवस्था थी।

जैन सूत्रों से प्राप्त नगर का यह वर्णन पुराणों, बौद्ध ग्रन्थों, तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि के वर्णनों से मिलता है, तथा पुरातत्व संबंधी खुदाई से जो कुछ नगरों के भग्नावशेष मिले हैं उनसे भी प्रमाणित होता है। उदाहरणार्थ, प्राचीन पांचाल देश की राजधानी अहिच्छत्र की खुदाई से उसकी परिखा व प्राकार के अवशेष प्राप्त हुए है। यह वही स्थान है जहाँ जैन परम्परानुसार तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तप में उपसर्ग होने पर धरणेन्द्रनाग ने उनकी रक्षा की थी, और इसी कारण इसका नाम भी अहिच्छत्र पड़ा। प्राकार पकाई हुई ईंटों का बना व ४०-५० फुट तक ऊंचा पाया गया है। कोट के द्वारों से राजपथ सीधे नगर के केन्द्र की ओर जाते हुए पाये गये है, और केन्द्र में एक विशाल देवालय के चिन्ह मिले हैं। भारहुत, सांची, अमरावती, मथुरा आदि स्थानों से प्राप्त पाषाणोत्कीर्ण चित्रकारी में जो राजगृह, श्रावस्ती, वारा-

रासी, कपिलवस्तु, कुशीनगर आदि की प्रतिकृतियां (मोडेल्स) पाई जाती हैं, उनसे भी परिखा, प्राकार तथा द्वारों, गोपुरों व अट्टालिकाओं की व्यवस्था समझ में आती है। देश के प्राचीन नगरों की बनावट व शोभा का परिचय हमें मैगस्थनीज, फाहियान आदि यूनानी व चीनी यात्रियों द्वारा किये गये सुप्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर के वर्णन से भी प्राप्त होता है, और उसका समर्थन पटना के समीप बुलंदीबाग और कुमराहर नामक स्थानों की खुदाई से प्राप्त हुए प्राकार व राजप्रासाद आदि के भग्नावशेषों से होता है। मैगस्थनीज के वर्णनानुसार पाटलिपुत्र नगर का प्राकार काष्ठमय था। इसकी भी प्राप्त भग्नावशेषों से पुष्टि हुई है; तथा उपलब्ध पाषाण स्तंभों के भग्नावशेषों से शालाओं व प्रासादों की निर्माण-कला की बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है, जिससे जैन ग्रन्थों से प्राप्त नगरादि के वर्णन का भले प्रकार समर्थन होता है।

चैत्य रचना—

जैन सूत्रों में नगर के वर्णन में तथा स्वतंत्र रूप से भी चैत्यों का उल्लेख बार बार आता है। यहां औपपातिक सूत्र (२) से चंपानगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित पूर्णभद्र नामक चैत्य का वर्णन दिया जाता है। "वह चैत्य बहुत प्राचीन, पूर्व पुरुषों द्वारा पहले कभी निर्माण किया गया था, और सुविदित व सुविख्यात था। वह छत्र, घंटा, ध्वजा व पताकाओं से मंडित था। वहां चमर (लोमहस्त-पीछी) लटक रहे थे। वहां गोशीर्ष व सरस रक्तचंदन से हाथ के पंजों के निशान बने हुए थे और चंदन-कलश स्थापित थे। वहां बड़ी-बडी गोलाकार मालाएं लटक रहीं थीं। पचरंगे, सरस, सुगंधी फूलों की सजावट हो रही थी। वह कालागुरु, कुंदुरुक्क एवं तुरुष्क व धूप की सुगंध से महक रहा था। वहां नटों, नर्तकों, नाना प्रकार के खिलाड़ियों, संगीतकों, भोजकों व मागधों की भीड़ लगी हुई थी। वहां बहुत लोग आते जाते रहते थे; लोग घोषणा कर-करके दान देते थे व अर्चा, वंदना, नमस्कार, पूजा, सत्कार, सम्मान करते थे। वह कल्याण, मंगल व देवतारूप चैत्य विनयपूर्वक पर्युपासना करने के योग्य था। वह दिव्य था, सब मनोकामनाओं की पूर्ति का सत्योपाय-भूत था। वहां प्रातिहार्यों का सद्भाव था। वह चैत्य याग के सहस्रभाग का प्रतीक था। बहुत लोग आ-आकर उस पूर्णभद्र चैत्य की पूजा करते थे।"

जैन चैत्य व स्तूप—

समोसरण के वर्णन में चैत्य वृक्षों व स्तूपों का उल्लेख किया जा चुका है।

भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (३, २, १४३) में भगवान् महावीर के अपनी छद्मस्थ अवस्था में सुंसुमारपुर के उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यान करने का वर्णन है। ति०प्र० (४,६१५) में यह भी कहा गया है कि जिस वृक्ष के नीचे, जिस केवली को केवलज्ञान प्राप्त हुआ, वही उस तीर्थंकर का अशोक वृक्ष कहलाया। इस प्रकार अशोक एक वृक्ष-विशेष का नाम भी है, व केवलज्ञान संबंधी समस्त वृक्षों की संज्ञा भी। अनुमानतः इसी कारण वृक्षों के नीचे प्रतिमाएं स्थापित करने की परम्परा प्रारम्भ हुई। स्वभावतः वृक्षमूल मे मूर्तियां स्थापित करने के लिये वृक्ष के चारों ओर एक वेदिका या पीठिका बनाना भी आवश्यक हो गया। यह वेदी इष्टकादि के चयन से बनाई जाने के कारण वे वृक्ष चैत्यवृक्ष कहे जाने लगे होंगे। इष्टकों (ईंटों) से बनी वेदिका को चिति या चयन कहने की प्रथा बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य में यज्ञ की वेदी को भी यह नाम दिया गया पाया जाता है। इसी प्रकार चयन द्वारा निर्मापित स्तूप भी चैत्य-स्तूप कहलाये।

आवश्यक निर्युक्ति (गा० ४३५) में तीर्थंकर के निर्वाण होने पर स्तूप, चैत्य व जिनगृह निर्माण किये जाने का उल्लेख है। इस पर टीका करते हुए हरिभद्रसूरि ने भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् उनकी स्मृति में उनके पुत्र भरत द्वारा उनके निर्वाण-स्थान कैलाश पर्वत पर एक चैत्य तथा सिंह-निषद्या-आयतन निर्माण कराये जाने का उल्लेख किया है। अर्द्धमागधी जंबूदीवपण्णत्ति (२, ३३) में तो निर्वाण के पश्चात् तीर्थंकर के शरीर-संस्कार तथा चैत्य-स्तूप-निर्माण का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है—

"तीर्थंकर का निर्वाण होने पर देवेन्द्र ने आज्ञा दी कि गोशीर्ष व चंदन काष्ठ एकत्र कर चितिका बनाओ, क्षीरोदधि से क्षीरोदक लाओ, तीर्थंकर के शरीर को स्नान कराओ, और उसका गोशीर्षचंदन से लेप करो। तत्पश्चात् शक्र ने हंसचिन्ह-युक्त वस्त्र-शाटिका तथा सर्व अलंकारों से शरीर को भूषित किया, व शिविका द्वारा लाकर चिता पर स्थापित किया। अग्निकुमार देव ने चिता को प्रज्वलित किया, और पश्चात् मेघ कुमार देव ने क्षीरोदक से अग्नि को उपशांत किया। शक्र देवेन्द्र ने भगवान् की ऊपर की दाहिनी व ईशान देव ने बांयी सक्थि (अस्थि) ग्रहण की, तथा नीचे की दाहिनी चमर असुरेन्द्र ने, व बांयी बलि ने ग्रहण की। शेष देवों ने यथायोग्य अवशिष्ट अंग-प्रत्यंगों को ग्रहण किया। फिर शक्र देवेन्द्र ने आज्ञा दी कि एक अतिमहान् चैत्य स्तूप भगवान् तीर्थंकर की चिता पर निर्माण किया जाय; एक गणधर की चिता पर और एक शेष अनगारों की चिता पर। देवों ने तदनुसार ही परिनिर्वाण-महिमा की। फिर

वे सब अपने-अपने विमानों व भवनों को लौट आये, और अपने-अपने चैत्य-स्तंभों के समीप आकर उन जिन-अस्थियों को वज्रमय, गोल वृत्ताकार समुद्गकों (पेटिकाओं) में स्थापित कर उत्तम मालाओं व गंधों से उनकी पूजा-अर्चा की।"

इस विवरण से सुस्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परानुसार महापुरुषों की चिताओं पर स्तूप निर्माण कराये जाते थे। इस परम्परा की पुष्टि पालि ग्रन्थों के बुद्ध निर्वाण और उनके शरीर-संस्कार संबंधी वृत्तांत से होती है।

महापरिनिव्वानसुत्त में कथन है कि जब बुद्ध भगवान् के शिष्यों ने उनसे पूछा कि निर्वाण के पश्चात् उनके शरीर का कैसा सत्कार किया जाय, तब इसके उत्तर में बुद्ध ने कहा—हे आनंद, जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के शरीर को वस्त्र से खूब वेष्टित करके तैल की द्रोणी में रखकर चितक बनाकर शरीर को झांप देते हैं, और चतुर्महापथ पर स्तूप बनाते हैं, इसी प्रकार मेरे शरीर की भी सत्पूजा की जाय। इससे स्पष्ट है कि उस प्राचीन काल में राजाओं व धार्मिक महापुरुषों की चिता पर अथवा अन्यत्र उनकी स्मृति में स्तूप बनवाने की प्रथा थी। स्तूप का गोल आकार भी इसी बात की पुष्टि करता है, क्योंकि यह आकार श्मशान के आकार से मिलता है। इस संबंध में शतपथ ब्राह्मण का एक उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है कि आर्यों के दैव श्मशान चौकोर, तथा अनार्यों के आसुर्य श्मशान गोलाकार होते हैं। धार्मिक महापुरुषों के स्मारक होने से स्तूप श्रद्धा और पूजा की वस्तु बन गई, और शताब्दियों तक स्तूप बनवाने और उनकी पूजा-अर्चा किये जाने की परम्परा चालू रही। धीरे धीरे इनका आकार-परिमाण भी खूब बढ़ा। उनके आसपास प्रदक्षिणा के लिये एक व अनेक वेदिकाएं भी बनने लगीं। उनके आसपास कला-पूर्ण कटहरा भी बनने लगा। ऐसे स्तूपों के उत्कृष्ट उदाहरण अभी भी सांची, भरहुत, सारनाथ आदि स्थानों में देखे जा सकते हैं। दुर्भाग्यतः उपलब्ध स्तूपों में जैन स्तूपों का अभाव पाया जाता है। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि प्राचीनकाल में जैनस्तूपों का भी खूब निर्माण हुआ था। जिनदास कृत आवश्यकचूर्णि में उल्लेख है कि अतिप्राचीन काल में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की स्मृति में एक स्तूप वैशाली में बनवाया गया था। किन्तु अभी तक इस स्तूप के कोई चिन्ह व भग्नावशेष प्राप्त नहीं किये जा सके। तथापि मथुरा के समीप एक अत्यन्त प्राचीन जैन स्तूप के प्रचुर भग्नावशेष मिले हैं। हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष (१२, १३२) के अनुसार यहां अति प्राचीनकाल में विद्याधरों द्वारा पांच स्तूप बनवाये गये थे। इन पांच स्तूपों की विख्याति और स्मृति एक मुनियों की वंशावली से संबद्ध पाई जाती है। पहाड़पुर (बंगाल) से जो पांचवीं शताब्दी का

गुहनंदि आचार्य का ताम्रपत्र मिला है, उसमें इस पंचस्तूपान्वय का उल्लेख है। धवला टीका के कर्ता वीरसेनाचार्य व उनके शिष्य महापुराण के कर्त्ता जिनसेन ने अपने को पंचस्तूपान्वयी कहा है। इसी अन्वय का पीछे सेन-अन्वय नाम प्रसिद्ध हुआ पाया जाता है। जिनप्रभसूरि कृत विविध-तीर्थ-कल्प मे उल्लेख है कि मथुरा में एक स्तूप सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्मृति में एक देवी द्वारा अतिप्राचीन काल में बनवाया गया था, व पार्श्वनाथ तीर्थंकर के समय में उसका जीर्णोद्धार कराया गया था, तथा उसके एक हजार वर्ष पश्चात् पुनः उसका उद्धार बप्पभट्टि सूरि द्वारा कराया गया था। राजमल्ल कृत जंबूस्वामिचरित के अनुसार उनके समय में (मुगल सम्राट् अकबर के काल में) मथुरा में ५१५ स्तूप जीर्ण-शीर्ण अवस्था में विद्यमान थे, जिनका उद्धार तोडर नाम के एक धनी साहू ने अगणित द्रव्य व्यय करके कराया था। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए भग्नावशेषों में एक जिन-सिंहासन पर के (दूसरी शती के) लेख में यहां के देवनिर्मित स्तूप का उल्लेख है। इसका समर्थन पूर्वोक्त हरिषेण व जिनप्रभ सूरि के उल्लेखों से भी होता है। हरिभद्रसूरि कृत आवश्यक-निर्युक्ति-वृत्ति तथा सोमदेव कृत यशस्तिलक-चम्पू में भी मथुरा के देवनिर्मित स्तूप का वर्णन आया है। इन सब उल्लेखों से इस स्तूप की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है।

मथुरा का स्तूप—

मथुरा के स्तूप का जो भग्नांश प्राप्त हुआ है, उससे उसके मूल-विन्यास का स्वरूप प्रगट हो जाता है। स्तूप का तलभाग गोलाकार था, जिसका व्यास ४७ फुट पाया जाता है। उसमें केन्द्र से परिधि की ओर बढ़ते हुए व्यासार्ध वाली ८ दीवालें पाई जाती हैं, जिनके बीच के स्थान को मिट्टी से भरकर स्तूप ठोस बनाया गया था। दीवालें ईंटों से चुनी गई थी। ईंटें भी छोटी-बड़ी पाई जाती हैं। स्तूप के बाह्य भाग पर जिन-प्रतिमाएं बनी थीं। पूरा स्तूप कैसा था, इसका कुछ अनुमान बिखरी हुई प्राप्त सामग्री के आधार पर लगाया जा सकता है। अनेक प्रकार की चित्रकारी युक्त जो पाषाण-स्तंभ मिले हैं, उनसे प्रतीत होता है कि स्तूप के आसपास घेरा व तोरण द्वार रहे होंगे। दो ऐसे भी आयाग पट्ट मिले हैं, जिनपर स्तूप की पूर्ण आकृतियां चित्रित हैं, जो संभवतः यहीं के स्तूप व स्तूपों की होंगी। स्तूप पट्टिकाओं के घेरे से घिरा हुआ है, व तोरण द्वार पर पहुंचने के लिये सात-आठ सीढ़ियां बनी हुई हैं। तोरण दो खड़े खंभों व ऊपर थोड़े-थोड़े अन्तर से एक पर एक तीन आड़े खंभों से बना है। उनमें सबसे निचले खंभे के दोनों पार्श्वभाग मकराकृति सिंहों से आधारित

वे सब अपने-अपने विमानों व भवनों को लौट आये, और अपने-अपने चैत्य-स्तंभों के समीप आकर उन जिन-अस्थियों को वज्रमय, गोल वृत्ताकार समुद्गकों (पेटिकाओं) में स्थापित कर उत्तम मालाओं व गंधों से उनकी पूजा-अर्चा की।"

इस विवरण से सुस्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परानुसार महापुरुषों की चिताओं पर स्तूप निर्माण कराये जाते थे। इस परम्परा की पुष्टि पालि ग्रन्थों के बुद्ध निर्वाण और उनके शरीर-संस्कार संबंधी वृत्तांत से होती है।

महापरिनिब्बानसुत्त में कथन है कि जब बुद्ध भगवान् के शिष्यों ने उनसे पूछा कि निर्वाण के पश्चात् उनके शरीर का कैसा सत्कार किया जाय, तब इसके उत्तर में बुद्ध ने कहा—हे आनंद, जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के शरीर को वस्त्र से खूब वेष्टित करके तैल की द्रोणी में रखकर चितक बनाकर शरीर को झांप देते हैं, और चतुर्महापथ पर स्तूप बनाते हैं, इसी प्रकार मेरे शरीर की भी सत्पूजा की जाय। इससे स्पष्ट है कि उस प्राचीन काल में राजाओं व धार्मिक महापुरुषों की चिता पर अथवा अन्यत्र उनकी स्मृति में स्तूप बनवाने की प्रथा थी। स्तूप का गोल आकार भी इसी बात की पुष्टि करता है, क्योंकि यह आकार श्मशान के आकार से मिलता है। इस संबंध में शतपथ ब्राह्मण का एक उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है कि आर्यों के दैव श्मशान चौकोर, तथा अनार्यों के आसुर्य श्मशान गोलाकार होते हैं। धार्मिक महापुरुषों के स्मारक होने से स्तूप श्रद्धा और पूजा की वस्तु बन गई, और शताब्दियों तक स्तूप बनवाने और उनकी पूजा-अर्चा किये जाने की परम्परा चालू रही। धीरे धीरे इनका आकार-परिमाण भी खूब बढ़ा। उनके आसपास प्रदक्षिणा के लिये एक व अनेक वेदिकाएं भी बनने लगी। उनके आसपास कला-पूर्ण कटहरा भी बनने लगा। ऐसे स्तूपों के उत्कृष्ट उदाहरण अभी भी सांची, भरहुत, सारनाथ आदि स्थानों में देखे जा सकते हैं। दुर्भाग्यतः उपलब्ध स्तूपों में जैन स्तूपों का अभाव पाया जाता है। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि प्राचीनकाल में जैनस्तूपों का भी खूब निर्माण हुआ था। जिनदास कृत आवश्यकचूर्णि में उल्लेख है कि अतिप्राचीन काल में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की स्मृति में एक स्तूप वैशाली में बनवाया गया था। किन्तु अभी तक इस स्तूप के कोई चिन्ह व भग्नावशेष प्राप्त नहीं किये जा सके। तथापि मथुरा के समीप एक अत्यन्त प्राचीन जैन स्तूप के प्रचुर भग्नावशेष मिले हैं। हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष (१२, १३२) के अनुसार यहां अति प्राचीनकाल में विद्याधरों द्वारा पांच स्तूप बनवाये गये थे। इन पांच स्तूपों की विख्याति और स्मृति एक मुनियों की संघावली से संबद्ध पाई जाती है। पहाड़पुर (बंगाल) से जो पांचवीं शताब्दी का

गुहनंदि आचार्य का ताम्रपत्र मिला है, उसमें इस पंचस्तूपान्वय का उल्लेख है। धवला टीका के कर्ता वीरसेनाचार्य व उनके शिष्य महापुराण के कर्त्ता जिनसेन ने अपने को पंचस्तूपान्वयी कहा है। इसी अन्वय का पीछे सेन-अन्वय नाम प्रसिद्ध हुआ पाया जाता है। जिनप्रभसूरि कृत विविध-तीर्थ-कल्प में उल्लेख है कि मथुरा में एक स्तूप सुपार्श्व-नाथ तीर्थंकर की स्मृति मे एक देवी द्वारा अतिप्राचीन काल में बनवाया गया था, व पार्श्वनाथ तीर्थंकर के समय में उसका जीर्णोद्धार कराया गया था, तथा उसके एक हजार वर्ष पश्चात् पुनः उसका उद्धार वप्पभट्टि सूरि द्वारा कराया गया था। राजमल्ल कृत जंबूस्वामिचरित के अनुसार उनके समय में (मुगल सम्राट् अकबर के काल में) मथुरा में ५१५ स्तूप जीर्ण-शीर्ण अवस्था में विद्यमान थे, जिनका उद्धार तोडर नाम के एक धनी साहू ने अगणित द्रव्य व्यय करके कराया था। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए भग्नावशेषों में एक जिन-सिंहासन पर के (दूसरी शती के) लेख में यहां के देवनिर्मित स्तूप का उल्लेख है। इसका समर्थन पूर्वोक्त हरिषेण व जिनप्रभ सूरि के उल्लेखों से भी होता है। हरिभद्रसूरि कृत आवश्यक-निर्युक्ति-वृत्ति तथा सोमदेव कृत यशस्तिलक-चम्पू में भी मथुरा के देवनिर्मित स्तूप का वर्णन आया है। इन सब उल्लेखों से इस स्तूप की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है।

मथुरा का स्तूप—

मथुरा के स्तूप का जो भग्नांश प्राप्त हुआ है, उससे उसके मूल-विन्यास का स्वरूप प्रगट हो जाता है। स्तूप का तलभाग गोलाकार था, जिसका व्यास ४७ फुट पाया जाता है। उसमें केन्द्र से परिधि की ओर बढ़ते हुए व्यासार्ध वाली ८ दीवालें पाई जाती हैं, जिनके बीच के स्थान को मिट्टी से भरकर स्तूप ठोस बनाया गया था। दीवालें ईंटों से चुनी गई थी। ईंटें भी छोटी-बड़ी पाई जाती हैं। स्तूप के बाह्य भाग पर जिन-प्रतिमाएं बनी थीं। पूरा स्तूप कैसा था, इसका कुछ अनुमान बिखरी हुई प्राप्त सामग्री के आधार पर लगाया जा सकता है। अनेक प्रकार की चित्रकारी युक्त जो पाषाण-स्तंभ मिले है, उनसे प्रतीत होता है कि स्तूप के आसपास घेरा व तोरण द्वार रहे होंगे। दो ऐसे भी आयाग पट्ट मिले हैं, जिनपर स्तूप की पूर्ण आकृतियां चित्रित हैं, जो संभवतः यहीं के स्तूप व स्तूपों की होंगी। स्तूप पट्टिकाओं के घेरे से घिरा हुआ है, व तोरण द्वार पर पहुंचने के लिये सात-आठ सीढ़ियां बनी हुई है। तोरण दो खड़े खंभो व ऊपर थोड़े-थोड़े अन्तर से एक पर एक तीन आड़े खंभों से बना है। उनमें सबसे निचले खंभे के दोनों पार्श्वभाग मकराकृति सिंहों से आधारित

हैं। स्तूप के दायें-बायें दो सुन्दर स्तंभ हैं, जिनपर क्रमशः धर्मचक्र व बैठे हुए सिंहों की आकृतियां बनी हैं। स्तूप की बाजू में तीन आराधकों की आकृतियां बनी है। ऊपर की ओर उड़ती हुई दो आकृतियां संभवतः चारण मुनियों की हैं। वे नग्न हैं, किन्तु उनके बायें हाथ में वस्त्रखंड जैसी वस्तु एवं कमंडलु दिखाई देते हैं, तथा दाहिना हाथ मस्तक पर नमस्कार मुद्रा में है। एक ओर आकृति युगल सुपर्ण पक्षियों की है, जिनके पुच्छ व नख स्पष्ट दिखाई देते हैं। दांयी ओर का सुपर्ण एक पुष्पगुच्छ व बांयी ओर का पुष्पमाला लिये हुए है। स्तूप की गुम्बज के दोनों ओर विलासपूर्ण रीति से मुड़ी हुई नारी आकृतियां सम्भवतः यक्षिणियों की है। घेरे के नीचे सीढ़ियों के दोनों ओर एक-एक आला है। दक्षिण बाजू के आले में एक बालक सहित पुरुषाकृति व दूसरी ओर स्त्री-आकृति दिखाई देती है। स्तूप की गुम्मट पर छह पंक्तियों में एक प्राकृत का लेख है, जिसमें अर्हन्त वर्द्धमान को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि "श्रमण-श्राविका आर्या-लवणशोभिका नामक गणिका की पुत्री श्रमण-श्राविका वासु-गणिका ने जिनमंदिर में अरहंत की पूजा के लिये अपनी माता, भगिनी, तथा दुहिता-पुत्र सहित निर्ग्रन्थों के अरहंत आयतन में अरहंत का देवकुल (देवालय), आयाग सभा, प्रपा (प्याऊ) तथा शिलापट (प्रस्तुत आयागपट) प्रतिष्ठित कराये।" यह शिलापट २ फुट × १ इंच × १३ फुट तथा अक्षरों की आकृति व चित्रकारी द्वारा अपने को कुषाणकालीन (प्र० द्वि० शती ई०) सिद्ध करता है।

इस शिलापट से भी प्राचीन एक दूसरा आयगपट भी मिला है, जिसका ऊपरी भाग टूट गया है, तथापि तोरण, घेरा, सोपानपथ एवं स्तूप के दोनों ओर यक्षिणियों की मूर्तियां इसमें पूर्वोक्त शिलापट से भी अधिक सुस्पष्ट हैं। इस पर भी लेख है,जिसमें अरहंतों को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि "फगुयश नर्तक की भार्या शिवयशा ने अरहंत-पूजा के लिये यह आयागपट बनवाया"। वि० स्मिथ के अनुसार इस लेख के अक्षरों की आकृति ई० पू० १५० के लगभग शुंग-कालीन भरहुत स्तूप के तोरण पर अंकित धनभूति के लेख से कुछ अधिक प्राचीन प्रतीत होती है। बुलर ने भी इन्हें कनिष्क के काल से प्राचीन स्वीकार किया है। इस प्रकार लगभग २०० ई० पू० का यह आयागपट सिद्ध कर रहा है कि स्तूपों का प्रचार जैन परम्परा में उतने बहुत प्राचीन है। साथ ही, जो कोई जैन स्तूप सुरक्षित अवस्था में नहीं पाये जाते, उसके अनेक कारण हैं। एक तो यह कि गुफा-चैत्यों और मंदिरों के अधिक प्रचार के साथ-साथ स्तूपों का नया निर्माण बंद हो गया, व प्राचीन स्तूपों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। दूसरे, उपर्युक्त स्तूप के आकार व निर्माणकला के वर्णन से स्पष्ट हो

जाता है कि बौद्ध व जैन स्तूपों की कला प्रायः एक सी ही थी। यथार्थतः यह कला श्रमण संस्कृति की समान धारा थी। इस कारण अनेक जैन स्तूप भ्रान्तिवश बौद्ध स्तूप ही मान लिये गये। इन बातों के स्पष्ट उदाहरण भी उपस्थित किये जा सकते हैं। मथुरा के पास जिस स्थान पर उक्त प्राचीन जैन स्तूप था, वह वर्तमान में कंकाली टीला कहलाता है। इसका कारण यह है कि जैनियों की उपेक्षा से, अथवा किन्हीं बाह्य विध्वंसक आघातों से जब उस स्थान के स्तूप व मंदिर नष्ट हो गये, और उस स्थान ने एक टीले का रूप धारण कर लिया, तब मंदिर का एक स्तंभ उसके ऊपर स्थापित करके वह कंकालीदेवी के नाम से पूजा जाने लगा। यहां के स्तूप का जो आकार-प्रकार उपर्युक्त 'वासु' के आयागपट्ट से प्रगट होता है, ठीक उसी प्रकार का स्तूप का नीचभाग तक्षशिला के समीप 'सरकॉप' नामक स्थान पर पाया गया है। इस स्तूप के सोपान-पथ के दोनों पार्श्वों में उसी प्रकार के दो आले रहे हैं, जैसे उक्त आयागपट में दिखाई देते हैं। इसी कारण पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर सर जान-मार्शल ने उसे जैन स्तूप कहा है, और उसे बौद्ध धर्म से सब प्रकार असंबद्ध बतलाया है। तो भी पीछे के लेखक उसे बौद्ध स्तूप ही कहते हैं, और इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि उस स्थान से जैनधर्म का कभी कोई ऐतिहासिक संबंध नहीं पाया जाता। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि तक्षशिला से जैनधर्म का बड़ा प्राचीन संबंध रहा है। जैन पुराणों के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने यहां अपने पुत्र बाहुबली की राजधानी स्थापित की थी। उन्होने यहां विहार भी किया था, और उनकी स्मृति में यहां धर्मचक्र भी स्थापित किया गया था। यही नहीं, किन्तु अति प्राचीन काल से सातवी शताब्दी तक पश्चिमोत्तर भारत मे अफगानिस्तान तक जैनधर्म के प्रचार के प्रमाण मिलते हैं। हुएनत्सांग ने अपने यात्रा वर्णन में लिखा है कि उसके समय में "हुसीना (गजनी) व हजारा (या होसला) में बहुत से तीर्थक थे, जो क्षुणदेव (शिश्न या नग्न देव) की पूजा करते थे, अपने मनको वश में रखते थे, व शरीर की पर्वाह नहीं करते थे।" इस वर्णन से उन देवों के जैन तीर्थंकर और उनके अनुयाइयों के जैन मुनि व श्रावक होने में कोई संदेह प्रतीत नही होता। पालि ग्रन्थों में निगंठ नातपुत्त (महावीर तीर्थंकर) को एक तीर्थक ही कहा गया है। अतएव तक्षशिला के समीप 'सरकॉप' स्तूप को जैन-स्तूप स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

मथुरा से प्राप्त अन्य एक आयागपट के मध्य में छत्र-चमर सहित जिनमूर्ति विराजमान है व उसके आसपास त्रिरत्न, कलश, मत्स्य युगल, हस्ती आदि मंगल द्रव्य व आलंकारिक चित्रण है। आयागपट चित्रित पाषाणपट्ट होते थे और उनकी पूजा की जाती थी।

जैन गुफाएं

प्राचीनतम काल से जैन मुनियों को नगर-ग्रामादि बहुजन-संकीर्ण स्थानों से पृथक् पर्वत व बन की शून्य गुफाओं या कोटरों आदि में निवास करने का विधान किया गया है, और ऐसा एकान्तवास जैन मुनियों की साधना का आवश्यक अंग बतलाया गया है (त० सू० ७, ६ स० सिद्धि)। और जहां जैन मुनि निवास करेगा, वहां ध्यान व वंदनादि के लिये जैन मूर्तियों की भी स्थापना होगी। आरम्भ में शिलाओं से आधारित प्राकृतिक गुफाओं का उपयोग किया जाता रहा होगा। ऐसी गुफाएं प्रायः सर्वत्र पर्वतों की तलहटी में पाई जाती हैं। ये ही जैन परम्परा में मान्य अकृत्रिम चैत्यालय कहे जा सकते हैं। क्रमशः इन गुफाओं का विशेष संस्कार व विस्तार कृत्रिम साधनों से किया जाने लगा, और जहां उसके योग्य शिलाएं मिलीं उनको काटकर गुफा-विहार व मंदिर बनाये जाने लगे। ऐसी गुफाओं में सबसे प्राचीन व प्रसिद्ध जैन गुफाएं बराबर व नागार्जुनी पहाड़ियों पर स्थित हैं। ये पहाड़ियां गया से १५-२० मील दूर पटना-गया रेलवे के बेला नामक स्टेशन से ८ मील पूर्व की ओर हैं। बराबर पहाड़ी में चार, व उससे कोई एक मील दूर नागार्जुनी पहाड़ी में तीन गुफाएं हैं। बराबर की गुफाएं अशोक, व नागार्जुनी की उसके पौत्र दशरथ द्वारा आजीवक मुनियों के हेतु निर्माण कराई गई थीं। आजीवक सम्प्रदाय यद्यपि उस काल (ई० पू० तृतीय शती) में एक पृथक् सम्प्रदाय था, तथापि ऐतिहासिक प्रमाणों से उसकी उत्पत्ति व विलय जैन सम्प्रदाय में ही हुआ सिद्ध होता है। जैन आगमों के अनुसार इस सम्प्रदाय का स्थापक मंखलि-गोशाल कितने ही कालतक महावीर तीर्थंकर का शिष्य रहा, किन्तु कुछ सैद्धान्तिक मतभेद के कारण उसने अपना एक पृथक् सम्प्रदाय स्थापित किया। परन्तु यह सम्प्रदाय पृथक् रूप से केवल दो-तीन शती तक ही चला, और इस काल में भी आजीवक साधु जैन मुनियों के सदृश नग्न ही रहते थे, तथा उनकी भिक्षादि संबंधी चर्या भी जैन निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय से भिन्न नहीं थी। अशोक के पश्चात् इस सम्प्रदाय का जैन संघ में ही विलीनीकरण हो गया, और तब से इसकी पृथक् सत्ता के कोई उल्लेख नहीं पाये जाते। इस प्रकार आजीवक मुनियों को दान की गई गुफाओं का जैन ऐतिहासिक परम्परा में ही उल्लेख किया जाता है।

बराबर पहाड़ी की दो गुफाएं अशोक ने अपने राज्य के १२ वें वर्ष में, और तीसरी १६ वें वर्ष में निर्माण कराई थी। सुदामा और विश्व झोपड़ी नामक गुफाओं

के लेखों में आजीवकों को दान किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। सुदामा गुफा के लेख में उसे न्यग्रोध गुफा कहा गया है। इसमें दो मंडप हैं। बाहिरी ३३'×२०' का व भीतरी १९'×१९' लम्बा-चौड़ा है। ऊंचाई लगभग १२' है। विश्व-झोंपड़ी के लेख में इस पहाड़ी का 'खलटिक पर्वत' के नाम से उल्लेख पाया जाता है। शेष दो गुफाओं के नाम 'करण चौपार' व 'लोमसऋषि' गुफा हैं। किन्तु करणचौपार को लेख में 'सुपिया गुफा' कहा गया है, और लोमस-ऋषि गुफा को 'प्रवरगिरि गुफा'। ये सभी गुफाएं कठोर तेलिया पाषाण को काटकर बनाई गई हैं, और उनपर वही चमकीला पालिश किया गया है, जो मौर्य काल की विशेषता मानी गई है।

नागार्जुनी पहाड़ी की तीन गुफाओं के नाम हैं—गोपी गुफा, वहिया की गुफा, और वेदथिका गुफा। प्रथम गुफा ४५'×१९' लम्बी-चौड़ी है। पश्चात् कालीन अनन्तवर्मा के एक लेख में इसे 'विन्ध्यभूधर गुहा' कहा गया है, यद्यपि दशरथ के लेख में इसका नाम गोपिक गुहा स्पष्ट अंकित है, और आजीवक भदन्तों को दान किये जाने का भी उल्लेख है। ऐसा ही लेख शेष दो गुफाओं में भी है। ई० पू० तीसरी शती की मौर्यकालीन इन गुफाओं के पश्चात् उल्लेखनीय हैं उड़ीसा की कटक के समीपवर्ती उदयगिरि व खंडगिरि नामक पर्वतों की गुफ़ाएं जो उनमें प्राप्त लेखों पर से ई० पू० द्वितीय शती की सिद्ध होती हैं। उदयगिरि की 'हाथीगुफा' नामक गुफा में प्राकृत भाषा का यह सुविस्तृत लेख पाया गया है जिसमें कलिंग सम्राट् खारवेल के बाल्यकाल व राज्य के १३ वर्षों का चरित्र विधिवत् वर्णित है। यह लेख अरहंतों व सर्वसिद्धों को नमस्कार के साथ प्रारंभ हुआ है, और उसकी १२ वीं पंक्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होंने अपने राज्य के १२ वें वर्ष मे मगध पर आक्रमण कर वहां के राजा बृहस्पति-मित्र को पराजित किया, और वहां से कलिंग-जिन की मूर्ति अपने देश में लौटा लिया जिसे पहले नंदराज अपहरण कर ले गया था। इस उल्लेख से जैन इतिहास व संस्थानों संबंधी अनेक महत्वपूर्ण बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि नंदकाल अर्थात् ई० पू० पांचवी-चौथी शती में भी जैन मूर्तियां निर्माण कराकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की जाती थी। दूसरे यह कि उस समय कलिंग देश में एक प्रसिद्ध जैन मंदिर व मूर्ति थी, जो उस प्रदेश भर में लोक-पूजित थी। तीसरे यह कि वह नंद-सम्राट् जो इस जैन मूर्ति को अपहरण कर ले गया, और उसे अपने यहां सुरक्षित रखा, अवश्य जैनधर्मावलंबी रहा होगा, व उसने उसके लिये अपने यहां भी जैन मंदिर बनवाया होगा। चौथे यह कि कलिंग देश की जनता व राजवंश में उस जैन मूर्ति के लिये बराबर दो-तीन शती तक ऐसा श्रद्धान बना रहा कि अवसर मिलते ही कलिंग सम्राट् ने उसे वापस लाकर

अपने यहां प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा। इस प्रकार यह गुफा और यहां का लेख भारतीय इतिहास, और विशेषतः जैन इतिहास, के लिये बड़े महत्व की वस्तु है।

उदयगिरि की यह रानी गुफा (हाथी गुफा) यथार्थतः एक सुविस्तृत विहार रहा है जिसमें मूर्ति-प्रतिष्ठा भी रही, व मुनियों का निवास भी। इसका अंतरंग ५२ फुट लम्बा व २८ फुट चौड़ा है, तथा द्वार की ऊंचाई ११½ फुट है। यह दो मंजिलों में बनी है। नीचे की मंजिल में पंक्तिरूप से आठ, व ऊपर की पंक्ति में छह प्रकोष्ठ हैं। २० फुट लम्बा बरामदा ऊपर की मंजिल की एक विशेषता है। बरामदों में द्वारपालों की मूर्तियां खुदी हुई हैं। नीचे की मंजिल का द्वारपाल सुसज्जित सैनिक सा प्रतीत होता है। बरामदों में छोटे-छोटे उच्च आसन भी बने हैं। छत की चट्टान को संभालने के लिये अनेक स्तंभ खड़े किये गये हैं। एक तोरण-द्वार पर त्रिरत्न का चिन्ह व अशोक वृक्ष की पूजा का चित्रण महत्वपूर्ण है। त्रिरत्न-चिन्ह सिंघघाटी की मुद्रा पर के आसीन देव के मस्तक पर के त्रिशृंग मुकुट के सदृश है। द्वारों पर बहुत सी चित्रकारी भी है, जो जैन पौराणिक कथाओं से संबंध रखती है। एक प्रकोष्ठ के द्वार पर एक पक्षयुक्त हरिण व धनुषबाण सहित पुरुष, युद्ध, स्त्री-अपहरण आदि घटनाओं का चित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है। एक मतानुसार यह जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन की एक घटना का चित्रण है, जिसके अनुसार उन्होंने कलिंग के यवन नरेश द्वारा हरण की गई प्रभावती नामक कन्या को बचाया और पश्चात् उससे विवाह किया था। एक मत यह भी है कि यह वासवदत्ता व शकुंतला संबन्धी आख्यानों से संबन्ध रखता है। किन्तु उस जैनगुफा में इसकी संभावना नहीं प्रतीत होती। चित्रकारी की शैली सुन्दर और सुस्पष्ट है, व चित्रों की योजना प्रमाणानुसार है। विद्वानों के मत से यहां की चित्रण कला भरहुत व सांची के स्तूपों से अधिक सुन्दर है। उदयगिरि व खंडगिरि में सब मिलाकर १९ गुफाएं हैं, और उन्हीं के निकटवर्ती नीलगिरि नामक पहाड़ी में और भी तीन गुफाएं देखने में आती हैं। इनमें उपर्युक्त रानीगुफा के अतिरिक्त मंचपुरी और वैकुंठपुरी नामक गुफाएं भी दर्शनीय हैं, और यहां के शिलालेखों तथा कलाकृतियों के आधार से खारवेल व उनके समीपवर्ती काल की प्रतीत होती हैं। खंडगिरि की नवमुनि नामक गुफा में दसवीं शती का एक शिलालेख है जिसमें जैन मुनि शुभचन्द्र का नाम आया है। इससे प्रतीत होता है कि यह स्थान ई०पूर्व द्वितीय शती से लगाकर कम से कम दसवीं शती तक जैन धर्म का एक सुदृढ़ केन्द्र रहा है।

राजगिरि की एक पहाड़ी में मनियार मठ के समीप सोनभंडार नामक जैन-गुफा उल्लेखनीय है। निर्माण की दृष्टि से यह अतिप्राचीन प्रतीत होती है। ई०-पू०

शती का ब्राह्मी लिपि का एक लेख भी है जिसके अनुसार आचार्यरत्न वैरदेवमुनि ने यहां जैन मुनियों के निवासार्थ दो गुफाएं निर्माण करवाईं, और उनमें अर्हन्तों की मूर्तियां प्रतिष्ठित कराईं। एक जैनमूर्ति तथा चतुर्मुखी जैनप्रतिमा युक्त एक स्तम्भ वहां अब भी विद्यमान है। जिस दूसरी गुफा के निर्माण का लेख में उल्लेख है, वह निश्चयतः उसके ही पार्श्व में स्थित गुफा है, जो अब विष्णु की गुफा बन गई है। दिगम्बर परम्परा में वैरजस का नाम आता है, और वे त्रिलोकप्रज्ञप्ति में प्रज्ञाश्रमणों में अन्तिम कहे गये हैं। श्वे॰ परम्परा में अज्ज-वैर का नाम आता है, और वे पदानुसारी कहे गये हैं। प्रज्ञाश्रमणत्व और पदानुसारित्व, ये दोनों बुद्धि ऋद्धि के उपभेद हैं, और षट्खंडागम के वेदनाखंड में पदानुसारी तथा प्रज्ञाश्रमण दोनों को नमस्कार किया गया है। इसप्रकार ये दोनों उल्लेख एक ही आचार्य के हों तो आश्चर्य नहीं। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यवैर का काल वीर निर्वाण से ४६६ से लेकर ५८४ वर्ष तक पाया जाता है, जिसके अनुसार वे प्रथम शती ई॰ पू॰ व पश्चात् के सिद्ध होते हैं। सोन भंडार गुफा उन्हीं के समय मे निर्मित हुई हो तो आश्चर्य नहीं।

प्रयाग तथा कोसम (प्राचीन कौशाम्बी) के समीपवर्ती पभोसा नामक स्थान में दो गुफाएं हैं, जिनमें शुंग-कालीन (ई॰ पू॰ द्वितीय शती) लिपि में लेख हैं। इन लेखों में कहा गया है कि इन गुफाओं को अहिच्छत्रा के आषाढ़सेन ने काश्यपीय अर्हन्तों के लिये दान किया। ध्यान रखना चाहिये कि तीर्थंकर महावीर कश्यपगोत्रीय थे। सम्भव है उन्ही के अनुयायी मुनि काश्यपीय अर्हत् कहलाते थे। इससे यह भी अनुमान होता है कि उस काल में महावीर के अनुयाइयों के अतिरिक्त भी कोई अन्य जैनमुनि संघ सम्भवतः पार्श्वनाथ के अनुयाइयों का रहा होगा जो क्रमशः महावीर की मुनि-परम्परा में ही विलीन हो गया।

जूनागढ़ (कठियावाड़) के बाबा प्यारामठ के समीप कुछ गुफाएं हैं, जो तीन पंक्तियों में स्थित हैं। एक उत्तर की ओर, दूसरी पूर्व भाग में और तीसरी उसी के पीछे से प्रारम्भ होकर पश्चिमोत्तर की ओर फैली है। ये सब गुफाएं दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो चैत्य-गुफाएं और तत्संबंधी साधारण कोठरियां हैं जो बर्जेस साहब के मतानुसार सम्भवतः ई॰ पू॰ द्वितीय शती की हैं, जबकि प्रथम बार बौद्ध भिक्षु गुजरात में पहुंचे। दूसरे भाग में वे गुफाएं व शालागृह हैं जो प्रथमभाग की गुफाओं से कुछ उन्नत शैली के बने हुए हैं; और जिनमें जैन चिन्ह पाये जाते हैं। ये ई॰ की द्वितीय शती अर्थात् क्षत्रप राजाओं के काल की सिद्ध होती हैं। जैनगुफाओं में की एक गुफा विशेष ध्यान देने योग्य है। इस गुफा से जो खंडित लेख मिला है उसमें

अपने यहां प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा। इस प्रकार यह गुफा और यहां का लेख भारतीय इतिहास, और विशेषतः जैन इतिहास, के लिये बड़े महत्व की वस्तु है।

उदयगिरि की यह रानी गुफा (हाथी गुफा) यथार्थतः एक सुविस्तृत विहार रहा है जिसमें मूर्ति-प्रतिष्ठा भी रही, व मुनियों का निवास भी। इसका अंतरंग ५२ फुट लम्बा व २८ फुट चौड़ा है, तथा द्वार की ऊंचाई ११½ फुट है। यह दो मंजिलों में बनी है। नीचे की मंजिल में पंक्तिरूप से आठ, व ऊपर की पंक्ति में छह प्रकोष्ठ हैं। २० फुट लम्बा बरामदा ऊपर की मंजिल की एक विशेषता है। बरामदों में द्वारपालों की मूर्तियां खुदी हुई हैं। नीचे की मंजिल का द्वारपाल सुसज्जित सैनिक सा प्रतीत होता है। बरामदों में छोटे-छोटे उच्च आसन भी बने हैं। छत की चट्टान को संभालने के लिये अनेक स्तंभ खड़े किये गये हैं। एक तोरण-द्वार पर त्रिरत्न का चिन्ह व अशोक वृक्ष की पूजा का चित्रण महत्वपूर्ण है। त्रिरत्न-चिन्ह सिंघासन की मुद्रा पर के आसीन देव के मस्तक पर के त्रिश्रृंग मुकुट के सदृश है। द्वारों पर बहुत सी चित्रकारी भी है, जो जैन पौराणिक कथाओं से संबंध रखती है। एक प्रकोष्ठ के द्वार पर एक पक्षयुक्त हरिण व धनुषबाण सहित पुरुष, युद्ध, स्त्री-अपहरण आदि घटनाओं का चित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है। एक मतानुसार यह जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन की एक घटना का चित्रण है, जिसके अनुसार उन्होंने कलिंग के यवन नरेश द्वारा हरण की गई प्रभावती नामक कन्या को बचाया और पश्चात् उससे विवाह किया था। एक मत यह भी है कि यह वासवदत्ता व शकुंतला संबन्धी आख्यानों से संबन्ध रखता है। किन्तु उस जैनगुफा में इसकी संभावना नहीं प्रतीत होती। चित्रकारी की शैली सुन्दर और सुस्पष्ट है, व चित्रों की योजना प्रमाणानुसार है। विद्वानों के मत से यहां की चित्रण कला भरहुत व सांची के स्तूपों से अधिक सुन्दर है। उदयगिरि व खंडगिरि में सब मिलाकर १९ गुफाएं हैं, और उन्हीं के निकटवर्ती नीलगिरि नामक पहाड़ी में और भी तीन गुफाएं देखने में आती हैं। इनमें उपर्युक्त रानीगुफा के अतिरिक्त मंचपुरी और वैकुंठपुरी नामक गुफाएं भी दर्शनीय हैं, और यहां के शिलालेखों तथा कलाकृतियों के आधार से खारवेल व उनके समीपवर्ती काल की प्रतीत होती हैं। खंडगिरि की नवमुनि नामक गुफा में दसवीं शती का एक शिलालेख है जिसमें जैन मुनि शुभचन्द्र का नाम आया है। इससे प्रतीत होता है कि यह स्थान ई०पूर्व द्वितीय शती से लगाकर कम से कम दसवीं शती तक जैन धर्म का एक सुदृढ़ केन्द्र रहा है।

राजगिरि की एक पहाड़ी में मनियार मठ के समीप सोनभंडार नामक जैन-गुफा उल्लेखनीय है। निर्माण की दृष्टि से यह अतिप्राचीन प्रतीत होती है। ई०-द्वि०

शती का ब्राह्मी लिपि का एक लेख भी है जिसके अनुसार आचार्यरत्न वैरदेवमुनि ने यहां जैन मुनियों के निवासार्थ दो गुफाएं निर्माण करवाई, और उनमें अर्हन्तों की मूर्तियां प्रतिष्ठित कराईं। एक जैनमूर्ति तथा चतुर्मुखी जैनप्रतिमा युक्त एक स्तम्भ वहां अब भी विद्यमान है। जिस दूसरी गुफा के निर्माण का लेख में उल्लेख है, वह निश्चयतः उसके ही पार्श्व में स्थित गुफा है, जो अब विष्णु की गुफा बन गई है। दिगम्बर परम्परा में वैरजस का नाम आता है, और वे तिलोयपण्णत्ति में प्रज्ञाश्रमणों में अन्तिम कहे गये हैं। श्वे० परम्परा मे अज्ज-वैर का नाम आता है, और वे पदानुसारी कहे गये हैं। प्रज्ञाश्रमणत्व और पदानुसारित्व, ये दोनों बुद्धि ऋद्धि के उपभेद हैं, और षट्खंडागम के वेदनाखंड में पदानुसारी तथा प्रज्ञाश्रमण दोनों को नमस्कार किया गया है। इसप्रकार ये दोनों उल्लेख एक ही आचार्य के हों तो आश्चर्य नहीं। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यवैर का काल वीर निर्वाण से ४६६ से लेकर ५८४ वर्ष तक पाया जाता है, जिसके अनुसार वे प्रथम शती ई० पू० व पश्चात् के सिद्ध होते हैं। सोन भंडार गुफा उन्हीं के समय मे निर्मित हुई हो तो आश्चर्य नहीं।

प्रयाग तथा कौसम (प्राचीन कौशाम्बी) के समीपवर्ती पभोसा नामक स्थान में दो गुफाएं हैं, जिनमें शुंग-कालीन (ई० पू० द्वितीय शती) लिपि में लेख हैं। इन लेखों में कहा गया है कि इन गुफाओं को अहिच्छत्रा के आषाढसेन ने काश्यपीय अर्हन्तों के लिये दान किया। ध्यान रखना चाहिये कि तीर्थंकर महावीर कश्यपगोत्रीय थे। सम्भव है उन्ही के अनुयायी मुनि काश्यपीय अर्हत् कहलाते थे। इससे यह भी अनुमान होता है कि उस काल में महावीर के अनुयाइयों के अतिरिक्त भी कोई अन्य जैनमुनि संघ सम्भवतः पार्श्वनाथ के अनुयाइयों का रहा होगा जो क्रमशः महावीर की मुनि-परम्परा में ही विलीन हो गया।

जूनागढ़ (कठियावाड़) के बाबा प्यारामठ के समीप कुछ गुफाएं हैं, जो तीन पंक्तियों में स्थित हैं। एक उत्तर की ओर, दूसरी पूर्व भाग में और तीसरी उसी के पीछे से प्रारम्भ होकर पश्चिमोत्तर की ओर फैली है। ये सब गुफाएं दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो चैत्य-गुफाएं और तत्संबंधी साधारण कोठरियां हैं जो बर्जेस साहब के मतानुसार सम्भवतः ई० पू० द्वितीय शती की हैं, जबकि प्रथम बार बौद्ध भिक्षु गुजरात में पहुंचे। दूसरे भाग में वे गुफाएं व शालागृह हैं जो प्रथमभाग की गुफाओं से कुछ उन्नत शैली के बने हुए हैं; और जिनमें जैन चिन्ह पाये जाते हैं। ये ई० की द्वितीय शती अर्थात् क्षत्रप राजाओं के काल की सिद्ध होती हैं। जैनगुफाओं में की एक गुफा विशेष ध्यान देने योग्य है। इस गुफा से जो खंडित लेख मिला है उसमें

क्षत्रप राजवंशका तथा चष्टन के प्रपौत्र व जयदामन् के पौत्र रुद्रसिंह प्रथम का उल्लेख है। लेख पूरा न पढ़े जाने पर भी उसमें जो केवलज्ञान, जरामरण से मुक्ति आदि शब्द पढ़े गये हैं उनसे, तथा गुफा में अंकित स्वस्तिक, भद्रासन, मीनयुगल आदि प्रख्यात जैन मांगलिक चिन्हों के चित्रित होने से, वे जैन साधुओं की व सम्भवतः दिगंबर परम्परानुसार अंतिम अंग-ज्ञाता धरसेनाचार्य से सम्बन्धित अनुमान की जाती हैं। धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचार्य ने धरसेनाचार्य को गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी कहा है (देखो महाबंध भाग २ प्रस्ता०)। प्रस्तुत गुफासमूह में एक गुफा ऐसी है जो पार्श्वभाग में एक अर्द्धचन्द्राकार विविक्त स्थान से युक्त है। यद्यपि भाजा, कार्ली व नासिक की बौद्ध गुफाओं से इस बात में समता रखने के कारण यह एक बौद्ध गुफा अनुमान की जाती है, तथापि यही धवलाकार द्वारा उल्लिखित धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा हो तो आश्चर्य नहीं। (दे० बर्जेसः *एंटीक्विटीज ऑफ कच्छ एंड काठियावाड़* १८७४-७५ पृ० १३९ आदि, तथा सांकलियाः आर्केओलोजी ऑफ गुजरात, १९४१)। इसी स्थान के समीप ढंक नामक स्थान पर भी गुफाएं हैं, जिनमें ऋषभ पार्श्व, महावीर आदि तीर्थंकरों की प्रतिमाएं हैं। ये सभी गुफाएं उसी क्षत्रप काल अर्थात् प्र० द्वि० शती की सिद्ध होती है। जैन साहित्य में ढंक पर्वत का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है, व पादलिप्त सूरि के शिष्य नागार्जुन यहीं के निवासी कहे गये हैं। (देखो रा० शे० कृत प्रबन्धकोश व विविधतीर्थकल्प)।

पूर्व में उदयगिरि खंडगिरि व पश्चिम में जूनागढ़ के पश्चात् देश के मध्यभाग में स्थित उदयगिरि की जैन गुफाएं उल्लेखनीय हैं। यह उदयगिरि मध्यप्रदेश के अन्तर्गत इतिहास-प्रसिद्ध विदिशा नगर से उत्तर-पश्चिम की ओर बेतवा नदी के उस पार दो-तीन मील की दूरी पर है। इस पहाड़ी पर पुरातत्व विभाग द्वारा अंकित या संख्यात २० गुफाएं व मंदिर हैं। इनमें पश्चिम की ओर की प्रथम तथा पूर्व दिशा में स्थित बीसवी, ये दो स्पष्ट रूप से जैन गुफाएं हैं। पहली गुफा को कनिंघम ने झूठी गुफा नाम दिया है, क्योंकि वह किसी चट्टान को काटकर नहीं बनाई गई, किन्तु एक प्राकृतिक कंदरा है, तथापि ऊपर की प्राकृतिक चट्टान को छत बनाकर नीचे द्वार पर चार खंभे खड़े कर दिये गये हैं, जिससे उसे गुफा-मंदिर की आकृति प्राप्त हो गई है। स्तम्भ घट व पत्रावलि-प्रणाली के बने हुए हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आदि में जैन मुनि इसी प्रकार की प्राकृतिक गुफाओं को अपना निवासस्थान बना लेते थे। उस अपेक्षा से यह गुफा भी ई० पू० काल से ही जैन मुनियों की गुफा रही होगी, किन्तु इसका संस्कार गुप्तकाल में हुआ, जैसा कि यहां के स्तम्भों आदि की कला तथा गुप्त

में खुदे हुए एक लेख से सिद्ध होता है। इस लेख में चन्द्रगुप्त का उल्लेख है, जिससे गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का अभिप्राय समझा जाता है, और जिससे उसका काल चौथी शती का अंतिम भाग सिद्ध होता है। पूर्व दिशावर्ती बीसवीं गुफा में पार्श्वनाथ तीर्थंकर की अतिभव्य मूर्ति विराजमान है। यह अब बहुत कुछ खंडित हो गई है, किन्तु उसका नाग-फण अब भी उसकी कलाकृति को प्रकट कर रहा है। यहां भी एक संस्कृत पद्यात्मक लेख खुदा हुआ है, जिसके अनुसार इस मूर्ति की प्रतिष्ठा गुप्त संवत् १०६ (ई० सन्० ४२६, कुमारगुप्त काल) में कार्तिक कृष्ण पंचमी को आचार्य भद्रान्वयी आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य शंकर द्वारा की गई थी। इन शंकर ने अपना जन्मस्थान उत्तर भारतवर्ती कुरुदेश बतलाया है।

जैन ऐतिहासिक परम्परानुसार अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल (ई० पू० चौथी शती) में हुए थे, और उत्तर भारत में बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ने पर जैन संघ को लेकर दक्षिण भारत में गये, तथा मैसूर प्रदेशान्तर्गत श्रवण-बेलगोला नामक स्थान पर उन्होंने जैन केन्द्र स्थापित किया। इस समय भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त भी राज्यपाट त्यागकर उनके शिष्य हो गये थे, और उन्होंने भी श्रवणबेल-गोला की उस पहाड़ी पर तपस्या की, जो उनके नाम से ही चन्द्रगिरि कहलाई। इस पहाड़ी पर प्राचीन मंदिर भी है, जो उन्हीं के नाम से चन्द्रगुप्त बस्ति कहलाता है। इसी पहाड़ी पर एक अत्यन्त साधारण व छोटी सी गुफा है, जो भद्रबाहु की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने इसी गुफा में देहोत्सर्ग किया था। वहां उनके चरण-चिन्ह अंकित हैं और पूजे जाते हैं। दक्षिण भारत में यही सबसे प्राचीन जैन गुफा सिद्ध होती है।

महाराष्ट्रप्रदेश में उस्मानाबाद से पूर्वोत्तर दिशा में लगभग १२ मील की दूरी पर पर्वत मे एक प्राचीन गुफा-समूह है। वे एक पहाड़ी दर्रे के दोनों पार्श्वों में स्थित हैं; चार उत्तर की ओर व तीन दूसरे पार्श्व में पूर्वोत्तरमुखी। इन गुफाओं में मुख्य व विशाल गुफा उत्तर की गुफाओं में दूसरी है। दुर्भाग्यतः इसकी ऊपरी चट्टान भग्न होकर गिर पड़ी है; केवल कुछ बाहरी भाग नष्ट होने से बचा है। उसकी हाल में मरम्मत भी की गई है। इसका बाहरी बरामदा ७८ × १०.४, फुट है। इसमें छह या आठ खंभे हैं, और भीतर जाने के लिये पांच द्वार। भीतर की शाला ८० फुट गहरी है, तथा चौड़ाई में द्वार की ओर ७६ फुट व पीछे की ओर ८५ फुट है। इसकी छत ३२ स्तम्भों पर आधारित है, और ये खंभे चौकोर दो पंक्तियों में बने हुए हैं। छत की ऊंचाई लगभग १२ फुट है। इसकी दोनों पार्श्व की दीवालों में आठ-आठ व पीछे

की दीवाल में छह कोठरियां हैं, जो प्रत्येक लगभग ९ फुट चौकोर है। ये कोष्ठ साधारण रीति के बने हुए हैं, जैसे प्रायः बौद्ध गुफाओं में भी पाये जाते हैं। पश्चिमोत्तर कोने के कोष्ठ के तलभाग में एक गड्ढा है, जो सदैव पानी से भरा रहता है। शाला के मध्य में पिछले भाग की ओर देवालय है, जो १९.३ × १५ फुट लंबा-चौड़ा व ११ फुट ऊंचा है, जिसमें पार्श्वनाथ तीर्थंकर की भव्य प्रतिमा विराजमान है। शेष गुफाएं अपेक्षाकृत इससे बहुत छोटी हैं। तीसरी व चौथी गुफाओं में भी जिन-प्रतिमाएं विद्यमान हैं। तीसरी गुफा के स्तम्भों की बनावट कलापूर्ण है। बर्जेस साहब के मत से ये गुफाएं अनुमानतः ई० पू० ५००-६५० के बीच की हैं। (आर्क० सर्वे० ऑफ वेस्टर्न इंडिया वॉ० ३)

इस गुफा-समूह के संबंध में जैन साहित्यिक परम्परा यह है कि यहां तेरापुर के समीप पर्वत पर महाराज करकंड ने एक प्राचीन गुफा देखी थी। उन्होंने स्वयं यहां अन्य कुछ गुफाएं बनवाईं, और पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। उन्होंने जिस प्राचीन गुफा को देखा था, उसके तलभाग में एक छिद्र से जलवाहिनी निकली थी, जिससे समस्त गुफा भर गई थी। इसका, तथा प्राचीन पार्श्वनाथ की मूर्ति का सुन्दर वर्णन कनकामर मुनि कृत अपभ्रंश काव्य 'करकंडचरिउ' में मिलता है, जो ११ वीं शती की रचना है। करकंड का नाम जैन व बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रत्येक बुद्ध के रूप में पाया जाता है। उनका काल, जैन मान्यतानुसार, महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ के तीर्थ में पड़ता है। इस प्रकार यहां की गुफाओं को जैनी अति प्राचीन (लगभग ई० पू० ८ वीं शती की) मानते हैं

इतना तो सुनिश्चित है कि ११ वीं शती के मध्यभाग में जब मुनि कनकामर ने करकंडचरिउ लिखा, तब तेरापुर (धाराशिव) की गुफा बड़ी विशाल थी, और बड़ी प्राचीन समझी जाती थी। तेरापुर के राजा शिवने करकंडु को उसका परिचय इस प्रकार कराया था—

एत्थत्थि देव पच्छिमदिसाहिं। थड्ढगिरिपडउ पव्वउ रम्मु ताहिं॥
तहिं अत्थि लयणु एयणावहारि। थंभाण सहासहिं जं वि धारि॥
(क० च० ४, ४)।

करकंडु उक्त पर्वत पर चढ़े और ऐसे सघन वन में से चले जो सिंह, हाथी, शूकर, मृग, व वानरों आदि से भरा हुआ था।

थोवंतरि तहिं सो चडइ जाम। करकंडइं दिट्ठउ लयणु ताम॥
एं हरिएण अमर-विमाणु दिट्ठु। करकंड रायाहिउ तहिं पविट्ठु॥

सो धण्णु सलक्खणु हरिय-वंभु। जें लयणु करविउ सहसत्थंभु॥
(क० च० ४, ५)।

अर्थात् पर्वत पर कुछ ऊपर चढ़ने पर उन्होंने उस लयण (गुफा) को ऐसे देखा जैसे इन्द्र ने देवविमान को देखा हो। उसमें प्रवेश करने पर करकंडु के मुख से हठात् निकल पड़ा कि धन्य है वह सुलक्षण पुण्यवान् पुरुष जिसने यह सहस्रस्तंभ लयन बनवाया है।

दक्षिण के तामिल प्रदेश में भी जैन धर्म का प्रचार व प्रभाव बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है। तामिल साहित्य का सबसे प्राचीन भाग 'संगम युग' का माना जाता है, और इस युग की प्रायः समस्त प्रधान कृतियां तिरुकुरल आदि जैन या जैनधर्म से सुप्रभावित सिद्ध होती हैं। जैन द्राविड़संघ का संगठन भी सुप्राचीन पाया जाता है। अतएव स्वाभाविक है कि इस प्रदेश में भी प्राचीन जैन संस्कृति के अवशेष प्राप्त हों। जैनमुनियों का एक प्राचीन केन्द्र पुडुकोट्टाइ से वायव्य दिशा में ६ मील दूर सित्तन्नवासल नामक स्थान रहा है। यह नाम सिद्धानां वासः से अपभ्रष्ट होकर बना प्रतीत होता है। यहां के विशाल शिला-टीलों में बनी हुई एक जैनगुफा बड़ी महत्वपूर्ण है। यहां एक ब्राह्मी लिपि का लेख भी मिला है, जो ई० पू० तृतीय शती का (अशोककालीन) प्रतीत होता है। लेख में स्पष्ट उल्लेख है कि गुफा का निर्माण जैन मुनियों के निमित्त कराया गया था। यह गुफा बड़ी विशाल १००×५० फुट है। इसमें अनेक कोष्ठक हैं, जिनमें समाधि-शिलाएं भी बनी हुई हैं। ये शिलाएं ६×४ फुट हैं। वास्तुकला की दृष्टि से तो यह गुफा महत्वपूर्ण है ही, किन्तु उससे भी अधिक महत्व उसकी चित्रकला का है, जिसका विवरण आगे किया जायगा। गुफा का यह संस्कार पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् (आठवीं शती) के काल में हुआ है।

दक्षिण भारत में बादामी की जैन गुफा उल्लेखनीय है, जिसका निर्माण काल अनुमानतः सातवी शती का मध्यभाग है। यह गुफा १६ फुट गहरी तथा ३१×१६ फुट लम्बी-चौड़ी है। पीछे की ओर मध्य भाग में देवालय है, और तीनों पार्श्वों की दीवालों में मुनियों के निवासार्थ कोष्ठक बने हैं। स्तम्भों की आकृति एलीफेन्टा की गुफाओं के सदृश है। यहां चमरधारियों सहित महावीर तीर्थंकर की मूल पद्मासन मूर्ति के अतिरिक्त दीवालों व स्तम्भों पर भी जिनमूर्तियां खुदी हुई हैं। माना जाता है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (८ वीं शती) ने राज्य त्यागकर व जैन दीक्षा लेकर इसी गुफा में निवास किया था। गुफा के बरामदों में एक ओर पार्श्वनाथ व दूसरी ओर बाहुबली की लगभग ७½ फुट ऊंची प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।

बादामी तालुके में स्थित ऐहोल नामक ग्राम के समीप पूर्व और उत्तर की ओर गुफाएं हैं, जिनमें भी जैनमूर्तियां विद्यमान हैं। प्रधान गुफाओं की रचना बादामी की गुफा के ही सदृश है। गुफा बरामदा, मंडप व गर्भगृह में विभक्त है। बरामदे में चार खंभे हैं, और उसकी छत पर मकर, पुष्प आदि की आकृतियां बनी हुई हैं। बाईं भित्ति में पार्श्वनाथ की मूर्ति है, जिसके एक ओर नाग व दूसरी ओर नागिनी स्थित है। दाहिनी ओर चैत्य-वृक्ष के नीचे जिनमूर्ति बनी है। इस गुफा की सहस्रफणा युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। अन्य जैन आकृतियां व चिन्ह भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। सिंह, मकर व द्वारपालों की आकृतियां भी कलापूर्ण हैं, और ऐलीफेन्टा की आकृतियों का स्मरण कराती हैं। गुफाओं से पूर्व की ओर यह मेघुटी नामक जैन मंदिर है जिसमें चालुक्य नरेश पुलकेशी व शक सं० ५५६ (ई० ६३४) का उल्लेख है। यह शिलालेख अपनी संस्कृत काव्य शैली के विकास में भी अपना स्थान रखता है। इस लेख के लेखक रविकीर्ति ने अपने को काव्य के क्षेत्र में कालिदास और भारवि की कीर्ति को प्राप्त कहा है। यथार्थतः कालिदास व भारवि के काल-निर्णय में यह लेख बड़ा सहायक हुआ है, क्योंकि इसीसे उनके काल की अन्तिम सीमा प्रामाणिक रूप से निश्चित हुई है। ऐहोल सम्भवतः 'आर्यपुर' का अपभ्रष्ट रूप है।

गुफा-निर्माण की कला एलोरा में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई है। यह स्थान यादव नरेशों की राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) से लगभग १६ मील दूर है, और यहां का शिलापर्वत अनेक गुफा-मंदिरों से अलंकृत है। यहीं कैलाश नामक शिव मंदिर है जिसकी योजना और शिल्पकला इतिहास-प्रसिद्ध है। यहां बौद्ध, हिन्दू व जैन, तीनों सम्प्रदायों के शैल मंदिर बड़ी सुन्दर प्रणाली से बने हुए हैं। यहां पांच जैन गुफाएं हैं, जिनमें से तीन अर्थात् छोटा कैलाश, इन्द्रसभा व जगन्नाथ सभा कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। छोटा कैलाश एक ही पाषाण-शिला को काटकर बनाया गया है, और उसकी रचना कुछ छोटे आकार में उपर्युक्त कैलाश मंदिर का अनुकरण करती है। समूचा मंदिर ८० फुट चौड़ा व १३० फुट ऊंचा है। मंडप लगभग ३६ फुट लम्बा-चौड़ा है, और उसमें १६ स्तम्भ हैं। इन्द्रसभा नामक गुफा मंदिर की रचना इस प्रकार है:—पाषाण में बने हुए द्वार से भीतर जाने पर कोई ५०×५० फुट चौकोर प्रांगण मिलता है, जिसके मध्य में एक पाषाण से निर्मित द्राविड़ी शैली का चैत्यालय है। इसके सम्मुख दाहिनी ओर एक हाथी की मूर्ति है, व उसके सम्मुख बाईं ओर ३२ फुट ऊंचा मान-स्तंभ है। यहां से घूमकर पीछे की ओर जाने पर वह दुतल्ला सभागृह मिलता है जो इन्द्रसभा के नाम से [illegible] । इसमें प्रचुर

चित्रकारी बनी हुई है। नीचे का भाग कुछ अपूर्ण सा रहा प्रतीत होता है, जिससे यह बात भी सिद्ध होती है कि इन गुफाओं का उत्कीर्णन ऊपर से नीचे की ओर किया जाता था। ऊपर की शाला १२ सुखचित स्तम्भों से अलंकृत है। शाला के दोनों ओर भगवान् महावीर की विशाल प्रतिमाएं हैं, और पार्श्व कक्ष में इन्द्र व हाथी की मूर्तियां बनी हुई हैं। इन्द्रसभा की एक बाहिरी दीवाल पर पार्श्वनाथ की तपस्या व कमठ द्वारा उनपर किये गये उपसर्ग का बहुत सुन्दर व सजीव उत्कीर्णन किया गया है। पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ हैं, ऊपर सप्तफणी नाग की छाया है, व एक नागिनी छत्र धारण किये है। दो अन्य नागिनी भक्ति, आश्चर्य व दुःख की मुद्रा में दिखाई देती हैं। एक ओर भैंसे पर सवार असुर रौद्र मुद्रा में शस्त्रास्त्रों सहित आक्रमण कर रहा है, व दूसरी ओर सिंह पर सवार कमठ की रुद्र मूर्ति आघात करने के लिये उद्यत है। नीचे की ओर एक स्त्री व पुरुष भक्तिपूर्वक हाथ जोड़े खड़े हैं। दक्षिण की दीवाल पर लताओं से लिपटी बाहुबलि की प्रतिमा उत्कीर्ण है। ये सब तथा अन्य शोभापूर्ण आकृतियां अत्यन्त कलापूर्ण हैं। अनुमानतः इन्द्रसभा की रचना तीर्थंकर के जन्म कल्याणकोत्सव की स्मृति में हुई है, जबकि इन्द्र अपना ऐरावत हाथी लेकर भगवान् का अभिषेक करने जाता है। इन्द्रसभा की रचना के संबंध में पर्सी ब्राउन साहब ने कहा है कि "इसकी रचना ऐसी सर्वांगपूर्ण, तथा शिल्पकला की चातुरी इतनी उत्कृष्ट है कि जितनी एलोरा के अन्य किसी मंदिर में नहीं पाई जाती। भित्तियों पर आकृतियों का उत्कीर्णन ऐसा सुन्दर तथा स्तम्भों का विन्यास ऐसे कौशल से किया गया है कि उसका अन्यत्र कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।"

इन्द्रसभा के समीप ही जगन्नाथ सभा नामक चैत्यालय है, जिसका विन्यास इन्द्रसभा के सदृश ही है, यद्यपि प्रमाण में उससे छोटा है। द्वार का तोरण कलापूर्ण है। चैत्यालय में सिंहासन पर महावीर तीर्थंकर की पद्मासन मूर्ति है। दीवालों व स्तम्भों पर प्रचुरता से नाना प्रकार की सुन्दर मूर्तियां बनी हुई हैं। किन्तु अपने रूप में सौन्दर्यपूर्ण होने पर भी संतुलन व सौष्ठव की दृष्टि से जो उत्कर्ष इन्द्रसभा की रचना में दिखाई देता है, वह यहां व अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इन गुफाओं का निर्माणकाल ८०० ई० के लगभग माना जाता है। बस, इस उत्कर्ष पर पहुंचकर केवल जैन-परम्परा में ही नहीं, किन्तु भारतीय परम्परा में गुफा निर्माण कला का विकास समाप्त हो जाता है, और स्वतंत्र मंदिर निर्माण की कला उसका स्थान ग्रहण करती है।

नवमी शती का एक शिलामंदिर दक्षिण त्रावणकोर में त्रिवेन्द्रमनगरकोइल मार्ग पर स्थित कुजीयुर नामक ग्राम से पांच मील उत्तर की ओर पहाड़ी पर है, जो

अब श्री भगवती मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। यह मंदिर पहाड़ी पर स्थित एक विशाल शिला को काटकर बनाया गया है, और सामने की ओर तीन ओर पाषाण-निर्मित भित्तियों से उसका विस्तार किया गया है। शिला के गुफा-भाग के दोनों प्रकोष्ठों में विशाल पद्मासन जिनमूर्तियां सिंहासन पर प्रतिष्ठित हैं। शिला का समस्त आभ्यंतर व बाह्य भाग जैन तीर्थंकरों की कोई ३० उत्कीर्ण प्रतिमाओं से अलंकृत है। पृष्ठ के नीचे केरल की प्राचीन लिपि वत्तजेत्तु में लेख भी हैं, जिनसे उस स्थान का जैनत्व तथा निर्मितिकाल नौवीं शती सिद्ध होता है। यत्र-तत्र जो भगवती देवी की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं, वे स्पष्टतः उत्तरकालीन हैं। (जै० एण्टी० ८।१, पृ० २६)

अंकाई-तंकाई नामक गुफा-समूह येवला तालुके में मनमाड रेलवे जंक्शन से नौ मील दूर अंकाई नामक स्टेशन के समीप स्थित है। लगभग तीन हजार फुट ऊंची पहाड़ियों मे सात गुफाएं हैं, जो हैं तो छोटी-छोटी, किन्तु कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम गुफा में बरामदा, मंडप व गर्भगृह हैं। सामने के भाग के दोनों खंभों पर द्वारपाल उत्कीर्ण हैं। मंडप का द्वार प्रचुर आकृतियों से पूर्ण है; अंकन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। वर्गाकार मंडप चार स्तम्भों पर आधारित है। गर्भगृह का द्वार भी शिल्पयुक्त है। गुफा दुतल्ली है, व ऊपर के तल्ले पर भी शिल्पकारी पाई जाती है। दूसरी गुफा भी दुतल्ली है। नीचे का बरामदा २३ × १२ फुट है। उसके दोनों पार्श्वों में स्वतंत्र पाषाण की मूर्तियां हैं, जिनमें इन्द्र-इन्द्राणी भी हैं। सीढ़ियों से होकर दूसरे तल पर पहुंचते ही दोनों पार्श्वों में विशाल सिंहों की आकृतियां मिलती हैं। गर्भगृह ६×६ फुट है। तीसरी गुफा के मंडप की छतपर कमल की आकृति बड़ी सुन्दर है। उसकी पखुड़ियां चार कतारों में दिखाई गई हैं, और उन पंखुड़ियों पर देवियां वाद्य सहित नृत्य कर रही हैं। देव-देवियों के अनेक युगल नाना वाहनों पर आरूढ़ हैं। स्पष्टतः यह दृश्य तीर्थंकर के जन्मकल्याणक के उत्सव का है। गर्भगृह में मनुष्याकृति शांतिनाथ व उनके दोनों ओर पार्श्वनाथ की मूर्तियां हैं। शांतिनाथ के सिंहासन पर उनका मृग लांछन, धर्मचक्र, व भक्त और सिंह की आकृतियां बनी हैं। खंभों के ऊपर से विद्याधर और उनसे भी ऊपर गजलक्ष्मी की आकृतियां हैं। ऊपर से गंधर्वों के जोड़े पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। सबसे ऊपर तोरण बना है। चौथी गुफा का बरामदा ३०×८ फुट है, एवं मंडप १८ फुट ऊंचा व २४×२४ फुट लंबा-चौड़ा है। बरामदे के एक स्तम्भ पर लेख भी है, जो पढ़ा नहीं जा सका; किन्तु लिपि पर से ११ वीं शती का अनुमान किया जाता है। शैली आदि अन्य बातों पर से भी इन गुफाओं का निर्माण-काल यही प्रतीत होता है। शेष गुफाएं ध्वस्त अवस्था में हैं।

यद्यपि गुफा-निर्माण कला का युग बहुत पूर्व समाप्त हो चुका था, तथापि जैनी १५ वीं शती तक भी गुफाओं का निर्माण कराते रहे। इसके उदाहरण हैं तोमर राजवंश कालीन ग्वालियर की जैन गुफाएं। जिस पहाड़ी पर ग्वालियर का किला बना हुआ है, वह कोई दो मील लम्बी, आधा मील चौड़ी, तथा ३०० फुट ऊंची है। किले के भीतर स्थित सास-बहू का मंदिर सन् १०९३ का बना हुआ है, और आदितः जैन मंदिर रहा है। किन्तु इस पहाड़ी में जैन गुफाओं का निर्माण १५ वीं शती में हुआ पाया जाता है। सम्भवतः यहां गुफा-निर्माण की प्राचीन परम्परा भी रही होगी, और वर्तमान में पाई जाने वाली कुछ गुफाएं १५ वीं शती से पूर्व की हों तो आश्चर्य नहीं। किन्तु १५ वीं शती में तो जैनियों ने समस्त पहाड़ी को ही गुफामय कर दिया है। पहाड़ी के ऊपर, नीचे व चारों ओर जैन गुफाएं विद्यमान हैं। इन गुफाओं में वह योजना-चातुर्य व शिल्प-सौष्टव नहीं है जो हम पूर्वकालीन गुफाओं में देख चुके हैं। परन्तु इन गुफाओं की विशेषता है उनकी संख्या, विस्तार व मूर्तियों की विशालता। गुफाएं बहुत बड़ी-बड़ी हैं, व उनमें तीर्थंकरों की लगभग ६० फुट तक ऊंची प्रतिमाएं देखने को मिलती हैं। उर्वाही द्वार पर के प्रथम गुफा-समूह में लगभग २५ विशाल तीर्थंकर मूर्तियां हैं, जिनमें से एक ५७ फुट ऊंची है। आदिनाथ व नेमिनाथ की ३० फुट ऊंची मूर्तियां हैं। अन्य छोटी-बड़ी प्रतिमाएं भी हैं, किन्तु उनकी रचना व अलंकरण आदि में कोई सौन्दर्य व लालित्य नहीं दिखाई देता। यहां से आधा मील ऊपर की ओर दूसरा गुफा-समूह है, जहां २० से ३० फुट तक की अनेक मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। बावड़ी के समीप के एक गुफा-पुंज में पार्श्वनाथ की २० फुट ऊंची पद्मासन मूर्ति, तथा अन्य तीर्थंकरों की कायोत्सर्ग मुद्रायुक्त अनेक विशाल मूर्तियां हैं। इसी के समीप यहां की सबसे विशाल गुफा है, जो यथार्थतः मंदिर ही कही जा सकती है। यहां की प्रधान मूर्ति लगभग ६० फुट ऊंची है। इन गुफा-मंदिरों में अनेक शिलालेख भी मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इन गुफाओं की खुदाई सन् १४४१ से लेकर १४७४ तक ३३ वर्षों में पूर्ण हुई। यद्यपि कला की दृष्टि से ये गुफाएं अवनति की सूचक हैं, तथापि इतिहास की दृष्टि से उनका महत्व है। इनके अतिरिक्त अन्य भी सैकड़ों जैन गुफाएं देश भर के भिन्न-भिन्न भागों की पहाड़ियों में यत्र-तत्र बिखरी हुई पाई जाती हैं। इनमें से अनेक का ऐतिहासिक व कला की दृष्टि से महत्व भी है; किन्तु उनका इन दृष्टियों से पूर्ण अध्ययन किया जाना शेष है। स्टैला क्रैमरिश के मतानुसार, देश में १२०० पाषाणोत्कीर्ण मंदिर पाये जाते हैं, जिनमें से ९०० बौद्ध, १०० हिन्दू और २०० जैन गुफा मंदिर हैं। (हिन्दू टेम्पिल्स, पृ० १६८)।

जैन मन्दिर

भारतीय वास्तुकला का विकास पहले स्तूप-निर्माण में, फिर गुफा चैत्यों व विहारों में, और तत्पश्चात् मंदिरों के निर्माण में पाया जाता है। स्तूपों व गुफाओं का विकास जैन परम्परा में किस प्रकार हुआ, यह ऊपर देखा जा चुका है। किन्तु वास्तुकला ने मंदिरों के निर्माण में ही अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। इन मन्दिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ११ वीं शती व उसके पश्चात् काल के उपलब्ध हैं। इन मन्दिरों के निर्माण में अभिव्यक्त योजना व शिल्प के चातुर्य की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्दिरों का निर्माण बिना उनकी दीर्घकालीन पूर्व परम्परा के नहीं हो सकता। पाषाण को काटकर गुफा-चैत्यों के निर्माण की कला का चरमोत्कर्ष हम एलोरा की गुफाओं में देख चुके हैं। कहा जा सकता है कि उसी के आधार पर आगे स्वतंत्र मन्दिरों के निर्माण की परम्परा चली। किन्तु उस कला से स्वतंत्र संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) मन्दिरों के शिल्प में बड़ा भेद है, जिसके विकास में भी अनेक शतियां व्यतीत हुई होंगी। इस सम्बन्ध में उक्त काल से प्राचीनतर मंदिरों का अभाव बहुत खटकता है।

प्राचीनतम बौद्ध व हिन्दू मन्दिरों के निर्माण की जो पांच शैलियां नियत की गई हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) समतल छत वाले चौकोर मन्दिर, जिनके सम्मुख एक द्वारमंडप रहता है। (२) द्वारमंडप व समतल छत वाले वे चौकोर मन्दिर जिनके गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा भी बनी रहती है। ये मन्दिर कभी कभी दुतल्ले भी बनते थे। (३) चौकोर मन्दिर जिनके ऊपर छोटा व चपटा शिखर भी बना रहता है। (४) वे लम्बे चतुष्कोण मन्दिर जिनका पिछला भाग अर्द्धवृत्ताकार रहता है, व छत कोठी (बैरल) के आकार का बनता था (५) वे वृत्ताकार मन्दिर जिनकी वीथिका चौकोर होती है।

इन शैलियों में से चतुर्थ शैली का विकास बौद्धों की चैत्यशालाओं से व पांचवीं का स्तूप-रचना से माना जाता है। चतुर्थ शैली के उदाहरण उस्मानाबाद जिले के तेर नामक स्थान के मन्दिर व चेजरला (कृष्णा जिला) के कपोतेश्वर मन्दिर में पाये जाते हैं। ये चौथी-पांचवीं शती के बने हैं, और आकार में छोटे हैं। इस शैली के दो प्रकारान्तर भेद किये जाते हैं, एक नागर व दूसरा द्राविड़, जो आगे चलकर विशेष विकसित हुए; किन्तु जिनके बीज उपर्युक्त उदाहरणों में ही पाये जाते हैं। पांचवीं शैली का उदाहरण राजगृह के मणियार मठ (मणिनाग का मंदिर) में मिलता है। प्रथम शैली

के बने हुए मंदिर सांची, तिगवा और ऐरण में विद्यमान हैं। दूसरी शैली के उदाहरण हैं—नाचना-कुठारा का पार्वती मंदिर तथा भूमरा (म० प्र०) का शिवमंदिर(५-६वीं शती) आदि। इसी शैली का उपर्युक्त ऐहोल का मेघुटी मंदिर है। तीसरी शैली के उदाहरण हैं—देवगढ़ (जिला झांसी) का दशावतार मंदिर तथा भीतरगांव (जिला कानपुर) का मंदिर व बोध गया का महाबोधि मंदिर, जिस रूप में कि उसे चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग ने देखा था। ये मंदिर छठी शती के अनुमान किये जाते हैं।

जैन आयतन, चैत्यगृह, बिंब और प्रतिमा, व तीर्थ आदि के प्रचुर उल्लेख प्राचीनतम जैन शास्त्रों में पाये जाते हैं (कुंदकुंद : बोधपाहुड, ६२, आदि) दिगम्बर परम्परा की नित्य पूजा-वन्दना मे उन सिद्धक्षेत्रों को नमन करने का नियम है जहां से जैन तीर्थंकरों व अन्य प्रख्यात मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया। निर्वाणकांड नामक प्राकृत नमन-स्तोत्र में निम्न सिद्धक्षेत्रों को नमस्कार किया गया है:—

सिद्ध क्षेत्र	ज्ञात नाम व स्थिति	किसका निर्वाण हुआ
१ अष्टापद	कैलाश (हिमालय मे)	प्र. तीर्थंकर ऋषभ, नागकुमार, व्याल-महाव्याल
२ चम्पा	भागलपुर (बिहार)	१२वे तीर्थं० वासुपूज्य
३ ऊर्जयन्त	गिरनार (काठियावाड़)	२२वें तीर्थं० नेमिनाथ, प्रद्युम्न, शम्बु, अनिरुद्ध
४ पावा	पावापुर (पटना, बिहार)	२४वें तीर्थं० महावीर
५ सम्मेदशिखर	पारसनाथ (हजारीबाग, बिहार)	शेष २० तीर्थंकर
६ तारनगर	तारंगा	वरदत्त, वरांग, सागरदत्त
७ पावागिरि	ऊन (खरगोन, म. प्र.)	लाट नरेन्द्र, सुवर्णभद्रादि
८ शत्रुंजय	काठियावाड़	पांडव व द्रविड़ नरेन्द्र
९ गजपंथ	नासिक (महाराष्ट्र)	बलभद्र व अन्य यादव नरेन्द्र
१० तुंगीगिरि	मांगीतुंगी (महाराष्ट्र)	राम, हनु, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील
११ सुवर्णगिरि	सोनागिर (झांसी, उ. प्र.)	नंग-अनंगकुमार
१२ रेवातट	ओंकार मान्धाता (म. प्र.)	रावण के पुत्र
१३ सिद्धवरकूट	,, ,,	दो चक्रवर्ती
१४ चूलगिरि	बावनगजा(बडवानी, म.प्र.)	इन्द्रजित्, कुंभकर्ण

जैन मन्दिर

भारतीय वास्तुकला का विकास पहले स्तूप-निर्माण में, फिर गुफा चैत्यों व विहारों में, और तत्पश्चात् मंदिरों के निर्माण में पाया जाता है। स्तूपों व गुफाओं का विकास जैन परम्परा में किस प्रकार हुआ, यह ऊपर देखा जा चुका है। किन्तु वास्तुकला ने मंदिरों के निर्माण में ही अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। इन मन्दिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ११ वीं शती व उसके पश्चात् काल के उपलब्ध हैं। इन मन्दिरों के निर्माण में अभिव्यक्त योजना व शिल्प के चातुर्य की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्दिरों का निर्माण बिना उनकी दीर्घकालीन पूर्व परम्परा के नहीं हो सकता। पाषाण को काटकर गुफा-चैत्यों के निर्माण की कला का चरमोत्कर्ष हम एलोरा की गुफाओं में देख चुके हैं। कहा जा सकता है कि उसी के आधार पर आगे स्वतंत्र मन्दिरों के निर्माण की परम्परा चली। किन्तु उस कला से स्वतंत्र संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) मन्दिरों के शिल्प में बड़ा भेद है, जिसके विकास में भी अनेक शतियां व्यतीत हुई होंगी। इस सम्बन्ध में उक्त काल से प्राचीनतर मंदिरों का अभाव बहुत खटकता है।

प्राचीनतम बौद्ध व हिन्दू मन्दिरों के निर्माण की जो पांच शैलियां निरूपित की गई हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) समतल छत वाले चौकोर मन्दिर, जिनके सम्मुख एक द्वारमंडप रहता है। (२) द्वारमंडप व समतल छत वाले वे चौकोर मन्दिर जिनके गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा भी बनी रहती है। ये मन्दिर कभी कभी दुमंजिले भी बनते थे। (३) चौकोर मन्दिर जिनके ऊपर छोटा व चपटा शिखर भी बना रहता है। (४) वे लम्बे चतुष्कोण मन्दिर जिनका पिछला भाग अर्द्धवृत्ताकार रहता है, व छत कोठी (बैरल) के आकार का बनता था (५) वे वृत्ताकार मन्दिर जिनकी पीठिका चौकोर होती है।

इन शैलियों में से चतुर्थ शैली का विकास बौद्धों की चैत्यशालाओं से व पांचवीं का स्तूप-रचना से माना जाता है। चतुर्थ शैली के उदाहरण उस्मानाबाद जिले के तेर नामक स्थान के मन्दिर व चेजरला (कृष्णा जिला) के कपोतेश्वर मन्दिर में पाये जाते हैं। ये चौथी-पांचवीं शती के बने हैं, और आकार में छोटे हैं। इन शैलियों के दो अवान्तर भेद किये जाते हैं, एक नागर व दूसरा द्राविड़, जो आगे चलकर विशेष विकसित हुए; किन्तु जिनके बीज उपर्युक्त उदाहरणों में ही पाये जाते हैं। पांचवीं शैली का उदाहरण राजगृह के मणियार मठ (मणिनाग का मंदिर) में मिलता है। प्रथम शैली

के बने हुए मंदिर सांची, तिगवा और ऐरण में विद्यमान हैं। दूसरी शैली के उदाहरण हैं—नाचना-कुठारा का पार्वती मंदिर तथा भूमरा (म० प्र०) का शिवमंदिर(५-६वीं शती) आदि। इसी शैली का उपर्युक्त ऐहोल का मेघुटी मंदिर है। तीसरी शैली के उदाहरण हैं—देवगढ़ (जिला झांसी) का दशावतार मंदिर तथा भीतरगांव (जिला कानपुर) का मंदिर व बोध गया का महाबोधि मंदिर, जिस रूप में कि उसे चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग ने देखा था। ये मंदिर छठी शती के अनुमान किये जाते हैं।

जैन आयतन, चैत्यगृह, बिंब और प्रतिमा, व तीर्थ आदि के प्रचुर उल्लेख प्राचीनतम जैन शास्त्रों में पाये जाते हैं (कुंदकुंद : बोधपाहुड, ६२, आदि) दिगम्बर परम्परा की नित्य पूजा-वन्दना मे उन सिद्धक्षेत्रों को नमन करने का नियम है जहां से जैन तीर्थंकरों व अन्य प्रख्यात मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया। निर्वाणकांड नामक प्राकृत नमन-स्तोत्र में निम्न सिद्धक्षेत्रों को नमस्कार किया गया है:—

सिद्ध क्षेत्र	ज्ञात नाम व स्थिति	किसका निर्वाण हुआ
१ अष्टापद	कैलाश (हिमालय में)	प्र. तीर्थंकर ऋषभ, नागकुमार, व्याल-महाव्याल
२ चम्पा	भागलपुर (बिहार)	१२वें तीर्थं० वासुपूज्य
३ ऊर्जयन्त	गिरनार (काठियावाड़)	२२वें तीर्थं० नेमिनाथ, प्रद्युम्न, शम्बु, अनिरुद्ध
४ पावा	पावापुर (पटना, बिहार)	२४वें तीर्थं० महावीर
५ सम्भेदशिखर	पारसनाथ (हजारीबाग, बिहार)	शेष २० तीर्थंकर
६ तारनगर	तारंगा	वरदत्त, वरांग, सागरदत्त
७ पावागिरि	ऊन (खरगोन, म. प्र.)	लाट नरेन्द्र, सुवर्णभद्रादि
८ शत्रुंजय	काठियावाड़	पाडव व द्रविड़ नरेन्द्र
९ गजपंथ	नासिक (महाराष्ट्र)	बलभद्र व अन्य यादव नरेन्द्र
१० तुंगीगिरि	मांगीतुंगी (महाराष्ट्र)	राम, हनु, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील
११ सुवर्णगिरि	सोनागिर (झांसी, उ. प्र.)	नंग-अनंगकुमार
१२ रेवातट	ओंकार मान्धाता (म. प्र.)	रावण के पुत्र
१३ सिद्धवरकूट	" "	दो चक्रवर्ती
१४ चूलगिरि	बावनगजा(बड़वानी, म.प्र.)	इन्द्रजित्, कुंभकर्ण

१५ द्रोणगिरि	फलहोड़ी (फलौदी, राजस्थान)	गुरुदत्तादि
१६ मेढ़गिरि	मुक्तागिर (बैतूल, म. प्र.)	साढ़े तीन कोटि मुनि
१७ कुंथलगिरि	वंशस्थल (महाराष्ट्र)	कुलभूषण, देशभूषण
१८ कोटिशिला	कलिंगदेश (?)	यशोधर राजा के पुत्र
१९ रेसिंदागिरि	(?)	वरदत्तादि पांच मुनि पार्श्वनाथ काल के

इनके अतिरिक्त प्राकृत अतिशय-क्षेत्रकांड में मंगलापुर, आशारम्य, पोदनपुर, वाराणसी, मथुरा, अहिच्छत्र, जम्बूवन, निवडकुंडली, हुलगिरि और गोम्मटेश्वर की वन्दना की गई है। इन सभी स्थानों पर, जहां तक उनका पता चल सका है, एक व अनेक जिनमन्दिर, नाना काल के निर्मापित, तीर्थंकरों के चरण-चिन्हों व प्रतिमाओं सहित आज भी पाये जाते हैं और प्रतिवर्ष सहस्रों यात्री उनकी वन्दना कर अपने को धन्य समझते हैं।

सबसे प्राचीन जैन मंदिर के चिन्ह बिहार में पटना के समीप लोहानीपुर में पाये गये हैं, जहां कुमराहर और बुलंदीबाग की मौर्यकालीन कला-कृतियों की परम्परा के प्रमाण मिले हैं। यहां एक जैन मंदिर की नींव मिली है। यह मंदिर ८'१०" फुट वर्गाकार था। यहां की ईंटें मौर्यकालीन सिद्ध हुई हैं। यहीं से एक मौर्यकालीन रजत सिक्का तथा दो मस्तकहीन जिनमूर्तियां मिली हैं, जो अब पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन मंदिर जिसकी रूप रेखा सुरक्षित है, व निर्माण काल भी निश्चित है, वह है दक्षिण भारत में बादामी के समीप ऐहोल का मेगुटी नामक जैन मंदिर जो कि वहां से उपलब्ध शिलालेखानुसार शक संवत् ५५६ (ई० ६३४) में पश्चिमी चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के राज्यकाल में रविकीर्ति द्वारा बनवाया गया था। ये रविकीर्ति मंदिर-योजना में ही नहीं, किन्तु काव्य-योजना में भी बड़े प्रवीण और प्रतिभाशाली थे। यह बात उक्त शिलालेख की काव्य-रचना से तथा उसमें उनकी इस स्वयं उक्ति से प्रमाणित होती है कि उन्होंने कविता के क्षेत्र में कालिदास व भारवि की कीर्ति प्राप्त की थी। इस उल्लेख से न केवल हमें रविकीर्ति की काव्य-प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु उससे उक्त दो महा-कवियों के काल निर्णय में बड़ी सहायता मिली है, क्योंकि इससे उनके काल की अन्तिम सीमा सुनिश्चित हो जाती है। यह मंदिर अपने पूरे रूप में सुरक्षित नहीं रह सका। उसका बहुत कुछ अंश ध्वस्त हो चुका है। तथापि उसका इतना भाग फिर भी सुरक्षित है कि जिससे उसकी

योजना व शिल्प का पूर्णज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यह मन्दिर गुप्त व चालुक्य काल के उक्त शैलियों संबन्धी अनेक उदाहरणों में सबसे पश्चात् कालीन है। अतएव स्वभावतः इसकी रचना में वह शैली अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई पाई जाती है। इसके तंत्र व स्थापत्य में एक विशेष उन्नति दिखाई देती है, तथा पूर्ण मन्दिर की कलात्मक संयोजना में ऐसा संस्कार व लालित्य दृष्टिगोचर होता है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। इसकी भित्तियों का वाह्य भाग संकरे स्तम्भाकार प्रक्षेपों से अलंकृत है और ये स्तम्भ भी कोष्ठकाकार शिखरों से सुशोभित किये गये हैं। स्तम्भों के बीच का भित्ति भाग भी नाना प्रकार की आकृतियों से अलंकृत करने का प्रयत्न किया गयाहै। मन्दिर की समस्त योजना ऐसी संतुलित व सुसंगठित है कि उसमें पूर्वकालीन अन्य सब उदाहरणों से एक विशेष प्रगति हुई स्पष्ट प्रतीत होती है। मन्दिर लम्बा चतुष्कोण आकृति का है और उसके दो भाग हैं: एक प्रदक्षिणा सहित गर्भगृह व दूसरा द्वारमंडप। मंडप स्तम्भों पर आधारित है, और मूलतः सब ओर से खुला हुआ था; किन्तु पीछे दीवालों से घेर दिया गया है। मंडप और गर्भगृह एक संकरे दालान से जुड़े हुए हैं। इस प्रकार अलंकृति मे यह मंदिर अपने पूर्वकालीन उदाहरणों से स्पष्टतः बहुत बढ़ा-चढ़ा है, तथा अपनी निर्मिति की अपेक्षा अपने आगे की वास्तुकला के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने वाला सिद्ध होता है।

गुप्त व चालुक्य युग से पश्चात्कालीन वास्तुकला की शिल्प-शास्त्रों में तीन शैलियां निर्दिष्ट की गई हैं—नागर, द्राविड़ और वेसर। सामान्यतः नागरशैली उत्तर भारत में हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक प्रचलित हुई। द्राविड़ दक्षिण में कृष्णानदी से कन्याकुमारी तक, तथा वेसर मध्य-भारत में विन्ध्य पर्वत और कृष्णानदी के बीच। किन्तु यह प्रादेशिक विभाग कड़ाई से पालन किया गया नहीं पाया जाता। प्रायः सभी शैलियों के मन्दिर सभी प्रदेशों मे पाये जाते हैं, तथापि आकृति-वैशिष्ट्य को समझने के लिये यह शैली-विभाजन उपयोगी सिद्ध हुआ है। यद्यपि शास्त्रों में इन शैलियों के भेद विन्यास, निर्मिति तथा अलंकृति की छोटी छोटी बातों तक का निर्दिष्ट किया गया है; तथापि इनका स्पष्ट भेद तो शिखर की रचना में ही पाया जाता है। नागरशैली का शिखर गोल आकार का होता है, जिसके अग्रभागपर कलशाकृति बनाई जाती है। आदि में सम्भवतः इसप्रकार का शिखर केवल वेदी के ऊपर रहा होगा; किन्तु क्रमशः उसका इतना विस्तार हुआ कि समस्त मन्दिर की छत इसी आकार की बनाई जाने लगी। यह शिखराकृति औरों की अपेक्षा अधिक प्राचीन व महत्वपूर्ण मानी गई है। इससे भिन्न द्राविड़ शैली का मन्दिर एक स्तम्भाकृति

ग्रहण करता है, जो ऊपर की ओर क्रमशः चारों ओर सिकुड़ता जाता है, और ऊपर जाकर एक स्तूपिका का आकार ग्रहण कर लेता है। ये छोटी-छोटी स्तूपिकाएं व शिखराकृतियां उसके नीचे के तलों के कोणों पर भी स्थापित की जाती हैं जिससे मन्दिर की बाह्याकृति शिखरमय दिखाई देने लगती है। वेसर शैली के शिखर की आकृति वर्तुलाकार ऊपर को उठकर अग्रभाग पर चपटी ही रह जाती है, जिससे वह कोठी के आकार का दिखाई देता है। यह शैली स्पष्टतः प्राचीन चैत्यों की आकृति का अनुसरण करती है। आगामी काल के हिन्दू व जैन मन्दिर इन्हीं शैलियों, और विशेषतः नागर व द्राविड़ शैलियों पर बने पाये जाते हैं।

ऐहोल का मेगुटी जैन मंदिर द्राविड़ शैली का सर्व प्राचीन कहा जा सकता है। इसी प्रकार का दूसरा जैन मंदिर इसी के समीप पट्टदकल ग्राम से पश्चिम की ओर एक मील पर स्थित है। इसमें किसी प्रकार का उत्कीर्णन नहीं है, व प्रांगण का घेरा पूरा बन भी नहीं पाया है। किन्तु शिखर का निर्माण स्पष्टतः द्राविड़ी शैली का है जो क्रमशः सिकुड़ती हुई भूमिकाओं द्वारा ऊपर को उठता गया है। क्रमोन्नत भूमिकाओं की कपोत-पालियों में उसकी रूपरेखा का वही आकार-प्रकार अभिव्यक्त होता गया है। सबसे ऊपर सुन्दर स्तूपिका बनी है। इस मंदिर के निर्माण का काल भी वही ७ वीं ८ वीं शती है। यही शैली मद्रास से ३२ मील दक्षिण की ओर समुद्रतट पर स्थित मामल्लपुर के सुप्रसिद्ध रथों के निर्माण में पाई जाती है। ये भी प्रायः इसी काल की कृतियां हैं।

द्राविड़ शैली का आगामी विकास हमें दक्षिण के नाना स्थानों में पूर्ण व खंडित अवस्था में वर्तमान अनेक जैन मंदिरों में दिखाई देता है। इनमें से यहां केवल कुछ का ही उल्लेख करना पर्याप्त है। तीर्थहल्लि के समीप हुंबच एक अति प्राचीन जैन केन्द्र रहा है व सन् ८९७ के एक लेख में वहां के मंदिर का उल्लेख है। किन्तु वहां के अनेक मंदिर ११ वीं शती में वीरसान्तर आदि सान्तरवंशी राजाओं द्वारा निर्मित पाये जाते हैं। इनमें वही द्राविड़ शैली, वही अलंकरणरीति तथा सुन्दरता से उत्कीर्ण स्तम्भों की सत्ता पाई जाती है, जो इस काल की विशेषता है। जैन मठ के समीप पार्श्वनाथ का मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। यह दुतल्ला है, जिसका ऊपरी भाग अभी कुछ काल पूर्व टीन के पत्रों से ढक दिया गया है। बाहरी दीवालों पर पशुपक्ष्याकृतियां उत्कीर्ण हैं। किन्तु वे बहुत कुछ घिस व टूट फूट गई हैं। ऊपर के तल्ले पर जाने से मंदिर का शिखर अब भी देखा जा सकता है। इस मंदिर में दक्षिण भारतीय शैली की कांस्य मूर्तियों का अच्छा संग्रह है। इसी मंदिर के समीप की पहाड़ी पर

बाहुबली मंदिर ध्वस्त अवस्था में विद्यमान है। किन्तु उसका गर्भगृह, सुखनासी, मंडप व सुन्दर सोपान-पथ तथा गर्भगृह के भीतर की सुन्दर मूर्ति अब भी दर्शनीय हैं। इस काल की कला का पूर्ण परिचय कराने वाला वह पंचकूट बस्ति नामक मंदिर है जो ग्राम के उत्तरी बाह्य भाग में स्थित है। एक छोटे से द्वार के भीतर प्रांगण में पहुंचने पर हमें एक विशाल स्तम्भ के दर्शन होते है, जिसपर प्रचुरता से सुन्दर चित्रकारी की गई है। आगे मुख्य मंदिर के गर्भालय में एक स्तम्भमय मंडप से होकर पहुंचा जाता है। मंडप में भी जैन देवियां व यक्षिणियां स्थापित हैं। गर्भगृह के दोनों पार्श्वों में भी दो अपेक्षाकृत छोटी भित्तिया हैं। इस मंदिर से उत्तर की ओर वह छोटा सा पार्श्वनाथ मंदिर है जिसकी छत की चित्रकारी में हमें तत्कालीन दक्षिण भारतीय शैली का सर्वोत्कृष्ट और अद्भुत स्वरूप देखने को मिलता है। इसी के सम्मुख चन्द्रनाथ मंदिर है, जो अपेक्षाकृत पीछे का बना है।

तीर्थहल्लि से अगुम्बे की ओर जाने वाले मार्ग पर गुड्ड नामक तीन हजार फुट से अधिक ऊंची एक पहाड़ी है, जिस पर अनेक ध्वंसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं, और उस स्थान को एक प्राचीन जैन तीर्थ सिद्ध करते है। एक पार्श्वनाथ मन्दिर अब भी इस पहाड़ी पर शोभायमान है, जो आसपास की सुविस्तृत पर्वत श्रेणियों व उर्वरा घाटियों को भव्यता प्रदान कर रहा है। पर्वत के शिखर पर एक प्राकृतिक जलकुंड के तट पर इस मंदिर का उच्च अधिष्ठान है। द्वार सुन्दरता से उत्कीर्ण है। सम्मुख मानस्तम्भ है। मंडप के स्तम्भ भी चित्रमय हैं, तथा गर्भगृह में पार्श्वनाथ की विशाल कायोत्सर्ग मूर्ति है जिसे एक दीर्घकाय नाग लपेटे हुए है, और ऊपर अपने सप्तमुखी फण की छाया किये हुए है। मूर्ति के शरीर पर नाग के दो लपेटे स्पष्ट दिखाई देते हैं, जैसा अन्यत्र प्रायः नही देखा जाता। पहाड़ के नीचे उतरते-हुए हमें जैन मंदिरों के ध्वंसावशेष मिलते हैं। तीर्थंकरों की सुन्दर मूर्तियां व चित्रकारी-युक्त पाषाण-खंड प्रचुरता से यत्र-तत्र बिखरे दिखाई देते हैं, जिनसे इस स्थान का प्राचीन समृद्ध इतिहास आंखों के सम्मुख झूल जाता है।

धारवाड़ जिले में गडग रेलवे स्टेशन से सात मील दक्षिण-पूर्व की ओर लकुंडी (लोक्कि गुंडी) नामक ग्राम है, जहां दो सुन्दर जैन मन्दिर हैं। इनमे के बड़े मंदिर में सन् ११७२ ई० का शिलालेख है। यह भी ऐहोल व पट्टदकल के मंदिरों के समान विशाल पाषाण-खंडों से बिना किसी चूने-सीमेन्ट के निर्मित किया गया है। नाना भूमिकाओं द्वारा ऊपर को उठता हुआ द्राविड़ी शिखर सुस्पष्ट है। यहां खुरदुरे रेतीले पत्थर का नही, किन्तु चिकने काले पत्थर का उपयोग किया गया; और इस

विहार वही होना चाहिये जो पहाड़पुर की खुदाई से प्रकाश में आया है। सातवीं शती के पश्चात् किसी समय इस विहार पर बौद्धों का अधिकार हो गया, और वह सोमपुर महाविहार के नाम से प्रख्यात हुआ। किन्तु ७ वीं शती में ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा वर्णन में इस विहार का कोई उल्लेख नहीं किया, जिससे स्पष्ट है कि उस समय तक वह बौद्ध केन्द्र नहीं बना था। बैन्जामिन रोलेन्ड (आर्ट एन्ड आर्किटेक्चर ऑफ इंडिया) के मतानुसार अनुमानतः पहले यह ब्राह्मणों का केन्द्र रहा है, और पीछे इस पर बौद्धों का अधिकार हुआ। किन्तु यह बात सर्वथा इतिहास-विरुद्ध है। एक तो उस प्राचीन काल में उक्त प्रदेश में ब्राह्मणों के ऐसे केन्द्र या देवालय आदि स्थापित होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते; और दूसरे बौद्धों ने कभी ब्राह्मण आयतनों पर अधिकार किया हो, इसके भी उदाहरण पाना दुर्लभ है। उक्त ताम्रपटलेख के प्रकाश से यह सिद्ध हो जाता है कि यहां पांचवीं शताब्दी में जैन विहार विद्यमान था, और इस स्थान का प्राचीन नाम वट-गोहाली था। सम्भव है यहां उस समय कोई महान् वटवृक्ष रहा हो, और उसके आसपास जैन मुनियों के निवास योग्य गुफाओं की आवली (पंक्ति) रही हो, जिससे इसका नाम वट-गोहाली (वट-गुफा-आवली) पड़ गया हो। जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, षट्खंडागम के प्रकाण्ड विद्वान् टीकाकार वीरसेन और जिनसेन इसी पंचस्तूपान्वय के आचार्य थे। अतएव यह जैन विहार विद्या का भी महान् केन्द्र रहा हो तो आश्चर्य नहीं। प्रतीत होता है ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों में पूर्व में यह वट-गोहाली विहार, उत्तर में मथुरा का विहार, पश्चिम में सौराष्ट्र में गिरिनगर की चन्द्र-गुफा, और दक्षिण में श्रवणबेलगोला, ये देश की चारों दिशाओं में धर्म व शिक्षा प्रचार के सुदृढ़ जैन केन्द्र रहे हैं।

खुदाई से अभिव्यक्त पहाड़पुर विहार बड़े विशाल आकार का रहा है, और अपनी रचना व निर्मिति में अपूर्व गिना गया है। इसका परकोटा कोई एक हजार वर्ग का रहा है, जिसके चारों ओर १७५ से भी अधिक गुफागार कोष्ठ रहे हैं। इस कोट की चारों दिशाओं में एक-एक विशाल द्वार रहा है, और चौक के ठीक मध्य में स्वस्तिक के आकार का सर्वतोभद्र मंदिर है, जो लगभग साढ़े तीन सौ फुट लम्बा-चौड़ा है। उसके चारों ओर प्रदक्षिणा बनी हुई है। मंदिर तीन तल्लों का रहा है, जिसके दो तल्ले प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। विद्वानों ने इस विहार की रचना को बड़ा विलक्षण (अपूर्व) माना है, तथा उसकी तुलना बर्मा के पैगान तथा जावा के लोरो जोंग्रांग आदि मंदिरों से की है। किन्तु स्पष्टतः जैन परम्परा में चतुर्मुखी मंदिरों का प्रचार बहुत पूर्व पाया जाता है व आबू के चौमुखी मंदिर में भी पाया जाता है, और दीक्षित महोदय ने इस

संभावना का संकेत भी किया है। (भा० वि० म० इति० भाग ५-६३७)

मध्यभारत में आने पर हमें दो स्थानों पर प्राचीन जैन तीर्थों के दर्शन होते हैं। इनकी विख्याति शताब्दियों तक रही, और क्रमशः अधिकाधिक मंदिर निर्माण होते रहे और उनमें मूर्तियां प्रतिष्ठित कराई जाती रहीं, जिनसे ये स्थान देवनगर ही बन गये। इनमें से प्रथम स्थान है—देवगढ़ जो झांसी जिले के अन्तर्गत ललितपुर रेलवे स्टेशन से १९ मील तथा जारवलोन स्टेशन से ९ मील दूर वेतवा नदी के तट पर है। देवगढ़ की पहाड़ी कोई एक मील लम्बी व ६ फर्लांग चौड़ी है। पहाड़ी पर चढ़ते हुए पहले गढ़ के खंडहर मिलते हैं, जिनकी पाषाण-कारीगरी दर्शनीय है। इस गढ़ के भीतर क्रमशः दो और कोट हैं, जिनके भीतर अनेक मंदिर जीर्ण अवस्था में दिखाई देते है। कुछ मंदिर हिन्दू हैं, किन्तु अधिकांश जैन, जिनमें ३१ मंदिर गिने जा चुके हैं। इनमें मूर्तियों, स्तम्भों, दीवालों, शिलाओं आदि पर शिलालेख भी पाये गये है, जिनके आधार से इन मंदिरों का निर्माण आठवीं से लेकर बारहवीं शती तक का सिद्ध होता है। सबसे बड़ा १२ वें नम्बर का शांतिनाथ मंदिर है, जिसके गर्भगृह में १२ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा है। गर्भगृह के सम्मुख लगभग ४२ फुट का चौकोर मंडप है जिसमें छह-छह स्तम्भों की छह कतारें है। इस मंडप के मध्य में भी वेदी पर एक मूर्ति विराजमान है। मंडप के सम्मुख कुछ दूरी पर एक और छोटा सा चार स्तम्भों का मंडप है जिनमें से एक स्तम्भ पर भोजदेव के काल (वि० सं० ९१९, ई० सन् ८६२) का एक लेख भी उत्कीर्ण है। लेख मे वि० सं० के साथ-साथ शक सं० ७८४ का भी उल्लेख है। बड़े मंडप में बाहुबली की एक मूर्ति है जिसका विशेष वर्णन आगे करेंगे। यथार्थतः यही मंदिर यहां का मुख्य देवालय है; और इसी के आसपास अन्य व अपेक्षाकृत इससे छोटे मंदिर हैं। गर्भगृह और मुखमंडप प्रायः सभी मंदिरों का दिखाई देता है, या रहा है। स्तम्भों की रचना विशेष दर्शनीय है। इनमें प्रायः नीचे-ऊपर चारों दिशाओं मे चार-चार मूर्तियाँ उत्कीर्ण पाई जाती है। यत्र-तत्र भित्तियों पर भी प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। कुछ मंदिरों के तोरण-द्वार भी कलापूर्ण रीति से उत्कीर्ण हैं। कहीं-कहीं मंदिर के सम्मुख मानस्तम्भ भी दिखाई देता है। प्रथम मंदिर प्रायः १२ वें मंदिर के सदृश, किन्तु उससे छोटा है। पांचवां मंदिर सहस्रकूट चैत्यालय है, जो बहुत कुछ अक्षत है और उसके कूटों पर कोई १००८ जिन प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। जिन मंदिरों के शिखरों का आकार देखा या समझा जा सकता है, उन पर से इनका निर्माण नागर शैली का सुस्पष्ट है। पुरातत्व विभाग की सन् १९१८ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार देवगढ़ से कोई २०० शिलालेख मिले हैं, जिनमें से कोई ६० में उनका लेखन-काल भी

विहार वही होना चाहिये जो पहाड़पुर की खुदाई से प्रकाश में आया है। सातवीं शती के पश्चात् किसी समय इस विहार पर बौद्धों का अधिकार हो गया, और वह सोमपुर महाविहार के नाम से प्रख्यात हुआ। किन्तु ७ वीं शती में ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा वर्णन में इस विहार का कोई उल्लेख नहीं किया, जिससे स्पष्ट है कि उस समय तक वह बौद्ध केन्द्र नहीं बना था। बेंजामिन रोलेन्ड (आर्ट एन्ड आर्किटेक्चर ऑफ इंडिया) के मतानुसार अनुमानतः पहले यह ब्राह्मणों का केन्द्र रहा है, और पीछे इस पर बौद्धों का अधिकार हुआ। किन्तु यह बात सर्वथा इतिहास-विरुद्ध है। एक तो उस प्राचीन काल में उक्त प्रदेश में ब्राह्मणों के ऐसे केन्द्र या देवालय आदि स्थापित होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते; और दूसरे बौद्धों ने कभी ब्राह्मण आयतनों पर अधिकार किया हो, इसके भी उदाहरण पाना दुर्लभ है। उक्त ताम्रपटलेखके प्रकाश से यह सिद्ध हो जाता है कि यहां पांचवीं शताब्दी में जैन विहार विद्यमान था, और इस स्थान का प्राचीन नाम वट-गोहाली था। सम्भव है यहां उस समय कोई महान् वटवृक्ष रहा हो, और उसके आसपास जैन मुनियों के निवास योग्य गुफाओं की आवली (पंक्ति) रही हो, जिससे इसका नाम वट-गोहाली (वट-गुफा-आवली) पड़ गया हो। जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, षट्खंडागम के प्रकाण्ड विद्वान् टीकाकार वीरसेन और जिनसेन इसी पंचस्तूपान्वय के आचार्य थे। अतएव यह जैन विहार विद्या का भी महान् केन्द्र रहा हो तो आश्चर्य नहीं। प्रतीत होता है ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों में पूर्व में यह वट-गोहाली विहार, उत्तर में मथुरा का विहार, पश्चिम में सौराष्ट्र में गिरिनगर की चन्द्र-गुफा, और दक्षिण में श्रवणबेलगोला, ये देश की चारों दिशाओं में धर्म व शिक्षा प्रचार के सुदृढ़ जैन केन्द्र रहे हैं।

खुदाई से अभिव्यक्त पहाड़पुर विहार बड़े विशाल आकार का रहा है, और अपनी रचना व निर्मिति में अपूर्व गिना गया है। इसका परकोटा कोई एक हजार वर्ग का रहा है, जिसके चारों ओर १७५ से भी अधिक गुफाकार कोष्ठ रहे हैं। इस चौक की चारों दिशाओं में एक-एक विशाल द्वार रहा है, और चौक के ठीक मध्य में स्वस्तिक के आकार का सर्वतोभद्र मंदिर है, जो लगभग साढ़े तीन सौ फुट लम्बा-चौड़ा है। उसके चारों ओर प्रदक्षिणा बनी हुई है। मंदिर तीन तल्लों का रहा है, जिसके दो तल्ले प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। विद्वानों ने इस विहार की रचना को बड़ा विलक्षण (अपूर्व) माना है, तथा उसकी तुलना बर्मा के पेगाम तथा जावा के सोरों जोन्ग्रांग आदि मंदिरों से की है। किन्तु स्पष्टतः जैन परम्परा में चतुर्मुखी मंदिरों का प्रचार बराबर चला आया है व आबू के चौमुखी मंदिर में भी पाया जाता है, और दीक्षित महोदय ने इस

संभावना का संकेत भी किया है। (भा० वि० म० इति० भाग ५-६३७)

मध्यभारत में आने पर हमें दो स्थानों पर प्राचीन जैन तीर्थों के दर्शन होते हैं। इनकी विख्याति शताब्दियों तक रही, और क्रमशः अधिकाधिक मदिर निर्माण होते रहे और उनमें मूर्तियां प्रतिष्ठित कराई जाती रही, जिनसे ये स्थान देवनगर ही बन गये। इनमें से प्रथम स्थान है—देवगढ़ जो झासी जिले के अन्तर्गत ललितपुर रेलवे स्टेशन से १९ मील तथा जारवलौन स्टेशन से ९ मील दूर वेतवा नदी के तट पर है। देवगढ़ की पहाड़ी कोई एक मील लम्बी व ६ फर्लांग चौड़ी है। पहाड़ी पर चढ़ते हुए पहले गढ़ के खंडहर मिलते हैं, जिनकी पाषाण-कारीगरी दर्शनीय है। इस गढ़ के भीतर क्रमशः दो और कोट हैं, जिनके भीतर अनेक मंदिर जीर्ण अवस्था में दिखाई देते हैं। कुछ मंदिर हिन्दू हैं, किन्तु अधिकांश जैन, जिनमें ३१ मंदिर गिने जा चुके है। इनमें मूर्तियों, स्तम्भों, दीवालो, शिलाओं आदि पर शिलालेख भी पाये गये है, जिनके आधार से इन मंदिरों का निर्माण आठवी से लेकर बारहवी शती तक का सिद्ध होता है। सबसे बड़ा १२ वें नम्बर का शातिनाथ मंदिर है, जिसके गर्भगृह में १२ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा है। गर्भगृह के सम्मुख लगभग ४२ फुट का चौकोर मंडप है जिसमें छह-छह स्तम्भों की छह कतारें हैं। इस मंडप के मध्य मे भी वेदी पर एक मूर्ति विराजमान है। मंडप के सम्मुख कुछ दूरी पर एक और छोटा सा चार स्तम्भो का मंडप है' जिनमें से एक स्तम्भ पर भोजदेव के काल (वि० सं० ९१९, ई० सन् ८६२) का एक लेख भी उत्कीर्ण है। लेख में वि० सं० के साथ-साथ शक सं० ७८४ का भी उल्लेख है। बड़े मंडप में बाहुवली की एक मूर्ति है जिसका विशेष वर्णन आगे करेंगे। यथार्थतः यही मंदिर यहां का मुख्य देव।लय है; और इसी के आसपास अन्य व अपेक्षाकृत इससे छोटे मंदिर हैं। गर्भगृह और मुखमंडप प्रायः सभी मंदिरों का दिखाई देता है, या रहा है। स्तम्भों की रचना विशेष दर्शनीय है। इनमें प्रायः नीचे-ऊपर चारों दिशाओं में चार-चार मूर्तियाँ उत्कीर्ण पाई जाती है। यत्र-तत्र भित्तियों पर भी प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। कुछ मंदिरो के तोरण-द्वार भी कलापूर्ण रीति से उत्कीर्ण हैं। कहीं-कही मंदिर के सम्मुख मानस्तम्भ भी दिखाई देता है। प्रथम मंदिर प्रायः १२ वें मंदिर के सदश, किन्तु उससे छोटा है। पांचवां मंदिर सहस्रकूट चैत्यालय है, जो बहुत कुछ अक्षत है और उसके कूटो पर कोई १००८ जिन प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। जिन मंदिरों के शिखरों का आकार देखा या समझा जा सकता है, उन पर से इनका निर्माण नागर शैली का सुस्पष्ट है। पुरातत्व विभाग की सन् १९१८ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार देवगढ़ से कोई २०० शिलालेख मिले हैं, जिनमें से कोई ६० में उनका लेखन-काल भी

अंकित है, जिनसे वे वि० सं० ९१९ से लेकर वि० सं० १८७६ तक के पाये जाते हैं। तात्पर्य यह कि इस क्षेत्र का महत्व १९ वीं शती तक बना रहा है। लिपि-विकास व भाषा की दृष्टि से भी इन लेखों का बड़ा महत्व है।

मध्य भारत का दूसरा देवालय-नगर खजराहो छतरपुर जिले के पन्ना नामक स्थान से २७ मील उत्तर व महोबा से ३४ मील दक्षिण की ओर है। यहां शिव, विष्णु व जैन मंदिरों की ३० से ऊपर संख्या है। जैन मंदिरों में विशेष उल्लेखनीय तीन हैं—पार्श्वनाथ, आदिनाथ, और शांतिनाथ-जिनमें प्रथम पार्श्वनाथ सबसे बड़ा है। इसकी लम्बाई चौड़ाई ६८ × ३४ फुट है। इसका मुखमंडप ध्वस्त हो गया है। महामंडप, अन्तराल और गर्भगृह सुरक्षित हैं और वे एक ही प्रदक्षिणा-मार्ग से घिरे हुए हैं। गर्भगृह से सटकर पीछे की ओर एक पृथक् देवालय बना हुआ है, जो इस मंदिर की एक विशेषता है। प्रदक्षिणा की दीवार में आभ्यन्तर की ओर स्तम्भ है, जो छत को आधार देते हैं। दीवार में प्रकाश के लिये जालीदार वातायन हैं। मंडप की छत पर का उत्कीर्णन उत्कृष्ट शैली का है। छत के मध्य में लोलक को बेलबूटों व उड़ती हुई मानवाकृतियों से अलंकृत किया गया है। प्रवेशद्वार पर गरुड़वाहिनी दशभुज (सरस्वती) मूर्ति भी बड़ी सुन्दर बनी है। गर्भगृह की बाह्य भित्तियों पर अप्सराओं की मूर्तियां इतनी सुन्दर हैं कि उन्हें अपने ढंग की सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। उत्तर की ओर बच्चे को दूध पिलाती हुई, पत्र लिखती हुई, पैर में से कांटा निकालती हुई एवं शृंगार करती हुई स्त्रियों आदि की मूर्तियां इतनी सजीव और कलापूर्ण हैं कि वैसी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ये सब भाव लौकिक जीवन के सामान्य व्यवहारों के हैं, धार्मिक नहीं। यह इस मंदिर की कलाकृतियों की अपनी विशेषता है। सबसे बाहर की भित्तियों पर निचले भाग में कलापूर्ण उत्कीर्णन है और ऊपर की ओर अनेक पट्टियों में तीर्थंकरों एवं हिन्दू देव-देवियों की बड़ी सुन्दर आकृतियां बनी हैं। इस प्रकार इस मंदिर में हम नाना धर्मों, एवं धार्मिक व लौकिक जीवन का अद्भुत समन्वय पाते हैं। मन्दिर के गर्भगृह में वेदी भी बड़ी सुन्दर आकृति की बनी है, और उसपर बैल की आकृति उत्कीर्ण है। इससे प्रतीत होता है कि आदितः इस मंदिर के मूल नायक वृषभनाथ तीर्थंकर थे, क्योंकि वृषभ उन्हीं का चिन्ह है। अनुमानतः यह मूर्ति किसी समय नष्ट-भ्रष्ट हो गई और तत्पश्चात् उसके स्थान पर पार्श्वनाथ की वर्तमान मूर्ति स्थापित कर दी गई। मंदिर व सिंहासन की कलापूर्ण निर्मिति की अपेक्षा यह मूर्ति हीन-कलात्मक है। इससे भी वही बात सिद्ध होती है। ऐसी ही कुछ स्थिति आदिनाथ मंदिर की भी है, क्योंकि उसमें जो आदिनाथ की मूर्ति विराजमान है वह

सिंहासन के प्रमाण से छोटी तथा कला की दृष्टि से सामान्य है। यह मंदिर पार्श्वनाथ मंदिर के समीप ही उत्तर की ओर स्थित है। इस मंदिर में भी पूर्वोक्त प्रकार से तीन ही कोष्ठ हैं, जिनमें से अर्द्धमंडप बहुत पीछे का बना हुआ है। इसके प्रवेश द्वार पर चतुर्भुज देवी की मूर्ति है और उससे ऊपर १६ स्वप्नों के चिन्ह उत्कीर्ण हैं। शान्तिनाथ मंदिर की विशेषता यह है कि उसमें शान्तिनाथ तीर्थंकर की १५ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा विराजमान है, जिसकी प्रतिष्ठा का काल वि० सं० १०८५ ई० (सन् १०२८) अंकित है। इसी से कुछ पूर्व इस मंदिर का निर्माण हुआ होगा। शेष मंदिरों का निर्माण-काल भी इसी के कुछ आगे-पीछे का प्रतीत होता है। इस मूर्ति के अतिरिक्त वहां पाई जाने वाली अन्य तीर्थंकरों व यक्ष-यक्षणियों की मूर्तियां कलापूर्ण हैं। तीर्थंकर मूर्तियों के दोनों पार्श्वों में प्रायः दो चमर-वाहक, सम्मुख बैठी हुई दो उपासिकाएं तथा मूर्तियों के अगल-बगल कुछ ऊपर हस्ति-आरूढ़ इन्द्र व इन्द्राणी की आकृतियां पाई जाती हैं; तथा पीठपर दोनों ओर सिंह की आकृतियां भी दिखाई देती हैं। खजराहो के ये समस्त मंदिर अधिष्ठान से शिखर तक नाना प्रकार की कलापूर्ण आकृतियों से उत्कीर्ण हैं।

खजराहो के जैन मन्दिरों की विशेषता यह है कि उनमें मंडप की अपेक्षा शिखर की रचना का ही अधिक महत्व है। अन्यत्र के समान भमिति और देव-कुलिकाएं भी नहीं है, तथा रचना व अलंकृति में जिनमूर्तियों के अतिरिक्त अन्य ऐसी विशेषता नहीं है जो उन्हें यहां के हिन्दू व बौद्ध मन्दिरों से पृथक् करती हो। एक ही काल और सम्भवतः उदार सहिष्णु एक ही नरेश के संरक्षण में बनवाये जाने से उनमें विचार-पूर्वक समत्व रखा गया प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ पाये जाने वाले दो अन्य मन्दिरों के सम्बन्ध में जेम्स फरगुसन साहब का अभिमत उल्लेखनीय है। चौसठ योगिनी मन्दिर की भमिति व देवकुलिकाओं के सम्बन्ध में उनका कहना है कि "मन्दिर निर्माण की यह रीति यहाँ तक जैन विशेषता लिये हुए है कि इसके मूलतः जैन होने में मुझे कोई संशय नहीं है।" मध्यवर्ती मन्दिर अब नहीं है, और फर्गुसन साहब के मतानुसार आश्चर्य नहीं जो वह प्राचीन बौद्ध चैत्यों के समान काष्ठ का रहा हो। और यदि यह बात ठीक हो तो यही समस्त प्राचीनतम जैन मन्दिर सिद्ध होता है। उसी प्रकार घंटाई मन्दिर के अवशिष्ट मंडप को भी वे उसकी रचनाशैली पर से जैन स्वीकार करते है। इसमें प्राप्त खंडित लेख की लिपि पर से कनिंघम साहब ने उसे छठी-सातवीं शती का अनुमान किया है, और फर्गुसन साहब उसकी शैली पर से भी यही काल-निर्णय करते हैं।

ग्वालियर राज्य में विदिशा से १४० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर ग्यारसपुर

में भी एक भग्न जैन मन्दिर का मंडप विद्यमान है, जो अपने विन्यास व स्तम्भों की रचना आदि में खजराहो के घंटाई मंडप के ही सदृश है। उसका निर्माण-काल भी फर्गुसन साहब ने सातवीं शती, अथवा निश्चय ही १० वीं शती से पूर्व, अनुमान किया है। इसी ग्यारसपुर में संभवतः इसी काल का एक अन्य मन्दिर भी है जो इतना जीर्ण-शीर्ण हो गया है और उसका जीर्णोद्धार इस तरह किया गया है कि उसका समस्त मौलिक रूप ढक गया है। यहाँ ग्राम में एक संभवतः ११ वीं शती का अति-सुन्दर पाषाण-तोरण भी है। यथार्थतः फर्गुसन साहब के मतानुसार वहां आसपास के समस्त प्रदेश में इतने भग्नावशेष विद्यमान हैं कि यदि उनका विधिवत् संकलन व अध्ययन किया जाय तो भारतीय वास्तु-कला, और विशेषतः जैन वास्तुकला, के इतिहास के बड़े दीर्घ रिक्त स्थानों की पूर्ति की जा सकती है।

मध्यप्रदेश में तीन और जैन तीर्थ हैं जहा पहाड़ियो पर अनेक प्राचीन मन्दिर बने हुए हैं, और आज तक भी नये मन्दिर अविच्छिन्न क्रम से बनते जाते हैं। ऐसा एक तीर्थ बुंदेलखंड में दतिया के समीप सुवर्णगिरि (सोनागिरि) है। यहा एक नीची पहाड़ी पर लगभग १०० छोटे-बड़े एवं नाना आकृतियों के जैन मन्दिर हैं। जिस रूप में ये मन्दिर विद्यमान हैं वह बहुत प्राचीन प्रतीत नहीं होता। उसमें मुसलमानी शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उनके शिखर प्रायः मुगलकालीन गुम्बज के आकार के हैं। शिखर का प्राचीन स्वदेशीय रूप क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है, और खुले भागों का रूप मुसलमानी कोणाकार तोरण जैसा दिखाई देता है। यद्यपि इसका इतिहास स्पष्ट नहीं है कि इस तीर्थक्षेत्र में प्रचीनतम मन्दिर कब, क्यों और कैसे बने, तथापि इसकी कुछ सामग्री वहाँ के उक्त मन्दिरों, मूर्तियों व लेखों के अध्ययन से संकलित की जा सकती है।

दूसरा तीर्थक्षेत्र बैतूल जनपदान्तर्गत मुक्तागिरि है। यहाँ एक अतिसुन्दर पहाड़ी की घाटी के समतल भाग में कोई २०-२५ जैन मन्दिर हैं, जिनके बीच लगभग ६० फुट ऊंचा जलप्रपात है। इसका दृश्य विशेषतः वर्षाकाल में अत्यन्त रमणीक प्रतीत होता है। ये मन्दिर भी सोनागिरि के समान बहुत प्राचीन नहीं हैं, और अपने शिखर आदि के संबंध में मुसलमानी शैली का अनुकरण करते हैं। किन्तु यहाँ की मूर्तियों पर के लेखों से ज्ञात होता है कि १४ वीं शती में यहाँ कुछ मंदिर अवश्य रहे होंगे। इस तीर्थ के विषय में श्री जेम्स फर्गुसन साहब ने अपनी हिस्ट्री ऑफ इंडिया एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर (लंदन, १८७६) में कहा है कि "समस्त भारत में इसके सदृश दूसरा स्थान पाना दुर्लभ है, जहां प्रकृति की शोभा का वास्तुकला के साथ ऐसा सुन्दर सामं-

जस्य हुआ हो।"

मध्यप्रदेश का तीसरा जैन तीर्थ दमोह के समीप कुंडलपुर नामक स्थान है, जहां एक कुंडलाकार पहाड़ी पर २५-३० जैन मंदिर बने हुए हैं। पहाड़ी के मध्य एक घाटी में बना हुआ महावीर का मंदिर अपनी विशालता, प्राचीनता व मान्यता के लिये विशेष प्रसिद्ध है। यहां बड़ेबाबा महावीर की विशाल मूर्ति होने के कारण यह बड़ेबाबा का मंदिर कहलाता है। पहाड़ी पर का प्रथम मंदिर भी अपने सौन्दर्य व रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अपने शिखर के छह तल्लों के कारण यह छह घरिया का मंदिर कहलाता है। अधिकांश मंदिरो में पूर्वोक्त तीर्थ-क्षेत्रों के सदृश मुगलशैली का प्रभाव दिखाई देता है। पहाड़ी के नीचे का तालाब और उसके तटवर्ती नये मंदिरों की शोभा भी दर्शनीय है।

मध्यप्रदेश के जिला नगर खरगोन से पश्चिम की ओर दश मील पर ऊन नामक ग्राम में तीन-चार प्राचीन जैन मन्दिर है। इनमें से एक पहाड़ी पर है जिसकी मरम्मत होकर अच्छा तीर्थस्थान बन गया है। शेष मन्दिर भग्नावस्था मे पुरातत्व विभाग के संरक्षण में है। मन्दिर पूर्णतः पाषाण-खंडों से निर्मित, चपटी छत व गर्भगृह और सभामंडप युक्त तथा प्रदक्षिणा-रहित हैं जिनसे उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भित्तियों और स्तम्भों पर सर्वांग उत्कीर्णन है जो खजुराहो के मन्दिरों की कला से मेल खाता है। चतुर्द्वार होने से दो मन्दिर **चौबारा डेरा** कहलाते हैं। खंभों पर की कुछ पुरुष-स्त्री रूप आकृतियां शृंगारात्मक अतिसुन्दर और पूर्णतः सुरक्षित हैं। कुछ प्रतिमाओं पर लेख हैं जिनमें संवत् १२५८ व उसके आसपास का उल्लेख है। अतः यह तीर्थ कम से कम १२-१३ वी शती का तो अवश्य है। इस तीर्थ स्थान को प्राचीन सिद्धक्षेत्र पावागिरि ठहराया गया है जिसका प्राकृत **निर्वाणकाण्ड** में निम्न प्रकार दो बार उल्लेख आया है:—

रायसुआ वेण्णि जणा लाड-णरिंदाण पंच-कोडीओ।
पावागिरि-वर-सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥५॥
पावागिरि-वर-सिहरे सुवण्णभद्दाइ-मुणिवरा चउरो।
चलणा-णई-तडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥१३॥

यहां पावागिरि से लाट (गुजरात) के नरेशों तथा सुवर्णभद्रादि चार मुनियों द्वारा निर्वाण प्राप्त किये जाने का उल्लेख है। यह प्रदेश गुजरात से लगा हुआ है। उल्लिखित चलना या चेलना नदी संभवतः ऊन के समीप बहने वाली वह सरिता है जो अब चदेरी या चिरुड कहलाती है। नि. कां. की उपर्युक्त १३ वी गाथा से पूर्व ही

रेवा (नर्मदा) के उभयतट, उसके पश्चिम तट पर सिद्धवर कूट तथा बड़वानी नगर के दक्षिणमें चूलगिरि शिखर का सिद्ध क्षेत्र के रूप में उल्लेख हैं। इन्हीं स्थलों के समीपवर्ती होने से यह स्थान पावागिरि प्रमाणित होता है। ग्राम के आसपास और भी अनेक खंडहर दिखाई देते हैं। जनश्रुति है कि यहां वल्लाल नामक नरेश ने व्याधि से मुक्त होकर सौ मन्दिर बनवाने का संकल्प किया था, किन्तु अपने जीवन में वह ९९ ही बनवा पाया। इस प्रकार एक मन्दिर कम रह जाने से यह स्थान 'ऊन' नाम से प्रसिद्ध हुआ (इन्दौर स्टेट गजेटियर, भाग १ पृ० ६६६)। हो सकता है ऊन नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिये ही यह आख्यान गढ़ा हो। किन्तु यदि उसमें कुछ ऐतिहासिकता हो तो वल्लाल नरेश होयसल वंश के वीर-बल्लाल (द्वि०) हो सकते हैं जिनके गुरु एक जैन मुनि थे। (पृ० ४०)

मध्यप्रदेश के पश्चात् हमारा ध्यान राजपूताने के मंदिरों की ओर जाता है। अजमेर के समीप बड़ली ग्राम से एक स्तम्भ-खंड मिला है जिसे वहां के भैरोंजी के मंदिर का पुजारी तमाखू कूटने के काम में लाया करता था। यह षट्कोण स्तम्भ का खंड रहा है जिसके तीन पहलू इस पाषाण-खंड में सुरक्षित हैं, और उनपर १३ × १०½ इंच स्थान में एक लेख खुदा हुआ है। इसकी लिपि विद्वानों के मतानुसार अशोक की लिपियों से पूर्वकालीन है। भाषा प्राकृत है, और उपलब्ध लेख-खंड पर से इतना स्पष्ट पढ़ा जाता है कि वीर भगवान् के लिये, अथवा भगवान् के, ८४ वें वर्ष में मध्यमिका में कुछ निर्माण कराया गया। इस पर से अनुमान होता है कि महावीर-निर्वाण से ८४ वर्ष पश्चात् (ई० पू० ४४३) मे दक्षिण-पूर्व राजपूताने की उस अति-प्राचीन व इतिहास-प्रसिद्ध मध्यमिका नामक नगरी में कोई मंडप या चैत्यालय बनवाया गया था।

दुर्भाग्यतः इसके दीर्घकाल पश्चात् तक की कोई निर्मितियां हमें उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु साहित्य में प्राचीन जैन मन्दिरों आदि के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ, जैन हरिवंशपुराण की प्रशस्ति में इसके कर्ता जिनसेनाचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि शक संवत् ७०५ (ई० ७८३) में उन्होंने वर्धमानपुर के पार्श्वालय (पार्श्वनाथ के मंदिर) की अन्नराज-वसति में बैठकर हरिवंशपुराण की रचना की और उसका जो भाग शेष रहा उसे वहीं के शान्तिनाथ मन्दिर में बैठकर पूरा किया। उस समय उत्तर में इन्द्रायुध, दक्षिण में कृष्ण के पुत्र श्रीवल्लभ व पश्चिम में वत्सराज तथा सौरमंडल में वीरवराह नामक राजाओं का राज्य था। यह वर्धमानपुर सौराष्ट्र का वर्तमान वढ़वान माना जाता है। किन्तु मैंने अपने एक लेख में सिद्ध किया है कि

हरिवंशपुराण में उल्लिखित वर्धमानपुर मध्यप्रदेश के धार जिले में स्थित वर्तमान बदनावर है, जिससे १० मील दूरी पर स्थित वर्तमान दुतरिया नामक गांव प्राचीन दोस्तटिका होना चाहिये, जहां की प्रजा ने, जिनसेन के उल्लेखानुसार, उस शान्तिनाथ मंदिर में विशेष पूजा-अर्चा का उत्सव किया था। इस प्रकार वर्धमानपुर में आठवीं शती में पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ के दो जैन मंदिरों का होना सिद्ध होता है। शान्तिनाथ मंदिर ४०० वर्ष तक विद्यमान रहा। इसका प्रमाण हमें बदनावर से प्राप्त अच्छुप्ता-देवी की मूर्ति पर के लेख में पाया जाता है, क्योंकि उसमें कहा गया है कि सम्वत् १२२९ (ई० ११७२) की वैशाख कृष्ण सप्तमी को यह मूर्ति वर्धमानपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय में स्थापित की गई (जैन मि० भा० १२, २, पृ० ९ आदि, तथा जैन एन्टी-क्वेरी १७, २, पृ० ५६)। इसके पश्चात् वहां के उक्त मन्दिर कब ध्वस्त हुए, कहा नहीं जा सकता।

जोधपुर से पश्चिमोत्तर दिशा में ३२ मील पर ओसिया रेलवे स्टेशन के समीप ही ओसिया नामक ग्राम के बाह्य भाग में अनेक प्राचीन हिन्दू और जैन मंदिर हैं, जिनमें महावीर मंदिर अब भी एक तीर्थक्षेत्र माना जाता है। यह मंदिर एक घेरे के बीच में स्थित है। घेरे से सटे हुए अनेक कोष्ठ बने हैं। मंदिर बहुत सुन्दराकृति है। विशेषतः उसके मंडप के स्तम्भों की कारीगरी दर्शनीय है। इसकी शिखरादि-रचना नागर शैली की है। यहां एक शिलालेख भी है, जिसमें उल्लेख है कि ओसिया का महावीर मंदिर गुर्जर-प्रतीहार नरेश वत्सराज (नागभट द्वितीय के पिता ७७०-८०० ई०) के समय में विद्यमान था, तथा उसका महामंडप ई० सन् ९५६ में निर्माण कराया गया था। मंदिर में पीछे भी निर्माण-कार्य होता रहा है, किन्तु उसका मौलिक रूप नष्ट नहीं होने पाया। उसका कलात्मक सन्तुलन बना हुआ है, और ऐतिहासिक महत्व रखता है।

मारवाड़ में ही दो और स्थानों के जैन मन्दिर उल्लेखनीय हैं। फालना रेलवे स्टेशन के समीप सादड़ी नामक ग्राम में ११ वीं शती से १६ वीं शती तक के अनेक हिन्दू व जैन मन्दिर हैं। विशेष महत्वपूर्ण जैन मन्दिर वर्तमान जैन धर्मशाला के घेरे में स्थित हैं। शैली में ये मन्दिर पूर्वोक्त प्रकार के ही हैं, और शिखर नागर शैली के ही बने हुए हैं। मारवाड़-जोधपुर रेलवे लाइन पर मारवाड़-पल्ली स्टेशन के समीप नौलखा नामक वह जैन मन्दिर है जिसे अल्हणदेव ने सम्वत् १२१८ (ई० सन् ११६१) में बनवाया था। किन्तु इसमें जो तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं उनमें वि० सं० ११४४ से १२०१ तक के लेख पाये जाते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उक्त मन्दिर

रेवा (नर्मदा) के उभयतट, उसके पश्चिम तट पर सिद्धवर कूट तथा बड़वानी नगर के दक्षिणमें चूलगिरि शिखर का सिद्ध क्षेत्र के रूप में उल्लेख हैं। इन्हीं स्थलों के समीपवर्ती होने से यह स्थान पावागिरि प्रमाणित होता है। ग्राम के आसपास और भी अनेक खंडहर दिखाई देते हैं। जनश्रुति है कि यहां वल्लाल नामक नरेश ने व्याधि से मुक्त होकर सौ मन्दिर बनवाने का संकल्प किया था, किन्तु अपने जीवन में वह ९९ ही बनवा पाया। इस प्रकार एक मन्दिर कम रह जाने से यह स्थान 'ऊन' नाम से प्रसिद्ध हुआ (इन्दौर स्टेट गजैटियर, भाग १ पृ० ६६९)। हो सकता है ऊन नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिये ही यह आख्यान गढ़ा हो। किन्तु यदि उसमें कुछ ऐतिहासिकता हो तो वल्लाल नरेश होयसल वंश के वीर-बल्लाल (द्वि०) हो सकते हैं जिनके गुरु एक जैन मुनि थे। (पृ० ४०)

मध्यप्रदेश के पश्चात् हमारा ध्यान राजपूताने के मंदिरों की ओर जाता है। अजमेर के समीप बड़ली ग्राम से एक स्तम्भ-खंड मिला है जिसे वहां के भैरोंजी के मंदिर का पुजारी तमाखू कूटने के काम में लाया करता था। यह षट्कोण स्तम्भ का खंड रहा है जिसके तीन पहलू इस पाषाण-खंड में सुरक्षित हैं, और उनपर १३ × १०½ इंच स्थान में एक लेख खुदा हुआ है। इसकी लिपि विद्वानों के मतानुसार अशोक की लिपियों से पूर्वकालीन है। भाषा प्राकृत है, और उपलब्ध लेख-खंड पर से इतना स्पष्ट पढ़ा जाता है कि वीर भगवान् के लिये, अथवा भगवान् के, ८४ वें वर्ष में मध्यमिका में कुछ निर्माण कराया गया। इस पर से अनुमान होता है कि महावीर-निर्वाण से ८४ वर्ष पश्चात् (ई० पू० ४४३) में दक्षिण-पूर्व राजपूताने की उस अति-प्राचीन व इतिहास-प्रसिद्ध मध्यमिका नामक नगरी में कोई मंडप या चैत्यालय बनवाया गया था।

दुर्भाग्यतः इसके दीर्घकाल पश्चात् तक की कोई निर्मितियां हमें उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु साहित्य में प्राचीन जैन मन्दिरों आदि के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ, जैन हरिवंशपुराण की प्रशस्ति में इसके कर्ता जिनसेनाचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि शक संवत् ७०५ (ई० ७८३) में उन्होंने वर्धमानपुर के पार्श्वालय (पार्श्वनाथ के मंदिर) की अन्नराज-वसति में बैठकर हरिवंशपुराण की रचना की और उसका जो भाग शेष रहा उसे वहीं के शान्तिनाथ मन्दिर में बैठकर पूरा किया। उस समय उत्तर में इन्द्रायुध, दक्षिण में कृष्ण के पुत्र श्रीवल्लभ व पश्चिम में वत्सराज तथा सौरमंडल में वीरवराह नामक राजाओं का राज्य था। यह वर्धमानपुर सौराष्ट्र का वर्तमान वढ़वान माना जाता है। किन्तु मैंने अपने एक लेख में सिद्ध किया है कि

हरिवंशपुराण में उल्लिखित वर्धमानपुर मध्यप्रदेश के धार जिले में स्थित वर्तमान बदनावर है, जिससे १० मील दूरी पर स्थित वर्तमान दुतरिया नामक गांव प्राचीन दोस्तरिका होना चाहिये, जहां की प्रजा ने, जिनसेन के उल्लेखानुसार, उस शान्तिनाथ मंदिर में विशेष पूजा-अर्चा का उत्सव किया था। इस प्रकार वर्धमानपुर में आठवीं शती में पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ के दो जैन मंदिरों का होना सिद्ध होता है। शान्तिनाथ मंदिर ४०० वर्ष तक विद्यमान रहा। इसका प्रमाण हमें बदनावर से प्राप्त अच्छुप्ता-देवी की मूर्ति पर के लेख में पाया जाता है, क्योंकि उसमें कहा गया है कि सम्वत् १२२९ (ई० ११७२) की वैशाख कृष्ण सप्तमी को यह मूर्ति वर्धमानपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय में स्थापित की गई (जैन सि० भा० १२, २, पृ० ९ आदि, तथा जैन एन्टी-क्वेरी १७, २, पृ० ५९)। इसके पश्चात् वहां के उक्त मन्दिर कब ध्वस्त हुए, कहा नहीं जा सकता।

जोधपुर से पश्चिमोत्तर दिशा में ३२ मील पर ओसिया रेलवे स्टेशन के समीप ही ओसिया नामक ग्राम के बाह्य भाग में अनेक प्राचीन हिन्दू और जैन मंदिर हैं, जिनमें महावीर मंदिर अब भी एक तीर्थक्षेत्र माना जाता है। यह मंदिर एक घेरे के बीच में स्थित है। घेरे से सटे हुए अनेक कोष्ठ बने हैं। मंदिर बहुत सुन्दराकृति है। विशेषतः उसके मंडप के स्तम्भों की कारीगरी दर्शनीय है। इसकी शिखरादि-रचना नागर शैली की है। यहां एक शिलालेख भी है, जिसमें उल्लेख है कि ओसिया का महावीर मंदिर गुर्जर-प्रतीहार नरेश वत्सराज (नागभट द्वितीय के पिता ७७०-८०० ई०) के समय मे विद्यमान था, तथा उसका महामंडप ई० सन् ९२६ में निर्माण कराया गया था। मंदिर में पीछे भी निर्माण-कार्य होता रहा है, किन्तु उसका मौलिक रूप नष्ट नही होने पाया। उसका कलात्मक सन्तुलन बना हुआ है, और ऐतिहासिक महत्व रखता है।

मारवाड़ में ही दो और स्थानों के जैन मन्दिर उल्लेखनीय हैं। फालना रेलवे स्टेशन के समीप सादडी नामक ग्राम मे ११ वीं शती से १६ वीं शती तक के अनेक हिन्दू व जैन मन्दिर हैं। विशेष महत्वपूर्ण जैन मन्दिर वर्तमान जैन धर्मशाला के घेरे में स्थित हैं। शैली में ये मन्दिर पूर्वोक्त प्रकार के ही हैं, और शिखर नागर शैली के ही बने हुए हैं। मारवाड़-जोधपुर रेलवे लाइन पर मारवाड़-पल्ली स्टेशन के समीप नौलखा नामक वह जैन मन्दिर है जिसे अल्हणदेव ने सम्वत् १२१८ (ई० सन् ११६१) में बनवाया था। किन्तु इसमें जो तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं उनमें वि० सं० ११४४ से १२०१ तक के लेख पाये जाते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उक्त मन्दिर

से पूर्व भी यहां मन्दिर रहा है।

अब हम आबू के जैन मन्दिरों पर आते हैं, जहां न केवल जैन कला, किन्तु भारतीय वास्तुकला अपने सर्वोत्कृष्ट विकसित रूप में पाई जाती है। आबूरोड स्टेशन से कोई १८ मील, तथा आबू कॅम्प से सवा मील पर देलवाड़ा नामक स्थान है, जहां ये जैन मन्दिर पाये जाते है। ग्राम के समीप समुद्रतल से चार-पांच हजार फुट ऊंची पहाड़ी पर एक विशाल परकोटे के भीतर विमल-वसही, लूण-वसही, पित्तलहर, चौमुखा और महावीर स्वामी नामक पांच मन्दिर हैं। इन मन्दिरों की ओर जाने वाले पथ की दूसरी बाजू पर एक दिगम्बर जैनमन्दिर है। इन सब मन्दिरों में कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं प्रथम दो। विमलवसही के निर्माण-कर्ता विमलशाह पोरवाड़ वंशी, तथा चालुक्यवंशी नरेश भीमदेव प्रथम के मंत्री व सेनापति थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने अपना अपार धन व्यय करके, प्राचीन वृत्तान्तानुसार, स्वर्ण मुद्राएं बिछाकर वह भूमि प्राप्त की, और उसपर आदिनाथ तीर्थंकर का मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर पूरा का पूरा श्वेत संगमरमर पत्थर का बना हुआ है। जनश्रुति के अनुसार इस मन्दिर के निर्माण में १८ करोड़ ५३ लाख सुवर्ण मुद्राओं का व्यय हुआ। संगमरमर की बड़ी-बड़ी शिलाएं पहाड़ी के तल से हाथियों द्वारा उतनी ऊंची पहाड़ी पर पहुंचाई गई थीं। तथा आदिनाथ तीर्थंकर की सुवर्ण-मिश्रित पीतल की ४ फुट ३ इंच की विशाल पद्मासन मूर्ति ढलवाकर प्रतिष्ठित की। यह प्रतिष्ठा वि० सं० १०८८ (ई० १०३१) में मोहम्मद गोरी द्वारा सोमनाथ मन्दिर के विनाश से ठीक सात वर्ष पश्चात् हुई। यह मूर्ति प्रौढ दादा के नाम से विख्यात हुई पाई जाती है। इस मन्दिर को बीच-बीच में दो-तीन बार क्षति पहुंची जिसका पुनरुद्धार विमलशाह के वंशजों द्वारा वि० सं० १२०६ और १२४५ में व १३६८ में किया गया। इस मन्दिर की रचना निम्न प्रकार है :—

एक विशाल चतुष्कोण १२८ × ७५ फुट लम्बा-चौड़ा प्रांगण चारों ओर देवकुलों से घिरा हुआ है। इन देवकुलों की संख्या ५४ है, और प्रत्येक में एक प्रधान मूर्ति तथा उसके आश्रित अन्य प्रतिमाएं विराजमान हैं। इन देवकुलों के सम्मुख चारों ओर दोहरे स्तम्भों की मंडपाकार प्रदक्षिणा है। प्रत्येक देवकुल के सम्मुख ४ स्तम्भों की मंडपिका पा जाती है, और इस प्रकार कुल स्तम्भों की संख्या २३२ है। प्रांगण के ठीक मध्य में मुख्य मन्दिर है। पूर्व की ओर से प्रवेश करते हुए दर्शक को मन्दिर के नाना भाग इस प्रकार मिलते हैं:—

(१) हस्तिशाला-(२५ × ३० फुट) इसमें ६ स्तम्भ हैं, तथा हाथियों पर

आरूढ़ विमलशाह और उनके वंशजों की मूर्तियां हैं जिन्हें उनके एक वंशज पृथ्वीपाल ने ११५० ई० के लगभग निर्माण कराया था। (२) इसके आगे २५ फुट लम्बा-चौड़ा मुख-मंडप है। (३) और उससे आगे देवकुलों की पंक्ति व भमिति और प्रदक्षिणा-मंडप है, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। तत्पश्चात् मुख्य मन्दिर का रंगमंडप या सभा-मंडप मिलता है, जिसका गोल शिखर २४ स्तम्भों पर आधारित है। प्रत्येक स्तम्भ के अग्रभाग पर तिरछे शिलापट आरोपित हैं जो उस भव्य छत को धारण करते हैं। छत की पद्मशिला के मध्य मे बने हुए लोलक की कारीगरी अद्वितीय और कला के इतिहास मे विख्यात है। उत्तरोत्तर छोटे होते हुए चन्द्रमंडलों (ददरी) युक्त कंचुलक कारीगरी सहित १६ विद्याधरियों की आकृतिया अत्यन्त मनोज्ञ हैं। इस रंगमंडप की समस्त रचना व उत्कीर्णन के कौशल को देखते हुए दर्शक को ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे मानो वह किसी दिव्य लोक में आ पहुंचा हो। रंगशाला से आगे चलकर नवचौकी मिलती है, जिसका यह नाम उसकी छत के ६ विभागों के कारण पड़ा है। इससे आगे गूढ़मंडप है। वहा से मुख्य प्रतिमा का दर्शन-वंदन किया जाता है। इसके सम्मुख वह मूल गर्भगृह है, जिसमें ऋषभनाथ की धातु प्रतिमा विराजमान है।

इसी मन्दिर के सम्मुख लूण-वसही है जो उसके मूलनायक के नाम से नेमिनाथ मन्दिर भी कहलाता है, और जिसका निर्माण ढोलका के बघेलवंशी नरेश वीर धवल के दो मंत्री भ्राता तेजपाल और वस्तुपाल ने सन् १२३२ ई० मे कराया था। तेजपाल मंत्री के पुत्र लूणसिंह की स्मृति में बनवाये जाने के कारण मन्दिर का यह नाम प्रसिद्ध हुआ। इस मन्दिर का विन्यास व रचना भी प्रायः आदिनाथ मन्दिर के सदृश है। यहां भी उसी प्रकार का प्रांगण, देवकुल तथा स्तम्भ-मंडपों की पंक्ति विद्यमान है। विशेषता यह है कि इसकी हस्तिशाला उस प्रांगण के बाहर नही, किन्तु भीतर ही है। रंगमंडप,,नवचौकी, गूढ़मंडप और गर्भगृह की रचना पूर्वोक्त प्रकार की ही है। किन्तु यहां रंगमंडप के स्तम्भ कुछ अधिक ऊंचे हैं, और प्रत्येक स्तम्भ की बनावट व कारीगरी भिन्न है। मंडप की छत कुछ छोटी है, किन्तु उसकी रचना व उत्कीर्णन का सौन्दर्य वसही से किसी प्रकार कम नही है। इसके रचना-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए फर्गुसन साहब ने कहा है कि "यहां संगमरमर पत्थर पर जिस परिपूर्णता, जिस लालित्य व जिस सन्तुलित अलकरण की शैली से काम किया गया है, उसकी अन्य कही भी उपमा मिलना कठिन है।"

इन दोनों मंदिरों में संगमरमर की कारीगरी को देखकर बड़े बड़े कला-

चौमुखी मंदिर का विन्यास प्रायः उसी प्रकार का है, जैसा कि पहाड़पुर के महाविहार का पाया जाता है।

राजपूताने की एक और सुन्दर व कलापूर्ण निर्मिति है चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ। इसके निर्माता व निर्माण काल के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद रहा। किन्तु हाल में ही नांदगांव के दिगम्बर जैन मंदिर की धातुमयी प्रतिमा पर सं० १५४१ ई० (सन् १४८४) का एक लेख मिला है जिसके अनुसार मेदपाट देश के चित्रकूट नगर में इस कीर्तिस्तम्भ का निर्माण चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र के चैत्यालय के सम्मुख जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह ने करवाया था। इससे स्पष्ट है कि स्तम्भ की रचना १५ वीं शती में ई० सन् १४८४ से पूर्व ही हो चुकी थी। जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह बघेरवाल जाति के थे। और उन्होंने कारंजा (जिला अकोला-बरार) के मूलसंघ, सेनगण, पुष्करगच्छ के भट्टारक सोमसेन के उपदेश से इस स्तम्भ के अतिरिक्त १०८ शिखरबद्ध मंदिरों का उद्धार कराया, जिनबिंब बनवाये और प्रतिष्ठाएं कराई; अनेक श्रुतभंडारों की स्थापना कराई, और सवा लाख बंदी छुड़वाये, ऐसा भी उक्त लेख में उल्लेख है।

लेख से स्पष्ट है कि यह स्तम्भ एक जैन मंदिर के सम्मुख बनवाया गया था, जिससे वह मानस्तम्भ प्रतीत होता है। यह स्तम्भ लगभग ७६ फुट ऊंचा है, और उसका नीचे का व्यास ३१ फुट तथा ऊपर का १५ फुट है। इसमें सात तल्ले हैं, जिनके ऊपर गंधकुटी रूप छतरी बनी हुई है। यह छतरी एक बार विद्युत् से आहत होकर ध्वस्त हो गई थी, किन्तु उसे महाराणा फतहसिंह ने लगभग अस्सी हजार के व्यय से पुनः पूर्ववत् ही निर्माण करा दिया। इस शिखर की कुटी में अवश्य ही चतुर्मुखी तीर्थंकर मूर्ति रही होगी। स्तम्भ के समस्त तलों के चारों भागों पर आदिनाथ व अन्य तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियां विराजमान हैं, जिससे आदितः यह स्तम्भ आदि तीर्थंकर का ही स्मारक प्रतीत होता है। इस कीर्तिस्तम्भ की बाह्य निर्मिति अलंकृतियों से भरी हुई है।

चित्तौड़ के किले पर कुछ इसी प्रकार का एक दूसरा कीर्ति-स्तम्भ भी है जिसमें ९ तल हैं, और जो हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत है। यह पूर्वोक्त स्तम्भ से बहुत पीछे उसी के अनुकरण रूप महाराणा कुम्भ का बनवाया हुआ है।

जैन तीर्थों में सौराष्ट्र प्रदेश के शत्रुंजय (पालीताणा) पर्वत पर जितने जैन मंदिर हैं, उतने अन्यत्र कहीं नहीं। शत्रुंजय माहात्म्य के अनुसार यहां प्रथम तीर्थंकर के काल से ही जैन मंदिरों का निर्माण होता पाया है। वर्तमान में यहां पाये जाने वाले मंदिरों में सबसे प्राचीन उन्हीं विमलशाह (११ वीं शती) का है जिन्होंने आबू पर विमलवसही बनवाया है; और दूसरा राजा कुमारपाल (१२वीं शती) का बनवाया हुआ है।

विशालता व कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से विमलवसही टूंक का ग्रादिनाथ मंदिर सबसे महत्वपूर्ण है। यह मंदिर सन् १५३० में बना है; किन्तु इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि उससे पूर्व वहां ई० सन् ९६० का बना हुआ एक मंदिर था। यहां की १० वीं शती की निर्मित पुण्डरीक की प्रतिमा सौन्दर्य में अतिश्रेष्ठ मानी गयी है। चौथा उल्लेखनीय चतुर्मुख मंदिर है जो सन् १६१८ का बना हुआ है। इसकी चारों दिशाओं में चार प्रवेश-द्वार हैं। पूर्वद्वार रंगमंडप के सम्मुख है, तथा तीन अन्य द्वारों के सम्मुख भी मुख-मंडप बने हुए है। ये सभी मंडप दुतल्ले हैं और ऊपर के तल में मुखमंडपिकाओं से युक्त वातायन भी हैं। उपर्युक्त व अन्य मंदिर, गर्भगृह, मंडपों व देवकुलिकाओं की रचना, शिल्प व सौन्दर्य में देलवाड़ा के विमलवसही व लूणवसही का ही हीनाधिक मात्रा में अनुकरण करते हैं।

सौराष्ट्र का दूसरा महान् तीर्थक्षेत्र है गिरनार। इस पर्वत का प्राचीन नाम ऊर्जयन्त व रैवतक गिरि पाया जाता है, जिसके नीचे बसे हुए नगर का नाम गिरिनगर रहा होगा, जिसके नाम से अब स्वयं पर्वत ही गिरिनार (गिरिनगर) कहलाने लगा न। जूनागढ़ से इस पर्वत की ओर जाने वाले मार्ग पर ही वह इतिहास-प्रसिद्ध विशाल शिला मिलती है जिसपर अशोक, रुद्रदामन् और स्कंदगुप्त सम्राटों के शिलालेख खुदे हुए है, और इस प्रकार जिस पर लगभग १००० वर्ष का इतिहास लिखा हुआ है। जूनागढ़ के समीप ही बावाप्यारा मठ के पास वह जैन गुफा है, जो पूर्वोक्त प्रकार से पहली-दूसरी शती की धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा प्रतीत होती है। इस प्रकार यह स्थान ऐतिहासिक व धार्मिक दोनों दृष्टियों से अतिप्राचीन व महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। गिरि-नगर पर्वत का जैनधर्म से इतिहासातीत काल से सम्बन्ध इसलिये पाया जाता है, क्योंकि यहा पर ही २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ ने तपस्या की थी और निर्वाण प्राप्त किया था। इस तीर्थ का सर्वप्राचीन उल्लेख समन्तभद्रकृत बृहत्स्वयंभूस्तोत्र (५वी शती) में मिलता है जहां नेमिनाथ की स्तुति में कहा गया है कि—

ककुदं भुवः खचर-योषिदुषित-शिखरैरलंकृतः
मेघ-पटल-परिवीत-तटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा।
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च
प्रीति-वितत-हृदयैः परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥१२८॥

इस स्तुति के अनुसार समन्तभद्र के समय में ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर नेमिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति या चरणचिन्ह प्रतिष्ठित थे, शिखर पर विद्याधरी अंबिका की मूर्ति भी विराजमान थी, और ऋषिमुनि वहां की निरन्तर तीर्थ-यात्रा किया करते थे।

वर्तमान में यहां का सबसे प्रसिद्ध, विशाल व सुन्दर मंदिर नेमिनाथ का है। रैवतक गिरि-कल्प के अनुसार इसका निर्माण चालुक्य नरेश जयसिंह के दंडाधिप सज्जन ने खंगार राज्य पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् सम्वत् ११८५ में बनवाया था। इसके शिखर पर सुवर्ण का आमलक मालव देश के भूलमंडन भावड़ ने और पद्या (सोपान-पथ) का निर्माण कुमारपाल नरेन्द्र द्वारा नियुक्त सौराष्ट्र के दंडाधिप किसी श्रीमाल कुल के व्यक्ति ने सम्वत् १२२० में कराया था। मंदिर के मूलनायक की प्रतिमा आदितः लेपमय थी, और उसका लेप कालानुसार गलित हो गया था, तब काश्मीर से तीर्थयात्रा पर आये हुए अजित और रतन नामक दो भाइयों ने उसके स्थान पर दूसरी प्रतिमा स्थापित की। मंदिर के प्रांगण में कोई सत्तर देवकुलिकाएं हैं। इनके बीच मंदिर बना हुआ है जिसका मंडप बड़ी सुन्दरता से अलंकृत है। मुख्य मंदिर के विमान के विशाल शिखर के आसपास अनेक छोटे-छोटे शिखरों का पुंज है, जिससे उसका दृश्य बहुत भव्य दिखाई देता है। इस काल की जैन वास्तु-कला का यह एक वैशिष्ट्य है। यहां का दूसरा उल्लेखनीय मंदिर है वस्तुपाल द्वारा निर्मापित मल्लिनाथ तीर्थंकर का। इस मंदिर का विन्यास एक विशिष्ट प्रकार का है। रंगमंडप के प्रवेश-द्वार की दिशा को छोड़कर शेष तीन दिशाओं में उससे सटे हुए तीन मंदिर हैं। मध्य का मंदिर मूलनायक मल्लिनाथ का है। आजू-बाजू के दोनों मंदिर रचना में स्तम्भयुक्त मण्डपों के सदृश हैं और उनमें ठोस पाषाण की बड़ी कारीगरी दिखाई देती है। उत्तर दिशा का मंदिर चौकोर अधिष्ठान पर मेरु की रचना से युक्त है, तथा दक्षिण दिशा का मंदिर सम्मेदशिखर की प्रतिकृति है।

यह प्राचीन और शैली व कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपलब्ध जैन मंदिरों का अति संक्षिप्त और स्फुट परिचय मात्र है। यथार्थतः तो समस्त देश हिमालय से दक्षिणी समुद्र तक व सौराष्ट्र से बंगाल तक जैन मंदिरों व उनके भग्नावशेषों से भरा विपद हुआ है। जहां अब जैन मंदिर नहीं हैं, या उनके खंडहर मात्र अवशिष्ट हैं, वहां के विषय में जेम्स फर्गुसन साहब का अभिमत ध्यान देने योग्य है। उनका कथन है "गंगाप्रदेश अथवा जहां भी मुसलमान संख्या में बसे वहां प्राचीन जैन मंदिरों के पाने की आशा करना व्यर्थ है। उन लोगों ने अपने धर्म के जोश में मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है, तथा जिन सुन्दर स्तम्भों, तोरणों आदि को नष्ट नहीं किया, उनका बड़े चाव से अपनी मस्जिदों आदि के निर्माण में उपयोग कर लिया। अजमेर, दिल्ली, कन्नौज, धार व अहमदाबाद की विशाल मस्जिदें यथार्थतः जैन-मंदिरों की ही परिवर्तित निर्मितियां हैं।"

फर्गुसन साहब ने यह भी समझाया है कि किस प्रकार से जैन मंदिर मस्जिदों

में विपरिवर्तित किये गये हैं। "आबू के विमलवसही की रचना की ओर ध्यान दीजिये जहां एक विशाल प्रांगण के चारों ओर भमिति और मध्य में मुख्य मंदिर व मंडप है। यह प्राचीन जैन मंदिरों की साधारण रचना थी। इस मध्य के मंदिर और मंडप को नष्ट करके तथा देवकुलिकाओं के द्वार बंद कर के एक ऐसा खुला प्रांगण अपने चारों ओर स्तम्भों की दोहरी पंक्ति सहित मिल जाता है, जो मस्जिद का विशेष आकार है। इसमें मस्जिद का एक वैशिष्ट्य शेष रह जाता है, और वह है मक्का (पश्चिम) की ओर उसका प्रमुख द्वार। इस वैशिष्ट्य को इस दिशा के छोटे स्तम्भों को हटाकर उनके स्थान पर मध्य मंडप से सुविशाल स्तम्भों को स्थापित करके प्राप्त किया गया है। यदि मूल मे दो मंडप रहे, तो दोनों को उस दरवाजे के दोनों ओर पुनर्निर्मित कर दिया गया। इस प्रकार विना एक भी नये स्तम्भ के एक ऐसी मस्जिद तैयार हो जाती थी, जो सुविधा और सौन्दर्य की दृष्टि से उनके लिये अपूर्व थी। इस प्रकार के रचना-परिवर्तन के उदाहरण अजमेर का अढाई दिन का झोपड़ा, दिल्ली की कुतुबमीनार के समीप की मस्जिद, एवं कन्नौज, मांडू (धार राज्य), अहमदावाद आदि की मस्जिदें आज भी विद्यमान हैं, और वे मुसलमान काल से पूर्व की जैन वास्तु-कला के अध्ययन से लिये वड़े उपयुक्त साधन हैं।"(हिस्ट्री औफ इंडिया एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर,पृ २६३-६४)

यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या देश के बाहर भी जैन मंदिरों का निर्माण हुआ ? अन्यत्र कहा जा चुका है कि महावंश के अनुसार लंका में बौद्ध धर्म के प्रवेश से बहुत पूर्व ही वहा निर्ग्रन्थ मुनि पहुंच चुके थे, और उनके लिये अनुराधपुर में पांडुकाभय नरेश ने ई० पू० ३६० के लगभग निवास स्थान व देवकुल (मंदिर) निर्माण कराये थे। जावा के ब्रम्बनम् नामक स्थान का एक मंदिर-समूह, फर्गुसन साहब के मतानुसार, मूलतः जैन रहा है। न केवल उसकी मध्यवर्ती मंदिर व भमिति की सैंकड़ों देवकुलिकाएं जैन मंदिरों की सुविख्यात शैली का अनुसरण करती हैं, किन्तु उनमें प्रतिष्ठित जिन ध्यानस्थ पद्मासन मूर्तियों को सामान्यतः बौद्ध कहा जाता है, वे सव जिन मूर्तियां ही प्रतीत होती हैं। इतिहास मे भले ही इस वात के प्रमाण न मिलें कि जैन धर्म कब जावा द्वीप में पहुंचा होगा, किन्तु यह उदाहरण इस बात का तो प्रमाण अवश्य है कि जैन मंदिरों की वास्तुकला ने दसवीं शती से पूर्व जावा में प्रवेश कर लिया था।

अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां
घनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम्।
इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां
जिनवर-निलयानां भावतोऽहं स्मरामि ॥"

जैन मूर्तिकला

अतिप्राचीन जैन मूर्तियां—

जैनधर्म में मूर्तिपूजा सम्बन्धी उल्लेख प्राचीनतम काल से पाये जाते हैं। जैनागमों में जैन तीर्थंकरों व यक्षों की मूर्तियों संबंधी उल्लेखों के अतिरिक्त कलिंग नरेश खारवेल के ई० पू० द्वितीय शती के हाथीगुम्फा वाले शिलालेख से प्रमाणित है कि नंदवंश के राज्यकाल अर्थात् ई० पू० चौथी-पांचवी शती में जिन-मूर्तियां प्रतिष्ठित की जाती थीं। ऐसी ही एक जिनमूर्ति को नंदराज कलिंग से अपहरण कर ले गये थे, और उसे खारवेल कोई दो-तीन शती पश्चात् वापिस लाये थे। कुषाण काल की तो अनेक जिन-मूर्तियां मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुई हैं, जो मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। एक प्राचीन मस्तकहीन जिन-प्रतिमा पटना संग्रहालय में सुरक्षित है, जो लोहानीपुर से प्राप्त हुई थी। इस मूर्ति पर चमकदार पालिश होने से उसके मौर्यकालीन होने का अनुमान किया जाता है। इनसे प्राचीन मूर्तियां भारतवर्ष में कहीं प्राप्त नहीं होती थी, किन्तु सिंधुघाटी की खुदाई में मोहेनजोदड़ो व हड़प्पा से जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, उनने भारतीय मूर्तिकला का इतिहास ही बदल गया है, और उसकी परंपरा उक्त काल से सहस्त्रों वर्ष पूर्व की प्रमाणित हो चुकी है। सिन्धघाटी की मुद्राओं पर प्राप्त लेखों की लिपि अभी तक अज्ञात होने के कारण वहां की संस्कृति के सम्बन्ध में अभी तक निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तथापि जहां तक मूर्ति-निर्माण, आकृति व भावाभिव्यंजन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, उस पर से उक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन नग्न मूर्ति व हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति में बड़ा साम्य पाया जाता है, और पूर्वोत्तर परम्परा के आधार से हड़प्पा की मूर्ति वैदिक व बौद्ध मूर्तिप्रणाली से सर्वथा विसदृश व जैन-प्रणाली के पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती है। ऋग्वेद में शिश्न देवों अर्थात् नग्न देवों के जो उल्लेख हैं, उनमें इन देवों अथवा उनके अनुयायियों को यज्ञ से दूर रखने व उनका घात करने की इन्द्र से प्रार्थना की गई है। (ऋग्वेद ७, २१, ५ व १०, ९९, ३)। जिस प्रकार यह मूर्ति खड्गासन की दृष्टि से समता रखती है, उसी प्रकार अनेक मुद्राओं पर की ध्यानस्थ व मस्तिष्क पर त्रिशृंगमुकुट मूर्ति जैन पद्मासन मूर्ति से तुलनीय है। एक मुद्रा में इस मूर्ति के आसपास हाथी, बैल, सिंह व मृग आदि वनचर जीव दिखाये गये हैं, जिन पर से उसके पशुपति-

नाथ की पूर्वगामी मूर्ति होने की कल्पना की जाती है। जो हो, इस मूर्ति में हमें जैन, बौद्ध व शैव ध्यानस्थ मूर्तियों का पूर्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। यथार्थतः तो इस प्रकार के आसन से ध्यान का संबंध जितना श्रमण परम्परा से है, उतना वैदिक परम्परा से नहीं; और श्रमण-परम्परा की जितनी प्राचीनता जैन धर्म में पाई जाती है, उतनी बौद्ध धर्म में नही। मूर्ति के सिर पर स्थापित त्रिशूल उस त्रिशूल से तुलनीय है जो अति-प्राचीन जैन-तीर्थंकर मूर्तियों के हस्त व चरण तलों पर पाया जाता है, जिसपर धर्म-चक्र स्थापित देखा जाता है, और विशेषतः जो रानी-गुम्फा के एक तोरण के ऊपर चित्रित है। इस विषय में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पश्चिम भारत से जैन-धर्म का अतिप्राचीन संबंध पाया जाता है। एवं जिस असुर जाति से संवद्ध सिन्धघाटी की सभ्यता अनुमानित की जाती है, उन असुरो, नागों और यक्षों द्वारा जैनधर्म व मुनियों की नाना संकटों की अवस्था मे रक्षा किये जाने के उल्लेख पाये जाते हैं।

कुषाण कालीन जैन मूर्तियां—

इतिहास-कालीन जैन मूर्तियों के अध्ययन की प्रचुर सामग्री हमें मथुरा के संग्रहालय में एकत्रित उन ४७ मूर्तियों में प्राप्त होती है, जिनका व्यवस्थित परिचय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वहां की सूची के तृतीय भाग में कराया है। इनमें से अनेक मूर्तियों के आसनों पर लेख भी खुदे मिले हैं, जिनसे उनका काल-विभाजन भी सुलभ हो जाता है। कुषाण-कालीन मूर्तियो पर पांचवें से लेकर ९० वें वर्ष तक का उल्लेख है। अनेक लेखों में ये वर्ष शक सम्वत् के अनुमान किये जाते हैं। कुछ लेखों में कुषाणवंशी कनिष्क, हुविष्क व वासुदेव राजाओं का उल्लेख भी हुआ है। तीर्थंकरों की समस्त मूर्तिया दो प्रकार की पाई जाती है—एक खड़ी हुई, जिसे कायोत्सर्ग या खड्गासन कहते हैं, और दूसरी बैठी हुई पद्मासन। समस्त मूर्तियां नग्न व नासाग्र-दृष्टि, ध्यानमुद्रा में ही हैं। नाना तीर्थंकरों मे भेद सूचित करने वाले वे बैल आदि चिन्ह इन पर नहीं पाये जाते, जो परवर्ती काल की प्रतिमाओं में। अधिकांश मूर्तियों के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह पाया जाता है, तथा हस्ततल व चरणतल एवं सिंहासन पर धर्मचक्र, उष्णीष तथा ऊर्णा (भौहों के बीच रोमगुच्छ) के चिन्ह भी बहुत सी मूर्तियों में पाये जाते हैं। अन्य परिकरों में प्रभावल (भामण्डल), दोनों पार्श्वों में चमरवाहक तथा सिंहासन के दोनों ओर सिंह भी उत्कीर्ण रहते हैं। कभी-कभी ये सिंह आसन को धारण किये हुए दिखाये गये हैं। कुछ मूर्तियों का सिंहासन उठे हुए पद्म (उत्थित पद्मासन) के रूप में दिखाया गया है। कुछ में तीर्थंकर की मूर्ति पर छत्र

भी अंकित है, और एक के सिंहासन पर बालक को गोद में बैठाये भद्रासन अम्बिका की प्रतिमा भी है। ये उस काल की जिन-मूर्तियों के सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं। केवल दो तीर्थंकरों की मूर्तियां अपने किसी विशेष लक्षण से युक्त पाई जाती हैं; ये हैं आदिनाथ, जिनका केशकलाप पीछे की ओर कंधों से नीचे तक बिखरा हुआ दिखाया गया है; और पार्श्वनाथ, जिनके सिर पर सप्तफणी नाग छाया किये हुए है। आदिनाथ के तपस्याकाल में उनकी लम्बी जटाओं का उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है। उदाहरणार्थ रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण (६७६ ई०) में कहा गया है—

वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः।
धूमालय इव ध्यान-वन्हिसक्त कर्मणः॥ (प० पु० ३,२८८)

तथा—

स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहृतांशुमान्॥ (वही ४, ५)

उसी प्रकार पार्श्वनाथ तीर्थंकर के नागफण-रूपी छत्र का भी एक इतिहास है, जिसका सुन्दर संक्षिप्त वर्णन समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र में इस प्रकार मिलता है—

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनि-वायुवृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः॥ १३१ ॥
बृहत्फणामण्डल-मण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिंगरुचोपसर्गिणाम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्या तडिदम्बुदो यथा॥ १३२ ॥

जिस समय पार्श्वनाथ अपनी तपस्या में निश्चल भाव से ध्यानारूढ़ थे तब उनका पूर्वजन्म का बैरी कमठासुर नाना प्रकार के उपद्रवों द्वारा उनको ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न करने लगा। उसने प्रचण्ड वायु चलाई, घनघोर वृष्टि की, मेघों से वज्रपात कराया; तथापि भगवान् ध्यान से विचलित नहीं हुए। उनकी ऐसी तपस्या से प्रभावित होकर धरणेन्द्र नाग ने आकर अपने विशाल फणा-मण्डल को उनके ऊपर तान कर, उनकी उपद्रव से रक्षा की। इसी घटना का प्रतीक हम पार्श्वनाथ के नाग-फणा चिन्ह में पाते हैं।

कुछ मूर्तियों का परिचय—

(१) महाराज वासुदेवकालीन सम्वत्सर ८४ की आदिनाथ की मूर्ति (बी ४)—मूर्ति ध्यानस्थ पद्मासीन है। यद्यपि मस्तक और बाहु खंडित हैं, तथापि गरोंचा हुआ किनारीदार प्रभावल बहुत कुछ सुरक्षित है। वक्षस्थल पर श्रीवत्स एवं हाथों और

चरणों के तलों पर चक्रचिन्ह् विद्यमान हैं। आसन पर एक स्तंभ के ऊपर धर्मचक्र है। उसकी १० स्त्री-पुरुष पूजा कर रहे हैं, जिनमें से दो धर्मचक्रस्तम्भ के समीप घुटना टेके हुए हैं, और शेष खड़े हैं। कुछ के हाथों में पुष्प हैं, और कुछ हाथ जोड़े हुए हैं। सभी की मुखमुद्रा वंदना के भाव को लिए हुए है। इस मूर्ति को लेख में स्पष्टतः भगवान् अर्हन्त ऋषभ की प्रतिमा कहा है।

(२) पार्श्वनाथ की एक सुन्दर मूर्ति (बी ६२) का सिर और उसपर नागफरणा मात्र सुरक्षित मिला है। फणों के ऊपर स्वस्तिक, रत्नपात्र, त्रिरत्न, पूर्णघट और मीन-युगल, इन मंगल-द्रव्यों के चिन्ह् बने हुये हैं। सिर पर घुंघराले बाल हैं। कान कुछ लम्बे, आंखों की भौंहें ऊर्णा से जुडी हुई व कपोल भरे हुए हैं।

(३) पाषाण-स्तंभ (बी ६८) ३ फुट ३ इंच ऊंचा है, और उसके चारो ओर चार नग्न जिन-मूर्तियां हैं। श्रीवत्स सभी के वक्षस्थल पर है, और तीन मूर्तियों के साथ भामण्डल भी है, व उनमे से एक के सिर की जटाएं कंधों पर बिखरी हुई हैं। चतुर्थ मूर्ति के सिर पर सप्तफणी नाग की छाया है। इनमें से अंतिम दो स्पष्टतः आदिनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्तियां हैं।

(४) इतिहास की दृष्टि से एक स्तम्भ का पीठ उल्लेखनीय है। इसके ऊपर का भाग जिसमें चारों ओर जिनप्रतिमायें रही हैं, टूट गया है; किन्तु उनके चरणों के चिन्ह् बचे हुए हैं। इस पीठ के एक भाग पर धर्मचक्र खुदा हुआ है, जिसकी दो पुरुष व दो स्त्रियां पूजा कर रहे हैं; तथा दो बालक हाथों में पुष्पमालाएं लिए खड़े हैं। इस पाषाण पर लेख भी खुदा है, जिसके अनुसार यह अभिसार-निवासी भट्टिदाम का आर्य ऋषिदास के उपदेश से किया हुआ दान है। डा० अग्रवाल का मत है कि यह उक्त धार्मिक पुरुष उसी अभिसार प्रदेश का निवासी रहा होगा जिसका यूनानी लेखकों ने भी उल्लेख किया है, और जो वर्तमान पेशावर विभाग के पश्चिमोत्तर का हजारा जिला सिद्ध होता है। उसने मथुरा में आकर जैनधर्म स्वीकार किया होगा। किन्तु इससे अधिक उचित यह प्रतीतहोता है कि हजारा निवासी वह व्यक्ति पहले से जैनधर्मा-वलम्बी रहा होगा और मथुरा के स्तूपों और मंदिरों की तीर्थयात्रा के लिए आया होगा, तभी उसने वह सर्वतोभद्र प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई। प्रथम शती मे पश्चिमोत्तर प्रदेश में जैनधर्म का अस्तित्व असम्भव नहीं है।

(५) एक और ध्यान देने योग्य प्रतिमा (२५०२) है, तीर्थंकर नेमिनाथ की। इसके दाहिनी ओर चार भुजाओं व सप्त फणों युक्त नागराज की प्रतिमा है, जिसके ऊपर के बाएं हाथ में हल का चिन्ह् होने से वह बलराम की मानी गई है। बांयी ओर

चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति है, जिनके ऊपर के दाहिने हाथ में गदा व बाएं हाथ में चक्र है। तीर्थंकर की मूर्ति के ऊपर वेतस-पत्रों का खुदाव है। समवायांग सूत्र के अनुसार वेतस नेमिनाथ का बोधिवृक्ष है। हिन्दू पुराणानुसार बलराम शेषनाग के अवतार माने गये हैं। इस प्रकार की, ऐसे ही बलराम और वासुदेव की प्रतिमाओं से अंकित, और भी अनेक मूर्तियां पाई गई हैं, (जैन एन्टी० भाग २, पृष्ठ ६१)। ऐसी ही एक और प्रतिमा (२४८८) है, जिसमें तीर्थंकर के दाहिनी ओर फणायुक्त नाग हाथ जोड़े खड़ा है। यह भी बलराम उपासक सहित नेमिनाथ की मूर्ति मानी गई है। नेमिनाथ की मूर्ति के साथ वासुदेव और बलभद्र के सम्बद्ध होने का उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र में किया है। नेमिनाथ की स्तुति करते हुए वे कहते हैं :—

द्युतिमद्-रथांग-रविबिम्बकिरण-जटिलांशुमंडलः।
नील-जलजदलराशि-वपुःसहबन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः॥
हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ।
धर्मविनय-रसिकौ सुतरां चरणारविन्द-युगलं प्रणेमतुः॥ १२६ ॥

अर्थात् चक्रधारी गरुडकेतु (वासुदेव) और हलधर, ये दोनों भ्राता प्रसन्नचित्त होकर विनय से आपकी वन्दना करते हैं।

गुप्तकालीन जैन मूर्तियां—

कुषाणकाल के पश्चात् अब हम गुप्तकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं की ओर ध्यान दें। यह युग ईसा की चौथी शती से प्रारम्भ होता है। इस युग की ३७ प्रतिमाओं का परिचय उक्त मथुरा संग्रहालय की सूची में कराया गया है। उस पर से इस युग की निम्न विशेषतायें ज्ञात होती हैं। तीर्थंकर मूर्तियों के सामान्य लक्षण तो वे ही पाये जाते हैं जो कुषाणकाल में विकसित हो चुके थे, किन्तु उनके परिकरों में अब कुछ वैशिष्ट्य दिखाई देता है। प्रतिमाओं का उष्णीष कुछ अधिक सौन्दर्य व घुंघरालेपन को लिये हुए पाया जाता है। प्रभावल में विशेष सजावट दिखाई देती है (बी १, बी ६, आदि)। धर्मचक्र व उसके उपासकों का चित्रण पूर्ववत् होते हुए कहीं कहीं उसके पार्श्वों में मृग भी उत्कीर्ण दिखाई देते हैं। बौद्ध मूर्तियों में इस प्रकार मृगों का चित्रण बुद्ध भगवान् के सारनाथ के मृगदाव में प्रथम बार धर्मोपदेश का प्रतीक माना गया है। सम्भव है यहां भी उसी अलंकरण शैली ने स्थान पा लिया हो। आगे चलकर हम मृग को शान्तिनाथ भगवान् का विशेष चिन्ह स्वीकृत पाते हैं। इस प्रकार की एक प्रतिमा (बी ७५) के सिंहासन पर एक पार्श्व में अपनी पैनी सहित धनपति कुबेर और दूसरे

पार्श्व में अपनी बांई जंघा पर बालक को बैठाये हुए मातृदेवी (अम्बिका) की प्रतिमा दिखाई देती है। इनके ऊपर दोनों ओर चार-चार कमलासीन प्रतिमाएं दिखाई गई हैं, जो सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, और राहु, इन आठ ग्रहों की प्रतीक मानी गई हैं। इस अलंकरण के आधार पर यह प्रतिमा गुप्त-युग से मध्य-युग के संधि-काल की मानी गई है, क्योंकि यह प्रतिमाशैली उस काल में अधिक विकसित हुई थी (बी ६५, ६६)। नवग्रह और अष्ट-प्रातिहार्य युक्त एक जिन-प्रतिमा मध्यप्रदेश में जबलपुर के समीप सलीमानाबाद से भी एक वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई थी, जो वहां की जनता द्वारा खैरामाई के नाम से पूजी जाती है (देखो-खंडहरों का वैभव, पृ-१८०)। इसी प्रकार की संधिकालीन वह एक प्रतिमा (१३८८) है जिसके सिंहासन पर पार्श्वस्थ सिंहों के बीच मीन-युगल दिखलाया गया है जिनके मुख खुले हुए हैं, और उनसे सूत्र लटक रहा है। आगे चलकर मीन अरनाथ तीर्थंकर का चिन्ह पाया जाता है। आदिनाथ की प्रतिमा अभी तक उन्ही कन्धों पर बिखरे हुए केशों सहित दिखाई देती है। उसका वृषभ, तथा अन्य तीर्थंकरों के अलग-अलग चिन्ह यहां तक अधिक प्रचार में आये नहीं पाये जाते; तथापि उनका उपयोग प्रारम्भ हुआ प्रमाणित होता है। इस संबंध में राजगिर के वैभार पर्वत की नेमिनाथ की वह मूर्ति ध्यान देने योग्य है जिसके सिंहासन के मध्य में धर्मचक्र की पीठ पर धारण किये हुए एक पुरुष और उसके दोनों पार्श्वों में शंखों की आकृतियां पाई जाती हैं। इस मूर्ति पर के खंडित लेख में चन्द्रगुप्त का नाम पाया जाता है, जो लिपि के आधार पर गुप्तवंशी नरेश चन्द्रगुप्त-द्वितीय का वाची अनुमान किया जाता है। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के काल में गुप्त सं० १०६ की बनी हुई विदिशा के समीप की उदयगिरि की गुफा में उत्कीर्ण वह पार्श्वनाथ की मूर्ति भी इस काल की मूर्तिकला के लिए ध्यान देने योग्य है। दुर्भाग्यतः मूर्ति खंडित हो चुकी है, तथापि उसके ऊपर का नागफण अपने भयंकर दांतों से बड़ा प्रभावशाली और अपने देव की रक्षा के लिये तत्पर दिखाई देता है। उत्तरप्रदेश के कहाऊं नामक स्थान से प्राप्त गुप्त सं० १४१ के लेख सहित वह स्तम्भ भी यहां उल्लेखनीय है जिसमें पार्श्वनाथ की तथा अन्य चार तीर्थंकरों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। इसी काल की अनेक जैन प्रतिमायें ग्वालियर के पास के किले, बेसनगर, बूढ़ी चंदेरी व देवगढ़ आदि अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं। देवगढ़ की कुछ मूर्तियों का वहां के मंदिरों के साथ उल्लेख किया जा चुका है। यहां की मूर्तियों में गुप्त व गुप्तोत्तर कालीन जैन मूर्तिकला के अध्ययन की प्रचुर सामग्री विद्यमान है। दो-चार मूर्तियों की बनावट की ओर ध्यान देने से यहां की शैलियों की विविधता स्पष्ट की जा सकती है। वहां के १२ वें मंदिर

के मंडप में आसनस्थ जिनप्रतिमा को देखिये, जिसका मस्तक विशाल, अधर स्थूल व खूब गटे हुए तथा भृकुटियां कुछ अधिक ऊपर को उठी हुई दिखाई देती हैं। यहां ध्यान व एकाग्रता का भाव खूब पुष्ट है; किन्तु लावण्य एवं परिकरात्मक साज-सज्जा का अभाव है। उसी मंदिर के गर्भगृह में शान्तिनाथ की विशाल खड्गासन प्रतिमा की ओर ध्यान दीजिये, जो अपने कलात्मक गुणों के कारण विशेष गौरवशाली है। भामण्डल की सजावट तथा पार्श्वस्थ द्वारपालों का लावण्य व भावभंगिमा गुप्तकाल की कला के अनुकूल हैं; फिरभी परिकरों के साथ मूर्ति का तादात्म्य नहीं हो पाया। दर्शक के ध्यान का केन्द्र प्रधान मूर्ति ही है, जो अपने गाम्भीर्य व विरक्तिभाव युक्त कठोर मुद्रा द्वारा दर्शक के मन में भयमिश्रित पूज्यभाव उत्पन्न करती है। उक्त दोनों मूर्तियों से सर्वथा भिन्न शैली की वह पद्मासन प्रतिमा है जो १५ वें मंदिर के गर्भगृह में विराजमान है। इस मूर्ति में लावण्य, प्रसाद, अनुकम्पा आदि सद्गुण उतने ही सुस्पष्ट है, जितने ध्यान और विरक्ति के भाव। ज्ञान, ध्यान और लोक-कल्याण की भावना इस मूर्ति के अंग-अंग से फूट फूट कर निकल रही है। परिकरों की सजावट भी अनुकूल ही है। प्रभावल खूब अलंकृत है। दोनों पार्श्वों के द्वारपाल, ऊपर छत्र-त्रय व गज-लक्ष्मी आदि की आकृतियां भी सुंदर और आकर्षक हैं। ये गुण २१ वें मंदिर के दक्षिण-पक्ष के देवकुल में स्थित प्रतिमा मे और भी अधिक विकसित दिखाई देते हैं। यहां चारों ओर की आकृतियां व अलंकरण इतने समृद्ध हुए हैं कि दर्शक को उनका आकर्षण मुख्य प्रतिमा से कम नहीं रहता। इस कारण मुख्य प्रतिमा समस्त दृश्य का एक अंगमात्र बन गई है। यह अलंकरण की समृद्धि मध्यकाल की विशेषता है।

तीर्थंकर मूर्तियों के चिन्ह—

प्रतिमाओं पर पृथक्-पृथक् चिन्हों का प्रदर्शन मध्य युग में (८वीं शती ई० में) धीरे-धीरे प्रचार में आया पाया जाता है। इस युग की उक्त मथुरा संग्रहालय की सूची में जिन २३ तीर्थंकर प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें आदिनाथ की मूर्ति (बी २१ व बी ७६) पर वृषभ का चिन्ह, नेमिनाथ की प्रतिमा (बी २२, सं० ११०४; बी ७३) पर शंख का, तथा शांतिनाथ की मूर्ति (१५०४) पर मृग का चिन्ह पाया जाता है। शेष मूर्तियों पर ऐसे विशेष चिन्हों का अंकन नहीं है। एक मूर्ति (ए. ६०) पर लंगोटी का चिन्ह दिखाया गया है। कुछ के चूचकों के स्थान पर चक्राकृति बनी है। कुछ के हस्त-तलों पर चतुर्दल पुष्प पाया जाता है। मूर्तियों पर तीन छत्रों का दर्शन भी देखा जाता है। कुछ मूर्तियों पर कुबेर व गोद में बालक सहित माता (बी ६५)

तथा नवग्रह (वी ६६) भी बने हैं। तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्ति के पार्श्वों में बलदेव की एक हाथ में प्याला लिये हुए, तथा अपने शंख चक्रादि लक्षणों सहित वासुदेव की चतुर्भुज मूर्तियां भी हैं (२७३८)। यक्ष-यक्षिणी आदि शासन देवताओं का आसनों पर अंकन भी प्रचुरता से पाया जाता है। आदिनाथ की एक पद्मासन मूर्ति के साथ शेष २३ तीर्थंकरों की भी पद्मासनस्थ प्रतिमाएं उत्कीर्ण है। इससे पूर्व कुषाण व गुप्त कालों में प्रायः चार तीर्थंकरों वाली सर्वतोभद्र मूर्तियां पाई गई हैं। प्रभावल व सिंहासनों का अलंकरण विशेष अधिक पाया जाता है। एक आदिनाथ की मूर्ति (वी २१) के सिंहासन की किनारी पर से पुष्पमालाएं लटकती हुई व धर्मचक्र को स्पर्श करती हुई दिखाई गई हैं। कुछ मूर्तियां काले व श्वेत संगमरमर की बनी हुई भी पाई गई हैं। कुछ मूर्तियों के ऊपर देवों द्वारा दुंदभी बजाने की आकृति भी अंकित है। ये ही संक्षेपतः इस काल की मूर्तियों की विशेषताएं हैं। इस काल में तीर्थंकरों के जो विशेष चिन्ह निर्धारित हुए, व जो यक्ष-यक्षिणी प्रत्येक तीर्थंकर के अनुचर ठहराये गये, व जिन चैत्यवृक्षों का उनके केवलज्ञान से संबंध स्थापित किया गया, उनकी तालिका (ति० प० ४,६०४-०५; ६१६-१८; ९३४-४० के अनुसार) निम्न प्रकार है।

क्रमसंख्या	तीर्थंकर नाम	चिंन्ह	चैत्यवृक्ष	यक्ष	यक्षिणी
१	ऋषभनाथ	बैल	न्यग्रोध	गोवदन	चक्रेश्वरी
२	अजितनाथ	गज	सप्तपर्ण	महायक्ष	रोहिणी
३	संभवनाथ	अश्व	शाल	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
४	अभिनंदननाथ	बंदर	सरल	यक्षेश्वर	वज्रश्रृंखला
५	सुमतिनाथ	चकवा	प्रियंगु	तुम्बुरव	वज्रांकुशा
६	पद्मप्रभु	कमल	प्रियंगु	मातंग	अप्रति चक्रेश्वरी
७	सुपार्श्वनाथ	नंद्यावर्त	शिरीष	विजय	पुरुषदत्ता
८	चन्द्रप्रभु	अर्द्धचन्द्र	नागवृक्ष	अजित	मनोवेगा
९	पुष्पदन्त	मकर	अक्ष (बहेड़ा)	ब्रह्म	काली
१०	शीतलनाथ	स्वस्तिक	धूलि(मालिवृक्ष)	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
११	श्रेयांसनाथ	गेंडा	पलाश	कुमार	महाकाली
१२	वासुपूज्य	भैंसा	तेंदू	षण्मुख	गौरी
१३	विमलनाथ	शूकर	पाटल	पाताल	गांधारी
१४	अनंतनाथ	सेही	पीपल	किन्नर	वैरोटी
१५	धर्मनाथ	वज्र	दधिपर्ण	किंपुरुष	सोलसा

१६	शान्तिनाथ	हरिण	नंदी	गरुड	अनंतमती
१७	कुंथुनाथ	छाग	तिलक	गंधर्व	मानसी
१८	अरहनाथ	तगरकुसुम(मत्स्य)	आम्र	कुबेर	महामानसी
१९	मल्लिनाथ	कलश	कंकेली (अशोक)	वरुण	जया
२०	मुनिसुव्रतनाथ	कूर्म	चम्पक	भृकुटि	विजया
२१	नमिनाथ	उत्पल	बकुल	गोमेध	अपराजिता
२२	नेमिनाथ	शंख	मेषशृंग	पार्श्व	बहुरूपिणी
२३	पार्श्वनाथ	सर्प	धव	मातंग	कुष्मांडी
२४	महावीर	सिंह	शाल	गुह्यक	पद्मा सिद्धायिनी

समवायांगसूत्र में भी प्रायः यही चैत्यवृक्षों की नामावली पाई जाती है। भेद केवल इतना है कि यहां चौथे स्थान पर 'प्रियक', छठे स्थान पर छत्राह, नौवें पर माली, १० वें पर पिलंखु, ११, १२, १३, पर तिंदुग, पाटल और जम्बू, व १९ वें पर अशोक, २२ वें पर वेडस नाम अंकित हैं।

विशालता की दृष्टि से मध्यप्रदेश में बड़वानी नगर के समीप चूलगिरि नामक पर्वतश्रेणी के तलभाग में उत्कीर्ण ८४ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा है जो बावनगजा के नाम से प्रसिद्ध है। इसके एक ओर यक्ष और दूसरी ओर यक्षिणी भी उत्कीर्ण हैं। चूलगिरि के शिखर पर दो मन्दिरों में तीन-चार मूर्तियों पर संवत् १३८० का उल्लेख है जिससे इस तीर्थक्षेत्र की प्रतिष्ठा कम से कम १४ वीं शती से सिद्ध है। देश के प्रायः समस्त भागों के दिगम्बर जैन मंदिरों में ऐसी जिन-प्रतिमाएं विराजमान पाई जाती हैं, जिनमें उनके शाह जीवराज पापड़ीवाल द्वारा सं० १५४८ (१४९० ई०) में प्रतिष्ठित कराए जाने का, तथा भट्टारक जिनचन्द्र या भानुचन्द्र का स्थान मुडासा का, व राजा या रावल शिवसिंह का उल्लेख मिलता है। मुडासा पश्चिम राजस्थान में ईडर से पांच-छह मील दूर एक गांव है। एक किंवदंती प्रचलित है कि सेठ जीवराज पापड़ीवाल ने एक लाख मूर्तियां प्रतिष्ठित कराकर उनका सर्वत्र पूजानिमित्त वितरण कराया था।

धातु की मूर्तियां—

यहां तक जिन मूर्तियों का परिचय कराया गया वे पाषाण निर्मित हैं। धातु-निर्मित प्रतिमाएं भी अतिप्राचीन काल से प्रचार में पाई जाती हैं। ब्रोन्ज (ताम्र व सीसा मिश्रित धातु) की बनी हुई एक पार्श्वनाथ की प्रतिमा बम्बई के प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय में है। दुर्भाग्य से इसका पादपीठ नष्ट हो गया है, और [illegible]

नहीं कि यह कहां से प्राप्त हुई थी। प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है, और उसका दाहिना हाथ व नागफण खंडित है, किन्तु नाग के शरीर के मोड़ पृष्ठ-भाग में पैरों से लगाकर ऊपर तक स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसकी आकृति पूर्वोक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन मूर्ति से तथा हड़प्पा के लाल-पाषाण की सिर-हीन मूर्ति से बहुत साम्य रखती है। विद्वानों का मत है कि यह मूर्ति मौर्यकालीन होनी चाहिये, और वह ई० पू० १०० वर्ष से इस ओर की तो हो ही नहीं सकती।

इसी प्रकार की दूसरी धातु-प्रतिमा आदिनाथ तीर्थंकर की है, जो बिहार में आरा के चौसा नामक स्थान से प्राप्त हुई है, और पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। यह भी खड्गासन मुद्रा में है, और रूप-रेखा में उपर्युक्त पार्श्वनाथ की मूर्ति से साम्य रखती है। तथापि अंगों की आकृति, केश-विन्यास एवं प्रभावल की शोभा के आधार पर यह गुप्त-कालीन अनुमान की जाती है। इसी के साथ प्राप्त हुई अन्य प्रतिमाएं पटना संग्रहालय में हैं, जो अपनी बनावट की शैली द्वारा मौर्य व गुप्त काल के बीच की शृंखला को प्रकट करती हैं।

धातु की सवस्त्र जिन-प्रतिमा राजपूताने में सिरोही जनपद के अन्तर्गत वसन्तगढ़ नामक स्थान से मिली है। यह ऋषभनाथ की खड्गासन प्रतिमा है, जिस पर सं० ७४४ (ई० ६८७) का लेख है। इसमें धोती का पहनावा दिखाया गया है। उसकी धोती की सिकुड़न बाएं पैर पर विशेष रूप से दिखाई गयी है। इससे संभवतः कुछ पूर्व की वे पांच धातु प्रतिमाएं हैं जो वलभी से प्राप्त हुई हैं, और प्रिन्स-आफ-वेल्स-संग्रहालय में सुरक्षित है। ये प्रतिमाएं भी सवस्त्र हैं, किन्तु इनमें धोती का प्रदर्शन वैसे उग्र रूप से नहीं पाया जाता, जैसा वसन्तगढ़ की प्रतिमा में। इस प्रकार की धोती का प्रदर्शन पाषाण मूर्तियों में भी किया गया पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण रोहतक (पंजाब) मे पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति है। प्रिन्स आफ वेल्स संग्रहालय की चाहरडी (खानदेश) से प्राप्त हुई आदिनाथ की प्रतिमा १० वी शती की धातुमय मूर्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

इसी प्रकार की धातु-प्रतिमाओं में वे मूर्तियां भी उल्लेखनीय हैं जो जीवन्त स्वामी की कही जाती हैं। आवश्यकचूर्णि, निशीथचूर्णि व वसुदेवहिंडी में उल्लेख मिलता है कि महावीर तीर्थंकर के कुमारकाल में जब वे अपने राज-प्रासाद में ही धर्म-ध्यान किया करते थे, तभी उनकी एक चन्दन की प्रतिमा निर्माण कराई गई थी, जो वीतिभय पट्टन (सिंधु-सौवीर) के नरेश उदयन के हाथ पड़ी। वहां से उज्जैन के राजा प्रद्योत उसकी अन्य काष्ठ-घटित प्रतिकृति (प्रतिमा) को उसके स्थान पर छोड़-

कर मूल प्रतिमा को अपने राज्य में ले आये, और उसे विदिशा में प्रतिष्ठित करा दिया, जहाँ वह दीर्घकाल तक पूजी जाती रही। इस साहित्यिक कथानक को हाल ही में अकोटा (बड़ौदा जनपद) से प्राप्त दो जीवन्तस्वामी की ब्रोन्ज-धातु निर्मित प्रतिमाओं से ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त हुआ है। इनमें से एक पर लेख है, जिसमें उसे जिवन्त-सामि-प्रतिमा कहा है, और यह उल्लेख है कि उसे चन्द्रकुलकी नागेश्वरी श्राविका ने दान दिया था। लिपि पर से यह छठी शती के मध्यभाग की अनुमान की गई है। ये मूर्तियां कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा में हैं, किन्तु शरीर पर अलंकरण खूब राजकुमारोचित है। मस्तक पर ऊंचा मुकुट है, जिसके नीचे केशकलाप दोनों कंधों के नीचे झूल रहे हैं। गले में हारादि आभरण, कानों में कुंडल, दोनों बाहुओं पर चौड़े भुजबंध व हाथों में कड़े और कटिबन्ध आदि आभूषण हैं। मुंह पर स्मित व प्रसाद भाव झलक रहा है। इनकी भावाभिव्यक्ति व अलंकरण में गुप्तकालीन व तदुत्तर शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

लगभग १४वीं शती से पीतल की जिनमूर्तियों का भी प्रचार हुआ पाया जाता है। कहीं कहीं तो पीतल की बड़ी विशाल भारी ठोस मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। आबू के पित्तलहर मंदिर में विराजमान आदिनाथ की पीतल की मूर्ति लेखानुसार १०८ मन की है, और यह वि० सं० १५२५ में प्रतिष्ठित की गई थी। मूर्ति अपने परिकर सहित ८ फुट ऊंची पद्मासन है, और यह मेहसाना (उत्तर गुजरात) के सूत्रधार मंडन के पुत्र देवा द्वारा निर्माण की गई थी।

बाहुबलि की मूर्तियां—

ब्रोन्ज की प्रतिमाओं में विशेष उल्लेखनीय है बाहुबलि की यह प्रतिमा जो अभी कुछ वर्ष पूर्व ही बम्बई के प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय में आई है। बाहुबलि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र व भरत चक्रवर्ती के भ्राता थे, और उन्हें तक्षशिला का राज्य दिया गया था। पिता के तपस्या धारण कर लेने के पश्चात् भरत चक्रवर्ती हुए, और उन्होंने बाहुबलि को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश करना चाहा। इस पर दोनों भाइयों में युद्ध हुआ। जिस समय युद्ध के बीच विजयश्री संशयावस्था में पड़ी हुई थी, उसी समय बाहुबलि को इस सांसारिक मोह और मानादि से वैराग्य हो गया, और उन्होंने अपने लिए केवल एक पैर भर पृथ्वी रखकर शेष समस्त राज्य-वैभव भूमि व परिग्रह का परित्याग कर दिया। उन्होंने पोदनपुर में निश्चल खड़े होकर ऐसी घोर तपस्या की कि उनके पैरों के समीप वल्मीक चढ़ गये व शरीर के अंग-प्रत्यंगों में

महासर्प व लताएं लिपट गईं। बाहुवलि की इस घोर तपस्या का वर्णन जिनसेन कृत महापुराण (३६, १०४-१८५) में किया गया है। रविषेणाचार्य ने अपने पद्मपुराण में संक्षेपतः कहा है—

> संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः।
> वर्षं प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्निष्प्रकम्पकः॥
> वल्मीकविवरोद्यातैरत्युग्रैः स महोरगैः।
> श्यामादीनां च वल्लीभिः वेष्टितः प्राप केवलम्॥ (प० पु० ४, ७६-७७)

इस वर्णन में जो वमीठे व लता के शरीर में लिपटने का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के सम्मुख बाहुवलि की इन लक्षणों से युक्त कोई मूर्तिमान् प्रतिमा थी। काल की दृष्टि के उस समय बादामी की गुफा की बाहुवलि मूर्ति बन चुकी सिद्ध होती है। रविषेणाचार्य उससे परिचित रहे हों तो आश्चर्य नही। बादामी की यह मूर्ति लगभग सातवी शती मे निर्मित साढे सात फुट ऊंची है। दूसरी प्रतिमा ऐलोरा के छोटे कैलाश नामक जैन-शिलामंदिर की इन्द्रसभा की दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण है। इस गुफा का निर्माण-काल लगभग ८ वी शती माना जाता है। तीसरी मूर्ति देवगढ़ के शान्तिनाथ मंदिर (८६२ ई०) में है, जिसकी उपर्युक्त मूर्तियों से विशेषता यह है कि इसमें वामी, कुक्कुट सर्प, व लताओं के अतिरिक्त मूर्ति पर रेंगते हुए बिच्छू, छिपकली आदि जीव-जन्तु भी अंकित किये गये हैं; और इन उपसर्गकारी जीवों का निवारण करते हुए एक देव-युगल भी दिखाया गया है। किन्तु इन सबसे विशाल और सुप्रसिद्ध मैसूर राज्य के अन्तर्गत श्रवणबेल गोला के विन्ध्य-गिरि पर विराजमान वह मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा गंगनरेश राजमल्ल के महामंत्री चामुंडराय ने १०-११ वी शती में कराई थी। यह मूर्ति ५६ फुट ६ इंच ऊंची है और उस पर्वत पर दूर से ही दिखाई देती है। उसके अंगों का संतुलन, मुख का शांत और प्रसन्न भाव, वल्मीक व माधवी लता के लपेटन इतनी सुन्दरता को लिए हुए हैं कि जिनकी तुलना अन्यत्र कहीं नही पाई जाती। इसी मूर्ति के अनुकरण पर कारकल में सन् १४३२ ई० में ४१ फुट ६ इंच ऊंची, तथा वेणूर में १६०४ ई० में ३५ फुट ऊंची अन्य दो विशाल पाषाण मूर्तियां प्रतिष्ठित हुईं। धीरे-धीरे इस प्रकार की बाहुवलि की मूर्ति का उत्तर भारत में भी प्रचार हुआ है। इधर कुछ दिनों से बाहुबलि की मूर्तियां अनेक जैन मंदिरों में प्रतिष्ठित हुई है।

किन्तु जो ब्रोन्ज-धातु निर्मित मूर्ति अब प्रकाश में आई है। वह उपर्युक्त समस्त प्रतिमाओं से प्राचीन अनुमान की जाती है। उसका निर्माणकाल सम्भवतः सातवीं

शती व उससे भी कुछ वर्ष पूर्व प्रतीत होता है। यह प्रतिमा एक गोलाकार पीठ पर खड़ी है, और उसकी ऊंचाई २० इंच है। माधवी-लता पत्तों सहित पैरों और बाहुओं से लिपटी हुई है। सिर के बाल जैसे कंघी से पीछे की ओर लौटाये हुए दिखाई देते हैं; तथा उनकी जटाएं पीठ व कंधों पर बिखरी हैं। भौंहें ऊपर को चढ़ी-हुई व उभरी बनाई गई हैं। कान नीचे को उतरे व छिदे हुए हैं। नाक पैनी व झुकी हुई है। कपोल व दाढ़ी खूब मांसल व भरे हुए हैं। मुखाकृति लम्बी व गोल है। वक्षस्थल चौड़ाई को लिए हुए चिकना है व चूचुक चिन्ह मात्र दिखाये गये हैं। नितम्ब-भाग गुलाई लिए हुए है। पैर सीधे, और घुटने भले प्रकार दिखाये गये हैं। बाहुएं विशाल कंधों से नीचे की ओर शरीर आकृति के पतन का अनुकरण कर रही हैं। हस्ततल जंघाओं से गुट्टों के द्वारा जुड़े हुए हैं जिससे बाहुओं को सहारा मिले। इस प्रतिमा का आकृति-निर्माण अतिसुन्दर हुआ है। मुख पर ध्यान व आध्यात्मिकता का तेज भले प्रकार झलकाया गया है। इस आकृति-निर्माण में श्री उमाकांत शाह ने इसकी तुलना-बादामी गुफा में उपलब्ध बाहुबलि की प्रतिमा से तथा ऐहोल की मूर्तियों से की है, जिनका निर्माण-काल ६ वीं ७ वीं शती है।

चक्रेश्वरी पद्मावती आदि यक्षियों की मूर्तियां—

जैन मूर्तिकला में तीर्थंकरों के अतिरिक्त जिन अन्य देवी-देवताओं को रूप प्रदान किया गया है, उनमें यक्षों और यक्षिणियों की प्रतिमाएं भी ध्यान देने योग्य हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के अनुयायी एक यक्ष और एक यक्षिणी माने गये हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षिणी का नाम चक्रेश्वरी है। इस देवी की एक ढाई फुट ऊंची पाषाण मूर्ति मथुरा संग्रहालय में विराजमान है। यह मूर्ति एक गरुड़ पर आधारित आसन पर स्थित है। इसका सिर व भुजाएं टूट-फूट गई हैं, तथापि उसका प्रभावल प्रफुल्ल पद्माकार सुअलंकृत विद्यमान है। भुजाएं दस रही हैं, और हाथ में एक चक्र रहा है। मूर्ति के दोनों पार्श्वों में एक-एक द्वारपालिका है, जिनमें दायीं ओर वाली एक चमर, तथा बायीं ओर वाली एक पुष्पमाला लिये हुए है। ये दोनों प्रतिमाएं भी कुछ खंडित हैं। प्रधान मूर्ति के ऊपर पद्मासन व ध्यानस्थ जिन-प्रतिमा है, जिसके दोनों ओर पुष्पमालाएं लिये हुए उड़ती हुई मूर्तियां बनी हैं। यह मूर्ति भी कंकाली टीले से प्राप्त हुई है, और कनिंघम साहब ने इसे ब्राह्मण-परम्परा की दशभुजी देवी समझा था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में ही कटनी के समीप बिलहरी ग्राम के लक्ष्मणसागर के तट पर एक मंदिर में चक्रेश्वरी की मूर्ति खैरामाई के नाम से पूजी जा

रही है, किन्तु मूर्ति के मस्तक पर जो आदिनाथ की प्रतिमा है, वह उसे स्पष्टतः जैन परम्परा की घोषित कर रही है। चक्रेश्वरी की मूर्तियां देवगढ़ के मंदिरों में भी पाई गई हैं। श्रवणबेलगोला (मैसूर) के चन्द्रगिरि पर्वत पर शासन-बस्ति नामक आदिनाथ के मंदिर के द्वार पर आजू-बाजू गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी की सुन्दर प्रतिमाएं हैं। यह मंदिर लेखानुसार शक १०४६ (१११७ ई०)से पूर्व बन चुका था। वहां के अन्यान्य मंदिरों में नाना तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएं विद्यमान हैं (देखिए जै० शि० सं० भाग एक, प्रस्तावना)। इनमें अक्कन बस्ति नामक पार्श्वनाथ मंदिर की साढ़ेतीन फुट ऊंची धरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती यक्षी की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। इस मंदिर का निर्माणकाल वहीं के लेखानुसार शक ११०३ (११८१ ई०)है। कत्तले बस्ति मे भी यह मूर्ति है। पद्मावती की इससे पूर्व व पश्चात्-कालीन मूर्तियां जैनमंदिरों में बहुतायत से पाई जाती हैं। इनमें खंडगिरि (उड़ीसा) की एक गुफा मूर्ति सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। नालंदा व देवगढ़ की मूर्तियां ७ वी ८ वी शती की हैं। मध्यकाल से लगाकर इस देवी की पूजा विशेष रूप से लोक प्रचलित हुई पाई जाती है।

अम्बिका देवी की मूर्ति—

तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षिणियों में सबसे अधिक प्रचार व प्रसिद्धि नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका देवी की पाई जाती है। इस देवी की सब से प्राचीन व विख्यात मूर्ति गिरनार (ऊर्जयन्त) पर्वत की अम्बादेवी नामक टोंक पर है, जिसका उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयंभूस्तोत्र (पद्य १२७) में खचरयोषित (विद्याधरी) नाम से किया है (पृ० ३३६)। जिनसेन ने भी अपने हरिवंश-पुराण(शक् ७०५)में इस देवी का स्मरण इस प्रकार किया है—

> ग्रहीतचक्राप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालय-सिंहवाहिनी।
> शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क्व तत्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने ॥
> (ह० पु० प्रशस्ति)

इस देवी की एक उल्लेखनीय पाषाण-प्रतिमा १ फुट ६ इंच ऊंची मथुरा संग्रहालय में है। अम्बिका एक वृक्ष के नीचे सिंह पर स्थित कमलासन पर विराजमान है। बांया पैर ऊपर उठाया हुआ व दाहिना पृथ्वी पर है। दाहिने हाथ में फलों का गुच्छा है, व बांया हाथ बायीं जंघा पर बैठे हुए बालक को सम्हाले है। बालक वक्षस्थल पर झूलते हुए हार से खेल रहा है। अधोभाग वस्त्रालंकृत है और ऊपर वक्षस्थल पर दोनों स्कंधों से पीछे की ओर डाली हुई ओढ़नी है। सिर पर सुन्दर मुकुट है, जिसके

शती व उसके भी कुछ वर्ष पूर्व प्रतीत होता है। यह प्रतिमा एक गोलाकार पीठ पर खड़ी है, और उसकी ऊंचाई २० इंच है। माधवी-लता पत्तों सहित पैरों और बाहुओं से लिपटी हुई है। सिर के बाल जैसे कंघी से पीछे की ओर लौटाये हुए दिखाई देते हैं; तथा उनकी जटाएं पीठ व कंधों पर बिखरी हैं। भौहें ऊपर को चढ़ी-हुई व उथली बनाई गई हैं। कान नीचे को उतरे व छिदे हुए हैं। नाक पैनी व झुकी हुई है। कपोल व दाढ़ी खूब मांसल व भरे हुए हैं। मुखाकृति लम्बी व गोल है। वक्षस्थल चौड़ाई को लिए हुए चिकना है व चूचुक चिन्ह मात्र दिखाये गये हैं। नितम्ब-भाग गुलाई लिए हुए है। पैर सीधे, और घुटने भले प्रकार दिखाये गये हैं। बाहुएं विशाल कंधों से नीचे की ओर शरीर आकृति के वलन का अनुकरण कर रही हैं। हस्ततल जंघाओं से गुट्टों के द्वारा जुड़े हुए हैं जिससे बाहुओं को सहारा मिले। इस प्रतिमा का आकृति-निर्माण अतिसुन्दर हुआ है। मुख पर ध्यान व आध्यात्मिकता का तेज भले प्रकार झलकाया गया है। इस आकृति-निर्माण में श्री उमाकांत शाह ने इसकी तुलना-बादामी गुफा में उपलब्ध बाहुबलि की प्रतिमा से तथा ऐहोल की मूर्तियों से की है, जिनका निर्माण-काल ६ वीं ७ वी शती है।

चक्रेश्वरी पद्मावती आदि यक्षियों की मूर्तियां—

जैन मूर्तिकला में तीर्थंकरों के अतिरिक्त जिन अन्य देवी-देवताओं को रूप प्रदान किया गया है, उनमें यक्षों और यक्षिणियों की प्रतिमाएं भी ध्यान देने योग्य हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के अनुषंगी एक यक्ष और एक यक्षिणी माने गये हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षिणी का नाम चक्रेश्वरी है। इस देवी की एक ढ़ाई फुट ऊंची पाषाण मूर्ति मथुरा संग्रहालय में विराजमान है। यह मूर्ति एक गरुड पर आधारित आसन पर स्थित है। इसका सिर व भुजाएं टूट-फूट गई हैं, तथापि उसका प्रभावल प्रफुल्ल कमलाकार सुअलंकृत विद्यमान है। भुजाएं दश रही हैं, और हाथ में एक चक्र रहा है। मूर्ति के दोनों पार्श्वों में एक-एक द्वारपालिका है, जिनमें दायीं ओर वाली एक चमर, तथा बायीं ओर वाली एक पुष्पमाला लिये हुए हैं। ये तीनों प्रतिमाएं भी कुछ खंडित हैं। प्रधान मूर्ति के ऊपर पद्मासन व ध्यानस्थ जिन-प्रतिमा है, जिसके दोनों ओर वंदनमालाएं लिये हुए उड़ती हुई मूर्तियां बनी हैं। यह मूर्ति भी कंकाली टीले से प्राप्त हुई है, और कनिंघम साहब ने इसे ब्राह्मण-परम्परा की दशभुजी देवी समझा था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में ही कटनी के समीप बिलहरी ग्राम के लक्ष्मणसागर के तट पर एक मंदिर में चक्रेश्वरी की मूर्ति खैरामाई के नाम से पूजी-जा

रही है, किन्तु मूर्ति के मस्तक पर जो आदिनाथ की प्रतिमा है, वह उसे स्पष्टतः जैन परम्परा की घोषित कर रही है। चक्रेश्वरी की मूर्तियां देवगढ़ के मंदिरों में भी पाई गई हैं। श्रवणबेलगोला (मैसूर) के चन्द्रगिरि पर्वत पर शासन-बस्ति नामक आदिनाथ के मंदिर के द्वार पर आजू-बाजू गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी की सुन्दर प्रतिमाएं हैं। यह मंदिर लेखानुसार शक १०४६ (१११७ ई०) से पूर्व बन चुका था। वहां के अन्यान्य मंदिरों में नाना तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएं विद्यमान हैं (देखिए जै० शि० सं० भाग एक, प्रस्तावना)। इनमें अक्कन बस्ति नामक पार्श्वनाथ मंदिर की साढ़ेतीन फुट ऊंची धरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती यक्षी की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। इस मंदिर का निर्माणकाल वहाँ के लेखानुसार शक ११०३ (११८१ ई०) है। कत्तले बस्ति में भी यह मूर्ति है। पद्मावती की इससे पूर्व व पश्चात्-कालीन मूर्तियां जैनमंदिरों में बहुतायत से पाई जाती हैं। इनमें खंडगिरि (उड़ीसा) की एक गुफा मूर्ति सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। नालंदा व देवगढ़ की मूर्तियां ७ वीं ८ वी शती की हैं। मध्यकाल से लगाकर इस देवी की पूजा विशेष रूप से लोक प्रचलित हुई पाई जाती है।

अम्बिका देवी की मूर्ति—

तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षिणियों में सबसे अधिक प्रचार व प्रसिद्धि नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका देवी की पाई जाती है। इस देवी की सब से प्राचीन व विख्यात मूर्ति गिरनार (ऊर्जयन्त) पर्वत की अम्बादेवी नामक टोंक पर है, जिसका उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयंभूस्तोत्र (पद्य १२७) में खचरयोषित (विद्याधरी) नाम से किया है (पृ० ३३६)। जिनसेन ने भी अपने हरिवंश-पुराण (शक् ७०५) में इस देवी का स्मरण इस प्रकार किया है—

> ग्रहीतचक्राप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालय-सिंहवाहिनी।
> शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क्व तत्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने॥
> (ह० पु० प्रशस्ति)

इस देवी की एक उल्लेखनीय पाषाण-प्रतिमा १ फुट ९ इंच ऊंची मथुरा संग्रहालय में है। अम्बिका एक वृक्ष के नीचे सिंह पर स्थित कमलासन पर विराजमान है। बांया पैर ऊपर उठाया हुआ व दाहिना पृथ्वी पर है। दाहिने हाथ में फलों का गुच्छा है, व बाया हाथ बायीं जंघा पर बैठे हुए बालक को सम्हाले है। बालक वक्षस्थल पर झूलते हुए हार से खेल रहा है। अधोभाग वस्त्रालंकृत है और ऊपर वक्षस्थल पर दोनों स्कंधों से पीछे की ओर डाली हुई ओढ़नी है। सिर पर सुन्दर मुकुट है, जिसके

पीछे शोभनीक प्रभावल भी है। गले में दो लड़ियों वाला हार, हाथों में चूड़ियां, कटि में मेखला व पैरों में नूपुर आभूषण हैं। बालक नग्न है, किन्तु गले में हार, बाहुओं में भुजबंध, कलाई में कड़े तथा कमर में करधनी पहने हुए है। अम्बिका की बाजू से एक दूसरा बालक खड़ा है, जिसका दाहिना हाथ अंबिका के दाहिने घुटने पर है। इस खड़े हुए बालक के दूसरी ओर गणेश की एक छोटी सी मूर्ति है, जिसके बाएं हाथ में मोदक-पात्र है, जिसे उनकी सूंड स्पर्श कर रही है। उसके ठीक दूसरे पार्श्व में एक अन्य आसीन मूर्ति है जिसके दाहिने हाथ में एक पात्र और बाएं में मोहरों की थैली है, और इसलिए धनद-कुबेर की मूर्ति प्रतीत होती है। कुबेर और गणेश की मूर्तियों के अपने-अपने कुछ लम्बाकार प्रभावल भी बने हैं। इन सबके दोनों पार्श्वों में चमरधारी मूर्तियां हैं। आसन से नीचे की पट्टी में आठ नर्तकियां हैं। ऊपर की ओर पुष्प-मंडपिका बनी है, जिसके मध्य भाग में पद्मासन व ध्यानस्थ जिनमूर्ति है। इसके दोनों ओर दो चतुर्भुजी मूर्तियां कमलों पर त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी हैं। दाहिनी ओर की मूर्ति के हाथों में हल व मूसल होने से वह स्पष्टतः बलराम की, तथा बायीं ओर की चतुर्भुज मूर्ति के बाएं हाथों में चक्र व शंख तथा दाहिने हाथों में पद्म व गदा होने से वह वासुदेव की मूर्ति है। दोनों के गलों में वैजयन्ती मालाएं पड़ी हुई हैं। बलभद्र और वासुदेव सहित नेमिनाथ तीर्थंकर की स्वतंत्र मूर्तियां मथुरा व लखनऊ के संग्रहालयों में विद्यमान हैं। प्रस्तुत अम्बिका की मूर्ति में हमें जैन व वैदिक परम्परा के अनेक देवी-देवताओं का सुन्दर समीकरण मिलता है, जिसका वर्णनात्मक पक्ष हम जैन पुराणों में पाते हैं।

पुण्याश्रव-कथाकोष की यक्षी की कथा के अनुसार गिरिनार की अग्निला नाम की धर्मवती ब्राह्मण-महिला अपने पति की कोप-भाजन बनकर अपने प्रियंकर और शुभंकर नामक दो अल्प-वयस्क पुत्रों को लेकर गिरिनार पर्वत पर एक मुनिराज की शरण में चली गई। वहां बालकों के क्षुधाग्रस्त होने पर उसके धर्म के प्रभाव से वहां एक आम्रवृक्ष अकाल में ही फूल उठा। उसकी लुम्बिकाओं (गुच्छों) द्वारा उसने उन बालकों की क्षुधा को शान्त किया। उधर उसके पति सोमशर्मा को अपनी भूल का पता चला तो वह उसे मनाने आया। अग्निला समझी कि वह उसे मारने आया है। अतएव वह तत्कालीन तीर्थंकर नेमिनाथ का ध्यान करती हुई पर्वत के शिखर से कूद पड़ी, और शुभ ध्यान से मरकर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका हुई। उसका पति यथा-समय मरकर सिंह के रूप में उसका वाहन हुआ। इस प्रकार अम्बिका के दो पुत्र, आम्रवृक्ष और आम्रफलों की लुम्बिका, और सिंहवाहन, ये उस देवी की मूर्ति के लक्षण

बने। इसी कथानक का सार आशाधर कृत प्रतिष्ठासार (१३ वीं शती) में अम्बिका के वन्दनात्मक निम्न श्लोक में मिलता है:—

> सव्यैकव्युपग-प्रियंकरसुतप्रीत्यै करे बिभ्रतीं।
> दिव्याम्रस्तवकं शुभंकर-करश्लिष्टान्यहस्तांगुलिम् ॥
> सिंहभर्तृचरे स्थितां हरितभामाम्रद्रुमच्छायगाम् ।
> वंदारुं दशकार्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्बां यजे ॥

अम्बिका की ऐसी मूर्तियां उदयगिरि-खंडगिरि की नवमुनि-गुफा तथा ढंक की गुफाओं में भी पाई जाती हैं। इनमें इस मूर्ति के दो ही हाथ पाये जाते हैं, जैसा कि ऊपर वर्णित मथुरा की गुप्तकालीन प्रतिमा में भी है। किन्तु दक्षिण में जिनकांची के एक जैन मठ की दीवाल पर चित्रित अम्बिका चतुर्भुज है। उसके दो हाथों में पाश और अंकुश हैं, तथा अन्य दो हाथ अभय और वरद मुद्रा में है। वह आम्रवृक्ष के नीचे पद्मासन विराजमान है, और पास में बालक भी हैं। मैसूर राज्य के अंगडि नामक स्थान के जैनमंदिर में अम्बिका की द्विभुज-मूर्ति खड़ी हुई बहुत ही सुन्दर है। उसकी त्रिभंग शरीराकृति कलात्मक और लालित्यपूर्ण है। देवगढ़ के मंदिरों में तथा आबू के विमल-वसही में भी अम्बिका की मूर्ति दर्शनीय है। मथुरा संग्रहालय में हाल ही आई हुई (३३८२) पूर्व-मध्यकालीन मूर्ति में देवी दो स्तंभों के बीच ललितासन बैठी है। दायां पैर कमल पर है। देवी अपनी गोद के शिशु को अत्यंत वात्सल्य से दोनों हाथों से पकड़े हुए है। केशपाश व कंठहार तथा कुंडलों की आकृतियां बड़ी सुन्दर हैं। बाएं किनारे सिंह बैठा है।

सरस्वती की मूर्ति—

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त सरस्वती की मूर्ति (जे २४) लखनऊ के संग्रहालय में एक फुट साढ़े नौ इंच ऊंची है। देवी चौकोर आसन पर विराजमान है। सिर खंडित है। बायें हाथ में सूत्र से बंधी हुई पुस्तक है। दाहिना हाथ खंडित है, किन्तु अभय मुद्रा में रहा प्रतीत होता है। वस्त्र साड़ी जैसा है, जिसका अंचल कंधों को भी आच्छादित किये है। दोनों हाथों की कलाइयों पर एक-एक चूड़ी है, तथा दाहिने हाथ में चूड़ी से ऊपर जपमाला भी लटक रही है। देवी के दोनों ओर दो उपासक खड़े हैं, जिनके केश सुन्दरता से संवारे गये हैं। दाहिनी ओर के उपासक के हाथ में कलश है, तथा बांई ओर का उपासक हाथ जोड़े खड़ा है। दाहिनी ओर का उपासक कोट पहने हुए है, जो शक जाति के ट्यूनिक जैसा दिखाई देता है। पादपीठ पर एक

लेख भी है, जिसके अनुसार "सब जीवों को हित व सुखकारी यह सरस्वती की प्रतिमा सिंहपुत्र-गोभ नामक लुहार कारक (शिल्पी) ने दान किया, और उसे एक जैन मंदिर की रंगशाला में स्थापित की"। यह मूर्तिदान कोटिक-गण वाचकाचार्य आर्यदेव को संवत् ५४ में किया था। लिपि आदि पर से यह वर्ष शक संवत् का प्रतीत होता है। अतः इसका काल ७८+५४=१३२ ई०, कुषाण राजा हुविष्क के समय में पड़ता है। लेख में जो अन्य नाम आये हैं, वे सभी उसी कंकाली टीले से प्राप्त सम्वत् ५२ की जैन प्रतिमा के लेख में भी उल्लिखित हैं। जैन परम्परा में सरस्वती की पूजा कितनी प्राचीन है, यह इस मूर्ति और उसके लेख से प्रमाणित होता है। सरस्वती की इतनी प्राचीन प्रतिमा अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हुई। इस देवी की हिन्दू मूर्तियां गुप्तकाल से पूर्व की नहीं पायी जातीं, अर्थात् वे सब इससे दो तीन शती पश्चात् की हैं। सरस्वती की मूर्ति अनेक स्थानों के जैन मंदिरों में प्रतिष्ठित पाई जाती है, किन्तु अधिकांश ज्ञात प्रतिमाएं मध्यकाल की निर्मितियां हैं। उदाहरणार्थ, देवगढ़ के १९वें मंदिर के बाहिरी बरामदे में सरस्वती की खड़ी हुई चतुर्भुज मूर्ति है, जिसका काल वि० सं० ११२६ के लगभग सिद्ध होता है। राजपूताने में सिरोही जनपद के अजारी नामक स्थान के महावीर जैन मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्ति के आसन पर वि० सं० १२६९ खुदा हुआ है। यह मूर्ति कहीं द्विभुज, कहीं चतुर्भुज, कहीं मयूरवाहिनी और कहीं हंसवाहिनी पाई जाती है। एक हाथ में पुस्तक अवश्य रहती है। अन्य हाथ व हाथों में कमल, अक्षमाला, और वीणा, अथवा इनमें से कोई एक या दो पाये जाते हैं; अथवा दूसरा हाथ अभय मुद्रा में दिखाई देता है। जैन प्रतिष्ठा-ग्रंथों में इस देवी के ये सभी लक्षण भिन्न-भिन्न रूप से पाये जाते हैं। उसकी जटाओं और चन्द्रकला का भी उल्लेख मिलता है। धवला टीका के कर्त्ता वीरसेनाचार्य ने इस देवी की श्रुत-देवता के रूप में वन्दना की है, जिसके द्वादशांग वाणी रूप बारह अंग हैं, सम्यग्दर्शन रूप तिलक है, और उत्तम चारित्र रूप आभूषण है। आकोटा से प्राप्त सरस्वती की धातु-प्रतिमा (११वीं शती से पूर्व की, बड़ौदा संग्रहालय में) द्विभुज खड़ी हुई है। मुख-मुद्रा बड़ी प्रसन्न है। मुकुट का प्रभावल भी है। ऐसी ही एक प्रतिमा वसंतगढ़ से भी प्राप्त हुई है। देवियों की पूजा की परम्परा बड़ी प्राचीन है; यद्यपि उनके नामों, स्वरूपों तथा स्थापना व पूजा के प्रकारों में निरंतर परिवर्तन होता रहा है। भगवती सूत्र (११, ११, ४२९) में उल्लेख है कि राजकुमार महाबल के विवाह के समय उसे प्रचुर वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, नन्दा और भद्रा की आठ-आठ प्रतिमायें भी उपहार रूप दी गईं थीं। इससे अनुमानतः विवाह के पश्चात् प्रत्येक सम्पन्न कुटुम्ब में ये प्रतिमायें

कुलदेवता के रूप में प्रतिष्ठित की जाती थीं।

अच्युता या अच्छुप्ता देवी की मूर्ति—

अच्युता देवी की एक मूर्ति बदनावर (मालवा) से प्राप्त हुई है। देवी घोड़े पर आरूढ़ है। उसके चार हाथ हैं। दोनों दाहिने हाथ टूट गये हैं। ऊपर के बाएं हाथ में एक ढाल दिखाई देती है, और नीचे का हाथ घोड़े की रास सम्हाले हुए है। दाहिना पैर रकाब में है और बायां उस पैर की जंघा पर रखा हुआ है। इस प्रकार मूर्ति का मुख सामने व घोड़े का उसके बायी ओर है। देवी के गले और कानों में अलंकार है। मूर्ति के ऊपर मंडप का आकार है, जिस पर तीन जिन-प्रतिमाएं बनी हैं। चारों कोनों पर भी छोटी-छोटी जैन आकृतियां है। यह पाषाण-खंड ३ फुट ६ इंच ऊंचा है। इस पर एक लेख भी है, जिसके अनुसार अच्युता देवी की प्रतिमा को सम्वत् १२२९ (ई० ११७२) मे कुछ कुटुम्बों के व्यक्तियों ने वर्द्धमानपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय में प्रस्थापित की थी। इस लेख पर से सिद्ध है कि आधुनिक बदनावर प्राचीन वर्द्धमानपुर का अपभ्रंश रूप है। मैं अपने एक लेख में बतला चुका हूं, तथा ऊपर मंदिरों के संबंध में भी उल्लेख किया जा चुका है, कि सम्भवतः यही वह वर्द्धमानपुर का शान्तिनाथ मंदिर है जहां शक सं० ७०५ (ई० ७८३) में आचार्य जिनसेन ने हरिवंश-पुराण की रचना पूर्ण की थी।

नैगमेश (नैमेश) की मूर्ति—

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त भग्नावशेषों में एक तोरण-खंड पर नेमेश देव की प्रतिमा बनी है और उसके नीचे भगव नेमेसो ऐसा लिखा है। इस नेमेश देव की मथुरा-संग्रहालय में अनेक मूर्तिया हैं। कुषाण कालीन एक मूर्ति (ई १) एक फुट साढ़े तीन इंच ऊंची है। मुखाकृति बकरे के सदृश है, व बाएं हाथ से दो शिशुओं को धारण किये है, जो उसकी जंघा पर लटक रहे है। उसके कंधों पर भी सम्भवतः बालक रहे हैं, जो खंडित हो गये हैं, केवल उनके पैर लटक रहे हैं। एक अन्य छोटी सी मूर्ति (नं० ९०९) साढ़े चार इंच की है, जिसमें कंधों पर बालक बैठे हुए दिखायी देते हैं। यह भी कुषाण कालीन है। तीसरी मूर्ति साढ़े आठ इंच ऊंची है और उसमें दोनों कंधो पर एक-एक बालक बैठा हुआ है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है, और बाएं में मोहरों की थैली जैसी कोई वस्तु है। कंधों पर बालक बैठाए हुए नेगमेश की और दो मूर्तियां (नं० ११५१, २४८२) हैं। एक मूर्ति का केवल सिर मात्र सुरक्षित है (नं० १००१)।

एक अन्य मूर्ति (नं० २५४७) एक फुट पांच इंच ऊंची है, जिसमें प्रत्येक कंधे पर दो-दो बालक बैठे दिखाई देते हैं, तथा दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है।

कुछ मूर्तियां अजामुख देवी की हैं। एक मूर्ति (ई २) एक फुट चार इंच ऊंची है, जिसमें देवी के स्तन स्पष्ट हैं। उसके बाएं हाथ में एक तकिया है, जिस पर एक बालक अपने दोनों हाथ वक्षस्थल पर रखे हुए लटका है। देवी का दाहिना हाथ खंडित है; किन्तु अनुमानतः वह कंधे की ओर उठ रहा है। इसी प्रकार की दूसरी मूर्ति (ई ३) में स्तनों पर हार लटक रहा है। तीसरी मूर्ति (नं० ७९९) साढ़े आठ इंच ऊंची है। देवी अजामुख है, किन्तु वह किसी बालक को धारण नहीं किये है। उसके दाहिने हाथ में कमल और बाएं हाथ में प्याला है। एक अन्य मूर्ति (सं० १२१०) दश इंच ऊंची है, जिसमें देवी अपनी बायी जंघा पर बालक को बैठाये है, और बाएं हाथ से उसे पकड़े है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है। सिर पर साढ़े पांच इंच व्यास का प्रभावल भी है। स्तनों पर सुस्पष्ट हार भी है। एक अन्य छोटी सी मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह केवल पांच इंच ऊंची है, किन्तु उसमें अजामुख देवी की चार भुजाएं हैं, और वह एक पर्वत पर ललितासन विराजमान है। उसकी बायी जंघा पर बालक बैठा है, जो प्याले को हाथों में लिए हुए दूध पी रहा है। देवी के हाथों में त्रिशूल, प्याला व पाश हैं। उसके दाहिने पैर के नीचे उसके वाहन की आकृति कुछ अस्पष्ट है, जो सम्भवतः बैल या भैंसा होगा।

कुछ मूर्तियां ऐसी भी हैं जिनमें यह मातृदेवी अजामुख नहीं, किन्तु स्त्री-मुख बनाई गई है। ऐसी एक मूर्ति (ई ४) १ फुट १ इंच ऊंची है जिसमें देवी एक शिशु को अपनी गोद में सुलाये हुए हैं। देवी का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है। मूर्ति कुषाण-कालीन है। इसी प्रकार की बालक को सुलाये हुए एक दूसरी मूर्ति भी है। बालकों सहित एक अन्य उल्लेखनीय मूर्ति (नं० २७८) १ फुट साढ़े सात इंच ऊंची व ६ इंच चौड़ी है, जिसमें एक पुरुष व स्त्री पास-पास एक वृक्ष के नीचे ललितासन में बैठे हैं। वृक्ष के ऊपरी भाग में छोटी सी ध्यानस्थ जिन-मूर्ति बनी हुई है, और वृक्ष की पींड़ (तना) पर गिरगिट चढ़ता हुआ दिखाई देता है। पाद-पीठ पर एक दूसरी आकृति है, जिसमें बायां पैर ऊपर उठाया हुआ है, और उसके दोनों ओर ६ बालक खेल रहे हैं। इसी प्रकार की एक मूर्ति चंदेरी (म० प्र०) में भी पाई गई है, तथा एक अन्य मूर्ति प्रयाग नगरपालिका के संग्रहालय में भी है।

उपर्युक्त समस्त मूर्तियां मूलतः एक जैन आख्यान से संबंधित हैं, और अपने विकासक्रम को प्रदर्शित कर रही हैं। कल्प-सूत्र के अनुसार इन्द्र की आज्ञा से उनके

हरिनैगमेश नामक अनुचर देव ने महावीर को गर्भरूप में देवानंदा की कुक्षि से निकाल कर त्रिशला रानी की कुक्षि में स्थापित किया था। इस प्रकार हरिनैगमेशी का संबंध बाल-रक्षा से स्थापित हुआ जान पड़ता है। इस हरिनैगमेश की मुखाकृति प्राचीन चित्रों व प्रतिमाओं में बकरे जैसी पाई जाती है। नेमिनाथ-चरित में कथानक है कि सत्यभामा को प्रद्युम्न सदृश पुत्र को प्राप्त करने की अभिलाषा को पूरा करने के लिए कृष्ण ने नैगमेश देव की आराधना की, और उसने प्रकट होकर उन्हें एक हार दिया जिसके पहनने से सत्यभामा की मनोकामना पूरी हुई। इस आख्यान से नैगमेश देव का संतानोत्पत्ति के साथ विशेष संबंध स्थापित होता है। उक्त देव व देवी की प्रायः समस्त मूर्तियां हार पहने हुए हैं, जो सम्भवतः इस कथानक के हार का प्रतीक है। डा० वासु-देवशरणजी का अनुमान है कि उपलम्य मूर्तियों पर से ऐसा प्रतीत होता है कि संतान-पालन में देव की अपेक्षा देवी की उपासना अधिक औचित्य रखती है; अतएव देव के स्थान पर देवी की कल्पना प्रारंभ हुई। तत्पश्चात् अजामुख का परित्याग करके सुन्दर स्त्री-मुख का रूप इस देव-देवी को दिया गया, और फिर देव-देवी दोनों ही एक साथ बालकों सहित दिखलाए जाने लगे। (जैन एनटी० १९३७ प्र० ३७ आदि) संभव है शिशु के पालन-पोषण में बकरी के दूध के महत्व के कारण इस अजामुख देवता की प्रतिष्ठा हुई हो?

कुछ मूर्तियों में, उदाहरणार्थ देवगढ़ के मंदिरों में व चन्द्रपुर (झांसी) से प्राप्त मूर्तियों में, एक वृक्ष के नीचे पास-पास बैठे हुए पुरुष और स्त्री दिखाई देते हैं, और वे दोनों ही एक बालक को लिए हुए हैं। पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व संचालक श्री दयाराम साहनी का मत है कि यह दृश्य भोगभूमि के युगल का है।

जैन चित्रकला

चित्रकला के प्राचीन उल्लेख—

भारतवर्ष में चित्रकला का भी बड़ा प्राचीन इतिहास है। इस कला के साहित्य मे बहुत प्राचीन उल्लेख पाये जाते हैं, तथापि इस कला के सुन्दरतम उदाहरण हमें अजन्ता की गुप्त-कालीन बौद्ध गुफाओं में मिलते हैं। यहां यह कला जिस विकसित रूप में प्राप्त होती है, वह स्वयं बतला रही है कि उससे पूर्व भी भारतीय कलाकारों ने अनेक वैसे भित्तिचित्र दीर्घकाल तक बनाए होंगे, तभी उनको इस कला का वह कौशल और अभ्यास प्राप्त हो सका जिसका प्रदर्शन हम उन गुफाओं में पाते हैं। किन्तु चित्र-

कला की आधारभूत सामग्री भी उसकी प्रकृति अनुसार ही बड़ी ललित और कोमल होती है। भित्ति का लेप और उसपर कलाकार के हाथों की स्याही की रेखाएं तथा रंगों का विन्यास काल की तथा धूप, वर्षा, पवन, आदि प्राकृतिक शक्तियों की कराला को उतना नहीं सह सकती जितना वास्तु व मूर्तिकला की पाषाणमयी कृतियां। इस कारण गुप्त काल से पूर्व के चित्रकलात्मक उदाहरण या तो नष्ट हो गये या बचे तो ऐसी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में जिससे उनके मौलिक स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो गया है।

प्राचीनतम जैन साहित्य में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। छठे जैन श्रुतांग नायाधम्म-कहाओ में धारणी देवी के शयनागार का सुन्दर वर्णन है जिसका छत लताओं, पुष्पवल्लियों तथा उत्तम जाति के चित्रों से अलंकृत था (ना० क० १६)। इसी श्रुतांग में मल्लदिन्न राजकुमार द्वारा अपने प्रमदवन में चित्रसभा बनवाने का वर्णन है। उसने चित्रकारों की श्रेणी को बुलवाया और उनसे कहा कि मेरे लिए एक चित्र-सभा बनाओ और उसे हाव, भाव, विलास, विभ्रमों से सुसज्जित करो। चित्रकार-श्रेणी ने इस बात को स्वीकार कर लिया और अपने-अपने घर जाकर तूलिकाएं और वर्ण (रंग) लाकर वे चित्र-रचना में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने भित्तियों का विभाजन किया, भूमि को लेपादि से सजाया और फिर उक्त प्रकार के चित्र बनाने लगे। उनमें से एक चित्रकार को ऐसी सिद्धि प्राप्त थी कि किसी भी द्विपद व चतुष्पद प्राणी का एक अंग मात्र देखकर उसकी पूरी रूपाकृति निर्माण कर सकता था। उसने राजकुमारी मल्लि के चरणांगुष्ट को पर्दे की ओट से देखकर उसकी यथावत् सर्वांगाकृति चित्रित कर दी (ना० क० ८, ७८)। इसी श्रुतांग में अन्यत्र (१३, ६६) मणिकार श्रेष्ठि नंद द्वारा राजगृह के उद्यान में एक चित्रसभा बनवाने का उल्लेख है, जिसमें सैकड़ों स्तम्भ थे, व नाना प्रकार के काष्ठकर्म (लकड़ी की कारीगरी), पुस्तकर्म (चूने सिमेंट की कारीगरी), चित्रकर्म (रंगों की कारीगरी) लेप्यकर्म (मिट्टी की आकृतियां) तथा नाना द्रव्यों को गूंथकर, वेष्टितकर, भरकर व जोड़कर बनाई हुई विविध आकृतियां निर्माण कराई गई थीं। बृहत्कल्पसूत्र भाष्य (२, ५, २६२) में एक गणिका का कथानक है, जो ६४ कलाओं में प्रवीण थी। उसने अपनी चित्रसभा में नाना प्रकार के, नाना जातियों व व्यवसायों के पुरुषों के चित्र लिखाये थे। जो कोई उसके पास आता उसे वह अपनी उस चित्र-सभा के चित्र दिखलाती, और उसकी प्रतिक्रियाओं पर से उनकी रुचि व स्वभाव को जानकर उनके साथ तदनुसार व्यवहार करती थी। आवश्यक टीका के एक पद्य में चित्रकार का उदाहरण देकर बतलाया है कि किसी भी व्यवसाय या अभ्यास हो, उसमें

पूर्ण प्रवीणता प्राप्त कराता है। चूर्णिकार ने इस बात को समझाते हुए कहा है कि निरंतर अभ्यास द्वारा चित्रकार रूपों के समुचित प्रमाण को बिना नापे-तौले ही साध लेता है। एक चित्रकार के हस्त-कौशल का उदाहरण देते हुए आवश्यक टीका में यह भी कहा है कि एक शिल्पी ने मयूर का पंख ऐसे कौशल से चित्रित किया था कि राजा उसे यथार्थ वस्तु समझकर हाथों में लेने का प्रयत्न करने लगा। आव० चूर्णिकार ने कहा है कि सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने में भाषा और विभाषा का वही स्थान है जो चित्रकला में। चित्रकार जब किसी रूप का संतुलित माप निश्चय कर लेता है, तब वह भाषा; और प्रत्येक अंगोपांग का प्रमाण निश्चित कर लेता है तब विभाषा, एवं जब नेत्रादि अंग चित्रित कर लेता है तब वह वार्ता की स्थिति पर पहुंचता है। इस प्रकार जैन साहित्यिक उल्लेखों से प्रमाणित है कि जैन परम्परा में चित्रकला का प्रचार अति प्राचीन काल में हो चुका था और यह कला सुविकसित तथा सुव्यवस्थित हो चुकी थी।

भित्ति-चित्र—

जैन चित्रकला के सबसे प्राचीन उदाहरण हमें तामिल प्रदेश के तंजोर के समीप सित्तन्नवासल की उस गुफा में मिलते हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। किसी समय इस गुफा में समस्त भितियां व छत चित्रों से अलंकृत थे, और गुफा का वह अलंकरण महेन्द्रवर्मा प्रथम के राज्य काल (ई० ६२५) में कराया गया था। शैव धर्म स्वीकार करने से पूर्व यह राजा जैनधर्मावलम्बी था। वह चित्रकला का इतना प्रेमी था कि उसने दक्षिण-चित्र नामक शास्त्र का संकलन कराया था। गुफा के अधिकाश चित्र तो नष्ट हो चुके हैं, किन्तु कुछ अब भी इतने सुव्यवस्थित हैं कि जिनसे उनका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इनमें आकाश में मेघों के बीच नृत्य करती हुई अप्सराओं की तथा राजा-रानी की आकृतियां स्पष्ट और सुन्दर हैं। छत पर के दो चित्र कमल-सरोवर के हैं। सरोवर के बीच एक युगल की आकृतियां हैं, जिनमे स्त्री अपने दाहिने हाथ से कमलपुष्प तोड़ रही है, और पुरुष उससे सटकर बाएं हाथ में कमल-नाल को कंधे पर लिए खड़ा है। युगल का यह चित्रण बड़ा ही सुन्दर है। ऐसा भी अनुमान किया गया है कि ये चित्र तत्कालीन नरेश महेन्द्रवर्मा और उनकी रानी के ही हैं। एक ओर हाथी अनेक कमलनालों को अपनी सूंड में लपेट कर उखाड़ रहा है, कहीं गाय कमलनाल चर रही है, हंस-युगल क्रीड़ा कर रहे है, पक्षी कमल मुकुलों पर बैठे हुए हैं, व मत्स्य पानी में चल-फिर रहे हैं। दूसरा चित्र भी इसी का क्रमानुगामी है। उसमें एक मनुष्य तोड़े हुए कमलों से भरी हुई टोकरी लिये हुए है, तथा हाथी और बैल क्रीड़ा कर रहे हैं।

हाथियों का रंग भूरा व बैलों का रंग मटियाला है। विद्वानों का अनुमान है कि ये चित्र तीर्थंकर के समवसरण की खातिका-भूमि के हैं, जिनमें भव्य-जन पूजा-निमित्त कमल तोड़ते हैं।

इसी चित्र का अनुकरण एलौरा के कैलाशनाथ मंदिर के एक चित्र में भी पाया जाता है। यद्यपि यह मंदिर शैव है, तथापि इसमें उक्त चित्र के अतिरिक्त एक ऐसा भी चित्र है जिसमें एक दिगम्बर मुनि को पालकी में बैठाकर यात्रा निकाली जा रही है। पालकी को चार मनुष्य पीछे की ओर व आगे एक मनुष्य धारण किये हैं। पालकी पर छत्र भी लगा हुआ है। आगे-आगे पांच योद्धा भालों और ढालों से सुसज्जित चल रहे हैं। इन योद्धाओं की मुखाकृति, केशविन्यास, भौंहें, आंखों व मूछों की बनावट तथा कर्ण-कुण्डल बड़ी सजीवताको लिए हुए हैं। बांयी ओर इनके स्वागत के लिये आती हुई सात स्त्रियां, और उनके आगे उसी प्रकार से सुसज्जित सात योद्धा दिखाई देते हैं। योद्धाओं के पीछे ऊपर की ओर छत्र भी लगा हुआ है। स्त्रियां सिरों पर कलश आदि मंगल द्रव्य धारण किये हुए हैं। उनकी साड़ी की पहनावट दक्षिणी ढंग की कच्छ है, तथा उत्तरीय दाहिनी बाजू से बांये कंधे पर डाला हुआ है। उसके पीछे वंदनवार बने हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार यह दृष्य भट्टारक सम्प्रदाय के जैनमुनि के राजद्वार पर स्वागत का प्रतीत होता है। डा० मोतीचन्दजी का अनुमान है कि एक हिन्दू मंदिर में इस जैन दृष्य का अस्तित्व १२ वी शती में मंदिर के जैनियों द्वारा बलात् स्वाधीन किये जाने की सम्भावना को सूचित करता है। किन्तु समस्त जैनधर्म के इतिहास को देखते हुए यह बात असम्भव सी प्रतीत है। यह चित्र सम्भवतः चित्र निर्मापक की धार्मिक उदारता अथवा उसपर किसी जैन मुनि के विशेष प्रभाव का प्रतीक है। एलोरा के इन्द्रसभा नामक शैलमंदिर (८ वीं से १० वी शती ई०) में भी रंगीन भित्तिचित्रों के चिन्ह विद्यमान हैं, किन्तु वे इतने छिन्न-भिन्न हैं, और धुंधले हो गये हैं कि उनका विशेष वृत्तान्त पाना असम्भव है।

१०-११ वीं शती में जैनियों ने अपने मंदिरों में चित्रनिर्माण द्वारा दक्षिण प्रदेश में चित्रकला को खूब पुष्ट किया। उदाहरणार्थ, तिरु मलाई के जैनमंदिर में अब भी चित्रकारी के सुन्दर उदाहरण विद्यमान हैं जिनमें देवता व किंपुरुष आकाश में मेघों के बीच उड़ते हुए दिखाई देते हैं। देव पंक्तिबद्ध होकर समोसरण की ओर जा रहे हैं। गंधर्व व अप्सराएं भी बने हैं। एक देव फूलों के बीच खड़ा हुआ है। श्वेत वस्त्र धारण किये अप्सराएं पंक्तिबद्ध स्थित हैं। एक चित्र में दो मुनि परस्पर सम्मुख बैठे दिखाई देते हैं। यहीं दिगंबर मुनि आहार देने वाली महिला को धर्मोपदेश दे रहे

हैं। एक देवता चतुर्भुज व त्रिनेत्र दिखाई देता है, जो सम्भवतः इन्द्र है। ये सब चित्र काली भित्ति पर नाना रंगों से बनाए गये हैं। रंगों की चटक अजन्ता के चित्रों के समान है। देवों, आर्यों व मुनियों के चित्रों में नाक व ठुड्डी का अंकन कोणात्मक तथा दूसरी आंख मुखाकृति के बाहर को निकली हुई सी बनाई गई है। आगे की चित्रकला इस शैली से बहुत प्रभावित पायी जाती है।

श्रवणबेलगोला के जैनमठ में अनेक सुन्दर भित्ति-चित्र विद्यमान हैं। एक में पार्श्वनाथ समोसरण में विराजमान दिखाई देते है। नेमिनाथ की दिव्य-ध्वनि का चित्रण भी सुन्दरता से किया गया है। एक वृक्ष और छह पुरुषों द्वारा जैनधर्म की छह लेश्याओं को समझाया गया है, जिनके अनुसार वृक्ष के फलों को खाने के लिए कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति सारे वृक्ष को काट डालता है, नीललेश्या वाला व्यक्ति उसकी बड़ी-बड़ी शाखाओं को, कपोतलेश्या वाला उसकी टहनियों को, पीतलेश्या वाला उसके कच्चे-पके फलों को और पद्मलेश्या वाला केवल पके फलों को तोड़ता है। किन्तु शुक्ललेश्या वाला व्यक्ति वृक्ष को लेशमात्र भी हानि नहीं पहुंचाता हुआ पककर गिरे हुए फलों को चुनकर खाता है। मठ के चित्रों में ऐसे अन्य भी धार्मिक उपदेशों के दृष्टान्त पाये जाते हैं। यहां एक ऐसा चित्र भी है, जिसमे मैसूर नरेश कृष्णराज ओडयर (तृतीय) का दशहरा दरबार प्रदर्शित किया गया है।

ताड़पत्रीय चित्र—

जैन मंदिरों में भित्ति-चित्रों की कला का विकास ११ वी शती तक विशेष रूप से पाया जाता है। तत्पश्चात् चित्रकला का आधार ताड़पत्र बना। इस काल से लेकर १४-१५ वी शती तक के हस्तलिखित ताड़पत्र ग्रंथ जैन शास्त्र-भंडारो में सहस्रों की संख्या मे पाये जाते हैं। चित्र बहुधा लेख के ऊपर, नीचे व दायें-बाएं हाशियों पर, और कहीं पत्र के मध्य में भी बने हुए हैं। ये चित्र बहुधा शोभा के लिए, अथवा धार्मिक रुचि बढ़ाने के लिए अंकित किये गये हैं। ऐसे चित्र बहुत ही कम हैं जिनका विषय ग्रंथ से संबंध रखता हो।

सबसे प्राचीन चित्रित ताड़पत्र ग्रंथ दक्षिण में मैसूर राज्यान्तर्गत मूडबिद्री तथा उत्तर में पाटन (गुजरात) के जैन भंडारों में मिले हैं। मूडबिद्री में षट्खंडागम की ताड़पत्रीय प्रतियां, उसके ग्रंथ व चित्र दोनों दृष्टियों से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। दिगम्बर जैन परम्परानुसार सुरक्षित साहित्य में यही रचना सबसे प्राचीन है। इसका मूल द्वितीय शती, तथा टीका ९ वीं शती में रचित सिद्ध होती है। मूडबिद्री के इस ग्रंथ

की तीन प्रतियों में सबसे पीछे की प्रति का लेखन काल ११११ ई० के लगभग है। इसमें पांच ताडपत्र सचित्र हैं। इनमें से दो ताड़पत्र तो पूरे चित्रों से भरे हैं, दो के मध्यभाग में लेख हैं, और दोनों तरफ कुछ चित्र, तथा एक में पत्र तीन भागों में विभाजित है, और तीनों भागों में लेख हैं; किन्तु दोनों छोरों पर एक-एक चक्राकृति बनी है। चक्र की परिधि में भीतर की ओर अनेक कोणाकृतियां और मध्यभाग में उसी प्रकार का दूसरा छोटा सा चक्र है। इन दोनों के वलय में कुछ अंतराल से छह चौकोण आकृतियां बनी हैं। जिन दो पत्रों के मध्य में लेख और आजू-बाजू चित्र हैं, उनमें से एक पत्र में पहले वेलबूटेदार किनारी और फिर दो-दो विविध प्रकार की सुन्दर गोलाकृतियां हैं। दूसरे पत्र में दांई ओर खड्गासन नग्न मूर्तियां हैं, जिनके सम्मुख दो स्त्रियां नृत्य जैसी भाव-मुद्रा में खड़ी हैं। इनका केशों का जूड़ा चक्राकार व पुष्पमाला युक्त है, तथा उत्तरीय दाएं कंधे के नीचे से बाएं के ऊपर फैला हुआ है। पत्र के बायीं ओर पद्मासन जिनमूर्ति प्रभावल-युक्त है। सिंहासन पर कुछ पशुओं की आकृतियां बनी हैं। मूर्ति के दोनों ओर दो मनुष्य-आकृतियां हैं, और उनके पार्श्व में स्वतंत्र रूप से खड़ी हुई, और दूसरी कमलासीन हंसयुक्त देवी की मूर्तियां हैं। जो दो पत्र पूर्णतः चित्रों से अलंकृत हैं, उनमें से एक के मध्य में पद्मासन जिनमूर्ति है, जिसके दोनों ओर एक-एक देव खड़े हैं। इस चित्र के दोनों ओर समान रूप से दो-दो पद्मासन जिनमूर्तियां हैं, जिनके सिरके पीछे प्रभावल, उसके दोनों ओर चमर, और ऊपर की ओर दो चक्रों की आकृतियां हैं। तत्पश्चात् दोनों ओर एक-एक चतुर्भुजी देवी की भद्रासन मूर्ति है, जिनके दाहिने हाथ में अंकुश और बाएं हाथ में कमल है। अन्य दो हाथ वरद और अभय मुद्रा में हैं। दोनों छोरों के चित्रों में गुरु अपने सम्मुख हाथ जोड़े बैठे श्रावकों को धर्मोपदेश दे रहे हैं। उनके बीच में स्थापनाचार्य रखा है। दूसरे पत्र के मध्यभाग में पद्मासन जिनमूर्ति है, और उसके दोनों ओर सात-सात साधु नाना प्रकार के आसनों व हस्त-मुद्राओं सहित बैठे हुए हैं। इन ताड़पत्रों की सभी आकृतियां बड़ी सजीव और कला-पूर्ण हैं। विशेष बात यह है कि इन चित्रों में कहीं भी परली आंख मुखरेखा से बाहर की ओर निकली हुई दिखाई नहीं देती। नासिका व ठुड्डी की आकृति भी कोणाकार नहीं है, जैसे कि हम आगे विकसित हुई पश्चिमी जैनशैली में पाते हैं।

उक्त चित्रों के समकालीन पश्चिम की चित्रकला के उदाहरण निशीथ-चूर्णि की पाटन के संघवी-पाड़ा के भंडार में सुरक्षित ताड़पत्रीय प्रति में मिलते हैं। यह प्रति उसकी प्रशस्ति अनुसार भृगुकच्छ (भड़ौच) में सोलंकी नरेश जयसिंह (ई० १०९४ से ११४३) के राज्यकाल में लिखी गई थी। इसमें अलंकरणात्मक चक्राकार

आकृतियां बहुत हैं, और वे प्रायः उसी शैली की हैं जैसी ऊपर वर्णित षट्खंडागम की। हां, एक चक्र के भीतर हस्तिवाहक का, तथा अन्यत्र पुष्पमालाएं लिए हुए दो अप्सराओं के चित्र विशेष हैं। इनमें भी षट्खंडागम के चित्रों के समान पहली आंख की आकृति मुख-रेखा के बाहर नहीं निकली। ११२७ ई० में लिखित खम्भात के शान्तिनाथ जैनमंदिर में स्थित नगीनदास भंडार की ज्ञाताधर्मसूत्र की ताड़पत्रीय प्रति के पद्मासन महावीर तीर्थंकर आस पास चौरी वाहकों सहित, तथा सरस्वती देवी का त्रिभंग चित्र उल्लेखनीय है। देवी चतुर्भुज है। ऊपर के दोनों हाथों मे कमलपुष्प तथा निचले हाथों में अक्षमाला व पुस्तक है। समीप में हंस भी है। देवी के मुख की प्रसन्नता व अंगों का हाव-भाव और विलास सुन्दरता से अंकित किया गया है।

वड़ौदा जनपद के अन्तर्गत छाणी के जैन-ग्रंथ-भंडार की ओघनिर्युक्ति की ताड़पत्रीय प्रति (ई० ११६१) के चित्र विशेष महत्व के हैं, क्योंकि इनमें १६ विद्यादेवियों तथा अन्य देवियों और यक्षों के सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं। विद्यादेवियों के नाम हैं:– रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशी, चक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गांधारी, महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी, और महामानसी। अन्य देव-देवी हैं :– कापर्दीयक्ष, सरस्वती, अम्बिका, महालक्ष्मी, ब्रह्मशान्ति। सभी देवियां चतुर्भुज व भद्रासन हैं। हाथों मे वरद व अभय मुद्रा के अतिरिक्त शक्ति, अंकुश, धनुष, वाण, शृंखला, शंख, असि, ढाल, पुष्प, फल व पुस्तक आदि चिन्ह हैं। मस्तक के नीचे प्रभावल, सिर पर मुकुट, कान में कर्णफूल व गले में हार भी विद्यमान है। अम्बिका के दो ही हाथ है। दाहिने हाथ में बालक, और बाएं हाथ में आम्रफलों के गुच्छे सहित डाली। इन सब आकृतियों में परली आंख निकली हुई है, तथा नाक व ठुड्डी की कोणाकृति स्पष्ट दिखाई देती है। शोभांकन समस्त रूढ़ि-आत्मक है। इस जैनग्रंथ में इन चित्रों का अस्तित्व यह बतलाता है कि इस काल की कुछ जैन उपासना-विधियों में अनेक वैष्णव व शैवी देवी-देवताओं को भी स्वीकार कर लिया गया था।

सन् १२८८ में लिखित सुबाहु-कथादि कथा-संग्रह की ताड़पत्र प्रति में २३ चित्र हैं, जिनमें से अनेक अपनी विशेपता रखते हैं। एक में भगवान् नेमिनाथ की वरयात्रा का सुन्दर चित्रण है। कन्या राजीमती विवाह-मंडप में बैठी हुई है, जिसके द्वार पर खड़ा हुआ मनुष्य हस्ति-आरूढ़ नेमीनाथ का हाथ जोड़कर स्वागत कर रहा है। नीचे की ओर मृगाकृतियां बनी हैं। दो चित्र वलदेव मुनि के हैं। एक में मृगादि पशु वलदेव मुनि का उपदेश श्रवण कर रहे हैं, और दूसरे में वे एक वृक्ष के नीचे मृग सहित खड़े ए रथवाही से आहार ग्रहण कर रहे है। इस ग्रंथ के चित्रों में डा० मोतीचन्द के

मतानुसार पशु व वृक्षों का चित्रण ताड़पत्र में प्रथम बार अवतरित हुआ है, तथा इन चित्रों में पश्चिमी भारत की चित्र-शैली स्थिरता को प्राप्त हो गई है। कोणाकार रेखांकन व नासिका और ठुड्डी का चित्रण तथा परली आंख की आकृति मुख रेखा से बाहर निकली हुई यहां रूढ़िबद्ध हुई दिखायी देती है।

इस चित्रशैली के नामकरण के संबंध में मतभेद है। नार्मन ब्राउन ने इसे श्वेताम्बर जैन शैली कहा है; क्योंकि उनके मतानुसार इसका प्रयोग श्वे० जैन ग्रन्थों में ही हुआ है, तथा परली आंख को निकली हुई अंकित करने का कारण सम्भवतः उस सम्प्रदाय में प्रचलित तीर्थंकर मूर्तियों में कृत्रिम आंख लगाना है। डा० कुमार स्वामी ने इसे जैनकला, तथा श्री एन० सी० मेहता ने गुजराती शैली कहा है। श्री रायकृष्णदास का मत है कि इस शैली में हमें भारतीय चित्रकला का ह्रास दिखाई देता है। अतः उसे इस काल में विकसित हुई भाषा के अनुसार अपभ्रंश शैली कहना उचित होगा। किन्तु इन सबसे शताब्दियों पूर्व तिब्बतीय इतिहासज्ञ तारानाथ (१६ वीं शती ई०) ने पश्चिम भारतीय शैली का उल्लेख किया है, और डा० मोतीचन्द ने इसी नाम का औचित्य स्वीकार किया है, क्योंकि उपलब्ध प्रमाणों पर से इस शैली का उद्गम और विकास पश्चिम भारत में ही, विशेषतः गुजरात-राजपूताना प्रदेश में, हुआ सिद्ध होता है। तारानाथ के मतानुसार पश्चिमी कला-शैली मरु (मारवाड़) के शृंगधर नामक कुशल चित्रकार ने प्रारम्भ की थी, और वह हर्षवर्धन (६१० से ६५० ई०) के समय में हुआ था। यह शैली क्रमशः नेपाल और काश्मीर तक पहुंच गई। इस शैली के उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि यदि इसकी उत्पत्ति नहीं तो विशेष पुष्टि अवश्य ही जैन परम्परा के भीतर हुई, और इसीलिए उसका जैनशैली नाम अनुचित नहीं। पीछे इस शैली को अन्य पश्चिम प्रदेश के बाहर के लोगों ने तथा जैनेतर सम्प्रदायों ने भी अपनाया तो इससे उसकी उत्पत्ति व पुष्टि पर आधारित 'पश्चिमी' व 'जैन' कला कहने में कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। इस आधार पर श्री साराभाई नवाब ने जो इस शैली के लिये पश्चिमी जैनकला नाम सुझाया है वह भी सार्थक है।

ऊपर जिन ताड़पत्रीय चित्रों का परिचय कराया गया है, उनके सामान्य लक्षण ये हैं:—विषय की दृष्टि से ये तीर्थंकरों, देव-देवियों, मुनियों व धर्मरक्षकों की आकृतियों तक ही प्रायः सीमित हैं। संयोजन व पृष्ठभूमि की समस्याएं चित्रकार के सम्मुख नहीं उठीं। उक्त आकृतियों की मुद्राएं भी बहुत कुछ सीमित और रूढ़िगत हैं आकृति-अंकन रेखात्मक है, जिससे उनमें त्रिगुणात्मक गहराई नहीं आ सकी। इनमें

का प्रयोग भी परिमित है। प्रायः भूमि लाल पकी हुई ईंटों के रंगकी, और आकृतियों में ीले, सिंदूर जैसे लाल, नीले और सफेद तथा क्वचित् हरे रंग का उपयोग हुआ है। किन्तु सन् १३५० और १४५० ई० के बीच में एक शती के जो ताड़पत्रीय चित्रों के उदाहरण मिले हैं, उनमें शास्त्रीय व सौंदर्य की दृष्टि से कुछ वैशिष्टय देखा जाता है। आकृति-अंकन अधिक सूक्ष्मतर व कौशल से हुआ है। आकृतियों में विषय की दृष्टि से तीर्थंकरों के जीवन की घटनाएं भी अधिक चित्रित हुई हैं, और उनमें विवरणात्मकता लाने का प्रयत्न दिखाई देता है, तथा रंगलेप में वैचित्र्य और विशेष चटकीलापन आया है। इसीकाल में सुवर्णरंग का प्रयोग प्रथमवार दृष्टिगोचर होता है। यह सब मुसलमानो के साथ आई हुई ईरानी चित्रकला का प्रभाव माना जाता है, जिसके बल से आगे चलकर अकबर के काल (१६ वीं शती) में वह भारतीय ईरानी चित्रशैली विकसित हुई, जो मुगल-शैली के नाम से सुप्रसिद्ध हुई पाई जाती हैं, इस शैली की प्रतिनिधि रचनाएं अधिकाश कल्पसूत्र की प्रतियो में पाई जाती है, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण ईडर के 'आनंद जी मंगलजी पेढी' के ज्ञानभंडार की वह प्रति है जिसमें ३४ चित्र हैं, जो महावीर के और कुछ पार्श्वनाथ व नेमिनाथ तीर्थंकरों की जीवन-घटनाओं से संबद्ध है। इसमें सुवर्ण रंग का प्रथम प्रयोग हुआ है। आगे चलकर तो ऐसी भी रचनाएं मिलती हैं जिनमें न केवल चित्रों में ही सुवर्ण रंग का प्रचुर प्रयोग हुआ है, किन्तु.समस्त ग्रंथ-लेख ही सुवर्ण की स्याही से किया गया है; अथवा समस्त भूमि ही सुवर्ण-लिप्त की गई है, और उसपर चांदी की स्याही से लेखन किया गया है। कल्पसूत्र की आठ ताड़पत्र तथा बीस कागज की प्रतियों पर से लिए हुए ३७४ चित्रों सहित कल्पसूत्र का प्रकाशन भी हो चुका है। (पवित्रकल्पसूत्र, अहमदाबाद, १६५२)। प्रोफेसर नार्मन ब्राउन ने अपने 'दी स्टोरी आफ कालक' (वाशिंगटन, १६३३) नामक ग्रंथ में ३६ चित्रों का परिचय कराया है; तथा साराभाई नवाब ने अपने कालक कथा-संग्रह (अहमदाबाद, १६५८) में ६ ताड़पत्र और ६ कागज की प्रतियों परसे ८८ चित्र प्रस्तुत किये हैं। डा० मोतीचन्द ने अपने 'जैन मिनिएचर पेंटिंग्स फ्राम वैस्टर्न इंडिया' (अहमदावाद, १६४६) में २६२ चित्र प्रस्तुत किए हैं, और उनके आधार से जैन चित्रकला का अति महत्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

कागज पर चित्र—

कागज का आविष्कार चीन देश में १०५ ई० में हुआ माना जाता है। १०वीं

११ वीं शती में उसका निर्माण अरब देशों में होने लगा, और वहां से भारत में आया। मुनि जिनविजय जी को जैसलमेर के जैन भंडार से ध्वन्यालोक-लोचन की उस प्रति का अंतिम पत्र मिला है जो जिनचन्द्रसूरि के लिये लिखी गई थी, तथा जिसका लेखनकाल, जिनविजय जी के कहे अनुसार, सन् ११६० के लगभग है। कारंजा जैन भण्डार से उपासकाचार (रत्नकरंड श्रावकाचार) की प्रभाचन्द्र कृत टीका सहित कागज की प्रति का लेखनकाल वि० सं० १४१५ (ई० सन् १३५८) है। किन्तु कागज की सबसे प्राचीन चित्रित प्रति ई० १४२७ में लिखित यह कल्पसूत्र है जो लंदन की इंडिया आफिस लायब्रेरी में सुरक्षित है। इसमें ३१ चित्र हैं और उसी के साथ जुड़ी हुई कालकाचार्य-कथा में अन्य १३। इस ग्रन्थ के समस्त ११३ पत्र चांदी की स्याही से काली व लाल पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं। कुछ पृष्ठ लाल या सादी भूमि पर सुवर्ण की स्याही से लिखित भी हैं। प्रति के हासियों पर शोभा के लिए हाथियों व हंसों की पंक्तियां, फूल-पत्तियां अथवा कमल आदि बने हुए हैं। लक्ष्मणगणी कृत सुपासणाह-चरियं की एक सचित्र प्रति पाटन के श्री हेमचन्द्राचार्य जैन-ज्ञानभंडार में सम्वत् १४७९ (ई० १४२२) में पं० भावचन्द्र के शिष्य हीरानंद मुनि द्वारा लिखित है। इसमें कुल ३७ चित्र हैं जिनमें से ६ पूरे पत्रों में व शेष पत्रों के अर्द्ध व तृतीय भाग में हासियों में बने हैं। इनमें सुपार्श्व तीर्थंकर के अतिरिक्त सरस्वती, मातृस्वप्न, विवाह, समवसरण, देशना आदि के चित्र बड़े सुन्दर हैं। इसके पश्चात्कालीन कल्पसूत्र की अनेक सचित्र प्रतियां नाना जैन भण्डारों में पाई गई हैं, जिनमें विशेष उल्लेखनीय बड़ौदा के नरसिंहजी ज्ञानभण्डार में सुरक्षित है। यह प्रति यवनपुर (जौनपुर, उ० प्र०) में हुसैनशाह के राज्य में वि० सं० १५२२ में हर्षिणी श्राविका के आदेश से लिखी गई थी। इसमें ८६ पृष्ठ हैं, और समस्त लेखन सुवर्ण-स्याही से हुआ है। इसमें आठ चित्र हैं, जिनमें ऋषभदेव का राज्याभिषेक, भरत-बाहुबलि युद्ध, महावीर की माता के स्वप्न, कोशा का नृत्य आदि चित्रित हैं। इन चित्रों में लाल भूमि पर पीले, हरे, नीले आदि रंगों के अतिरिक्त सुवर्ण का भी प्रचुर प्रयोग है। आकृतियों में पश्चिमी शैली के पूर्वोक्त लक्षण सुस्पष्ट हैं। स्त्रियों की मुखाकृति विशेष परिष्कृत पाई जाती है, और उनके ओष्ठ लाक्षारस से रंजित दिखाए गए हैं। अन्य विशेष उल्लेखनीय कल्पसूत्र की अहमदाबाद के देवशेन पाड़ा की प्रति है, जो भड़ौच के समीप गंधारबंदर के निवासी साणा और जूठा श्रेष्ठियों के वंशजों द्वारा लिखाई गई थी। यह भी सुवर्ण स्याही से लिखी गई है। कला की दृष्टि से इसके कोई २५-२६ चित्र इस प्रकार के ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं, क्योंकि इनमें भरत नाट्य शास्त्र में वर्णित नाना नृत्य-मुद्राओं का अंकन पाया जाता है। एक चित्र में महावीर द्वारा

चंडकौशिक नाग के वशीकरण की घटना दिखाई गई है। इसकी किनारियों का चित्रण भी बहुत सुन्दर हुआ है, और वह ईरानी-कला से प्रभावित माना जाता है। उसमें अकबरकालीन मुगलशैली का आभास मिलता है।

कागज की उपर्युक्त सचित्र प्रतिया श्वेताम्बर-परम्परा की हैं, जो प्रकाश में आ चुकी हैं, और विशेषज्ञों द्वारा उनके चित्रों का अध्ययन भी किया जा चुका है। दुर्भाग्यतः दिगम्बर जैन भण्डारों की इस दृष्टि से अभी तक खोज शोध होनी शेष है। अनेक शास्त्र-भण्डारों में सचित्र प्रतियों का पता चला है। उदाहरणार्थ—दिल्ली के एक शास्त्र-भण्डार में पुष्पदंत कृत अपभ्रंश महापुराण की एक प्रति है, जिसमें सैंकडों चित्र तीर्थंकरों के जीवन की घटनाओं को प्रदर्शित करने वाले विद्यमान हैं। नागौर के शास्त्र-भण्डार में एक यशोधर-चरित्र की प्रति है, जिसके चित्रों की उसके दर्शकों ने बड़ी प्रशंसा की है। नागपुर के शास्त्र-भण्डार से सुगंधदशमी कथा की प्रति मिली है जिसमें उस कथा को उदाहृत करने वाले ७० से अधिक चित्र है। बम्बई के ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन में भक्तामर स्तोत्र की सचित्र प्रति है जिसमें लगभग ४० चित्र हैं, जिनमें आदिनाथ का चतुर्मुख कमलासन प्रतिबिम्ब भी है। इसके एक ओर दिग० साधु व दूसरी ओर कोई मुकुट-धारी नरेश उपासक के रूप में खड़े हैं। नेमीचन्द्र कृत त्रिलोकसागर की सचित्र प्रतियां मिलती हैं, जिनमें नेमीचन्द्र व उनके शिष्य महामंत्री चामुण्डरायके चित्र पाये जाते हैं। इन सब चित्रों के कलात्मक अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। उससे जैन चित्रकला पर प्रकाश पड़ने की और भी अधिक आशा की जा सकती है।

कागज का आधार मिलने पर चित्रकला की रीति में कुछ विकास और परि-वर्तन हुआ। ताडपत्र में विस्तार की दृष्टि से चित्रकार के हाथ बंधे हुए थे। उसे दो-ढाई इंच से अधिक चौड़ा क्षेत्र ही नही मिल पाता था। कागज में यह कठिनाई जाती रही, और चित्रण के लिए यथेष्ट लम्बान-चौड़ान मिलने लगा, जिससे रुचि अनुसार चित्रो के बड़े-छोटे आकार निर्माण व सम्पुजन में बड़ी सुविधा उत्पन्न हो गई। रंगों के चुनाव में भी विस्तार हुआ। ताड़पत्र पर रंगो को जमाना एक कठिन कार्य था। कागज रंग को सरलता से पकड़ लेता है। इसके अतिरिक्त सोने-चादी के रंगों का भी उपयोग प्रारंभ हुआ। इसके पूर्व सुवर्ण के रंग का भी उपयोग बहुत ही अल्प मात्रा में तूलिका को थोड़ा सा डुबाकर केवल आभूषणों के अंकन के लिए किया जाता था। सम्भवतः उस समय सुवर्ण की मंहगाई भी इसका एक कारण था। किन्तु इस काल में सुवर्ण कुछ अधिक सुलभ प्रतीत होता है। अथवा चित्रकला की ओर धनिक रुचियों का ध्यान आकर्षित हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप न केवल चित्रण में, किन्तु

ग्रंथ लेखन में भी सुवर्ण व चांदी की स्याहियों का प्रचुरता से प्रयोग होने लगा। सुवर्ण की चमक से चित्रकार यहां तक प्रभावित हुए पाये जाते हैं कि बहुधा समस्त चित्रभूमि सुवर्ण-लिप्त कर दी जाने लगी, एवं जैन मुनियों के वस्त्र भी सुवर्ण-रंजित प्रदर्शित किये जाने लगे। जितना अधिक सुवर्ण का उपयोग, उतना अधिक सौन्दर्य; इस भावना को कलाभिरुचि की एक विकृति ही कहना चाहिए। तथापि इसमें संदेह नहीं कि नाना रंगों के बीच सुवर्ण के समुचित उपयोग से कागज पर की चित्रकारी में एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है।

काष्ठ चित्र—

जैन शास्त्रभण्डारों में काष्ठ के ऊपर भी चित्रकारी के कुछ नमूने प्राप्त हुए हैं। ये काष्ठ आदितः ताड़पत्रों की प्रतियों की रक्षा के लिए उनके ऊपर-नीचे रखे जाते थे। ऐसा एक सचित्र काष्ठ चित्रपट मुनि जिनविजय जी को जैसलमेर के ज्ञान-भण्डार से प्राप्त हुआ है। यह २७ इंच लम्बा और ३ इंच चौड़ा है। रंग ऐसे पक्के हैं कि वे पानी से धुलते नहीं। पट के मध्य में जैन मंदिर की आकृति है, जिसमें एक जिनमूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों ओर परिचारक खड़े हैं। दाहिनी ओर कोष्ठक में दो उपासक अंजलि-मुद्रा में खड़े हैं; दो व्यक्ति डिंडिम बजाने में मस्त हैं, और दो नर्तकियां नृत्य कर रही हैं। ऊपर की ओर आकाश में एक किन्नरी उड़ रही है। बाएं प्रकोष्ठ में तीन उपासक हाथ जोड़े हैं, और एक किन्नर आकाश में उड़ रहा है। इस मध्यवर्ती चित्र के दोनों ओर व्याख्यान-सभा हो रही है। एक में आचार्य जिनदत्त सूरि विराजमान हैं, और उनका नाम भी लिखा है। उनके सम्मुख पं० जिनरक्षित बैठे हुए हैं। अन्य उपासक-उपासिकाएं भी हैं। मुनि के सम्मुख स्थापनाचार्य रखा हुआ है और उसपर महावीर का नाम भी लिखा है। दाहिनी ओर की व्याख्यान-सभा में आचार्य जिनदत्त, गुणचन्द्राचार्य से विचार-विमर्श कर रहे हैं। इन दोनों के बीच में भी स्थापनाचार्य बना हुआ है। मुनि जिनविजय जी का अनुमान है कि यह चित्रपट जिनदत्त सूरि के जीवन-काल का ही हो तो आश्चर्य नहीं। उनका जन्म वि० सं० ११३२, और स्वर्गवास वि० सं० १२११ में हुआ सिद्ध है। सम्भव है उपर्युक्त चित्रण उनके मारवाड़ अन्तर्गत विक्रमपुर के मंदिर में दीक्षाग्रहण के काल का ही हो। मुनि जिनविजय जी द्वारा जैसलमेर के ज्ञान-भण्डार से एक और सचित्र काष्ठ-पट का पता चला है, जो ३० इंच लम्बा और ३ इंच चौड़ा है। इसमें वादिदेव सूरि और आचार्य कुमुदचन्द्र के बीच हुए शास्त्रार्थ सम्बन्धी नाना घटनाओं का चित्रण किया गया है। श्री साराभाई नवाब

के संग्रह में एक १२ वी शती का काष्ठ-पट ३० इंच लम्वा तथा पौने तीन इंच चौड़ा है, जिसमें भरत और बाहुबलि के युद्ध का विवरण चित्रित है। इसमें हाथी, हंस, सिंह, कमलपुष्प आदि के चित्र बहुत सुन्दर बने हैं। वि० सं० १४५६ में लिखित सूत्रकृतांग-वृत्तिकी ताड़पत्रीय प्रति का काष्ठ-पट साढ़े चौंतीस इंच लम्बा और तीन इंच चौड़ा महावीर की घटनाओं से चित्रित पाया गया है। इसी प्रकार सं० १४२५ में लिखित धर्मोपदेशमाला का काष्ठ-पट सवा पैंतीस इंच लम्बा और सवा तीन इंच चौड़ा है, और उसपर पार्श्वनाथ की जीवन-घटनाएं चित्रित हैं। ये सभी काष्ठ-चित्र सामान्यतः उसी पश्चिमी शैली के हैं, जिसका ऊपर परिचय दिया जा चुका है।

वस्त्र पर चित्रकारी—

वस्त्र पर चित्र बनाने की कला भारत वर्ष में बड़ी प्राचीन है। पालि ग्रंथों व जैन आगमों में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। महावीर का शिष्य, और पश्चात् विरोधी मंखलि गोशाल का पिता, व दीक्षित होने से पूर्व स्वयं गोशाल, चित्रपट दिखाकर जीविका चलाया करते थे। किन्तु वस्त्र बहुत नश्वर द्रव्य है, और इसलिए स्वभावतः इसके बहुत प्राचीन उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी १४ वीं शती के आगे के अनेक सचित्र जैन वस्त्र-पट पाये जाते हैं। एक चिन्तामणि नामक वस्त्र-पट साढ़े उन्नीस इंच लम्वा तथा साढे सत्तरह इंच चौड़ा वि० सं० १४११ (ई० १३५४) का बना बीकानेर निवासी श्री अगरचन्द्र नाहटा के संग्रह में है। इसमें पद्मासन पार्श्वनाथ, उनके यक्ष-यक्षिणी धरणेन्द्र-पद्मावती तथा चौरी-वाहकों का चित्रण है। ऊपर की ओर पार्श्व-यक्ष और वैरोट्या-देवी तथा दो गंधर्व भी बने हुए हैं। नीचे तरुणप्रभाचार्य और उनके दो शिष्यों के चित्र हैं। ऐसा ही एक मंत्र-पट श्री साराभाई नवाब के संग्रह में है, जिसमें महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी कमलासन पर विराजमान हैं, और उनके दोनो ओर मुनि स्थित हैं। मण्डल के बाहर अश्वारूढ़ काली तथा भैरव एवं धरणेंद्र और पद्मावती के भी चित्र हैं। यह चित्रपट भावदेव सूरि के लिए वि० सं० १४१२ में बनाया गया था। एक जैन वस्त्र-पट डा० कुमारस्वामी के संग्रह में भी है, जो उनके मतानुसार १६ वीं शती का, किन्तु डा० मोतीचन्द्र जी के मतानुसार १५ वीं शती के प्रारंभ का है। पट के वामपार्श्व में पार्श्वनाथ के समवसरण की रचना है। इसके आजू-बाजू यक्ष-यक्षिणियों के अतिरिक्त ओंकार की पांच आकृतियां, चन्द्रकला की आकृति पर आसीन सम्भवतः पांच सिद्ध, तथा सुधर्मास्वामी और नवग्रहों के चित्र हैं। पट के मध्य में पार्श्वनाथ की प्रतिमा ध्वजायुक्त व शिखरवद्ध मंदिर में विराजमान

चित्रित की गई है। अनुमान किया गया है कि यह मंदिर शत्रुंजय का है, और वे पांच सिद्धमूर्तियां पांच पाण्डवों की हैं, जिन्होंने शत्रुंजय से मोक्ष प्राप्त किया था। ऐसे और भी अनेक वस्त्रपट प्राप्त हुए हैं। इनका उपयोग सम्भवतः उपासना व ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए किया जाता था। किन्तु कला की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है।

उपसंहार

उपर्युक्त चार व्याख्यानों में जैनधर्म के इतिहास, साहित्य, तत्त्वज्ञान और कला का जो संक्षेप परिचय दिया गया है उससे उसकी मौलिक प्रेरणाओं और साधनाओं द्वारा भारतीय संस्कृति की परिपुष्टि का स्वरूप समझा जा सकता है। इस धर्म की आधार-भूमि उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीनतम वैदिक परम्परा, क्योंकि ऋग्वेद में ही केशी जैसे वातरशना मुनियों की उन साधनाओं का उल्लेख है जो उन्हें वैदिक ऋषियों से पृथक् तथा श्रमण मुनियों से अभिन्न प्रमाणित करती हैं। केशी और आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का एकत्व भी हिन्दू और जैन पुराणों से सिद्ध होता है।

कोशल से प्रारम्भ होकर यह श्रमण धर्म पूर्व की ओर विदेह और मगध, तथा पश्चिम की ओर तक्षशिला व सौराष्ट्र तक फैला; एवं अन्तिम तीर्थंकर महावीर द्वारा ईस्वी पूर्व छठी शती में अपना सुव्यवस्थित स्वरूप पाकर उनके अनुयायिओं द्वारा अखिल देश व्यापी बना। उसने समय-समय पर उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न राजवंशों एव बहुजन समाज को प्रभावित किया, तथा अपने आन्तरिक गुणों के फल-स्वरूप वह अविच्छिन्न धारावाही रूप से आज तक देश में अपना अस्तित्व सुरक्षित रखे हुए है।

जिन आन्तरिक गुणों के बल पर जैनधर्म गत तीन-चार हजार वर्षो से इस देश के जन-जीवन में व्याप्त है वे हैं उसकी आध्यात्मिक भूमिका, नैतिक विन्यास एवं व्यवहारिक उपयोगिता और सन्तुलन। यहां प्रकृति के जड़ और चेतन तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार कर चेतन को जड़ से ऊपर उठाने और परमात्मत्व प्राप्त कराने की कला का प्रतिपादन किया गया है। विश्व के अनादि-अनन्त प्रवाह में जड़-चेतन रूप द्रव्यों के नाना रूपों और गुणों के विकास के लिये यहां किसी एक ईश्वर की इच्छा व अधीनता को स्वीकार नहीं किया गया; जीव और अजीव तत्त्वों के परिणामी नित्यत्व गुण के द्वारा हीं समस्त विकार और विकास के मर्म को समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया हैं। सत्ता स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, और ऐसी सत्ता रखने वाले समस्त द्रव्य गुण-पर्याय-युक्त हैं। इन्हीं मौलिक सिद्धान्तों में जैन-दर्शन-सम्मत पदार्थों के नित्यानित्यत्व स्वरूप का मर्म अन्तर्निहित है। इस जानकारी के अभाव में प्राणी भ्रान्त हुए भटकते और बन्धन में पड़े रहते हैं। इस तथ्य की ओर सच्ची दृष्टि और उसका सच्चा ज्ञान एवं तदनुसार आचरण हो जाने पर ही कोई पूर्ण स्वातंत्र्य व

बन्धन-मुक्ति रूप मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। यही, जैन दर्शनानुसार, जीवन का सर्वोच्च ध्येय और लक्ष्य है।

व्यावहारिक दृष्टि से विरोध में सामञ्जस्य, कलह में शान्ति व जीव मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न होना ही सच्चा दर्शन, ज्ञान और चारित्र है जिसकी आनुषंगिक साधनायें हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप नियम तथा क्षमा, मृदुता आदि गुण। नाना प्रकार के व्रतों और उपवासों, भावनाओं और तपस्याओं, ध्यानों और योगों का उद्देश्य यही विश्वजनीन आत्मवृत्ति प्राप्त करना है। समत्व का बोध और अभ्यास कराना ही अनेकान्त व स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तों का साध्य है।

जीवन में इस वृत्ति को स्थापित करने के लिये तीर्थंकरों और आचार्यों ने जो उपदेश दिया वह सहस्रों जैन ग्रंथों में ग्रथित है। ये ग्रंथ नाना प्रदेशों और भिन्न-भिन्न युगों की विविध भाषाओं में लिखे गये। अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश प्राकृतों एवं संस्कृत में जैन धर्म का विपुल साहित्य उपलब्ध है जो अपने भाषा, विषय, शैली व सजावट के गुणों द्वारा अपनी विशेषता रखता है। आधुनिक लोक-भाषाओं व उनकी साहित्यिक विधाओं के विकास को समझने के लिये तो यह साहित्य अद्वितीय महत्वपूर्ण है।

साहित्य के अतिरिक्त गुफाओं, स्तूपों, मन्दिरों और मूर्तियों तथा चित्रों आदि ललित कला की निर्मितियों द्वारा भी जैन धर्म ने, न केवल लोक का आध्यात्मिक व नैतिक स्तर उठाने का प्रयत्न किया है, किन्तु समस्त देश के भिन्न-भिन्न भागों को सौन्दर्य से सजाया है। इनके दर्शन से हृदय विशुद्ध और आनन्द-विभोर हो जाता है।

जैन धर्म की इन विविध और विपुल उपलब्धियों को जाने-समझे बिना भारतीय संस्कृति का ज्ञान परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जैन धर्म ने वर्ण-जाति रूप समाज-विभाजन को कभी महत्व नहीं दिया। यह बात राष्ट्रीय दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। आज के ईर्ष्या और संघर्ष के विष से दग्ध संसार को जीवमात्र के कल्याण और उत्कर्ष की भावनाओं से ओत-प्रोत इस उपदेशामृत की बड़ी आवश्यकता है।

१. शिवयशा का स्तूपवाला आयागपट, मथुरा (पृ० ३०४)
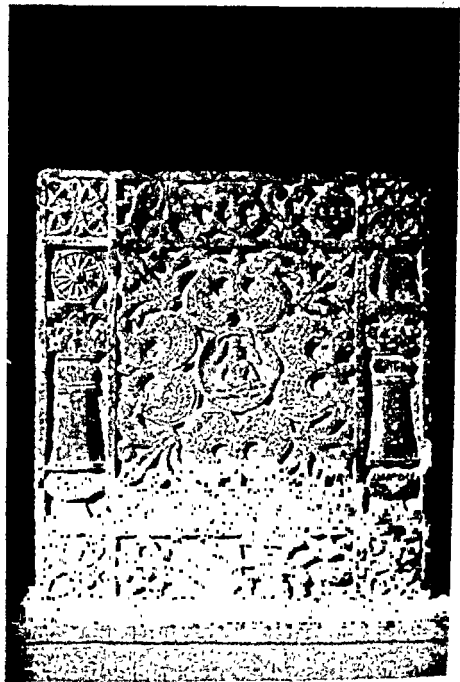
२. मथुरा का जिनमूर्तिमुक्त आयागपट (पृ० ३०५)
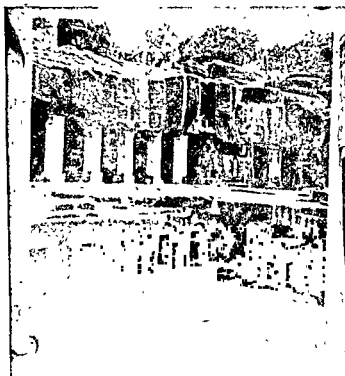
३. दुमजली रानी गुम्फा (पृ० ३०८)

४. उदयगिरि रानीगुम्फा के तोरण द्वार पर त्रिरत्न व अशोक वृक्ष
(पृष्ठ ३०८ नं. ३४३)

५. रानी गुम्फा का भित्ति चित्र (पृ० ३०८)
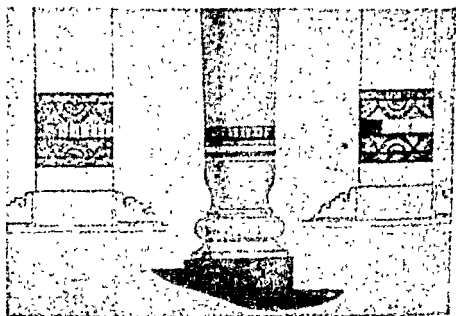
६. गेरापुर की प्रधान गुफा के स्तम्भों की चित्रकारी (पृ० ३११)

७. तेरापुर की प्रधान गुफा के भित्ति चित्र (पृ० ३११ व ३६३)
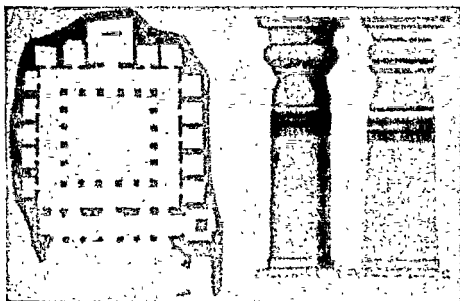
८. तेरापुर की तीसरी गुफा का विन्यास व स्तम्भ (पृ० ३११)

९. एलोरा की इन्द्रसभा का ऊपरी मंजिल (पृ० ३१४)

१०. ऐहोल का मेगुटी जैन मंदिर (पृ० ३२२)
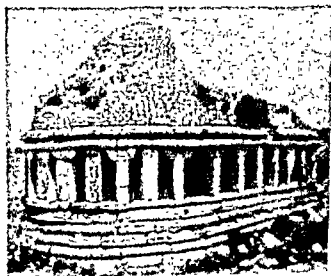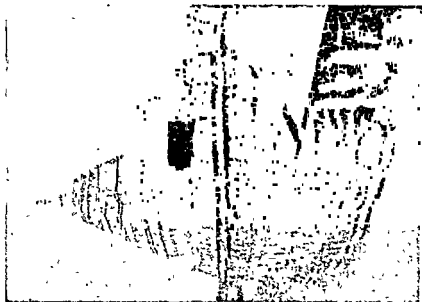
११. लकुंडी का जैन मंदिर (पृ० ३२३)
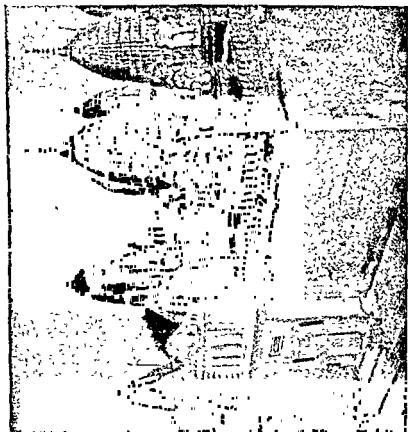
१२. खजराहो के जैन मंदिरों का सामूहिक दृश्य (पृ० ३२८)

१३. खजराहो के पार्श्वनाथ मंदिर के भित्ति चित्र (पृ० ३२८)
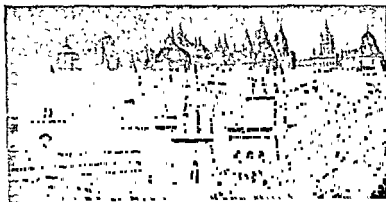
१४. सोनागिरि के जैन मंदिरों का सामूहिक दृश्य (पृ० ३३०)
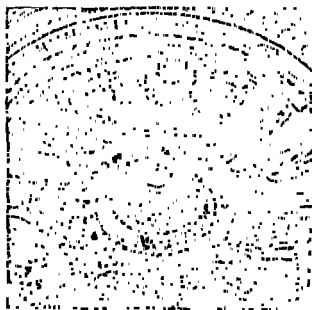
१५. आबू जैन मंदिर के छत की कारीगरी (पृ० ३३५)
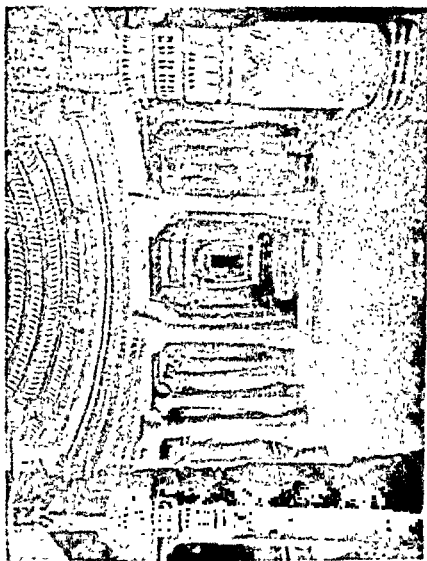
१६. राणकपुर का जैन मंदिर (पृ० ३३७)
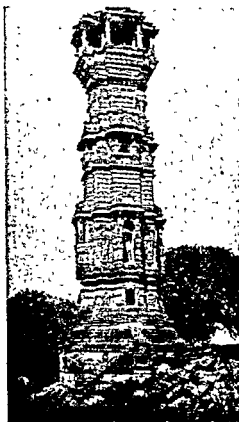
१७. चित्तौड़ का जैन कीर्तिस्तम्भ (पृ० ३३८)
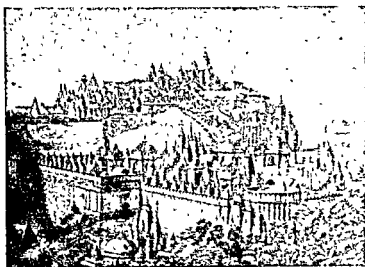
१८. शत्रुंजय के जैन मंदिरों का सामूहिक दृश्य (पृ० ३३८)

१९. लोहानीपुर की मस्तकहीन जिन मूर्ति (पृ० १४७)

२०. सिंधघाटी की मस्तकहीन मूर्ति (पृ० १४७)

२१, सिंधघाटी की त्रिशृंगयुक्त ध्यानस्थ मूर्ति
(पृ० ३४२)

२२. ऋषभ की खड्गासन धातु प्रतिमा,
चौसा, बिहार (पृ० ३५१)
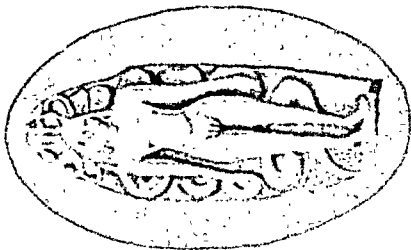
२१. तेरापुर गुफा के पद्मासन पार्श्वनाथ (पृ० ११२)
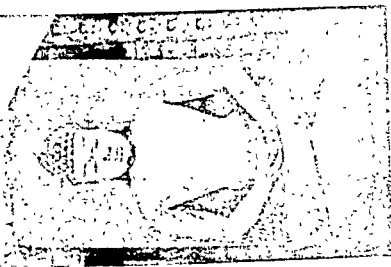
२४. तेरापुर गुफा के खड्गासन पार्श्वनाथ (पृ० ११२)

२५. पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति, उदयगिरि, विदिशा (पृ० ३११ व ३४७)

२६. देवगढ़ की पद्मासन जिन प्रतिमा (पृ० ३२७ व ३४७)

[illegible]. देवगढ़ की पद्मासन जिन प्रतिमा

२८. देवगढ़ की पद्मासन जिन प्रतिमा

२९. देवगढ़ की खड्गासन जिन प्रतिमा (पृ० ३२७ व ३४७)
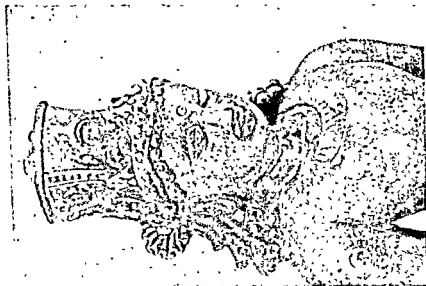
३०. जीवन्त स्वामी की धातु प्रतिमा, अकोट (पृ० ३५२)
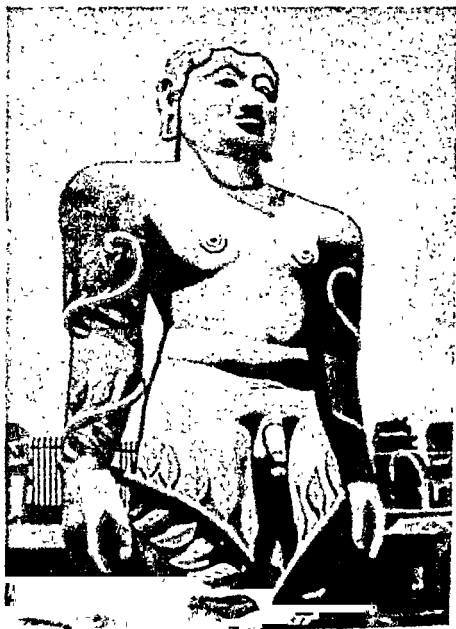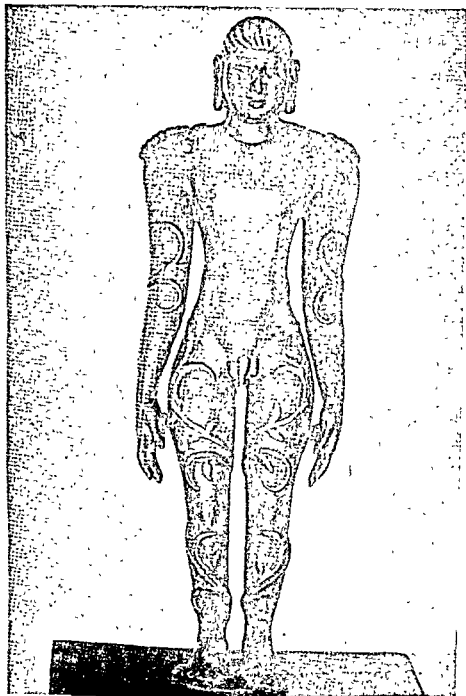
११. श्रवणबेलगोला के गोम्मटेश्वर बाहुबलि (पृ० ३३३)

३२. बाहुबलि की धातु प्रतिमा (पृ० ३५३)

३४. चन्द्रपुर, झाँसी, की युगल प्रतिमा (पृ० ३६१)

३३. देवगढ़ जैन मंदिर की युगल प्रतिमा (पृ० ३६१)

३५. मूड़बिद्री के सिद्धांत ग्रन्थों के ताड़पत्रीय चित्र (पृ० ३६५)
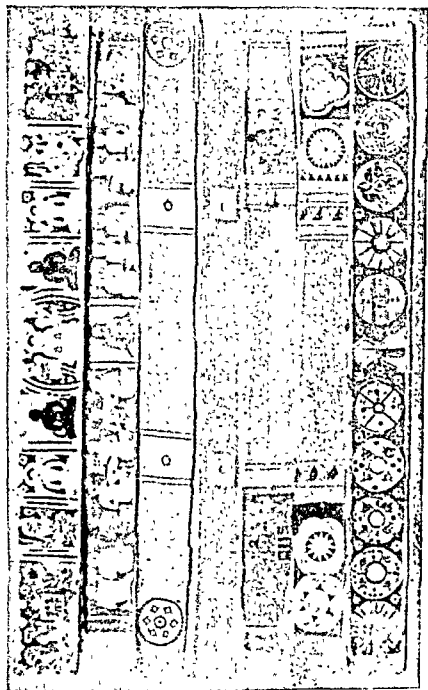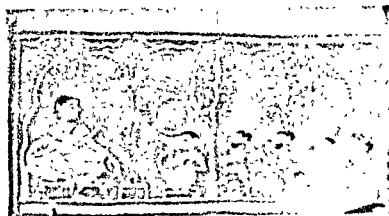
३९. सुपासनाह चरिय का कागज चित्र (पृ० ३७०)

ग्रन्थ-सूची

सूचना :- व्याख्यानों में प्रायः आधारभूत ग्रंथों का कुछ संकेत यथास्थान कर दिया गया है। विशेष परिचय व अध्ययन के लिये निम्न ग्रंथ उपयोगी होंगे :—

व्याख्यान १

जैन इतिहास

1 History and Culture of the Indian People, Vol. I—V (Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay).
2 Mysore and Coorg from the Inscriptions, by B. Rice (London, 1909).
3 Studies in South Indian Jainism, by M.S.R. Iyyangar & B. Seshgiri Rao (Madras, 1922).
4 Rashtrakutas and their Times — A.S. Altekar (Poona, 1934).
5 Mediaval Jainism, by B.A. Saletore (Bombay, 1938).
6 Jainism and Karnataka Culture, by S.R. Sharma (Dharwar, 1940).
7 Traditional Chronology of the Jainas, by S. Shah (Stuttgart, 1935).
8. Jainism in North India, by C.J. Shah (London, 1932).
9 Life in Ancient India as depicted in the Jaina Canons, by J.C. Jain (Bombay, 1947).
10 Jainism, the oldest living religion, by Jyotiprasad Jain (Banaras, 1951).
11 Jainism in South India, by P.B. Desai (Sholapur, 1957).
12 Yasastilaka and Indian Culture, by K. K. Handiquī (Sholapur, 1949).
13 Jainism in Gujrat, by C.B. Seth (Bombay, 1953).
14 Jaina System of Education, by B.C. Dasgupta (Calcutta, 1942).
15 Jain Community — A Social Survey, by V. A. Sangave (Bombay, 1959).
16 History of Jaina Monachism, by S.B. Deo (Poona, 1956).
17 Repertoire di Epigraphie Jaina, by A. Guerinot (Paris, 1908)

१८ श्रमण भगवान् महावीर—कल्याणविजय (जालोर, १९४१)
१९ वीर निर्वाण संवत् और जैनकाल गणना—कल्याण विजय, (नागरी प्रचारिणी पत्रिका १०-४ काशी, १९३०)
२० जैन लेख संग्रह (भा. १-३) पु. चं. नाहर (कलकत्ता, १९१८-२९)
२१ पट्टावली समुच्चय—दर्शनविजय (वीरमगाम, गुजरात, १९३३)
२२ जैन शिलालेख संग्रह, भाग १-३ (मा. दि. जै. ग्रंथमाला, बम्बई)
२३ भट्टारक सम्प्रदाय—वि. जोहरापुरकर (सोलापुर, १९५८)
२४ जैन सिद्धान्त भास्कर (पत्रिका) भा. १-२२, सिद्धान्त भवन, आरा
२५ अनेकान्त (पत्रिका) भा. १-१२ (वीर सेवामन्दिर, दिल्ली)

व्याख्यान २

जैन साहित्य

26 Outline of the Religious Literature of India, by J.N. Farquhar (Oxford, 1920).
27 A History of Indian Literature, Vol. II (Jaina Lit.), by M. Winternitz (Calcutta, 1933).
28 History of the Jaina Canonical Literature, by H.R. Kapadia (Bombay, 1941).
29 Die Lehre Der Jainas, by W. Schubring, (Berlin, 1935).
30 Die Jaina Handschriften, by W. Schubring (Leifozing, 1944).
31 Essai De Bibliography Jaina, by A Guerinot (Paris, 1906).
32 Jaina Bibliography: Chhotelal Jain (Calcutta, 1945).
33 Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in C.P. & Berar (Nagpur, 1926).
34 Prakrit Languages and their Contribution to Indian Culture, by S.K. Katre (Bombay, 1945).
35 Die Kosmographic der Inder, by H. Kierfel (Leipzig, 1920).
३६ जैन ग्रंथावलि – (जै. श्वे. कांफरेंस, बम्बई, १६०८)
३७ जिन रत्न कोश– ह. दा. वेलणकर (पूना, १६४४)
३८ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ-सूची, भा. १–४, कस्तूरचन्द्र कासलीवाल (जयपुर)
३६ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (गुज.) – मो. द. देसाई (बम्बई, १६३३)
४० प्राकृत साहित्य का इतिहास–जगदीशचन्द्र जैन (चौखंभा विद्या भवन, वराणसी, १६६१)
४१ प्राकृत और उसका साहित्य–हरदेव बाहरी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)
४२ अपभ्रंश साहित्य–हरिवंश कोछड़ (दिल्ली, १६५६)
४३ जैन ग्रंथ और ग्रंथकार–फतेहचन्द वेलानी (जै. सं. सं. मण्डल, बनारस, १६५०)
४४ जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह–जु. कि. मुख्तार और परमानन्द शास्त्री, (दिल्ली, १६५४)
४५ पुरातन जैन वाक्य सूची (प्रस्तावना) – जु. कि. मुख्तार (सहारनपुर १६५०)
४६ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश–जु. कि. मुख्तार (कलकत्ता, १६५६)
४७ जैन साहित्य और इतिहास–नाथूराम प्रेमी (बम्बई, १६५६)
४८ प्रकाशित जैन साहित्य – जैन मित्र मंडल, धर्मपुरा, दिल्ली १६५८

५२ ज्ञातृधर्मकथा (णायाधम्मकहाओ) पाठान्तरसहित पूर्ण तथा अध्ययन ४ और ८ एवं ६ और १६ का अंग्रेजी अनुवाद – एन. व्ही. वैद्य (पूना, १६४०)

५३ उपासक दशा–अंग्रेजी अनुवाद. भूमिका व टिपण आदि सहित–हार्नले (कलकत्ता १८८५–८८) भूमिका, वर्णकादिविस्तार व अंग्रेजी टिप्पणी सहित–प. ल. वैद्य (पूना, १६३०)

५४ अन्तकृद्दशा
५५ अनुत्तरौपपातिक } अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद, टिप्पण व शब्दकोश सहित–एम. सी. मोदी (अहमदाबाद १६३२) व अंग्रेजी भूमिका, स्कंदक कथानक व शब्दकोश सहित – प. ल. वैद्य (पूना १६३२)

५६ विपाक सूत्र–अंग्रेजी भूमिका, वर्णकादि विस्तार व शब्दकोश सहित – प. ल. वैद्य (पूना, १६३३) व अनुवाद व टिप्पण सहित – चौकसी और मोदी (अहमदाबाद, १६३५)

५७ औपपातिक सूत्र – मूलपाठ व पाठान्तर – एन. जी. सुरु (पूना, १६३६)

५८ रायपसेणिय –अंग्रेजी अनुवाद व टिप्पणों सहित भाग १–२ –एन. व्ही. वैद्य (अहमदाबाद, १६३८) व हीरालाल बी. गांधी (सूरत, १६३८)

५६ निरयावलियाओ (अन्तिम ५ उपांग) अंग्रेजी भूमिका व शब्दकोश सहित–पी. एल. वैद्य (पूना, १६३२)

६० जीतकल्पसूत्र – भाष्यसहित – पुण्यविजय (अहमदाबाद, वि. सं. १६६४), व्याख्या व चूर्णि सहित – जिनविजय (अहमदाबाद, वि. सं. १६८३)

६१ कल्प-व्यवहार-निशीथसूत्र पाठान्तर सहित–वाल्टर शुब्रिंग (लाइपजिग व अहमदाबाद)

६२ निशीथ – एक अध्ययन – दलसुख मालवणिया (आगरा, १६५६)

६३ स्टूडिएन इन महानिशीथ – हेम एण्ड शुब्रिंग, हेमबर्ग, १६५१

६४ उत्तराध्ययन – अंग्रेजी प्रस्तावना, टिप्पण आदि सहित–जार्ल चार्पेंटियर (उपसाला, १६१४)

६५ दशवैकालिक – अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद, व टिप्पण सहित – ल्यूमन और वाल्टर शुब्रिंग (अहमदाबाद १६३२)

६६ नन्दीसूत्र – हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना, शब्दकोश आदि सहित – हस्तिमल्लमुनि (सूथा, सतारा, १६४२)

ग्रंथमालायें जिनमें महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं

१ आगमोदय समिति, सूरत व बम्बई
२ जीवराज जैन ग्रंथमाला (जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर)
३ जैन आत्मानंद सभा, भावनगर
४ जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
५ देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई व सूरत
६ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई
७ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)
८ यशोविजय जैन ग्रंथमाला, बनारस व भावनगर
९ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला (परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई)
१० सिंघी जैन ग्रंथमाला (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)

अर्धमागधी जैनागम

पृ. ५५ से ७५ तक जिन ४५ आगम ग्रंथोंका परिचय दिया गया है उनका मूलपाठ टीकाओं सहित दो तीन बार कलकत्ता, बम्बई व अहमदाबाद से सन् १८७५ और उसके पश्चात् प्रकाशित हो चुका है। ये प्रकाशन आलोचनात्मक रीति से नहीं हुए। इनमें का अन्तिम संस्करण आगमोदय समिति, द्वारा प्रकाशित है। किन्तु यह भी अब दुर्लभ हो गया है। स्थानकवासी सम्प्रदाय में मान्य ३२ सूत्रों का पहले अमोलक ऋषि द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित हैदराबाद से (१९१८) व हाल ही मूलमात्र प्रकाशन सूत्रागम प्रकाशन समिति द्वारा किया गया है (गुडगांव, पंजाब, १९५१) विशेष सावधानी से भूमिकादि सहित प्रकाशित कुछ ग्रंथ निम्न प्रकार हैं :—

४९ आचाराङ्ग– ह. याकोबी (पा. टै. सो. लंदन, १८८२)
उन्हीं का अंग्रेजी अनुवाद (सै. बु. ई. २२) प्रथम श्रुतस्कंध (शब्दकोष व पाठ-भेदों सहित) –वा. शुब्रिंग, लीपजिग १९१०, अहमदाबाद, सं. १९८०)

५० सूत्रकृताङ्ग (निर्युक्ति सहित) – प. ल. वैद्य (पूना, १९२८) शीलाङ्कृत टीका व हिन्दी अनुवादादिसहित भा. १–३ –जवाहिरलाल महाराज (राजकोट वि. सं. १९९३–९५

५१ भगवती, शतक १–२० हिन्दी विषयानुवाद, शब्दकोष आदि. मदनकुमार मेहता (कलकत्ता वि. सं. २०११)

५२ ज्ञातृधर्मकथा (णायाधम्मकहाओ) पाठान्तरसहित पूर्ण तथा अध्ययन ४ और ८ एवं ९ और १६ का अंग्रेजी अनुवाद – एन. व्ही. वैद्य (पूना, १९४०)

५३ उपासक दशा–अंग्रेजी अनुवाद. भूमिका व टिप्पण आदि सहित–हार्नले (कलकत्ता १८८५–८८) भूमिका, वर्णकादिविस्तार व अंग्रेजी टिप्पणी सहित– प. ल. वैद्य (पूना, १९३०)

५४ अन्तकृद्दशा
५५ अनुत्तरौपपातिक } अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद, टिप्पण व शब्दकोश सहित–एम. सी. मोदी (अहमदाबाद १९३२) व अंग्रेजी भूमिका, स्कंदक कथानक व शब्दकोश सहित – प. ल. वैद्य (पूना १९३२)

५६ विपाक सूत्र–अंग्रेजी भूमिका, वर्णकादि विस्तार व शब्दकोश सहित – प. ल. वैद्य (पूना, १९३३) व अनुवाद व टिप्पण सहित – चौकसी और मोदी (अहमदाबाद, १९३५)

५७ औपपातिक सूत्र – मूलपाठ व पाठान्तर – एन. जी. सुरु (पूना, १९३६)

५८ रायपसेणिय –अंग्रेजी अनुवाद व टिप्पणी सहित भाग १–२ –एन. व्ही. वैद्य (अहमदाबाद, १९३८) व हीरालाल बी. गांधी (सूरत, १९३८)

५९ निरयावलियाओ (अन्तिम ५ उपांग) अंग्रेजी भूमिका व शब्दकोश सहित– पी. एल. वैद्य (पूना, १९३२)

६० जीतकल्प सूत्र – भाष्यसहित – पुण्यविजय (अहमदाबाद, वि. सं. १९९४), व्याख्या व चूर्णि सहित – जिनविजय (अहमदाबाद, वि. सं. १९८३)

६१ कल्प-व्यवहार-निशीथसूत्र पाठान्तर सहित–वाल्टर शुब्रिंग (लाइपजिग व अहमदाबाद)

६२ निशीथ – एक अध्ययन – दलसुख मालवणिया (आगरा, १९५९)

६३ स्टूडिएन इन महानिशीथ – हेम एण्ड शुब्रिंग, हेमबर्ग, १९५१

६४ उत्तराध्ययन – अंग्रेजी प्रस्तावना, टिप्पण आदि सहित–जार्ल चार्पेंटियर (उपसाला, १९१४)

६५ दशवैकालिक – अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद, व टिप्पण सहित – ल्यूमन और वाल्टर शुब्रिंग (अहमदाबाद १९३२)

६६ नन्दीसूत्र – हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना, शब्दकोश आदि सहित – हस्तिमल्लमुनि (सूया, सतारा. १९४२)

ग्रंथमालायें जिनमें महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं

१ आगमोदय समिति, सूरत व बम्बई
२ जीवराज जैन ग्रंथमाला (जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर)
३ जैन आत्मानंद सभा, भावनगर
४ जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
५ देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई व सूरत
६ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई
७ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)
८ यशोविजय जैन ग्रंथमाला, बनारस व भावनगर
९ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला (परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई)
१० सिंघी जैन ग्रंथमाला (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)

अर्धमागधी जैनागम

पृ. ५५ से ७५ तक जिन ४५ आगम ग्रंथोंका परिचय दिया गया है उनका मूलपाठ टीकाओं सहित दो तीन बार कलकत्ता, बम्बई व अहमदाबाद से सन् १८७५ और उसके पश्चात् प्रकाशित हो चुका है। ये प्रकाशन आलोचनात्मक रीति से नहीं हुए। इनमें का अन्तिम संस्करण आगमोदय समिति, द्वारा प्रकाशित है। किन्तु यह भी अब दुर्लभ हो गया है। स्थानकवासी सम्प्रदाय में मान्य ३२ सूत्रों का पहले अमोलक ऋषि द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित हैदराबाद से (१९१८) व हाल ही मूलमात्र प्रकाशन सूत्रागम प्रकाशन समिति द्वारा किया गया है (गुडगाव, पंजाब, १९५१) विशेष सावधानी से भूमिकादि सहित प्रकाशित कुछ ग्रंथ निम्न प्रकार हैं :—

४९ आचाराङ्ग– ह. याकोबी (पा. टै. सो. लंदन, १८८२)
उन्हीं का अंग्रेजी अनुवाद (सै. बु. ई. २२) प्रथम श्रुतस्कंध (शब्दकोष व पाठ-भेदों सहित) –वा. शुब्रिंग, लीपजिग १९१०, अहमदाबाद, सं. १९८०)

५० सूत्रकृताङ्ग (निर्युक्ति सहित) – प. ल. वैद्य (पूना, १९२८) शीलाङ्कक्रृत टीका व हिन्दी अनुवादादिसहित भा. १–३ –जवाहिरलाल महाराज (राजकोट वि. सं. १९९३–९५

५१ भगवती, शतक १–२० हिन्दी विषयानुवाद, शब्दकोष आदि. मदनकुमार महता (कलकत्ता वि. सं. २०११)

५२ ज्ञातृधर्मकथा (णायाधम्मकहाग्रो) पाठान्तरसहित पूर्ण तथा अध्ययन ४ और ८ एवं ६ और १६ का अंग्रेजी अनुवाद – एन. व्ही. वैद्य (पूना, १९४०)

५३ उपासक दशा–अंग्रेजी अनुवाद. भूमिका व टिपण आदि सहित–हार्नले (कलकत्ता १८८५–८८) भूमिका, वर्णकादिविस्तार व अंग्रेजी टिप्पणी सहित– प. ल. वैद्य (पूना, १९३०)

५४ अन्तकृद्दशा } अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद, टिप्पण व शब्दकोश सहित–एम. सी.
५५ अनुत्तरौपपातिक } मोदी (अहमदाबाद १९३२) व अंग्रेजी भूमिका, स्कंदक कथानक व शब्दकोश सहित – प. ल. वैद्य (पूना १९३२)

५६ विपाक सूत्र–अंग्रेजी भूमिका, वर्णकादि विस्तार व शब्दकोश सहित – प. ल. वैद्य (पूना, १९३३) व अनुवाद व टिप्पण सहित – चौकसी और मोदी (अहमदाबाद, १९३५)

५७ औपपातिक सूत्र – मूलपाठ व पाठान्तर – एन. जी. सुरु (पूना, १९३६)

५८ रायपसेणिय –अंग्रेजी अनुवाद व टिप्पणी सहित भाग १–२ –एन. व्ही. वैद्य (अहमदाबाद, १९३८) व हीरालाल बी. गांधी (सूरत, १९३८)

५९ निरयावलियाओ (अन्तिम ५ उपांग) अंग्रेजी भूमिका व शब्दकोश सहित– पी. एल. वैद्य (पूना, १९३२)

६० जीतकल्प सूत्र – भाष्यसहित – पुण्यविजय (अहमदाबाद, वि. सं. १९९४), व्याख्या व चूर्णि सहित – जिनविजय (अहमदाबाद, वि. सं. १९८३)

६१ कल्प-व्यवहार-निशीथसूत्र पाठान्तर सहित–वाल्टर शुब्रिंग (लाइपजिग व अहमदावाद)

६२ निशीथ – एक अध्ययन – दलसुख मालवणिया (आगरा, १९५९)

६३ स्टूडिएन इन महानिशीथ – हेम एण्ड शुब्रिंग, हेमवर्ग, १९५१

६४ उत्तराध्ययन – अंग्रेजी प्रस्तावना, टिप्पण आदि सहित–जार्ल चार्पेंटियर (उपसाला, १९१४)

६५ दशवैकालिक – अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद, व टिप्पण सहित – ल्यूमन और वाल्टर शुब्रिंग (अहमदाबाद १९३२)

६६ नन्दीसूत्र – हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना, शब्दकोश आदि सहित – हस्तिमल्लमुनि (सूया, सतारा. १९४२)

शौरसेनी जैनागम–द्रव्यानुयोग

६७ षट्खंडागम (धवला टीका स.) भाग १–१६ भूमिका, हिन्दी अनुवाद, अनुक्रमणिकादि सहित – डॉ. हीरालाल (अमरावती व विदिशा १९३९–१९५९)
६८ महाबंध –भाग १–७ हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९४७–१९५८)
६९ कसाय पाहुड (जय धवला टीका स.) (जैन संघ मथुरा, १९४४ आदि)
७० कसाय पाहुड – सूत्र और चूर्णि अनुवादादि सहित (वीरशासन संघ, कलकत्ता, १९५५)
७१ गोम्मटसार – जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड – अंग्रेजी अनुवाद सहित – जे. एल. जैनी (सेक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स. आरा ग्रं. ५, ६, ७) हिन्दी अनुवाद सहित (रायचंद्र शास्त्रमाला. बम्बई, १९२७–२८)
७२ पञ्चसंग्रह (प्राकृत) – संस्कृत टीका व प्राकृत वृत्ति, हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (ज्ञानपीठ, काशी, १९६०)
७३ पञ्चसंग्रह (अमितगति सं.) (मा. ग्रं. बम्बई, १९२७)
७४ पञ्चसंग्रह (चन्द्रर्षि) स्वोपज्ञवृत्ति स. (आगमोदय समिति, बम्बई, १९२७) मलयगिरि टीका सहित (जामनगर, १९७८)
७५ कर्मप्रकृति (शिवशर्म) – मलयगिरि और यशोवि. टीकाओं सहित (जैनधर्म प्रसा. सभा, भावनगर)
७६ कर्मविपाक (कर्मग्रंथ १) – पं. सुखलालकृत भूमिका व हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा, १९३९)
७७ कर्मस्तव (कर्मग्रंथ २) –हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९१८)
७८ बंधस्वामित्व (कर्मग्रंथ ३) हि. अ. सहित (आगरा, १९२७)
७९ षडशीति (कर्मग्रंथ ४) पं. सुखलाल कृत प्रस्तावना अनुवादादि सहित (आगरा, १९२२)
८० शतक (कर्मग्रंथ ५) पं. कैलाशचन्द्रकृत भूमिका व्याख्या सहित (आगरा १९४२)
८१ सप्ततिका प्रकरण (क. ग्रंथ ६) पं. फूलचन्द्रकृत प्रस्तावना व्याख्या सहित (आगरा १९४८)
८२ प्रवचनसार (कुंदकुंद) – अमृतचन्द्र व जयसेनकृत संस्कृत टीका, हेमराज कृत हिन्दी व्याख्या व डॉ. उपाध्ये कृत अंग्रेजी प्रस्तावना अनुवादादि सहित (रायचंद्र शा. मा. बम्बई, १९३५)

८३ समयसार (कुंदकुंद) –प्रो. चक्रवर्ती कृत अंग्रेजी प्रस्तावना व अनुवाद सहित (ज्ञानपीठ, काशी, १९५०) अमृतचन्द्र व जयसेन कृत संस्कृत टीका व जयचन्द्र कृत हिन्दी टीका सहित (अहिंसा मन्दिर, दिल्ली, १९५९) ज. जैनीकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित (अजिताश्रम, लखनऊ, १९३०)

८४ पञ्चास्तिकाय (कुदकुंद) – प्रो. चक्रवर्ती कृत अंग्रेजी भूमिका व अनुवाद सहित (आरा १९२०) अमृतचन्द्र व जयसेन कृत सं. टीका तथा मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु. सहित (रायचन्द्र जै. शा. मा. बम्बई, १९०४)

८५ नियमसार (कुंदकुंद) – उग्रसेन कृत अंग्रेजी अनु. सहित (अजिताश्रम, लखनउ, १९३१) पद्मप्रभ कृत संस्कृत टीका व ब्रह्म. शी. प्र. कृत हिन्दी व्याख्या स. (बम्बई, १९१६)

८६ अष्टपाहुड (कुंदकुंद) जयचंद्रकृत हिन्दी वचनिका स. (अनन्तकीर्ति ग्रं. मा. बम्बई, १९२३)

८७ षट्प्राभृतादि संग्रह (कुंदकुंद) श्रुतसागर कृत संस्कृत टीका व लिंग और शील प्राभृत, रयणसार व द्वादशानुप्रेक्षा संस्कृत छाया मात्र स. (मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई वि. सं. १९७७)

८८ कुन्दकुन्दप्राभृत संग्रह पं. कैलाशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स. (जीवराज जैन ग्रं. शोलापुर, १९६०)

द्रव्यानुयोग संस्कृत

८९ तत्वार्थसूत्र (उमास्वाति) – जु. जैनीकृत अंग्रेजी अनुवाद स. (आरा, १९२०) भाष्य व हि. अनु. स. (रा. जै. शा. बम्बई, १९३२) पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि टीका स. (शोलापुर, १९३९) सर्वार्थसिद्धि टीका पं. फूलचन्द्र कृत भूमिका व अनुवाद स. (ज्ञानपीठ, काशी, १९५५) अकलंक कृत तत्वार्थ वार्तिक टीका व हिन्दी साराश स. भा. १–२ (ज्ञानपीठ, काशी, १९४९ व १९५७). विद्यानन्दि कृत श्लोकवार्तिक स. (नाथारंग जै. ग्रं. बम्बई १९१८) श्रुतसागर कृत तत्वार्थवृत्ति स. (ज्ञानपीठ, काशी, १९४९) पं. सुखलाल कृत हिन्दी भूमिका व व्याख्या स. (भारत जैन महामंडल, वर्धा, १९५२) पं. फूलचन्द्र कृत हिन्दी भूमिका व व्याख्या स. (ग. वर्णी ग्रं. काशी, वी. नि. २४७६)

९० पुरुषार्थसिद्धचुपाय (अमृतचन्द्र) अजित प्रसाद कृत अंग्रेजी अनुवादादि स. (अजिताश्रम, लखनउ, १९३३) हिन्दी अनु. स. (रायचन्द्र जै. शा. बम्बई, १९०४)

जैन न्याय

९१ सन्मतिसूत्र (सिद्धसेन) – अभयदेव टीका स. भा. १–५ (गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९२१ ३१) अंग्रेजी अनु. व भूमिका स. (जै. श्वे. ऐज्यू. बोर्ड, बम्बई, १९३८)

९२ नयचक्रसंग्रह (देवसेन) सं. छाया स. (मा. दि. जै. ग्रं. १६, बम्बई, १९२०) नयचक्र–हिन्दी अनु. स. (शोलापुर, १९४९)

९३ आलाप पद्धति (देवसेन) – (सनातन जैन ग्रं. बम्बई, १९२०, व मा. दि. जैन. ग्रं. बम्बई, १९२०)

९४ आप्तिमीमांसा (समन्तभद्र) – जयचन्द्र कृत हिन्दी अर्थ स. (अनन्तकीर्ति ग्रं. मां. ४ बम्बई, अकलंक कृत अष्टशती व वसुनन्दि टीका (सन. जै. बनारस, १९१४) विद्यानन्दि कृत अष्टसहस्री टीका (अकलोज, शोलापुर १९१५)

९५ युक्त्यनुशासन (समन्तभद्र) (मूल मा. दि. जै. ग्रं. १६ बम्बई) जु. मुख्तार कृत हिन्दी व्याख्या स. (वीरसेवा मन्दिर, सरसावा १९५१)

९६ अन्ययोग व्यवच्छेद (हेमचन्द्र) मल्लिषेण कृत स्याद्वाद मञ्जरी टीका जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स. (रायचन्द्र जै. शा. बम्बई, १९३५)

९७ न्यायावतार (सिद्धसेन) – सतीशचन्द्र वि. भू. कृत अंग्रेजी अनुवाद व चन्द्रप्रभसूरि कृत विवृत्ति के अवतरणों स. (कलकत्ता १९०९) सिद्धर्षिकृत टीका व देवभद्र कृत टिप्पण व प. ल. वैद्य कृत अंग्रेजी प्रस्तावना स. (श्वे. जैनसभा बम्बई १९२८)

९८ विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्र) – हेमचन्द्र टीका स. (य. जै. ग्रं. बनारस, नि. सं. २४२७-४१) गुज अनु. स (आगमोदय स. बम्बई, १९२४-२७)

९९ अकलंक ग्रंथत्रय (लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह) महेन्द्र कु. कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स. (सिंघी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद–कलकत्ता, १९३९)

१०० न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र) भा. १–२ महेन्द्र कु. कृत प्रस्तावना स. (मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई, १९३८, १९४१)

१०१ न्यायविनिश्चय विवरण (वादिराज) भा. १–२ महेन्द्र कु. कृत प्रस्तावना स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४९, १९५४)

१०२ सिद्धिविनिश्चय टीका (अनन्तवीर्य भा. १-२ डा. महेन्द्र कु. कृत अंग्रेजी व हिन्दी प्रस्तावना स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी. १६५६)

१०३ आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द) स्वोपज्ञ टीका व पं. दरबारीलाल कोठिया कृत हिन्दी प्रस्तावना व अनुवाद स. (वीर सेवा मन्दिर, सरसावा १६४६) आप्त परीक्षा और पत्र परीक्षा (जैन धर्म प्रचारिणी सभा. बनारस, १६१३)

१०४ लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (अनन्तकीर्ति) (मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई, वि.सं. १६७२)

१०५ परीक्षामुख (माणिक्यनन्दि) अनन्त वीर्यकृत प्रमेयरत्नमाला टीका व टिप्पणों सहित (बनारस १६२८) हिन्दी अनुवाद स. (झांसी, नि. सं. २४६५) शरच्चन्द्र घोषाल कृत अंग्रेजी प्रस्तावना व अनुवाद स. (अजिताश्रम, लखनउ, १६४०) अनन्तवीर्य कृत टीका स. सतीशचन्द्र वि. भू. द्वारा सम्पादित (बिब. इंडीका कलकत्ता, १६०६)

१०६ प्रमेयकमल मार्तण्ड (प्रभाचन्द्र) —प. महेन्द्र कु. भूमिका स. (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६४१)

१०७ न्यायदीपिका (धर्मभूषण) —पं. दरबारीलाल कोठिया कृत टिप्पण, हिन्दी प्रस्तावना अनुवाद स. (वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, १६४५)

१०८ सप्तभङ्गितरङ्गिणी (विमलदास) — पं. ठाकुरप्रसाद कृत हिन्दी अनुवाद स. (रायचन्द्र शा. बम्बई, १६१६)

१०६ अनेकान्तजयपताका (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका सहित (य. जै. ग्रं. भावनगर, नि. सं. २४३६ आदि)

११० अनेकान्तवाद प्रवेश (हरिभद्र) —हेमचन्द्र सभा, पाटन, १६१६)

१११ अष्टक प्रकरण (हरिभद्र) जिनेश्वर कृत सं. टीका सहित (मनसुख भा., अहमदाबाद वि. सं. १६६८)

११२ विंशतिविंशिका (हरिभद्र) — संस्कृत छाया व अंग्रेजी टिप्पणों स. (के. व्ही. अभ्यंकर, अहमदाबाद, १६३२)

११३ प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार (वादिदेव) स्वोपज्ञ टीका स. (मोतीचंद लाढजी, पूना, नि. सं. २५५३-५७) रत्नाकरावतारिका व अन्य टीकाओं स. (य. जै. ग्रं. बनारस, नि. सं. २४३१-३७)

११४ प्रमाणमीमांसा (हेमचंद्र) पं. सुखलाल की प्रस्तावना एवं भाषा टिप्पणों स. (सिंघी ग्रं., बम्बई. अहमदाबाद—कलकत्ता १६३६)

११५ जैनतर्कभाषा (यशोविजय) तात्पर्य संग्रह वृत्ति स. (सिंघी ग्रं. १९३८)
११६ ज्ञानबिन्दु (यशोविजय) — पं. सुखलाल कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स. (सिंघी ग्रं. १९४२)

करणानुयोग

११७ लोकविभाग (सिंहसूरि) — भाषानुवाद स. (जीवराज ग्रं. शोलापुर, १९६२)
११८ तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ) भा. १–२ प्रस्ता. व हिन्दी अनु. स. (जीवराज ग्रं. शोलापुर, १९४३, १९५२)
११९ त्रिलोकसार (नेमिचन्द्र) माधवचंद्रकृत टीका स. (मा. ग्रं. बम्बई, वि. सं. २४४४)
१२० जम्बूद्वीपपण्णत्ति (पद्मनन्दि) — प्रस्ता. हिन्दी अनु. स. (जीवराज ग्रं. शोलापुर, १९५८)
१२१ लघुक्षेत्रसमास (रत्नशेखर) — सचित्र, गुज. व्याख्या स. (मुक्तिकमल जैन मोहन माला, बड़ौदा, १९३४)
१२२ बृहत्क्षेत्र समास (जिनभद्र) मलयगिरि टीका स. (जैनधर्म प्र. स. भावनगर, सं. १९७७)
१२३ बृहत्संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरि) सचित्र गुज. व्याख्या स. (मुक्तिकमल जैन मो. बड़ौदा १९३९)
१२४ विचारसार (प्रद्युम्नसूरि) — आगमोदय स. सूरत, १९२३)
१२५ ज्योतिष्करण्डक — सटीक (रतलाम, १९२८)

चरणानुयोग

१२६ मूलाचार (वट्टकेर) भा. १–२ वसुनन्दि टीका स. (मा. ग्रं. बम्बई, वि. सं. १९७७, १९८०) मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु. स. (अनन्तकीर्ति ग्रं. बम्बई, १९१९)
१२७ भगवती आराधना (शिवार्य) — सदासुखकी भाषावचनिका स. (अनन्तकीर्ति ग्रं. बम्बई, वि. सं. १९८९) मूलाराधना — अपराजित और आशाधर की सं. टीकाओं व हिन्दी अनु. स. (शोलापुर, १९३५)
१२८ अनगार धर्मामृत (आशाधर) स्वोपज्ञ टीका स. (मा. ग्रं. बम्बई, १९१९)
१२९ पञ्चवस्तुक (हरिभद्र)—स्वोपज्ञ टीका स. (देवचन्द लालभाई ग्रं. बम्बई, १९३२)
१३० सम्यक्त्वसप्तति (हरिभद्र)—संघतिलक टीका स. (दे. ला. ग्रं. बम्बई, १९१३)
१३१ जीवानुशासन (देवसूरि) — (हेमचन्द्र — ग्रंथा. पाटन, १९२८)

१३२ प्रवचन सारोद्धार (नेमिचन्द्र) – सिद्धसेन टीका स. (ही. हं. जामनगर, १९१४, दे. ला. ग्रं. बम्बई, १९२२)
१३३ द्वादशकुलक (जिनवल्लभ) –जिनपाल टीका स. (जिनदत्त सूरि प्रा. पु. बम्बई, १९३४)
१३४ प्रशमरति (उमास्वाति) सटीक (जैन ध. प्र. स. भावनगर, सं. १९६६) सटीक हिन्दी अनु. स. (रा. जै. शा. बम्बई, १९५०)
१३५ चारित्रसार (चामुण्डाराय) – (मा. दि. जै. ग्रं., बम्बई, नि. सं. २४४३)
१३६ आचारसार (वीरनन्दि) – (मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई, सं. १९७४)
१३७ सिन्दूरप्रकर (सोमप्रभ या सोमदेव)–हर्षकीर्ति टीका स. (अहमदाबाद, १९२४)
१३८ श्रावकप्रज्ञप्ति (हरिभद्र)–सटीक गुज. अनु. स. (जैन ज्ञान प्रसारक मंडल, बम्बई, १९०५)
१३९ पञ्चाशक सूत्र (हरिभद्र)–अभयदेव टीका स. (जै. ध. प्र. स. भावनगर, १९१२)
१४० धर्मरत्न (शान्तिसूरि) स्वोपज्ञ टीका स. (जै. आ. स.. भावनगर, सं. १९७०) दवेन्द्र टीका स. (जै. ध. प्रसारक, पालीताना, १९०५-६)
१४१ वसुनन्दि श्रावकाचार – प्रस्तावना व हिन्दी अनु. स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२)
१४२ सावयधम्मदोहा – डा. ही. ला. जैन कृत प्रस्तावना हिन्दी अन. आदि स (कारंजा जैन ग्रं. १९३२)
१४३ रत्नकरण्डश्रावकाचार (समन्तभद्र)–प्रभाचन्द्र टीका व जु. मुख्तार कृत प्रस्तावना स. (मा. दि. जै. ग्रं., बम्बई, वि. १९८२) समीचीन धर्मशास्त्र नाम से हिन्दी व्याख्या स. (वीर सेवा मं. दिल्ली, १९५५) चम्पतराय कृत अं. अनु. स. (बिजनौर, १९३१)
१४४ यशस्तिलकम् (सोमदेव) भा. १–२ पंचम आश्वास के मध्य तक श्रुतसागर टीका स. (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१६)
१४५ श्रावकाचार (अमितगति) – (भागचंद्र कृत वचनिका स. (अनन्तकीर्ति ग्रं. बम्बई, वि. १९७९)
१४६ सागारधर्मामृत (आशाधर) – स्वोपज्ञ टीका स. (मा. ग्रं. बम्बई, वि. १९७२)
१४७ श्रावकाचार (गुणभूषण) भा. १–२ हिन्दी अनु. स. (दि. जै. पु. सूरत, १९२५)
१४८ लाटीसंहिता (राजमल्ल) – मा. ग्रं. वि. १९८४)

ध्यान-योग

१४९ कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार) — शुभचन्द्र टीका पं. कैलाशचन्द्र कृत हि. अनु. डॉ. उपाध्ये कृत अं. प्रस्तावनादि स. (रायचंद्र शा., अगास, १९६०)
१५० योगबिन्दु (हरिभद्र) — सटीक (जैन ध. प्र. स. भावनगर, १९११)
१५१ योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका स. (दे. ला. बम्बई, १९१३)
१५२ योगविंशिका (हरिभद्र) पातञ्जल योगसूत्र सटीक व पं. सुखलाल की भूमिका स. (आ. ग्रं. भावनगर, १९२२)
१५३ षोडशक (हरिभद्र यशोभद्र व यशोविजय टीकाओं स. (दे. ला. बम्बई. १९११)
१५४ परमात्म प्रकाश (योगीन्द्र) ब्रह्मदेव कृत सं. टीका व दौलतराम कृत हिन्दी टीका, डॉ. उपाध्ये कृत अं. प्रस्तावना व पं. जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनु. स. (रायचन्द्र शा., अगास, १९६०)
१५५ पाहुड दोहा (रामसिंह) — डॉ० ही. ला. जैनकृत भूमिका, हि. अनु. आदि स. (कारंजा जैन सीरीज, १९३३)
१५६ इष्टोपदेश (पूज्यपाद) आशाधर टीका, धन्यकुमार कृत हि. अनु. व चम्पतराय कृत अं. अनु. और टिप्पणी स. (रायचन्द्र शा., बम्बई, १९५४)
१५७ समाधितंत्र (पूज्यपाद) प्रभाचन्द्र टीका, परमानन्द कृत हि. अनु. व. जु. मुख्तार कृत प्रस्तावना स. (वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९३९)
१५८ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका (यशोविजय) — सटीक (जै. ध. प्र. स. भावनगर, सं. १९६६)
१५९ आत्मानुशासन (गुणभद्र) — प्रभाचन्द्र टीका, अंग्रेजी हिन्दी प्रस्ता., हिन्दी अनु. स. (जीवराज जै. ग्रं. शोलापुर, १९६१) जु. जैनी कृत अंग्रेजी अनु. स. (अजिताश्रम, लखनऊ, १९२८) वंशीधर कृत हिन्दी टीका (जैन ग्रं. र. का. बम्बई, १९१६)
१६० सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति) — निर्णयसागर बम्बई, १९०९) हि. अनु. स. (हरि. दे. कलकत्ता, १९१७)
१६१ योगसार (अमितगति) — (सनातन जै. ग्रं. कलकत्ता, १९१८)
१६२ ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) — हि. अनु. स. (रायचन्द्र शा., बम्बई, १९०७)
१६३ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ वृत्ति स. (जै. ध. प्र. स. भावनगर, १९२६)
१६४ अध्यात्म रहस्य (आशाधर) हिन्दी व्याख्या जु मुख्तार कृत (वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५७)

स्तोत्र

१६५ जिन सहस्रनाम–आशाधर, जिनसेन, सकलकीर्ति, हेमचन्द्र कृत स्तोत्रों का पाठ-मात्र व आशाधर कृत स्वोपज्ञवृत्ति, पं हीरालाल कृत अनुवाद व श्रुतसागर टीका स. (भारतीय ज्ञा. काशी, १९५४)

१६६ जैनस्तोत्र सग्रह, भा. १–२ (यशो. जै. ग्रं. बनारस, नि सं. २४३६)

१६७ जैन नित्यपाठ संग्रह–जिनसहस्रनाम, भक्तामर, कल्याण मन्दिर, एकीभाव, विषापहार आदि स्तोत्रों म (निर्णय सा. बम्बई, १९२५)

१६८ उपसर्गहर स्तोत्र (भद्रबाहु) पार्श्वदेव, जिनप्रभ, सिद्धिचन्द्र, हर्षकीर्ति टीकाओं स. (दे. ला. बम्बई नं. ८०-८१ १९३२,) पूर्णचन्द्र टीका स (शारदा ग्र. मा. भावनगर, १९२१, जैन स्तोत्र संग्रह के अन्तर्गत)

१६९ ऋषभपञ्चाशिका (धनपाल) – सं. व गुज. टीका स. (जै. ध. प्र. स भावनगर, कापडिया द्वारा सम्पा. दे. भा. बम्बई)

१७० अजित-शान्तिस्तव (नन्दिषेण) गोविन्द और जिनप्रभ टीक,ओ स (दे ला. बम्बई)

१७१ जयतिहुयण स्तोत्र (अभयदेव) मुनिसुन्दर टीका स. (फूलकुवर बाई, रतलाम, अहमदावाद, १८९०)

१७२ ऋषिमण्डल स्तोत्र (धर्मघोष) – अवचूरि स. (जिनस्तोत्र सं. १ पृ. २७३. सा. भा. नवाब, अहमदाबाद, १९३२)

१७३ समवसरण स्तोत्र (धर्मघोष) जै. ध. प्र. स. भावनगर, १९१७)

१७४ स्वयंभूस्तोत्र (समन्तभद्र) जु. मुख्तार कृत प्रस्तावना व अनु. स. (वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, १९५१)

१७५ स्तुतिविद्या (समन्तभद्र) – वसुनन्दि टीका, जु. मुख्तार कृत प्रस्तावना व पं. पन्नालाल कृत अनु. स. (वी. से. मं. सरसावा, १९५०)

१७६ सिद्धप्रिय स्तोत्र (देवनन्दि) निर्णय सागर, बम्बई १९२६ (काव्यमाला ७ पृ. ३०)

१७७ भक्तामरस्तोत्र (मानतुङ्ग) – गुणाकर, मेघविजय व कनककुशल टीकाओं स. (दे. ला. बम्बई, १९३२)

१७८ भयहरस्तवन (मानतुङ्ग) अवचूरि स. (दे. ला. बम्बई, १९३२)

१७९ कल्याणमन्दिर स्तोत्र (कुमुदचन्द्र) कनककुशल व मणिक्यचन्द्र टीकाओं स. (दे. ला. बम्बई, १९३२) चन्द्रकीर्ति टीका, बनारसीदास व गिरिधर शर्मा के पद्यानुवाद व पं. पन्नालाल गद्यानु. स. (सन्मतिकुटीर, चन्दावाडी, बम्बई, १९५९)

१८० विषापहार स्तोत्र (धनञ्जय) – चन्द्रकीर्ति टीका, नाथूराम प्रेमी कृत पद्यानुवाद व पं. पन्नालाल कृत गद्यानुवाद स. (सन्मति कुटीर, चन्दावाड़ी, बम्बई, १९५६)
१८१ एकीभावस्तोत्र (वादिराज) – चन्द्रकीर्ति टीका व परमानन्द शास्त्री कृत अनु. स. (वीरसेवा मं., सरसावा, १९४०)
१८२ जिनचतुर्विंशतिका (भूपाल) – आशाधर टीका, भूधरदास व धन्यकुमार कृत पद्यानु व. पं. पन्नालाल कृत गद्यानु. स. (सन्मति कुटीर, चन्दावाड़ी, बम्बई, १९५८)
१८३ सरस्वतीस्तोत्र (बप्पभट्टि) आगमो. स. बम्बई, १९२६, चतुर्विंशिका पृ. २६४)
१८४ वीतराग स्तोत्र (हेमचन्द्र) – प्रभानन्द और सोमोदय गणि टीकाओं स. (दे. ला. बम्बई, १९११)
१८५ यमकमय चतुर्विंशति जिनस्तुति (जिनप्रभ) – भीमसी माणक, बम्बई, प्रकरण रत्नाकर–४
१८६ जिनस्तोत्ररत्नकोश (मुनिसुन्दर) – यशो. बनारस, १९०६
१८७ साधारण जिनस्तवन (कुमारपाल) – बम्बई, १९३६ (सोमतिलक) आगमो. बम्बई, १९२९
१८८ नेमिभक्तामर स्तोत्र (भावरत्न) – आगमो. बम्बई, १९२६
१८९ सरस्वती भक्तामरस्तोत्र (धर्मसिंह) आगमो. बम्बई, १९२७

प्रथमानुयोग प्राकृत

१९० पउमचरिय (विमलसूरि) – मूलमात्र याकोबी सम्पा. (जै. ध. प्र. स. भावनगर, १९१४)
१९१ चउपन्नमहापुरिसचरिय (शीलाङ्क) – प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी, १९६१)
१९२ पासनाहचरिय, (गुणचन्द्र) अहमदाबाद, १९४५, गुज. अनु. आत्मा. भावनगर, सं. २००५
१९३ सुपासनाहचरिय (लक्ष्मण गणि) – पं. हरगो. सेठ सम्पा. (जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला, बनारस, १९१९)
१९४ महावीर चरिय (गुणचन्द्र). दे. ला. बम्बई, १९२९. गुज. अनु. आत्मा. सं. १९९४)
१९५ महावीरचरित (नेमिचन्द्र-देवेन्द्रगणि) जैन आत्मा. भावनगर, सं. १९७३
१९६ तरङ्गलोला – (नेमिविज्ञान ग्रं. (सं. २०००) गुज. अनु. (पनीलाला, सं. १९९८)

१९७ धूर्ताख्यान (हरिभद्र) डॉ. उपाध्ये कृत ग्रं. प्रस्तावना स. (भारतीय वि. भ. बम्बई, १९४४)
१९८ धर्मपरीक्षा (अमितगति) हि अनु. स. (जैन ग्रं. र. बम्बई, १९०१)
१९९ सुरसुंदरीचरिअं (धनेश्वर) – हरगो. सेठ, बनारस, १९१६
२०० णाणपंचमीकहा (महेश्वर) अ. गोपानीकृत ग्रं. प्रस्ता. स. (सिंघी जै. ग्रं. बम्बई, १९४९)
२०१ कुमारपालचरित (हेमचन्द्र) डॉ. प. ल. वैद्यकृत ग्रं. प्रस्ता. स. (भंडारकर ओ., पूना, १९३६)
२०२ महीवालकहा (वीरदेव) – अहमदाबाद, सं. १९९८
२०३ सुदंसणाचरिय-शकुनिका विहार (देवेन्द्र) – आत्मवल्लभ ग्रं. वलाद, अहमदाबाद, १९३२
२०४ कृष्णचरित (देवेन्द्र) रतनपुर, १९३८
२०५ श्रीपालचरित (रत्नशेखर) – दे. ला. बम्बई, १९२३) भा. १–वाडीलाल जीवा भाई चौकसी कृत ग्रं. अनु. भूमिकादि. स. अहमदाबाद, १९३२)
२०६ कुम्मापुत्तचरियं (जिनमाणिक्य) डॉ. प. ल. वैद्यकी ग्रं. भूमिका स. पूना, १९३०, अभ्यंकर सम्पा. अहमदाबाद, १९३२
२०७ वसुदेव हिंडी (संघदास-धर्मसेन) प्रथम खण्ड जै. आत्मा. सभा. भावनगर, १९३०
२०८ समरादित्यकथा (हरिभद्र) – याकोबी की ग्रं. प्रस्ता. स. (विब. इंडिका कलकत्ता, १९२६) भव १, २, ६ म. मोदी के ग्रं. अनु. भूमिका स. (अहमदाबाद-१९३३, ३६) भव २ गोरेकृत ग्रं. भू. अन. स. (पूना, १९५५)
२०९ कुवलयमाला (उद्योतन) डॉ. उपाध्ये द्वारा पाठान्तर स. (सिंघी ग्रं. बम्बई, १९५९)
२१० रयणचूडरायचरिय (देवेन्द्र) – पं. मणिविजय ग्रं. अहमदाबाद, १९४९
२११ कालकाचार्यकथा – प्रो. एन. डब्ल्यू. ब्राउन कृत स्टोरी आफ कालक के अन्तर्गत (वाशिंगटन, १९३३) संस्कृत (दे. ला. बम्बई १९१४, कल्पसूत्र के अन्त में) प्रभावकचरित का सं. पाठ (निर्णय सा. बम्बई) पृ. ३६-४६ कथा संग्रह (३० कथाएं) ग्रं. प्रे. शाह, अहमदाबाद, १९४९
२१२ जिनदत्ताख्यान (सुमति) दो आख्यान (सिंघी. बम्बई, १९५३)
२१३ रयणसेहरीकहा (जिनहर्ष) जै. आत्मा. बम्बई, सं. १९७४
२१४ जम्बूचरियं – सिंघी जै. ग्रं. बम्बई, १९६०
२१५ णरविक्कमचरिय (गुणचन्द्र) – नेमिविज्ञान ग्रं. सं. २००८

२१६ उपदेशमाला (धर्मदास) रामविजय व सिद्धर्षि टीकाएं (हीरालाल हंसराज, जामनगर. सं. १६३४) ऋषभदेवजी केशरीमल संस्था, इन्दौर, १६३६)

२१७ उपदेशपद (हरिभद्र) – मुनिचन्द्र टीका स. जैनधर्म प्र. स., पालीताना, १६०६, मक्तिकमल जै. मो. बड़ौदा, १६२३-२५)

२१८ धर्मोपदेशमाला विवरण (जयसिंह) – सिंघी. बम्बई, १६४६

२१६ शीलोपदेशमाला (जयकीर्ति) तरङ्गिणी टीका स. (हीरालाल हंसराज, जामनगर १६०६)

२२० आख्यानमणिकोश (देवेन्द्र नेमिचन्द्र) आम्रदेव कृत टीका स. (प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी)

२२१ भवभावना (मल॰हेमचन्द्र) सोपज्ञ वृत्ति स. ऋषभदेव के. जै. श्वे. संस्था, रतलाम, सं. १६६२

२२२ कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभ) – गा. श्री. सी. बड़ौदा, १६२०, गुज. अनु. आत्मा-सभा., स. १६८३, डॉ. आल्सडर्फ कृत अपभ्रंश अंशगत जर्मन प्रस्ता. अनु. स. हैमबर्ग, १६२८

२२३ जयन्तीप्रकरण (मानतुङ्ग) – पन्यास मणिवि ग्रं. अहमदाबाद, सं. २००६

२२४ कथारत्नकोष (गुणचन्द्र) – जैनआत्मा. ग्रं. भावनगर, १६४४

२२५ विजयचन्द्रचरित (चन्द्रप्रभ) जै. ध. प्र. स. भावनगर, १६०६, गुज. अनुवाद वही सं. १६६२

२२६ संवेगरंगमाला (जिनचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १६२४

२२७ विवेकमंजरी (आसाड़) – बालचन्द्र टीका स. विविध सा. ग्रा. मा. बनारस, सं. १६७५

२२८ उपदेश रत्नाकर (मुनिसुन्दर) जै. ध. वि. प्र. वर्ग, पालीताना, सं. १६६४, दे. ला. बम्बई, १६२२

२२६ कथामहोदधि (सोमचन्द्र) कर्पूर प्रकर स. ही. हं. जामनगर, १६१६

२३० वर्धमानदेशना (शुभवर्धन) जै. ध. प्र. सभा. भावनगर, बालाभाई छगनलाल, अहमदाबाद, सं. १६६०

प्रथमानुयोग अपभ्रंश :

२३१ पउमचरिउ (स्वयंभू) भाग १-३ ह. चू. भायाणी कृत प्रस्ता. स. (सिंघी भा. वि. भ. बम्बई, १६५३, १६६०) देवेन्द्रकुमार कृत हि. अनु. स. १-५६ संधि भा. १-३ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १६५७-५८

२३२ महापुराण (पुष्पदन्त) भा. १–३ डॉ प. ल. वैद्य सम्पा. (मा. दि. ग्रं. बम्बई १९३७-४७), परि. ८१–९२ हरिवंशपुराण डॉ. ग्राल्सडर्फ कृत जर्मन प्रस्ता अनु. स. हेमवर्ग, १९३६
२३३ सनत्कुमार चरित (हरिभद्र) याकोबी सम्पा. मुचेन, जर्मनी, १९२१
२३४ पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति) प्राकृत टैक्स्ट सोसा , मुद्रणाधीन)
२३५ जसहरचरिउ (पुष्पदन्त) प. ल. वैद्य सम्पा. (कारंजा सीरीज, १९३१)
२३६ णायकुमारचरिउ (पुष्पदन्त) ही ला जैन सम्पा. (कारंजा सीरीज, १९३२)
२३७ भविसयत्तकहा (धनपाल) याकाबी सम्पा. जर्मनी १९१८; दलाल व देसाई सम्पा. गा ओ. सी बडौदा, १९२३
२३८ करकंडचरिउ (कनकामर) ही. ला. जैन सम्पा. (कारंजा सी. १९३४)
२३९ पउमसिरिचरिउ (धाहिल) मोदी और भायाणी सम्पा. सिंघी भारतीय वि. भ. बम्बई, सं २००५
२४० सुगंधदशमीकथा (बालचन्द्र) भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (मुद्रणाधीन)

प्रथमानुयोग संस्कृत :

२४१ पद्मचरित (रविषेण) – मूलमात्र भाग १-३ (मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई, सं. १९८५) हि. अनु. स. भा. १–३ (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८–५९)
२४२ हरिवंशपुराण (जिनसेन) मूलमात्र भा. १–२ (मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई,) हि. अनु. स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२)
२४३ पाण्डवपुराण (शुभचन्द्र) हि. अनु. स. (जीवराज जै. ग्रंथ शोलापुर १९५४) घनश्यामदास कृत हि. अनु स. (जैन सा. प्र. कार्या, बम्बई, १९१६, जिनवाणी प्र का, कलकत्ता, १९३९)
२४४ पाण्डवचरित्र (देवप्रभ) निर्णयसागर, बम्बई, १९११
२४५ महापुराण (जिनसेन गुणभद्र) स्याद्वाद ग्रंथमाला, इन्दौर सं. १९७३–७५ हि. अनु. स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, भा. १–३ १९५१–५४)
२४६ त्रिषष्ठिशलाका पु. च. (हेमचन्द्र) जै. ध. प्र. स. भावनगर, १९०६–१३; पर्व १ का अं. अनु. जानसनकृत, गा. ओ. सी. बडौदा १९३१, पर्व २१–परिशिष्ट पर्व याकोबी सम्पा. बिब. इं कलकता, १८९१ द्वि. सं. १९३२
२४७ त्रिषष्ठिस्मृति शास्त्र (आशाधर) मराठी अनु. स. मा. दि. जै. ग्रंथ बम्बई, १९३७
२४८ चतुर्विंशति जिनचरित या पद्मानन्द काव्य (अमरचन्द्र) – गा. ओ. सी. बडौदा १९३२

२४६ बालभारत (अमरचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १८६४, १६२६)
२५० पुराणसार संग्रह (दामनन्दि)–हि. अनु. स. (भा. ज्ञा. काशी, भा. १-२, १६५४-५५)
२५१ चन्द्रप्रभचरित्र (वीरनन्दि) नि. सा. बम्बई, १६१२, १६२६
२५२ वासुपूज्यचरित्र (वर्धमान) जै. ध. प्र. स. भावनगर, सं. १६६६) हीरालाल हंसराज जामनगर, १६२८–३०
२५३ धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र) नि. सा. बम्बई, १८८८
२५४ शान्तिनाथ चरित (अजितप्रभ) जै. ध. प्र. स. भावनगर, सं. १६७१
२५५ शान्तिनाथ पुराण (सकलकीर्ति) हि. अनु. जिनवाणी प्र. कलकत्ता, १६३६ दुलीचन्द पन्नालाल देवरी, १६२३
२५६ मल्लिनाथ चरित्र (विनयचन्द्र) यशो. जै. ग्रं. भावनगर, नि. सं. २४३८
२५७ नेमिनिर्वाण काव्य (वाग्भट) नि. सा. बम्बई, १८६६
२५८ नेमिदूत काव्य (विक्रम) नि. सा. बम्बई, काव्यमाला नं. २
२५६ पार्श्वाभ्युदय (जिनसेन) – योगिराज टीका स. नि. सा. बम्बई, १६०६, इसमें ग्रथित मेघदूत, पाठक कृत अं. अनु. स. पूना, १८६४, १६१६
२६० पार्श्वनाथ चरित्र (वादिराज) – मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई, १६१६, हि. अ. पं. श्रीलाल कृत, जयचन्द जैन, कलकत्ता, १६२२
२६१ पार्श्वनाथ चरित्र (भावदेव) – य. जै. ग्रं. बनारस, १६१२, अं. आचार्य ब्लूमफील्ड कृत, बाल्टीमोर, १६१६
२६२ वर्धमान (महावीर) चरित्र (असग) पं. खूबचन्द्र कृत हि. अनु. स. (मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, १६१८; मराठी अनु. स. शोलापुर, १६३१
२६३ यशस्तिलकचम्पू (सोमदेव) श्रुतसागर टीका स., नि. सा. बम्बई, १६०१
२६४ यशोधर चरित्र (वादिराज) सरस्वती विलास सी. तंजोर, १६१२ हि. अनु. उदयलाल कृत, हिन्दी जै. सा. प्रसा. कार्या. बम्बई, १६१५
२६५ जीवंधर चम्पू (हरिचन्द्र) सर. वि. तंजोर १६०५, हि. अनु. स. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १६५८
२६६ गद्यचिन्तामणि (वादीभसिंह) टी. एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री सम्पा. साटेसन कं. मद्रास, १६०२
२६७ क्षत्रचूड़ामणि (वादीभसिंह) स. वि. तंजोर, १६०३, हि. अनु. स. जै. ग्र. र. कार्या. बम्बई १६१०, सरल ग्रन्थ पुस्तकमाला, मंडावरा, पूर्वार्ध, १६३२, उत्तरार्ध, १६४०

२६८ वराङ्गचरित्र (जटासिंहनन्दि) डॉ. उपाध्ये द्वारा सम्पा. मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई, १९३८ भाषा पद्य कमलनयन कृत, जैन सा. समिति, जसवन्तनगर, १९३९
२६९ मृगावती चरित्र (देवप्रभ) – ही. हे. जामनगर, १९०९
२७० शालिभद्रचरित (धर्मकुमार) – य. जै. ग्रं. बनारस, १९१०
२७१ वसन्तविलास काव्य (बालचन्द्र) गा. ओ. सी. बड़ौदा, १९१७
२७२ वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध (राजशेखर) गा. ओ. सी. बड़ौदा, १९१७
२७३ वस्तुपाल चरित्र (जिनहर्षगणि) ही. हं. जामनगर, गुज. अन. जै. ध. प्र. स. भावनगर सं. १९७४
२७४ अभयकुमार चरित्र (चन्द्रतिलक) भा. १–२ जै. आ. स. भावनगर, १९१७
२७५ जगडुचरित्र (सर्वानन्द) बम्बई, १८९६
२७६ कुमारपालचरित्र (जयसिंहसूरि) ही. हं. जामनगर १९१५, गोडीजी जैन उपाश्रय, बम्बई, १९२६
२७७ कुमारपाल चरित्र (चारित्र सुन्दर) जै. आ. स. भावनगर सं. १९७३
२७८ *कुमारपाल प्रबन्ध (जिन मण्डन गणि) जैं. आ. स. भावनगर सं. १९७१*
२७९ महीपाल चरित्र (चारित्रसुन्दर) ही. हं. जामनगर, १९०९, १९१७)
२८० उत्तमकुमार चरित्र (चारुचन्द्र) ही. हं. जामनगर, १९०८
२८१ हम्मीरकाव्य (नयचन्द्र) – बम्बई १८७९
२८२ श्रीपालचरित्र (सत्यराज) विजय दानसूरीश्वर ग्रं. मा. सूरत, सं. १९९५
२८३ श्रीपालचरित्र (ज्ञानविमल) – देवचंदलाल भाई पु. बम्बई, १९१७
२८४ श्रीपालचरित्र (जयकीर्ति) ही. हं. जामनगर, १९०८
२८५ श्रीपालचरित्र (लब्धिमुनि) जिनदत्तसूरि भं. पायधूनी, बम्बई, स. १९९१
२८६ उपमितिभवप्रपंचकथा (सिद्धर्षि) बिब. इंडी. कलकत्ता, १८९९-१९१४ दे. ला. बम्बई, १९१८-२० किर्फेल कृत जर्मन अनु. लीपजिग १९२४
२८७ तिलकमञ्जरी (धनपाल) – निर्णय सागर बम्बई, १९०३
२८८ तिलकमञ्जरी कथासार (लक्ष्मीधर) हेमचन्द्र सभा. पाटन, १९१९
२८९ अम्बडचरित्र (अमरसुन्दर) ही. हं. जामनगर, १९१० डॉ. क्राउसकृत जर्मन अनु. लीपजिग १९२२
२९० रत्नचूडकथानक (ज्ञानसागर) यशो. जैं. ग्रं. भावनगर, १९१७ हर्टलकृत जर्मन अनु. लीपजिग, १९२२
२९१ अघटकुमारकथा – चा. क्राउस कृत जर्मन अनु. लीपजिग, १९२२ संक्षिप्त पद्यानु. नि. सा. बम्बई, १९१७

२९२ चम्पकश्रेष्ठिकथानक (जिनकीर्ति) हर्टलकृत मं. व जर्मन अनु. स. लीपजिग १९२२
२९३ पालगोपाल कथानक (जिनकीर्ति) हर्टल, लीपजिग १९१७
२९४ मलयसुन्दरी कथा (माणिक्यसुन्दर) बम्बई, १९१८
२९५ पापबुद्धिधर्मबुद्धि कथा (कामघटकथा) ही. हं. जामनगर, १९०१
२९६ शत्रुञ्जयमाहात्म्य (धनेश्वर) ही. हं. जामनगर, १९०८
२९७ प्रभावकचरित्र (प्रभाचन्द्र) नि. सा. बम्बई, १९०९
२९८ प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्ग) सिंघी जै. ग्रं. शान्तिनिकेतन, १९३३, टानीकृत अं. अनु. बिब इंडी कलकत्ता, १८९९-१९०१ गुज. अनु. स. रामचन्द्र दीनानाथ, बम्बई, १८८८
२९९ प्रबन्धकोश (राजशेखर) सिंघी जै. ग्रं. शान्तिनिकेतन, १९३५, ही. हं. जामनगर १९१३, हेमचन्द्र सभा. पाटन, १९२१
३०० बृहत्कथाकोश (हरिषेण) डॉ. उपाध्ये कृत अं. प्रस्ता. स. भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४३
३०१ धर्मपरीक्षा (अमितगति) — हि. अनु. स. जै. ग्रं. र. बम्बई, १९०८ जै. सि. प्र. कलकत्ता, १९०८
३०२ आराधना कथाकोष (नेमिदत्त) (हि. अनु. स.) जै. हीराबाग, बम्बई, १९१५
३०३ अन्तरकथासंग्रह (राजशेखर) बम्बई, १९१८ गुज. अनु. जै. ध. प्र. स. भावनगर सं. १९७८ इटेलियन अनु. ७–१४ कथाओं का, बेनेजिया, १८८८
३०४ भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति (कथाकोश-शुभशील) दे. ला. बम्बई १९३२ गुज. अनु. मगनलाल हाथीसिंह, अहमदाबाद, १९०९
३०५ दानकल्पद्रुम (जिनकीर्ति) दे. ला. बम्बई १९०९
३०६ धर्मकल्पद्रुम (उदयधर्म) दे. ला. बम्बई, सं. १९७३
३०७ सम्यक्त्वकौमुदी (जिनहर्ष) जै. आ. स. भावनगर, सं. १९७०
३०८ कथारत्नाकर (हेमविजय) ही. हं. जामनगर, १९११ हर्टल कृत जर्मन अनु. मुनचेन, १९२०

संस्कृत नाटक

३०९ निर्भयभीमव्यायोग (रामचन्द्र) यशो. जै. ग्रं. नं. १९ भावनगर
३१० नलविलास (रामचन्द्र) गा. ओ. सी. बड़ौदा, १९२६
३११ कौमुदी नाटक (रामचन्द्र) जै. आ. स. नं. ५९, भावनगर सं. १९७३

३१२ विक्रान्त कौरव (हस्तिमल्ल) मा. दि. जै. बम्बई, सं. १६७२
३१३ मैथिलीकल्याण मा. दि. जै. बम्बई, १६७३
३१४ अञ्जनापवनञ्जय (हस्तिमल्ल) पटवर्धनकृत ग्रं. प्रस्ता. बम्बई, सं. २००६
३१५ सुभद्रा (हस्तिमल्ल) पटवर्धनकृत ग्रं. प्रस्ता. स. सं. २००६
३१६ प्रबुद्ध रौहिणेय (रामभद्र) जै. आ. स. नं. ५०, भावनगर, १६१७
३१७ मोहराज पराजय (यशःपाल) दलाल कृत ग्रं. प्रस्ता. स. गा. ओ. वड़ौदा, १६१८
३१८ हम्मीरमदमर्दन (जयसिंह) गा. ओ. सी. नं. १०, वड़ौदा, १६२०
" (नयचन्द्र) बम्बई, १८७६
३१६ मुद्रित कुमुदचन्द्र (यशश्चन्द्र) यशो. जै. ग्रं. नं. ८ बनारस १६०५
३२० धर्माभ्युदय-छाया नाटच प्रबंध (मेघप्रभ) जै. आ. स. भावनगर १६१८
३२१ करुणवज्रायुध (बालचन्द्र) जै. आ. स. भावनगर, १६१६, गुज. अनु. अहमदाबाद १८८६

व्याकरण

३२२ प्राकृतलक्षण (चण्ड) हार्नले सम्पा. विब. इडी. कलकत्ता, १८८३
३२३ प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र) प. ल. वैद्य सम्पा. मोतीलाल लाढजी, पूना १६२८ पिशेल कृत जर्मन अनु. स. हल्ले, १८७७-८० ढूंढिका टीका स. भावनगर सं. १६६०
३२४ प्राकृत व्याकरण (त्रिविक्रम) प. ल. वैद्य सम्पा. जैन सं. सं. सं. शोलापुर १६५४
३२५ जैनेन्द्र व्याकरण (देवनन्दि) अभयनन्दि टीका स. भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १६५६ सनातन जै ग्रं. बनारस, १६१५
३२६ जैनेन्द्र प्रक्रिया (गुणनन्दि) सनातन जै. ग्रं. बनारस, १६१४
३२७ शब्दानुशासन (शाकटायन) अभयचन्द्र टीका स. जेठाराम मुकुन्दजी बम्बई, १६०७
३२८ कातंत्र व्या. सूत्र (सर्ववर्मा) रूपमालावृत्ति स. हीराचन्द्र नेमिचन्द बम्बई सं. १६५२ बिहारीलाल कठनेरा बम्बई, १६२७
३२६ शब्दानुशासन (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञलघु वृत्ति स. यशो. जै. ग्रं. बनारस १६०५ स्वोपज्ञ वृत्ति और न्यास तथा कनकप्रभ न्याससारसमुद्धार स. राजनगर विजयनेमिसूरि ग्रं. ३३ व ५०, जैन ग्रं. प्रका. सभा, नि.सं. २४७७, २४८३

छन्द

३३० गाथालक्षण (नन्दिनाटच छन्दःसूत्र) वेलणकर सम्पा. भं. ओ. रि. इं. एनल्स १४ १-२, पृ. १ आदि, पूना १६३३

३३१ स्वयंभूछन्दस् (स्वयंभू) १-३ वेलणकर सम्पा. बम्बई, रा. ए. सो. जर्नल १६३५
४–८ बम्बई, यूनी जर्नल, नव. १६३६
३३२ कविदर्पण – वेलणकर सम्पा. भं. ओ रि. इं. जर्नल.पूना, १६३५
३३३ छन्दःकोश (रत्नशेखर) वेलणकर सम्पा. बम्बई, यूनी. ज. १६१२
३३४ छन्दोनुशासन (हेमचन्द्र) देवकरन मूलजी, बम्बई, १६१२
३३५ रत्नमञ्जूषा (छन्दोविचिति) सभाष्य वेलणकर सम्पा. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१६४६

कोश

३३६ पाइयलच्छीनाममाला (धनपाल) भावनगर सं. १६७३
३३७ देशीनाममाला (हेमचन्द्र) पिशेल और व्हूलर सम्पा. बम्बई, गं. सी. १८८०;
मु. बनर्जी सम्पा. कलकत्ता, १६३१
३३८ नाममाला व अनेकार्थनिघण्टु (धनञ्जय) अमरकीर्ति भाष्य स. भारतीय ज्ञा. काशी,
१६५०
३३९ अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ टीका स. यशो. जै. ग्रं. ४१-४२ भावनगर
नि. सा. २४४१, २४४६ मूलमात्र, जसवन्तलाल गिरधर लाल शाह,
अहमदाबाद, सं. २०१३

व्याख्यान ३
जैन दर्शन

340 The Heart of Jainism, by S. Sinclair (Ox. Uni. Press, 1915).
341 Outlines of Jainism — J.L. Jaini (Cambridge, 1916).
342 Der Jainismas, by H Glasenapp (Berlin, 1926).
(Gujrati Translation — Bhavnagar, 1940).
343 Doctrine of Karma in Jaina Philosophy, by H. Glassenapp Bombay, 1942).
344 Jaina Philosophy of Non-Absolutism, by S. Mookerjee (Calcutta, 1944).
345 Studies in Jaina Philosophy, by N. Tatia (Benaras, 1951).
346 Outlines of Jaina Philosophy, by M. L. Mehta (Jaina Mission Society, Bangalore, 1954).
347 Jaina Psychology, by M.L. Mehta (S.J.P. Samiti, Amritsar, 1955).
348 Some Problems in Jaina Psychology, by T.G. Kalghatgi (Karnataka University, Dharwar, 1961).
349 Jaina Philosophy and Modern Science, by Nagraj (Kanpur, 1959).

Chapters on Jainism from the following works (350—353).

350 History of Indian Philosophy, by Dasgupta.
351 Indian Philosophy, by Radhakrishnan.
352 Outlines of Indian Philosophy, by M. Hirayanna.
353 Encyclopaedia of Religion and Ethics.
354 Jaina Monistic Jurisprudence — S.B. Deo (Poona, 1956).
355 Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics, by Sukhlalji Singhvi (Calcutta, 1961).

३५६ जैन धर्म – कैलाशचन्द्र शास्त्री (मथुरा, भा. दि. जैन संघ, नि. सं. २४७५)
३५७ जैन दर्शन – महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य (काशी १९५५ २४७५)
३५८ जैन शासन – सुमेरुचन्द्र दिवाकर (काशी १९५०)
३५९ जैन दर्शन – न्याय विजय (पाटन गुजराती १९५२, हिन्दी १९५६)
३६० दर्शन अने चिन्तन (गुज.) सुखलाल (गु. वि. अहमदाबाद १९५७
३६१ दर्शन और चिन्तन (हिन्दी) सुखलाल (गु. वि. अहमदाबाद, १९५७
३६२ भारतीय तत्वविद्या – सुखलाल (ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६०

382 List of Antiquarian Remains in the Central Provinces & Berar — H. Cousens (Arch S.I. XIX, 1897).
383 Architectural Antiquities of Western India — H. Cousens (London, 1926).
384 Somnath and other Mediaeval Temples in Kathiawad — H. Cousens (A.S. of Ind. XLX, 1931).
385 Antiquities of Kathiawad and Kachh — J. Burgess (A.S. of Ind. II, 1876).
386 Architectural Antiquities of Northern Gujraj — Burgess & Cousens (A.S. of Western India, IX, 1903).
387 Indian Sculpture — Stella Kramrisch (Calcutta, 1933).
388 Development of Hindu Iconography — J. N. Banerjee (Calcutta, 1941).
389 Jaina Iconography — B.C. Bhattacharya (Lahore, 1930).
390 Jaina Images of the Mauryan Period — K. P. Jayaswal (J.B.O.R.S. XXIII, 1937).
391 Specimens of Jaina Sculpture from Mathura — G. Buhler (Ep. Ind. II, 1894).
392 An Early Bronze of Parshwanath in the Prince of Wales Museum — U.P. Shah (Bulletin of P.W.M. Bombay, 1954).
393 Age of Differentiation of Svetambara and Digambara Images and a few Early Bronzes from Akota — U.P. Shah (Bulletin P.W.M. Bombay, 1951).
394 The Earliest Jain Sculptures in Kathiawad—H.D. Sankalia (J.R.A.S., London, 1938).
395 Iconography of the Jaina Goddess Saraswati — U.P. Shah (J.U. of Bombay, X, 1941).
396 Iconography of the Jaina Goddess Ambika — U.P. Shah (J.U. of Bombay, 1940).
397 A Note on Akota Hoard of Jaina Bronzes — U.P. Shah (Baroda Through Ages, App. IV, p. 97 ff).
398 Catalogue of Jaina Paintings and Manuscripts — A. K. Coomarswamy (Boston, 1924).
399 Jaina Miniature Paintings from Western India — Motichandra (Ahmedabad, 1949).

400 A Descriptive and Illustrated Catalogue of Miniature Paintings of the Jaina Kalpasutra as executed in the Early Western Indian Style — W. N. Brown (Washington, 1934).

401 Conqueror's Life in Jaina Paintings — A.K. Coomarswamy (J.I.S. of Or. Art, III, 1935).

402 The Story of Kalaka — W.N. Brown (Washington, 1933).

४०३ तीर्थराज आबू (गुज.) जिनविजय (भावनगर १९५४)।

४०४ जैन चित्र कल्पद्रुम – न. साराभाई (अहमदाबाद १९३६)

४०५ जैसलमेर चित्रावली – पुण्य विजय (अहमदाबाद, १९५१)

शब्द-सूची

सूचना—यहाँ नामों और पारिभाषिक शब्दों का संकलन किया गया है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	५	सर्वापदां	सर्वापदाम्
१२	६	नाभः	नाभेः
१३	२०	मुनियो	मुनयो
१४	२७	प्रघव्राज	प्रवव्राज
१४	२६	ग्रहगहीत	ग्रहगृहीत
१४	३०	इवादृश्वत	इवादृश्यत
१६	८	एक	एव
२४	१२	जानाली	जामालि
२८	२०	कोडंबाणो	कोडंबाणी
२६	७	विद्याघार	विद्याधर
३६	७	विशाल	विशाख
३६	१८	सिखप्पडिकारं	सिलप्पडिकारं
३८	२२	कृष्ण द्वितीय	कृष्ण तृतीय
३८	२५	कोम्न	पोम्न
४३	१७	ऋवभदेव	ऋषभदेव
६७	२६	आश्यवक	आवश्यक
७७	२३	वट्खंडागम	षट्खंडागम
७६	१६	राचभल्ल	राचमल्ल
७६	१८	बहुबलि	बाहुबलि
८४	२७	पंचास्तकाय	पंचास्तिकाय
६७	४	जम्बूद्वीपवपण्णत्ति	जम्बूद्वीवपण्णत्ति
६६	२६	पर-प्रकशकत्व	पर-प्रकाशकत्व
६६	२७	प्रकारण	प्रकरण
१००	२३	(चारित्र भक्ति से पूर्व) जोड़िये	श्रुतभक्ति (गा० ११)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०७	८	पंववत्थुग	पंचवत्थुग
१०८	२१	पुरुषार्थ सिद्धचुपाय	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
१११	१	पंसासग	पंचासग
१२०	४	समयिशतक	समाधिशतक
१२१	६	२७ संस्कृत पद्यों	२७० संस्कृत पद्यों
१२२	८	प्रणायाम	प्राणायाम
१२२	२१	योगीद्दीपन	योगोद्दीपन
१२६	२६	मन्द्राक्रान्ता	मन्दाक्रान्ता
१२७	१३-१५	'भक्तिभाव' के पश्चात्	१५वीं पंक्ति का संबंधी आदि पाठ (४) से पूर्व तक का लीजिये, और फिर (१) आदि
१३१	१३	श्रणिक	श्रेणिक
१३५	११	संवत् १२२३	संवत् १२३३
१३६	२०	नैमिचन्द्र	नेमिचन्द्र
१३७	१७	गयाएं	गाथाएं
१४७	१८ आदि	रत्नावली	रत्नावती
१४६	१६	स्याविर	स्थविर
१५३	२३	यापिनीय	यापनीय
१५८	१५	पुप्पदन्त	पुष्पदन्त
१६४	१०	रत्नकरंत	रत्नकरंड-
१६६	४	महापुराण-चरित	महापुरुषचरित
१६६	२८	धाग्भट्ट	वाग्भट
१८२	२६	र और स	र और ण
१८५	७	विपयक्रम	विषयक्रम
१८५	२५	प्रमचन्द	प्रभाचन्द्र
१८५	२८	महाचन्द्र	महीचन्द्र
१६०	२६	उग्दाथा	उद्गाथा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६०	२८	उग्दीति	उद्गीति
१६५	१५	वाग्भट्ट	वाग्भट
१६५	१५	काव्यानुशान	काव्यानुशासन
१६७	१२	भण्णमाणा	भण्णमाणा
२२२	२१	अचप्रल	अचलप्र
२२८	२	द्वैप	द्वैप
२३८	२	कूरता	क्रूरता
२४७	७	कुश्रु	कुश्रुति
२८२	४	मनवीय	मानवीय
३२१	२५	निर्दिष्ट	निर्देश
३४४	१०	सक्त कर्मण:	सक्तस्य कर्मणः
३४४	१७	-सगिसर्गिणाम्	-सर्गिणाम्
३७१	१६	त्रिलोकसागर	त्रिलोकसार

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्

के

प्रकाशन

१. कला के प्राण बुद्ध	लेखक श्री जगदीशचन्द्र; मूल्य ७.५०
२. कीचक वध	श्री खाडिलकर-कृत मराठी नाटक कीच वध का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक डा भवानी प्रसाद तिवारी; मूल्य १.४०
३. अंगारों की सदियां	लेखक श्री गौरीशंकर लहरी; राष्ट्र जीव के प्रधान प्राणवान क्षणों से संबंधि कविताओं का संग्रह; मूल्य ०.५०
४. धरती के जलजले	लेखक श्री कृ० शि० मेहता; वर्तमान समस्याओं को लेकर लिखे गए चार एकांकी नाटकों का संग्रह; मूल्य १.००
५. भारतीय सहकारिता आन्दोलन	लेखक श्री ओमप्रकाश शर्मा; सहकारिता जैसे महत्वपूर्ण विषय पर लिखित एक विवेचनात्मक ग्रंथ; मूल्य १.३५
६. बुन्देलखंडी लोकगीत	लेखक स्वर्गीय शिवसहाय चतुर्वेदी; विशद रूप से विवेचित बुन्देलखंडी लोकगीतों का संग्रह; मूल्य २.००
७. भारत में आर्य और अनार्य	डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वा में परिषद् के तत्वावधान में में दिए गए चार व्याख्यानों मूल्य १.३०
८. नाट्य कला-मीमांसा	डा० गोविन्ददास द्वारा ७ के तत्वावधान में सन् ए चार व्याख्यानों का